मीमांसा-शाबर-भाष्यम्

आर्षमत-विमर्शिन्या हिन्दी-व्याख्यया सहितम्

(द्वितीयो भागः)

युधिष्ठिर मीमांसक

आचार्य-शबरस्वामि-विरचितम्

जैमिनीय-मीमांसा-भाष्यम्

आर्षमत-विमर्शिन्या हिन्दी-व्याख्यया सहितम्

[द्वितीयो भागः]

व्याख्याकारः—

युधिष्ठिरो मीमांसकः

प्रकाशक :—
युधिष्ठिर मीमांसक
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

प्राप्तिस्थानः—
रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़
(सोनीपत-हरयाणा)

इस भाग के लघुकाय होने का कारण

लेखक के अक्टूबर १९७८ में अत्यधिक रुग्ण हो जाने, और निर्बलता के कारण कई मास तक कार्य न कर सकने के कारण इस भाग को लेखक द्वारा यथिल्लिखित व्याख्या (अ० ३, पाद १) तक सीमित रखने को बाध्य होना पड़ा।

प्रथम संस्करण—४००+६००
संवत् २०३५, सन् १९७८
मूल्य [illegible]-०० राजसंस्करण

मुद्रक :—
सुरेन्द्र कुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस, बहालगढ़
(सोनीपत-हरयाणा)

भूमिका

'आर्षमत-विमर्शिनी हिन्दीव्याख्या' के सहित 'मीमांसा-शाबरभाष्य' के प्रकाशन की योजना सन् १९७६ के उत्तरार्ध में निर्धारित की। इस महान् कार्य पर लगभग १ लाख रुपया व्यय होने का अनुमान लगाया गया। परन्तु दो वर्ष के किये गये कार्य पर हुए व्यय, और निरन्तर प्रवर्धमाना मंहगाई को देखते हुए सम्पूर्ण कार्य पर न्यूनातिन्यून डेढ़ लाख रुपया व्यय होगा। इतनी व्यय-साध्य योजना को बड़ी से बड़ी साधन-सम्पन्न-प्रकाशन संस्था भी हाथ में लेने से पूर्व दस बार विचार करती कि इसे कार्यान्वित किया जाये वा नहीं। मैं एक अकिञ्चन ब्राह्मण हूं। न मेरे पास कोई जमा पूंजी है, और ना ही पैत्रिक वा स्वयमुपार्जित सम्पत्ति। परन्तु मुझे जीवन में अनेक बार यह प्रत्यक्ष हो चुका है कि मेरा कोई कार्य अर्थ के अभाव में रुकता नहीं है। इस विषय में मेरे पर प्रभु की अपार दया विद्यमान है।

प्रभु पर ही भरोसा करके इस पवित्र कार्य को करने की योजना बना ली। और मई सन् १९७८ में प्रथम भाग का लेखन और मुद्रण कार्य आरम्भ कर दिया। प्रथम भाग के लिये कागज खरीदने को भी मेरे पास द्रव्य नहीं था। अतः मैंने करनाल-निवासी माननीय श्री चौधरी प्रतापसिंह जी, जिनका मेरे प्रति अत्यन्त स्नेह एवं सौहार्द है, से प्रार्थना की कि प्रथम भाग के लिये २०×२६ आकार का दो प्रकार (अच्छा व साधारण) का ८० रिम कागज खरीद कर सवा वर्ष के लिये उधाररूप में देने की कृपा करें। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक इस महनीय कार्य के लिये लगभग ६००० का कागज खरीदकर मुझे भिजवा दिया।

हमारे आश्रम के छात्र श्री पं० सोमदेव जी शास्त्री एम० ए० के पिता ने इसी काल के मध्य दो हजार रुपये मुझे भेंट किये। और आर्यसमाज गाजियाबाद तथा अन्यत्र की कतिपय माताओं और आर्य बन्धुओं ने लगभग ५०० रुपये इस कार्य के लिये सहायता रूप में दिये। इस अवधि में मीमांसा-शाबरभाष्य-व्याख्या के लगभग ४० स्थायी ग्राहकों से, ५० रुपया प्रति ग्राहक के हिसाब से लगभग २००० रुपया अग्रिम प्राप्त हुआ। इस प्रकार लगभग ४५०० रुपये इस कार्य के लिये सन् १९७७ में प्राप्त हुआ। १५ अगस्त १९७६ को राष्ट्रपति ने संस्कृतभाषा की उन्नति वा प्रचार के लिये मुझे सम्मानित किया था। राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित प्रत्येक विद्वान् को ३००० रु. वार्षिक सर्वकार देती है। इस नियम के अनुसार सन् ७६-७७ तथा ७७-७८ दो वर्ष का इकट्ठा ६००० रु. जनवरी ७८ के आरम्भ में भारत सर्वकार से मुझे प्राप्त हुआ। इसे भी मैंने व्यक्तिगत कार्य में न लगाकर मीमांसा-भाष्य-व्याख्या के कार्य में लगा दिया। इस प्रकार प्रथम भाग के कागज़ और मुद्रणमात्र के व्यय की व्यवस्था हुई।

प्रथम भाग के कागज छपाई और जिल्द का सम्पूर्ण व्यय मिलाकर राजसंस्करण (३०० प्रतियों) पर लगभग ५००० रुपया, तथा साधारण संस्करण (७०० प्रतियों) पर ९००० रुपया, अर्थात् १४०००चौदह सहस्र रुपया व्यय हुआ। लगभग १० मास की अल्पावधि में प्रथम भाग की ४०० प्रतियां (राज सं०+साधारण सं०) की बिक्री हो जाने से प्रथम भाग का सम्पूर्ण उधार यथासमय चुका दिया गया, और दूसरे भाग के लिये कागज की भी व्यवस्था हो गई।

द्वितीय भाग का प्रकाशन

प्रथम भाग की बिक्री से द्वितीय भाग के कागज की व्यवस्था की गई। और मई १९७८ में प्रेस में छपने के लिये दे दिया गया।

द्वितीय भाग के लिये सहायता—द्वितीय भाग के प्रकाशन के लिये हमें निम्न महानुभावों से सहायता प्राप्त हुई है—

१. श्री चौधरी प्रतापसिंह—करनालनिवासी वेदभक्त श्री माननीय चौधरी प्रतापसिंह जी ने मीमांसा-भाष्य-व्याख्या के द्वितीय भाग के प्रकाशन में एक सहस्र रुपये की सहायता प्रदान की।

२. श्री राजकुमार कपूर—बम्बई निवासी प्रसिद्ध व्यवसायी माननीय श्री राजकुमार जी कपूर ने मीमांसा-भाष्य-व्याख्या के द्वितीय भाग के प्रकाशन में ढाई ढाई हजार के दो चैकों द्वारा =पांच सहस्र रुपया रामलाल कपूर ट्रस्ट के माध्यम से, श्री भ्राता महेन्द्रकुमार जी कपूर (बम्बई) की प्रेरणा से प्रदान किया।

इस मीमांसा-भाष्य-व्याख्या रूप महनीय कार्य को सम्पन्न करने में आर्थिक सहायता देनेवाले उपर्युक्त सभी महानुभावों का मैं हार्दिक आभार मानता हूं,और उन्हें इस सहयोग के लिये धन्यवाद देता हूं। आशा करता हूं कि आप महानुभावों तथा अन्य वैदिक मतानुयायी वेदभक्त महानुभावों से इस महनीय कार्य में आगे भी सहयोग मिलता रहेगा।

दैवी बाधा—मीमांसा-भाष्य-व्याख्या के द्वितीय भाग में द्वितीय अध्याय और तीसरे अध्याय के ८ पादों में से मैं प्रथम तीन पाद तक की व्याख्या प्रकाशित करना चाहता था। अगस्त ७८ तक मीमांसा-भाष्य-व्याख्या का लेखन तथा मुद्रण भले प्रकार होता रहा। परन्तु उसके पश्चात् मुद्रण-कार्य में पर्याप्त शिथिलता आ गई। इसके साथ ही **'मेरे मन कुछ और है, प्रभु के मन कुछ और'** इस उक्ति के अनुसार २५ अक्टूबर ७८ को अचानक उपान्त्र-शोथ (अपेण्डिक्स) रोग के भयङ्कर आक्रमण के कारण मेरी इच्छा पूर्ण नहीं हुई। इस रोग के पूर्व भी ३-४ आक्रमण हो चुके हैं, परन्तु इस बार के आक्रमण ने पूर्वतः निर्बल शरीर को, जैसे कोई निम्बू को निचोड़ता है, तद्वत् शरीर को निचोड़ डाला। निर्बलता इतनी अधिक हो गई है कि अभी मैं २-३ मास तक कुछ भी कार्य करने में असमर्थ हो गया हूं। इसलिये २५ अक्टूबर ७८ तक तृतीय अध्याय के प्रथम पाद तक जो व्याख्या लिख चुका था, उस पर ही इस भाग को समाप्त करना पड़ा। इस दैवी बाधा के

कारण यह भाग पूर्वभाग की अपेक्षा लगभग १८० पृष्ठ छोटा है। इसके लिये मैं अपने कृपालु पाठकों और ग्राहकों से क्षमा चाहता हूं।

इस भाग को यथेष्ट रूप में प्रकाशित करने के लिये मुझे ६ मास रुकना पड़ता। इस से द्वितीय भाग की बिक्री पर विपरीत प्रभाव पड़ता। और अगला भाग प्रकाशित करने में मेरे सम्मुख आर्थिक कठिनाई उपस्थित हो जाती। इसका कारण यह है कि सभी पुस्तकालय राज्यों से प्राप्त अनुदान को व्यय करने के लिये जनवरी फरवरी मार्च के महीनों में विशेषरूप से ग्रन्थ खरीदते हैं। अतः इन मासों में नये प्रकाशनों की विशेष बिक्री हो जाती है। यदि द्वितीय भाग को यथेष्टरूप से पूर्ण करने के लिये ६ मास रुक जाता, तो इस भाग की विशेष बिक्री के लिये अगले वर्ष की प्रतीक्षा करनी पड़ती। इस प्रकार सारा प्रकाशन कार्य इस से प्रभावित हो जाता, जो कि केवल अपने साहसमात्र से किये जानेवाले कार्य के लिये घातक होता। अतः न चाहते हुए भी दूसरे भाग को तृतीय अध्याय के प्रथम पाद तक सीमित रखना पड़ा।

विशेष धन्यवाद—श्री पण्डित महेन्द्र शास्त्री जी, हमारे यहां से जो भी ग्रन्थ प्रकाशित होते हैं, उनके प्रूफ संशोधन का कार्य कई वर्षों से कर रहे हैं। जब से आपने हमें अपना सहयोग दिया है, निश्चय ही हमारे प्रकाशनों में महत्त्वपूर्ण परिष्कार हुआ है। आप केवल अन्य प्रूफ संशोधकों के समान केवल प्रूफ संशोधन ही नहीं करते, अपितु लेखक और उसकी कृति के अन्तः प्रविष्ट होकर उसे यथोचित परिष्कृत भी करते हैं। यह एक ऐसा कार्य है, जो केवल प्रूफ संशोधक के लिये असम्भव है। मीमांसा-भाष्य-व्याख्या में तो आप संशोधनकार्य और भी अत्यन्त पैनी दृष्टि से कर रहे हैं। मूल ग्रन्थ की प्रत्येक पङ्क्ति, और पद की यथोचित व्याख्या हुई है वा नहीं, इस पर भी पूरा ध्यान देते हैं। लेखक प्रमाद से जहां भी कुछ कमी होती है, उसे मेरे संमुख उपस्थित करके उसका यथोचित संशोधन करवा लेते हैं। आपकी इस महती सूक्ष्मेक्षिका के कारण ही मीमांसा-भाष्य-व्याख्या का यथोचित प्रकाशन सम्भव हो रहा है। अन्यथा इसमें अनेक कमियां रह जातीं। अतः माननीय शास्त्री जी का इस कार्य में जो विशेष सहयोग है, उसके लिये मैं उनका विशेष धन्यवाद करना अपना कर्त्तव्य समझता हूं।

द्वितीय भाग का कागज प्रथम भाग की अपेक्षा मंहगा आया, और मुद्रण व्यय भी बढ़ गया। इस कारण इस भाग का मूल्य पूर्व भाग की तुलना में कुछ अधिक रखना पड़ा। अब तो कागज के भाव आकाश की ऊंचाई पर चढ़ गये हैं। उसी के साथ मुद्रण व्यय भी बहुत बढ़ गया है।

रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत-हरियाणा)

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

मीमांसा-शाबरभाष्य-व्याख्या की विषयसूची

द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः

द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः

द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः

द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः

तृतीयाध्याये प्रथमः पादः

मीमांसा-शाबर-भाष्यम्

[हिन्दी-व्याख्या-सहितम्]

मीमांसा-शाबर-भाष्यम्

[हिन्दी-व्याख्या-सहितम्]

द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः

[अपूर्वस्याऽऽख्यातपद प्रतिपाद्यताधिकरणम् ॥१॥]

प्रथमेऽध्याये प्रमाणलक्षणं वृत्तम् । तत्र विध्यर्थवादमन्त्रस्मृतयस्तत्त्वतो निर्णीताः । गुणविधिर्नामधेयं च परीक्षितम् । सन्दिग्धानामर्थानां वाक्यशेषाद् अर्थाध्यवसानमुक्तम् । तन्न प्रस्मर्तव्यम् । अनन्तरं प्रधानाप्रधानानि परीक्षिष्यन्ते, भिन्नान्यभिन्नानि चेति । एष एवार्थो वर्णनीयो नान्यः । एष एव चाध्यायसम्बन्धः । तदिह षड्विधः कर्मभेदो वक्ष्यते—शब्दान्तरम्, अभ्यासः, संख्या, गुणः, प्रक्रिया, नामधेयमिति । वक्ष्यमाणमनु संकीर्त्यंते । प्रदर्शितमुच्यमानं सुखं ग्रायिहृष्यत इति,श्रोतुश्च बुद्धिः समाधीयते । तदेतन्नानाकर्मलक्षण-मित्यध्यायमाचक्षते । एतत्तात्पर्येणातोऽन्यदुपोद्घातप्रसक्तानुप्रसक्तं च ।

व्याख्या—प्रथम अध्याय में प्रमाण-लक्षण पूर्ण हुआ है। वहां विधि अर्थवाद मन्त्र और स्मृति का तत्त्वरूप से निर्णय किया है। गुणविधि और [कर्म] नामधेय की परीक्षा की है। सन्दिग्ध अर्थों का वाक्यशेष से निर्णय कहा है। उसे नहीं भूलना चाहिये । आगे [द्वितीयाध्याय में] कौन प्रधान कर्म हैं और कौन अप्रधान (=गौण), तथा कर्म भिन्न-भिन्न हैं अथवा अभिन्न (=एक) हैं, की परीक्षा करेंगे। यही अर्थ कथनीय है, अन्य नहीं। यही [प्रथम और द्वितीय] अध्यायों का सम्बन्ध है। यहां (=द्वितीय अध्याय में) छ प्रकार का कर्मभेद कहा जायेगा—शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, गुण, प्रक्रिया और नामधेय [अर्थात् शब्दान्तर आदि साधनों से कर्म-भेद का कथन किया जायेगा]। यह आगे कहे जानेवाले का कथन किया जाता है। प्रदर्शित कहा हुआ [विषय] सुखपूर्वक ग्रहण कराया जा सकेगा, और श्रोता (=शिष्य) की बुद्धि भी समाहित (=एकाग्र) होती है। इस [द्वितीय] अध्याय को [व्याख्याता] नानाकर्म-लक्षणवाला कहते हैं। इसी [नानाकर्म-लक्षण]के तात्पर्य से इससे अन्य विषय उपोद्घात और प्रसक्तानुप्रसक्त जानना चाहिये ।

विवरण—प्रमाणलक्षणम्—यहां प्रमाण शब्द से प्रत्यक्षादि प्रमाणों का ग्रहण इष्ट नहीं

तत्र प्रथमं तावदिदं चिन्त्यते—प्रथमाध्याये इदमुक्तम्—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (१।१।२)। चोदना च क्रियाया अभिधायकं वाक्यम्। वाक्ये च पदानामर्थाः। तत्र किं पदेन पदेन धर्म उत सर्वैरेक एवेति? किं तावत् प्राप्तम्? प्रतिपदं धर्मः, इत्येवं प्राप्त उच्यते—यदा एकस्मादपूर्वं तदाऽन्यत् तदर्थं भविष्यति। एवमल्पीयस्यदृष्टानुमानप्रसंगकल्पना भविष्यति। तस्मादेकमपूर्वम्।

है। क्योंकि सूत्रकार ने उनका निर्देश नहीं किया है। यद्यपि भाष्यकार शबरस्वामी ने **औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः** (१।१।५) सूत्र के भाष्य में वृत्तिकार उपवर्ष की वृत्त्यनुसार प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों का निर्देश किया है, तथापि उनका सूत्रकार द्वारा कथन न होने से यहां उनका ग्रहण न इष्ट है, और नाही सम्बद्ध है। अतः यहां शास्त्र में जिज्ञास्यमान धर्म का जो चोदनारूप प्रमाण कहा है, उसी का यहां ग्रहण अभीष्ट है। वह चोदना प्रमाण वेद है। जिसका निर्देश सूत्रकार ने पञ्चम सूत्र में किया है। वेद के शब्द अर्थ और उसके सम्बन्ध की नित्यता के लिये प्रसक्तानुप्रसक्त अन्य विषयों का निर्देश प्रथम पाद में किया है। **तत्र विध्यर्थवाद०**—धर्म चोदनारूपी प्रमाण विधि अर्थवाद मन्त्र स्मृति भेद से बहुविध है। अतः प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद में विधि अर्थवाद और मन्त्रों के सम्बन्ध में विचार किया है। तृतीय पाद में स्मृतियों के प्रामाण्याप्रामाण्य का विवेचन किया है। चतुर्थपाद में गुणविधि और नामधेय की परीक्षा, तथा सन्दिग्धार्थ के निश्चय में वाक्यशेष के साहाय्य का उल्लेख किया है। इस प्रकार यह प्रथमाध्याय **प्रमाणलक्षण** कहा जाता है। **षड्विधः कर्मभेदः**—यहां कर्म भेद के ज्ञापक ६ प्रकार के साधनों के भेद से ६ प्रकार का कर्मभेद कहा गया है। यतः आम्नाय में बहुत्र कर्मों का साङ्कर्य-सा लक्षित होता है, अतः यह जानने में कठिनाई होती है कि एक प्रकरणरूप से परिगृहीत होनेवाले प्रकरण में कहां कर्म एक ही है, अथवा वहां कर्मान्तर का निर्देश भी संकलित है। इसलिये जिन कारणों से कर्मभेदत्व की प्रतीति होती है, उनका निर्देश भाष्यकार ने **शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, गुण, प्रक्रिया और नामधेय** के रूप में किया है। यहां पर भाष्यकार का ६ कारणों के निर्देश में तात्पर्य है, उनके पौर्वापर्यक्रम में नहीं है। इस प्रकार यह द्वितीय अध्याय **नानाकर्मलक्षण** कहा जाता है ॥

व्याख्या—यहां पहले यह विचार किया जाता है कि प्रथमाध्याय में 'चोदनालक्षण धर्म है' ऐसा कहा है। और चोदना क्रिया को कहनेवाला वाक्य है। वाक्य में पदों के अर्थ होते हैं। तो क्या पद-पद से धर्म कहा जाता है, अथवा सब पदों से एक ही धर्म कहा जाता है? इस [सन्देह] में क्या प्राप्त होता है? प्रतिपद धर्म [कहा जाता] है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—जब एक पद से अपूर्व (=यागादि धर्म से उत्पन्न अपूर्व) [कहा जाता] है, तब [वाक्यस्थ] अन्य पद उसी [अपूर्व] के लिए होंगे। इस प्रकार अदृष्ट के अनुमान विषय की कल्पना लघीयसी होगी। इस लिए [वाक्यस्थ सभी पदों से] एक अपूर्व कहा जाता है।

विवरण—**एकस्मादपूर्वम्**—यजेत जुहुयात् आदि पदों में कोई भी पद साक्षात् अपूर्व का वाचक नहीं है। यह भाष्यकार स्वयं सूत्र की व्याख्या में आगे कहेंगे—**न तु कश्चिच्छब्दः साक्षादपूर्वस्य वाचकोऽस्ति**। अपूर्व की सिद्धि अनुमान-प्रमाणाधीन है। यागादि कर्म क्रियारूप होने से अनित्य क्षणध्वंसी हैं। क्रियासमकाल, में अथवा अव्यवहित अनन्तर क्षण में कर्मों का फल नहीं

यदा एकं तदा सन्देहः—किं भावशब्देभ्यः, उत द्रव्यगुणशब्देभ्य इति ? कः पुनर्भावः, के च ते पुनर्भावशब्दा इति ? यजति-ददाति-जुहोतीत्येवमादयः। ननु—यागदानहोमशब्दा एते, न भावशब्दाः ? नैतदेवम्। यागादि शब्दाश्चैते भावशब्दाश्च। यज्याद्यर्थश्चातोऽवगम्यते, भावयेदिति च। तथा यजेत, यथा किञ्चिद् भवतीति। तेनैते भावशब्दाः। द्रव्यगुणशब्देभ्यो द्रव्यगुणप्रत्ययः, न भावनायाः। अतस्ते न भावशब्दा इति। किं तावत् प्राप्तम् ? अविशेषेणेति। तत उच्यते—

मिलता, यह प्रत्यक्ष है। इस प्रकार नष्ट हुए कर्म फल के साधक नहीं होते। वैदिक वचन 'अग्निहोत्रादि कर्मों से स्वर्गादि फलों की प्राप्ति करे,' ऐसा विधान करते हैं। अतः कर्म और फलप्राप्ति के मध्य कोई स्थायी कारण होना चाहिये, जिससे फल की प्राप्ति होवे। इसी स्थायी तत्त्व को मीमांसक अपूर्व नाम से कहते हैं। इस प्रकार यागादि क्रिया से अपूर्व उत्पन्न होता है, और उससे फल की प्राप्ति होती है। इसलिये यागादि साक्षात् फल के निष्पादक न होते हुए भी स्वोत्पादित अपूर्व के द्वारा परम्परा से फल के निमित्त कहे जाते हैं। **अल्पीयस्यदृष्टानुमानप्रसङ्ग-कल्पना**—यदि चोदनावाक्य के प्रत्येक पद से अपूर्व की कल्पना मानी जाये, तो अनेक अदृष्टों के अनुमान-कल्पना का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। अनेक अदृष्टानुमान-कल्पना की अपेक्षा एक अदृष्ट के अनुमान की कल्पना लघीयसी है॥

व्याख्या—जब एक अपूर्व होता है, तब सन्देह होता है कि [वह अपूर्व] भावशब्दों से कहा जाता है, अथवा द्रव्य और गुण के वाचक शब्दों से ? भाव क्या है, और भाव को कहनेवाले शब्द कौनसे हैं ? यजति ददाति जुहोति इत्यादि भावशब्द हैं। (आक्षेप) [यजति ददाति जुहोति] ये याग दान होम के कहनेवाले हैं, भाव को कहनेवाले नहीं हैं। (समाधान) ऐसा नहीं है। ये याग आदि को कहनेवाले शब्द हैं; और भाव को कहनेवाले शब्द भी हैं। इन [यजति आदि शब्दों] से यागादि अर्थ भी जाना जाता है, और भावयेत् (=सिद्ध करे) भी। उस प्रकार से यजन करे, जिससे कुछ होता है। इस कारण ये [यजति आदि] भाव शब्द हैं। द्रव्य और गुणवाचक शब्दों से द्रव्य और गुणों ज्ञान होता है, भावना (=कुछ होना अर्थ) का ज्ञान नहीं होता है। इसलिये ये [द्रव्य गुण शब्द] भावशब्द नहीं हैं। तो क्या प्राप्त होता है ? सामान्यरूप से सभी शब्द भावशब्द हैं। ऐसा प्राप्त होने पर [सूत्रकार] कहते हैं—

विवरण—**भावशब्देभ्यः**—भावशब्दों से तात्पर्य आख्यात=क्रियावाचक पदों से है। निरुक्तकार यास्क ने भी षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः—जायते अस्ति विपरिणमते वर्धते अपक्षीयते विनश्यतीति (निरुक्त (१।२) में भाव शब्द का प्रयोग क्रियासामान्य में किया है। वैयाकरण भाव और क्रिया में भेद करते हैं। उनके मत में 'जिस धात्वर्थ की सिद्धि में साधन=कारक में परिस्पन्द (हिलना-डुलना) न होवे, वह भाव कहाता है'[१]। यथा देवदत्तः शेते, आस्ते, पश्यति। 'जिस धात्वर्थ की सिद्धि में साधन में परिस्पन्द होवे, वह क्रिया कहाती है'[१]। यथा—देवदत्तो ग्रामं गच्छति। **भावयेदिति च**—यजेत दद्यात् जुहुयात् आदि पदों में दो अंश हैं—एक

---

१. अपरिस्पन्दनसाधनसाध्यो धात्वर्थो भावः। सपरिस्पन्दनसाधनसाध्यो धात्वर्थः क्रिया।

भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत, एष ह्यर्थो विधीयते ॥१॥

भावार्थाः कर्मशब्दाः, तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत, 'यजेत' इत्येवमादिभ्यः । कुतः ? भावार्थत्वादेव । य आहुः—'किमपि भावयेद्' इति, ते स्वर्गकामपदसम्बन्धात् स्वर्गं भावयेदिति ब्रूयुः । तस्मात् तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत—फलस्य क्रिया करणं निष्पत्तिरिति । ते च यागदानहोमसम्बद्धाः स्वर्गस्योत्पत्तिं वदन्ति । कुतः ? एष ह्यर्थो विधीयते । यथा—यागादिना । स्वर्गकामः केन भावयेत् स्वर्गम् ? यागादिनेति । यस्य च शब्दस्यार्थेन फलं साध्यते,तेनाऽपूर्वं कृत्वा । नान्यथेति । ततोऽपूर्वं गम्यते । अतो यस्तस्य वाचकः शब्दस्ततो

धातु और दूसरा प्रत्यय । धात्वंश से याग दान होम रूप अर्थ जाना जाता है, और लिङ्प्रत्यय से भावना । इस प्रकार धात्वर्थ भावना में करणरूप से अन्वित होता है । इसीलिये उत्तर वाक्य में कहा है—तथा यजेत यथा किञ्चिद् भवति । उक्त अर्थ की स्पष्टता के लिये उदाहरण देते हैं—दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः=दर्शपौर्णमासयागाभ्यां स्वर्गं भावयेत्=दर्शपौर्णमास यागों से स्वर्ग को सिद्ध करे=प्राप्त करे । इसी प्रकार अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः=अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत्=अग्निहोत्र-संज्ञक होम से स्वर्ग को सिद्ध करे=प्राप्त करे । तत उच्यते—यद्यपि भाष्यकार ने 'यजति ददाति जुहोति आख्यातपदों से ही भावार्थ जाना जाता है, द्रव्य गुणवाचक पदों से भावार्थ नहीं कहा जाता' यह कह दिया, फिर भी सूत्रमुख से उसी अर्थ को अवतरित करने के लिये भाष्यकार ने उक्त पद लिखे हैं ।।

भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत, एष ह्यर्थो विधीयते ॥१॥

सूत्रार्थः—(भावार्थाः कर्मशब्दाः) यजेत जुहुयात् इत्यादि याग होम के वाचक शब्द भाव=भावना=निष्पत्ति को कहनेवाले हैं । अतः (तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत) उन भावार्थक यजेत जुहुयात् आदि शब्दों से क्रिया=फल का करना=निष्पत्ति जानें । [अर्थात् यजेत जुहुयात् आदि याग होम से सम्बद्ध स्वर्गादि फलों की निष्पत्ति को कहते हैं ।] (एष ह्यर्थो विधीयते) यजेत जुहुयात आदि पदों से यही भावनारूप अर्थ कहा जाता है । [इस अर्थ की विशद व्याख्या भाष्य में देखें] ।

व्याख्या—यजेत इत्यादि कर्मशब्द भाव को कहनेवाले हैं, उन से क्रिया (=फल का करण=निष्पत्ति) जानें । किस हेतु से ? भावार्थक होने से ही । जो 'कुछ निष्पन्न करे' ऐसा कहते हैं, वे '[वाक्य में] स्वर्गकाम पद के सम्बन्ध से स्वर्ग को निष्पन्न करे' ऐसा कहेंगे । इस लिये उन ['यजेत' आदि] पदों से क्रिया जाने, अर्थात् फल की क्रिया=करना=निष्पत्ति जानें । और वे भावार्थ शब्द यागदान और होम से सम्बद्ध स्वर्ग की उत्पत्ति को कहते हैं। किस हेतु से? यही अर्थ कहा जाता है । जैसे यागादि से । स्वर्ग की कामनावाला किस से स्वर्ग को निष्पन्न करे ? यागादि से । जिस शब्द के अर्थ से फल सिद्ध किया जाता है, उस [यागादि कर्म] से अपूर्व को उत्पन्न करके [सिद्ध करे] । इस [अपूर्व] के बिना [फल की निष्पत्ति] नहीं होती है, [क्योंकि यागादि कर्म क्षणविध्वंसी होने से फलोत्पत्तिकाल में उनके विद्यमान न होने से यागादि की स्वर्गादि फल के प्रति शब्दबोधिक साधकता उपपन्न नहीं होती है ।] इस कारण [यागादि कर्म

ऽपूर्वं प्रतीयत इति। तेन भावशब्दा अपूर्वस्य चोदका[1] इति ब्रूमः। न तु कश्चिच्छब्दः साक्षादपूर्वस्य वाचकोऽस्ति। भावार्थैः किमपि भावयितव्यम्, स्वर्गकामस्य च केनापि भाव्यतेति। तयोर्नष्टाश्वदग्धरथवत्[2] सम्प्रयोगः। यजेत इत्येवमादयः साकाङ्क्षाः। यजेत, किं केन कथमिति ? स्वर्गकाम इत्यनेन प्रयोजनेन निराकाङ्क्षाः। नैवद्रव्यगुणशब्दाः। तस्माद् भावार्थाः कर्मशब्दा अपूर्वं चोदयन्तीति।

अथ कस्मादुभयं सूत्रितं—'भावार्थाः कर्मशब्दाः' इति ? उच्यते—भवन्ति केचित् कर्मशब्दाः, न भावार्थाः। यथा श्येनचित्रादयः[3]। केचिद् भावार्थाः, न कर्मशब्दाः।

शब्दों से] अपूर्व जाना जाता है। इस हेतु से जो शब्द उस [अपूर्व] का वाचक है, उससे अपूर्व प्रतीत होता है। इस से 'भाव शब्द अपूर्व के चोदक हैं' ऐसा हम कहते हैं। साक्षात् कोई शब्द अपूर्व का वाचक नहीं है। भावार्थक शब्दों से कुछ भावनीय (=निष्पादनीय) है, और स्वर्गकाम की किसी के द्वारा भाव्यता (=निष्पाद्यता) है। इन दोनों (=भावयितव्य और स्वर्गकाम की भाव्यता) का नष्टाश्वदग्धरथ के समान परस्पर सम्बन्ध जानना चाहिये। यजेत इत्यादि पद साकाङ्क्ष हैं। यजन करे, क्या किससे और कैसे ? स्वर्गकाम इस प्रयोजन से [यजेत इत्यादि पद] निराकाङ्क्ष होते हैं। द्रव्य और गुण के वाचक नहीं [अर्थात् वे न कामनावाची के साथ साकाङ्क्ष हैं, और नाही कामनावाची शब्द से निराकाङ्क्ष होते हैं]। इसलिये कर्मशब्द भावार्थक [होते हुए] अपूर्व का कथन करते हैं।

विवरण—नष्टाश्वदग्धरथवत् सम्प्रयोगः—नष्टाश्व और दग्धरथ यात्रियों का परस्पर सम्प्रयोग=सम्बन्ध इस प्रकार जानना चाहिये—कोई दो यात्री रथों पर बैठकर एक ही नगर वा ग्राम की ओर जा रहे थे। दैवयोग से मार्ग में एक का घोड़ा मर गया, और दूसरे का रथ जल गया। दोनों ने शेष यात्रा के लिए विचार किया कि तुम्हारा घोड़ा मर गया, और मेरा रथ जल गया, चलो हम दोनों मिलकर अवशिष्ट घोड़े और रथ का उपयोग करके यात्रा पूर्ण करें। यह नष्टाश्वदग्धरथ-न्याय कहाता है। महाभाष्य का एतद्-विषयक पाठ नीचे टिप्पणी २ में देखें॥

व्याख्या—(आक्षेप) सूत्र में भावार्थाः और कर्मशब्दाः ये दोनों क्यों पढ़े हैं ? (समाधान) कुछ शब्द कर्मवाचक होते हैं, परन्तु भावार्थक नहीं होते। जैसे श्येन चित्रा आदि। कुछ शब्द भावार्थक हैं, परन्तु कर्मशब्द नहीं हैं। जैसे—भवनम् भावः भूतिः। यहां

---

१. 'बोधकाः' इत्याचार्यचरणाः। 'चोदकाः' इत्येव भाष्यकारसम्मतः पाठः प्रतिभाति। अस्य सूत्रस्य भाष्य एव उत्तरत्र 'कर्मशब्दा अपूर्वं चोदयन्ति' इति पाठस्योपलम्भात्।

२. द्र०—पातञ्जलं महाभाष्यम्—'सम्प्रयोगो वा नष्टाश्वदग्धरथवत्। अथवा नष्टाश्वदग्धरथवत् सह संप्रयोगो भविष्यति। तद्यथा—तवाश्वो नष्टो ममापि रथो दग्धः, उभौ सम्प्रयुज्यावहै इति' [स्थानेऽन्तरतमः' (१।१।४९) सूत्रस्य भाष्यम्]।

३. 'श्येनैकत्रिकादयः' इत्यपपाठः। उपरिष्टात् 'श्येनेनाभिचरन् यजेत, चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यनयोरुदाहृतत्वात्।

यथा भवनं भावो भूतिरिति । किं पुनरिहोदाहरणम् ? **श्येनेनाभिचरन् यजेत**[1], **चित्रया यजेत पशुकामः**[2] इति । किं श्येनेनाभिचरन्नुत यजेताभिचरन्निति ? तथा चित्रया पशुकामः, उत पशुकामो यजेतेति ? स्थिते एतस्मिन्नधिकरणे गुणविधिः, नामधेयमिति विचारो भविष्यति । तथा **दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत**[3] इति दर्शः कालः, पूर्णमास इति च । किं ताभ्यां स्वर्गकामः, उत स्वर्गकामो यजेतेति ? दर्शपूर्णमासाभ्यामिति च, श्येनेनेति च, चित्रयेति च,नैते भाववचनाः। न चैषामर्थिना कश्चित् सम्बन्धोऽस्ति, [4]विविभक्तिकत्वात्। तस्मान्न द्रव्यगुणशब्दा अपूर्वस्य विधायका इति ॥१॥

क्या उदाहरण है ? श्येनेनाभिचरन् यजेत, चित्रया यजेत पशुकामः इति । क्या 'श्येन से अभिचार करता हुआ' [यह सम्बन्ध है, अथवा] 'यजन करे अभिचार करता हुआ ? तथा 'चित्रा से पशुकामनावाला' अथवा 'पशुकामनावाला यजन करे' ? इस (=कर्मशब्द भावार्थक हैं) अधिकरण के स्थित (=उपपन्न) होने पर [श्येन और चित्रा पद] गुणविधायक हैं, अथवा नामधेय यह विचार होगा । तथा दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत में दर्श और पौर्णमास कालवाचक हैं । [यहां भी] क्या उन (=कालों) से स्वर्ग कामनावाला' [यह संबन्ध है], अथवा 'स्वर्ग कामनावाला यजन करे' ? दर्शपौर्णमासाभ्याम्, श्येनेन, और चित्रया ये भाववचन नहीं हैं । और नाहीं अर्थी (=कामना करनेवाले) के साथ इन का कोई सम्बन्ध है, भिन्न विभक्तिवाले होने से । इसलिये द्रव्यगुणवाचक शब्द अपूर्व के विधायक नहीं हैं ॥१॥

विवरण—यथा भवनं भावो भूतिः—इस पर भट्ट कुमारिल ने लिखा है कि—'**केचिद् भावार्था न कर्मशब्दाः** का उदाहरण **भावयेत् कुर्यात्** देने चाहियें । क्योंकि भूति आदि शब्द प्रयोज्य व्यापारमात्र के कहनेवाले होने से यथावर्णित भावार्थक (=जैसा भावार्थकों का पूर्व वर्णन किया है, वैसे) नहीं होने से ठीक उदाहरण नहीं हैं । इनमें एक 'भाव' शब्द किसी प्रकार से णिजन्त से व्युत्पत्ति करने पर भाव शब्द हो सकता है, अन्य दो नहीं । वे [दोनों] भी प्रयोज्य व्यापाररूप अंश से किसी प्रकार भावार्थक हो सकते हैं, इसलिये उनको उदाहृत किया है ।' **स्थिते एतस्मिन्नधिकरणे—श्येनेनाभिचरन् यजेत, चित्रया यजेत पशुकामः** वचनों में श्येन शब्द द्रव्यवाचक, और चित्रा शब्द गुणवाचक होने से गुणविधि है, अथवा यह कर्मविशेष का नाम है ? यह विचार प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद के क्रमशः पांचवें सूत्र=चौथे अधिकरण (भाग १, पृष्ठ ३०२—३०३) में, तथा तीसरे सूत्र=दूसरे अधिकरण (भाग १, पृष्ठ २९०—२९५) में किया है । गुणविधि और कर्मनाम का विचार प्रस्तुत अधिकरण के 'कर्मशब्द भावार्थक हैं' इस विचार के स्थित=सम्पन्न

---

१. षड्विंश ब्रा० ३।८॥ २. द्र०—तै० सं० २।४।६॥ अस्मिन् विषये प्रथमे भागे २९३ पृष्ठस्य पञ्चमी टिप्पणी द्रष्टव्या ।

३. वाक्यमिदं सर्वैरपि मीमांसकैरित्थंभूतं पठ्यते, परन्त्वस्माभिर्न क्वचिद् इत्थंभूतं वचनमुपलब्धम् । द्र०—आप० श्रौत ३।१४।८, ९—'स्वर्गकामो दर्शपौर्णमासौ, एककामः सर्वकामो वा ।'

४. 'विभक्तिकत्वात्' इत्यपपाठः ।

सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत् ॥२॥ (पू०)

एवं चेद् भवान् पश्यति–अभावशब्दत्वान्न द्रव्यगुणशब्दा अपूर्वस्य विधायका इति-सर्वेषां भावोऽर्थः । स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासाभ्यामित्येतयोः सम्बन्धं यजेतेति वक्ष्यति, श्येनेन अभिचरन्नित्येतयोश्च, तथा चित्रया पशुकाम इति । तस्मादेतेऽपि साकाङ्क्षत्वाद् भाववचनाः । सर्वेषु भाववचनेषु नास्ति विनिगमनायां हेतुः—कर्मशब्दा एवापूर्वस्य विधायका, न द्रव्यगुणशब्दा इति ॥२॥

हो जाने पर ही सम्भव है । अतः भाष्यकार ने दोनों अधिकरणों के पौर्वापर्य-विचार का निर्देश करने के लिये कहा है—**स्थिते एतस्मिन्नधिकरणे०** । **विविभक्तिकत्वात्**—**दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामः, श्येनेन अभिचरन्, तथा चित्रया पशुकामः** इनमें **दर्शपूर्णमासाभ्याम्, श्येनेन, चित्रया** तृतीया-विभक्त्यन्त हैं, और **स्वर्गकामः, अभिचरन्, पशुकामः** प्रथमाविभक्त्यन्त हैं । इनके भिन्नविभक्त्यन्त होने से इनका परस्पर सम्बन्ध सम्भव नहीं है। अथवा—**स्वर्गकामो यजेत,अभिचरन् यजेत,पशुकामो यजेत**, पदों का भी परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि सम्बन्ध-निमित्तक आख्यात-विभक्ति के भिन्नपदान्तरविषयक होने से ॥१॥

सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत् ॥२॥

सूत्रार्थः—(सर्वेषाम्) द्रव्य गुण आदि के वाचक सभी शब्दों का (भावः) भाव=भावना =निष्पत्ति (अर्थः) अर्थ होवे, (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो ।

विशेष—'इति चेत्' पदयुक्त सभी सूत्र उत्तरसूत्रों के ही अवयव हैं । भाष्यकार ने योग-विभाग करके इति चेत् पदयुक्त भाग का सुगमता के लिये स्वतन्त्र सूत्रवत् व्याख्यान किया है । यह हम पूर्व (भाग १, पृष्ठ १६८ पर विवरण में) लिख चुके हैं ।

व्याख्या—यदि आप ऐसा समझते हैं कि भाव शब्द न होने से द्रव्यवाचक और गुण-वाचक शब्द अपूर्व के विधायक नहीं हैं, तो हमारा कहना है कि—सभी शब्दों का भाव अर्थ है । स्वर्गकामः और दर्शपूर्णमासाभ्याम् इन पदों के सम्बन्ध को यजेत पद कहेगा, श्येनेन और अभिचरन् इन पदों के, तथा चित्रया और पशुकामः पदों के भी । इसलिये ये भी साकाङ्क्ष होने से भाववचन हैं । सब शब्दों के भाववचन होने पर विनिगमना (=निश्चय) में कोई हेतु नहीं है कि कर्मशब्द ही अपूर्व के विधायक हैं, द्रव्यवाचक और गुणवाचक शब्द भाव को कहनेवाले नहीं हैं ॥२॥

विवरण—**तस्मादेतेऽपि साकाङ्क्षाः**—पूर्वपक्षी का कहना यह है कि जैसे यजेत पदगत 'त' प्रत्यय से कही जानेवाली भावना की धात्वर्थ अपेक्षा करता है (=यजेत यागेन भावयेत्= याग से कुछ निष्पन्न करे), उसी प्रकार श्येन आदि द्रव्यवाचक और चित्रा गुणवाचक पद भी 'त' प्रत्ययोपात्त भावना की अपेक्षा करता है ॥२॥

येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि, तस्मात्तेभ्यः पराकाङ्क्षा भूतत्वात् स्वे प्रयोगे ॥३॥ (उ०)

येषां शब्दानामुच्चारणोत्पत्तौ स्वे अर्थे प्रयुज्यमानानां रूपमुपलभ्यते, यत् सकृदुत्पन्नं कालान्तरं तिष्ठति, न क्रियेवोत्पन्नमात्रं विनश्यतीत्यर्थः, तानि नामानि । ते द्रव्यगुणशब्दाः । ईदृशो द्रव्यगुणशब्दानामर्थः । 'ते द्रव्यगुणशब्दाः' इति वक्तव्ये 'तानि नामानि' इति सूत्रितम्। अतो नामानीत्येषां पर्यायशब्दः । कथं गम्यते? यत एषां विभक्तयो नामिक्य उच्यन्ते । कतमास्ताः ? वृक्षः वृक्षौ वृक्षाः, शुक्लः शुक्लौ शुक्ला इत्येवमादयः । तस्मात् सम्यक् सूत्रितम् । यत एषां न क्षणिकोऽर्थः,ततस्तेभ्यः पराकाङ्क्षा प्रधानाकाङ्क्षा

येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे········भूतत्वात् स्वे प्रयोगे ॥३॥

सूत्रार्थः—(येषाम्) जिन सोमेन यजेत आदि शब्दों की (उत्पत्तौ) उत्पत्ति वाक्य में (स्वे) अपने अर्थ में प्रयुज्यमान शब्दों के (रूपोपलब्धिः) सोम आदि अभिधेयरूप की उपलब्धि होती है, अर्थात् प्रत्यक्ष योग्यता होती है (तानि नामानि) वे सोमादि नाम शब्द=द्रव्य गुण शब्द हैं । (तस्मात्) इस कारण (तेभ्यः) उन नाम शब्दों से सोमादि द्रव्यरूप अर्थ की उत्पत्ति में (पराकाङ्क्षा) पर अन्य की आकाङ्क्षा [न विद्यते] नहीं है; अर्थात् उन द्रव्य गुणों की उत्पत्ति =निष्पत्ति कर्तव्य नहीं है । क्योंकि (स्वे प्रयोगे) अपने प्रयोगकाल में (भूतत्वात्) सोमादि अर्थ के विद्यमान होने से । अर्थात् सोमेन यजेत वाक्य में सोमादि द्रव्य की उत्पत्ति के लिये यजेत क्रिया की अपेक्षा नहीं है=द्रव्यार्थ क्रिया नहीं है ।

विशेष—सूत्र में 'पराकाङ्क्षा' पद के आगे न विद्यते का अध्याहार करके सभी व्याख्याकारों ने अर्थ दर्शाया है । अथवा उत्तर सूत्र में पठित न विद्यते पदों का सम्बन्ध जोड़ना चाहिये । कुतुहल वृत्तिकार ने पराकाङ्क्षा का विच्छेद पर+अकाङ्क्षा करके 'पर की अकाङ्क्षा=काङ्क्षा नहीं है', अर्थ दर्शाया है । हमारे विचार में सूत्रार्थ की पूर्णता के लिये न विद्यते के अध्याहार,अथवा पूर्वानुषङ्ग की अपेक्षा विशेष सन्धिविच्छेद करके ही उसकी पूर्णता दर्शाना श्रेष्ठ है ।

व्याख्या—जिन प्रयुज्यमान शब्दों के उच्चारणरूप उत्पत्तिकाल में अपने अर्थ में रूप=अर्थ रूप की उपलब्धि होती हैं, अर्थात् द्रव्य गुण पूर्वतः विद्यमान होते हैं, और जो एक बार उत्पन्न हुए कालन्तर में वर्तमान रहते हैं, क्रिया के समान उत्पन्नमात्र विनाश को प्राप्त नहीं होते, वे शब्द नाम हैं । वे द्रव्य और गुण को कहनेवाले शब्द हैं । द्रव्य गुण शब्दों का इस प्रकार का (=चिरकाल तक स्थायी रहनेवाला) अर्थ है । [सूत्रकार ने] 'वे द्रव्य गुण शब्द हैं' ऐसा कहने के स्थान में 'वे नाम हैं' सूत्रित किया है (=सूत्र) में पढ़ा है । इस कारण 'नाम' यह इन (=द्रव्य गुण शब्दों) का पर्याय शब्द है । कैसे जाना जाता है ? जिस कारण इन (=द्रव्य गुण शब्दों) की विभक्तियां नामिकी कही जाती हैं । वे कौनसी हैं ? वृक्षः वृक्षौ वृक्षाः, शुक्लः शुक्लौ शुक्लाः इत्यादि । इसलिये सूत्रकार ने ठीक ही सूत्र रचा है । जिस कारण इन (=द्रव्य गुण शब्दों) का अर्थ क्षणिक नहीं है, इस कारण उनसे पर की आकाङ्क्षा=प्रधान की आकाङ्क्षा

न विद्यते' इति । नैषामुत्पत्तिः कर्त्तव्या । भूतत्वात् स्वे प्रयोगे स्वप्रयोगकाले विद्यमानत्वादित्यर्थः ॥३॥

येषां तूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते तान्यख्यातानि, तस्मात्तेभ्यः प्रतीयेताश्रितत्वात् प्रयोगस्य ॥४॥ (उ०)

नहीं है । इन [द्रव्य गुण रूप अर्थों] की उत्पत्ति करने योग्य नहीं है । विद्यमान होने से स्वप्रयोग विषय में=द्रव्य गुण शब्दों के प्रयोगकाल में [इन अर्थों के] विद्यमान होने से, यह अभिप्राय है ॥३॥

विवरण—पूर्व जो सूत्रार्थ दर्शाया है, वह भाष्यकार-प्रदर्शित सूत्रार्थ से कुछ भिन्न है । भाष्यकारीय अर्थ कुछ क्लिष्ट होने से अन्य वृत्तियों के आधार पर सूत्र का सरल अर्थ लिखा है। फिर भी दोनों में मूलभूत अन्तर नहीं है । **पराकाङ्क्षा प्रधानाकाङ्क्षा न विद्यते**—पर=अन्य की निष्पाद्य रूप से अथवा प्रधान की आकाङ्क्षा नहीं है । **प्रधानाकाङ्क्षा न विद्यते** का तात्पर्य है—निष्पाद्य रूप से प्रधान होते हुए जो साधन की आकाङ्क्षा होती है, वह नहीं है,निष्पाद्य न होने से । अथवा **तेभ्यः परा=दूरे आकाङ्क्षेत्यर्थः, कुतः भूतत्वादेव** । अर्थात् उन द्रव्य गुण शब्दों से आकाङ्क्षा दूर है=आकाङ्क्षा नहीं है, उनके भूत=वर्तमान होने से । **न विद्यते इति**—भाष्यकार ने सूत्रार्थ की पूर्ति के लिये इन पदों का अध्याहार किया है । इस विषय में सूत्रार्थ के अनन्तर विशेष शीर्षक के अन्तर्गत लिख चुके हैं ।

विशेष विचार—प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद (सूत्र ५ तथा ३ के भाष्य) में **श्येनेनाभिचरन् यजेत चित्रया यजेत पशुकामः** वाक्यस्थ श्येन और चित्रा के सम्बन्ध में विचार किया है कि ये गुणविधि हैं,अथवा याग के नामधेय हैं(द्र०—पूर्व,भाग १,पृष्ठ क्रमशः३०२–३०३; २९०–२९५)। याग के नामधेय हैं, यह वहां सिद्धान्त किया है । नामधेय होने से श्येन और चित्रा नाम पद भी साध्यरूप होंगे, धातुतुल्य होंगे । धातुतुल्य होने पर श्येन और चित्रा द्रव्य गुणवाचक शब्द भी भावार्थक बन जायेंगे । इसका समाधान भट्ट कुमारिल ने इस प्रकार किया है—'अभिचार और पशुकामरूप फल के सम्बन्ध में गुणविधिरूप से सिद्धार्थ हैं । इसके साथ यह भी ज्ञातव्य है कि जब साध्यात्मक भी धात्वर्थ (=भाव) नाम पद से कहा जाता है, तब वह द्रव्यवत् निष्पन्न रूप ही प्रतीत होता है ।' यथा– **पाकं करोति, त्यागं करोति** । इसी बात को वैयाकरण **कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् भवति**=कृत्प्रत्यय से कहा गया भाव द्रव्यवत्=सिद्धवत् होता है(द्र०—महाभाष्य २।२।१९; ३।१।६७) । निरुक्त (१।१) में भी कहा है—**मूर्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिः** । सत्त्व=द्रव्यनामों से कहा जानेवाला भाव मूर्त सत्त्ववत् प्रतीत होता है ॥३॥

येषां तूत्पत्तावर्थे स्वे ...... आश्रितत्वात् प्रयोगस्य ॥४॥

सूत्रार्थः—(येषाम्) जिन शब्दों का (तु) तो (उत्पत्तौ) उच्चारणरूप उत्पत्ति के समय

---

१. 'न विद्यते' इत्यध्याहारः, अथवा परा=दूरे आकांक्षा इत्यर्थ इति भट्टकुमारिलः। उत्तरसूत्रे पदयोः इह पूर्वानुषङ्ग इत्यन्ये । पराऽकाङ्क्षा इत्येवं विच्छिद्य 'प्रधानस्य काङ्क्षाया अभावः' इति कुतुहलवृत्तिकारः । तस्यैव 'अकाङ्क्षा' अर्थस्य आकाङ्क्षा न विद्यत इति पदे निर्देशः ।

येषां तु शब्दानामुच्चारणोत्पत्तौ स्वे अर्थे प्रयोगो न विद्यते, प्रयोगकाले येषामर्थो नोपलभ्यते इत्यर्थः, तान्याख्यातानीति। भावशब्दान् पर्यायशब्देनोपदिशति। कथं पर्यायशब्दता भावशब्दानाम्? यत एषां विभक्तय आख्यातिक्य इत्युच्यन्ते। कतमास्ताः? पचति पचतः पचन्ति इत्येवमादयः। तस्मात्तेभ्योऽपूर्वं प्रतीयेत। भव्यार्थास्ते भूतार्थैः समुच्चरिताः। भूतस्य भव्यार्थतायां दृष्टार्थता। भव्यार्थस्य प्रयोजनवत उत्पत्तिरर्थवती, सा च भूतेन क्रियते, इति दृष्टोऽर्थः। भव्यस्य पुनर्भूतार्थतायां न किञ्चिद् दृश्यते, कल्प्यते चादृष्टम्। तस्मान्न यागो द्रव्यार्थः।

किञ्च, आश्रितत्वात् प्रयोगस्य। एतेषां प्रयोगः पुरुषेणाश्रितो भवति, पुरुषसम्बद्धा भावना उच्यते। पुरुषं हि वदति—भावयेदिति। तेन स्वर्गकामो यजेतेति पुरुषोऽपि प्रतीयते, यागोऽपि, सम्बन्धोऽपि। स्वर्गकामो द्रव्येणेति द्रव्यं प्रतीयते पुरुषश्च, न तु सम्बन्धः। नन्वेतदुक्तं भवति—अर्थिनश्च द्रव्यस्य च सम्बन्धं यजेतेति वक्ष्यति, द्रव्येण

(स्वे अर्थे) अपने वाच्य अर्थ में (प्रयोगो न विद्यते) प्रयोग नहीं होता है, अर्थात् उच्चारण-काल में उनका अर्थ विद्यमान नहीं होता है, (तानि आख्यातानि) वे आख्यात=भाववाचक शब्द होते हैं। (तस्मात्) इस कारण (तेभ्यः) उन [आख्यात=भाववाचक शब्दों] से [अपूर्व को] (प्रतीयेत) जाने, (प्रयोगस्य) आख्यात शब्दों के प्रयोग के [पुरुष से] (आश्रित्वात्) आश्रित होने से। अर्थात् आख्यात शब्दों से पुरुष-संबद्ध भावना कही जाती है। पुरुष के प्रति यजेत आदि आख्यात पद 'भावयेत् निष्पन्न सिद्ध करे' ऐसा कहते हैं।

व्याख्या—जिन शब्दों का तो उच्चारणरूप उत्पत्ति के समय अपने वाच्य अर्थ में प्रयोग नहीं होता है, अर्थात् प्रयोगकाल में जिनका वाच्य अर्थ उपलब्ध नहीं होता है, वे आख्यात होते हैं। आख्यातरूप पर्याय शब्द से भाव शब्दों का उपदेश [सूत्रकार ने] किया है। [आख्यात की] भाव शब्दों के साथ पर्यायता कैसे है? जिस कारण इन [भाव शब्दों] की विभक्तियां 'आख्यातिकी' कही जाती हैं। वे कौनसी हैं? पचति पचतः पचन्ति इत्यादि। इसलिये उन [आख्यात शब्दों] से अपूर्व की प्रतीति होती है। भव्य (=साध्य) रूप अर्थवाले वे [आख्यात शब्द] भूतार्थकों (=विद्यमान अर्थवाले शब्दों) के साथ समुच्चरित हैं। विद्यमान की भव्यतार्थकता (=साध्यार्थकता) में दृष्टार्थता (=दृष्टप्रयोजनवत्ता) होती है। प्रयोजनवान् भव्यार्थ की उत्पत्ति प्रयोजनवाली होती है, और वह अर्थवती भव्यार्थ की उत्पत्ति विद्यमान अर्थ से की जाती है, यह भी दृष्ट (=लोकविज्ञात) अर्थ है। भव्यार्थ की विद्यमानार्थता में कोई प्रयोजन नहीं देखा जाता है, और अदृष्ट की कल्पना होती है। इस कारण याग द्रव्य के लिये नहीं है।

और भी, प्रयोग के आश्रित होने से। इन [आख्यात शब्दों] का प्रयोग = यागादि पुरुष के आश्रित होता है, पुरुष से सम्बद्ध भावना कही जाती है। [आख्यात शब्द] पुरुष को कहता है—[कुछ] निष्पन्न = सिद्ध करे। इस कारण स्वर्गकामो यजेत [पदों] से [स्वर्गकामनावाला] पुरुष भी प्रतीत होता है, याग भी, और सम्बन्ध भी। स्वर्गकामो द्रव्येण [पदों] से द्रव्य प्रतीत होता है, और [स्वर्गकामनावाला] पुरुष भी, परन्तु दोनों का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है। (आक्षेप) यह कहा जा सकता है कि—अर्थी (=कामनावाले पुरुष) का और द्रव्य का सम्बन्ध यजेत पद कह देगा,

भावयेदिति। अतो द्रव्येण अर्थस्य भावना गम्येत, आकाङ्क्षा चेति। सत्यं गम्यते। 'द्रव्येण भावयेद्'इति तु वाक्येन,'यागेन भावयेद्'इति तु श्रुत्या। यदा तु'यागेन भावयेद्'इति यागसम्बन्धो विधीयते, न तदा 'द्रव्येण भावयेद्'इति द्रव्यसम्बन्धः। न च द्रव्यसम्बन्धे विधीयमाने 'यजेत' इत्यनेन सम्बन्धः। अनूद्यमाने तु सम्भवति। न च यौगपद्येन विध्यनुवादौ सम्भवतः। तस्माच्छ्रुतिवाक्ययोर्विरोधः। विरोधे च श्रुतिर्बलीयसी[1]। तेनार्थिना न द्रव्यसम्बन्धः। तत्र द्रव्यमसति स्वर्गकामसम्बन्धे स्वर्गार्थं भविष्यतीत्यनुपपन्नम्। एष विनिगमनायां हेतुः,येन भावशब्दा एवापूर्वस्य चोदकाः,न द्रव्यगुणशब्दा इति। यदा 'यागेन कुर्याद्'इति, तदा यागवचनमेव भवति। दर्शपूर्णमासाभ्यामिति लक्षणया, दर्शे च पूर्णमासे च यागो विहित इति ॥४॥ इत्यपूर्वस्याऽऽख्यातपदप्रतिपाद्यताऽधिकरणम् ॥१॥

और द्रव्य से भावना कही जायेगी। इस प्रकार द्रव्य पद से अर्थ (=स्वर्ग आदि) की भावना जानी जाती है, और आकाङ्क्षा भी। (समाधान) सत्य है [भावना] जानी जाती है। द्रव्येण भावयेत्=द्रव्य से निष्पत्ति=प्राप्ति करे, यह अर्थ वाक्य से जाना जाता है, परन्तु यागेन भावयेत्=याग से निष्पत्ति=प्राप्ति करे, यह यजेत श्रुति से जाना जाता है। जब यागेन भावयेत् से याग का सम्बन्ध [भावना के साथ] कहा जाता है, तब द्रव्येण भावयेत् ऐसा द्रव्य का सम्बन्ध [भावना के साथ] नहीं जाना जाता है। और भी, द्रव्य-सम्बन्ध के विधीयमान होने पर यजेत इसके साथ सम्बन्ध नहीं होगा। अनुवाद (=पुनः कथन) होने पर तो सम्भव है। युगपत् (=एक साथ) विधि और अनुवाद संभव नहीं। [अर्थात् द्रव्येण भावयेत् में द्रव्य की विधि है। उस द्रव्य का अनुवाद करके द्रव्येण यजेत=द्रव्य से याग करे, में द्रव्य अनूद्यमान होता हैं।] इसलिये यहां श्रुति और वाक्य का विरोध होता है। [श्रुति और वाक्य के] विरोध में श्रुति बलवती[1] होती है। इसलिये अर्थी [=स्वर्गादि फल की कामनावाले पुरुष] के साथ द्रव्य का सम्बन्ध नहीं होता है। ऐसी अवस्था में [द्रव्य का] स्वर्गकाम पुरुष के साथ सम्बन्ध न होने पर [वह द्रव्य] स्वर्ग के लिये (=स्वर्ग की निष्पत्ति=प्राप्ति के लिये) होगा, यह उपपन्न नहीं होता है। यही विनिगमना (=निश्चय) में हेतु है, जिससे भाव शब्द ही अपूर्व के विधायक होते हैं, द्रव्य गुण शब्द नहीं होते। जब यागेन कुर्यात् कहते हैं, तब यागवचन ही होता है। दर्शपूर्णमासाभ्याम् [स्वर्गं भावयेत्] यह लक्षणा से लक्षित होता है, क्योंकि अमावस्या और पूर्णिमा को याग विहित है। [अर्थात् अमावास्या और पूर्णिमा में याग के विहित होने से काल-सम्बन्ध लक्षणा से दर्शपूर्णमासाभ्याम् से तत्काल विहित याग अर्थ जाना जाता है ॥४॥

विवरण—आश्रितत्वात् प्रयोगस्य इसका भाव यह है कि पुरुष-व्यापाररूप भावना में धात्वर्थ का उपश्लेप=सम्बन्ध भी पुरुष के ही आश्रित है। उसके अतिक्रमरूप हेतु के अभाव होने से भाष्यकार ने नामपद का ग्रहण नहीं किया है। अर्थात् आश्रितत्वात् नाम्नां प्रयोगस्य ऐसा नहीं

---

१. द्र०—श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् ॥ मी० ३।३।१४॥

[अपूर्वस्यास्तित्वाधिकरणम् ॥२॥

कथं पुनरिदमवगम्यते—अस्ति तदपूर्वमिति ? उच्यते—

चोदना पुनरारम्भः ॥५॥

चोदनेत्यपूर्व ब्रूमः। अपूर्वं पुनरस्ति। यत आरम्भः शिष्यते—स्वर्गकामो यजेतेति। इतरथा हि विधानमनर्थकं स्यात्। भङ्गित्वाद् यागस्य। यद्यन्यदनुत्पाद्य यागो विनश्येत्, फलमसति निमित्ते न स्यात्। तस्मादुत्पादयतीति। यदि पुनः फलवचनसामर्थ्यात्तदेव न विनश्यतीति कल्प्यते ? नैवं शक्यम्। न हि कर्मणोऽन्यद् रूपमुपलभामहे। यदाश्रयं

कहा है। विरोधे च श्रुतिर्बलीयसी—यह बात सूत्रकार ने श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् (मी० ३।३।१४) सूत्र में कही है। तेनार्थिना न द्रव्यसम्बन्धः—अर्थ्यत इत्यर्थः (=जिस की चाहना की जाए) इस व्युत्पत्ति से अर्थ शब्द से यहां स्वर्गादि फल अभिप्रेत है, और उस अर्थ=फल की चाहनावाला=अर्थी ॥४॥

व्याख्या—यह कैसे जाना जाता है कि—वह अपूर्व है ? इस विषय में कहते हैं—

विवरण—पूर्व अधिकरण में कहा है कि भावशब्दों (=आख्यात=क्रियाशब्दों) से अपूर्व जाना जाता है। उस अपूर्व में क्या प्रमाण है ? इसके समाधान के लिए सूत्र है—

चोदना पुनरारम्भः॥५॥

सूत्रार्थः—(चोदना) अपूर्व है, (पुनः) जिस कारण [स्वर्गादिफल के यागरूप] साधन के (आरम्भः) उपदेश का विधायक वचन कहा जाता है।

विशेष—चोदना शब्द यहां चोद्यते आक्षिप्यते कर्मसाधन है। अतः चोदना का अर्थ है—'आक्षिप्त' अर्थ=अपूर्व (कुतुहलवृत्ति)। पुनः—भाष्यकार और 'सुबोधिनी' वृत्तिकार के मत में वाक्यालंकार में है, अर्थात् निरर्थक। कुतुहल वृत्तिकार ने 'पुनः' को यतः अर्थ में माना है, और आरम्भः को उत्पत्ति अर्थ में। अर्थात् जिस कारण कर्म के फल की उत्पत्ति वेद में सुनी जाती है।

व्याख्या—'चोदना' से अपूर्व को कहते हैं। और अपूर्व है। जिस कारण [फलसाधक याग का] आरम्भ=आरम्भक=विधायक वाक्य कहा जाता है—स्वर्गकामो यजेत (=स्वर्ग की कामनावाला याग करे। अन्यथा (=अपूर्व को न मानने पर) [याग का] विधान अनर्थक होवे, याग के क्षणभङ्गुर होने से। यदि याग किसी अन्य को बिना उत्पन्न किये नष्ट हो जावे, तो फल निमित्त=कारण के न होने से न होवे। इस हेतु से [याग अपूर्व को] उत्पन्न करता है [यह जाना जाता है]। (आक्षेप) यदि फल-वचन—सामर्थ्य से वह याग ही नष्ट नहीं होता, ऐसी कल्पना करें ? (समाधान) ऐसी कल्पना नहीं कर सकते। कर्म का अन्य० (=क्रिया से भिन्न) रूप हम उपलब्ध नहीं करते। जिसका आश्रय देशान्तर को प्राप्त कराता है, वह कर्म

देशान्तरं प्रापयति, तत् कर्मेत्युच्यते। न तदात्मनि समवेतम्। सर्वगतत्वादात्मनः। सर्वत्र कार्योपलम्भः सर्वत्र भावे लिङ्गम्। ननु तदेव[1] देशान्तरादागमनस्य? न ह्यसति आगमने किञ्चिद्विरुद्धं दृश्यते। यत्र समवेतमासीत्, तद्विनष्टं द्रव्यम्। तस्य विनाशात्तदपि विनष्टमित्यवगम्यते। आश्रयोऽप्यविनष्ट इति चेत् न, भस्मोपलम्भनात्। सत्यपि भस्मन्यस्तीति चेत् न, विद्यमानोपलम्भनेऽप्यदर्शनात्। फलक्रिया लिङ्गमिति चेत्, एवं सत्यदर्शने समाधिर्वक्तव्यः। सौक्ष्म्यादीनाम्[2] अन्यतमद्भविष्यतीति यदि चिन्त्यते, कल्पितमेवं सति किञ्चिद् भवतीति।

कहा जाता है। वह [कर्म=क्रिया] आत्मा के साथ समवेत (=युक्त) नहीं है। आत्मा के सर्वगत (=व्यापक) होने से। आत्मा के सर्वत्र होने में सर्वत्र कार्य का होना ही लिङ्ग (=कारण =हेतु है। (आक्षेप) वह कर्म ही [आत्मा के] देशान्तर से आगमन का लिङ्ग होवे? (समाधान) आगमन न होने में ही कुछ विरुद्ध नहीं दीखता। [आत्मा के आगमन मानने में तो बहुत विरोध आता है।] वह कर्म (=याग क्रिया) जिसमें समवेत था, वह [हुत] द्रव्य नष्ट हो गया। उसके विनाश से वह कर्म भी विनष्ट हो गया, ऐसा जाना जाता है। यदि कहो [कर्म का] आश्रय द्रव्य विनष्ट नहीं हुआ, तो यह उचित नहीं है भस्म (=राख) के उपलब्ध होने से। यदि कहो कि भस्म होने पर भी [आश्रय द्रव्य] विद्यमान है, तो यह भी उचित नहीं है, विद्यमान वस्तु के उपलब्ध होने पर भी [उसके] उपलब्ध न होने से। यदि कहो कि [आश्रय द्रव्य की विद्यमानता में] फलक्रिया (=फलप्राप्ति) लिङ्ग है, तो यह भी उचित नहीं है, इस प्रकार [विद्यमान वस्तु के] अदर्शन में समाधान करना चाहिये। [अर्थात् विद्यमान होता हुआ भी क्यों नहीं दीखता, इसका कारण बताना चाहियें।] यदि यह विचारते हो कि [विद्यमान वस्तु के अदर्शन में] सूक्ष्मता आदि कारणों में से कोई कारण होगा, तो कल्पना कर ही ली कि कुछ कारण होता है।

विवरण—चोदनेत्यपूर्वं ब्रूमः—इसका अभिप्राय है कि यहां चोदना शब्द लौकिक अर्थ का वाचक न होकर अपूर्वरूप विशेष अर्थ का वाचक है (इस विषय में पूर्व भाग १, पृष्ठ २० पर निर्दिष्ट टिप्पणी २ द्रष्टव्य है)। सर्वगतवाद आत्मनः—भाष्यकार सर्वव्यापकसृष्टि-विधाता ब्रह्म को स्वीकार नहीं करते हैं, अत: 'सर्वत्र कार्योपलम्भ' हेतु से जीवात्मा को ही सर्वव्यापक मानते हैं। ननु तदेव देशान्तरादागमनस्य—इस वाक्य की और उत्तर वाक्य की व्याख्या हमने भट्ट कुमारिल की व्याख्या के अनुसार की है। भट्ट कुमारिल ने न तु तदेव पाठान्तर लिखा है। इस पक्ष में यह सिद्धान्ती का ही वचन है। अर्थ है—वह कर्म ही आत्मा के देशान्तर से आगमन में हेतु नहीं है। सौक्ष्म्यादीनामन्यतमत्—इस की सविस्तर व्याख्या के लिये देखें—प्रथम भाग, पृष्ठ २४–२५ का विवरण। वहां हमने चरक, सांख्यकारिका, महाभाष्य और सांख्यदर्शन के एतद्विषयक वचन भी टिप्पणियों में उद्धृत किये हैं।

---

१. 'न तु तदेव' इति पाठान्तरम्, इति भट्ट कुमारिल:।

२. सौक्ष्म्यादिकारणानां परिगणनमस्माभि: १।१।५ सूत्र-भाष्य-व्याख्यायां (भाग १, पृष्ठ २४, टि० १-२; पृष्ठ २५, टि० १-२) कृतम्, तत्तत्रैव द्रष्टव्यम्।

तत्रापूर्वं वा कल्प्येत, तद्वा इति ? अविशेषकल्पनायामस्ति हेतुः, न विशिष्टकल्पनायाम् । अनाश्रितं कर्म भविष्यतीति चेत्, तदपि तादृशमेव । स्वभावान्तरकल्पनेन देशान्तरं न प्रापयिष्यतीति तादृशमेव । तस्माद् भङ्गी यजिः । तस्य भङ्गित्वादपूर्वमस्तीति । किं चिन्तायाः प्रयोजनम् ? यदि द्रव्यगुणशब्दा अप्यपूर्वं चोदयन्ति—द्रव्यगुणापचारे न प्रतिनिधिरुपादातव्यः, यथा तर्हि पूर्वः पक्षः । यदि तर्हि सिद्धान्तः द्रव्यं गुणं वा

विशेष—हमारा विचार है कि यहां **सर्वगतत्वादात्मनः** से लेकर **किञ्चिद् विरुद्धं दृश्यते** पाठ प्रक्षिप्त है । **न तदात्मनि समवेतम्** से इतना ही कहा है कि वह कर्म आत्मसमवेत नहीं है, जिससे आत्मा के नित्य होने से वह कालान्तर में स्थायी होवे । इस अंश के साथ **यत्र समवेतमासीत् तद् विनष्टं द्रव्यम्**=जिसमें कर्म समवेत था, वह द्रव्य नष्ट हो गया, की संगति बहुत सरलता से उपपन्न हो जाती है । मध्य में आत्मा के व्यापक होने, और उसमें गति होने न होने का विचार अप्रासङ्गिक-सा है । संगति भी क्लिष्ट है । भट्ट कुमारिल ने भी क्लिष्टता से ही संगति दर्शाई है। भट्ट कुमारिल से पूर्व ही पाठ बढ़ाया जा चुका था, यह उसके व्याख्यान से सिद्ध है । सम्भव है **नह्यात्मनि समवेतम्** की व्याख्या में किसी आचार्य ने उक्त व्याख्या शिष्य को बताई हो, और उसने अपनी पुस्तक के रिक्त भाग (हाशिये) पर उसे चिह्न देकर संकेतित कर लिया हो । पश्चात् उत्तरकाल में उस प्रति से प्रतिलिपि करते समय लेखक ने उसे छूटा हुआ अंश मानकर पाठ के मध्य में जोड़ दिया हो । प्रतिलिपि-कर्त्ताओं के द्वारा हाशिये पर व्याख्यारूप में लिखे गये अंश को मूलग्रन्थ में सम्मिलित कर लेने रूप अपपाठों को आग्रहशून्य व्याख्याता वा शोधकर्ता विद्वान् प्रकरणादि के द्वारा सरलता से जान सकते हैं । इस विषय में हम एक प्राचीन प्रमाण उपस्थित करते हैं—**क्ङिति च** (अष्टा १।१।५) की काशिकावृत्ति में एक अप्रासङ्गिक पङ्क्ति है—**लघूपधगुणस्याप्यत्र प्रतिषेधः** । इस पर काशिका के व्याख्याता जिनेन्द्रबुद्धि (वि० सं० ७००) ने अपनी 'न्यास' नाम्नी व्याख्या में लिखा है—**उत्तरसूत्रे** (अष्टा० १।१।६) **कणिता इवो रणिता इव इत्यनन्तरमनेन ग्रन्थेन भवितव्यम्** । **इह तु दुर्विन्यस्तकाकपदजनितभ्रान्तिभिः कुलेखकैर्लिखितम्** अर्थात् उक्त पाठ उत्तर सूत्र में होना चाहिये था, परन्तु यहां अस्थान में चिह्नित काकपद (= ^ ऐसा चिह्न) दे उत्पन्न भ्रान्ति से कुलेखकों ने लिख दिया है ।।

व्याख्या—वहां (=कल्पना ही करनी होवे, तो) अपूर्व की कल्पना की जाये, अथवा उस (=भस्मीभूत हुत द्रव्य की विद्यमानता) की । सामान्य कल्पना (=अपूर्व की कल्पना) में तो हेतु हैं, विशिष्ट कल्पना (=भस्मीभूत हुत द्रव्य की कल्पना) में हेतु नहीं है । यदि कहो कि कर्म (=याग) अनाश्रित (=किसी हुत द्रव्यादि के आश्रित न) होता हुआ भी विद्यमान रहेगा, तो वह भी उसी प्रकार (=कल्पनामात्र) है । [कर्म के] स्वभावान्तर की कल्पना से [कर्म] देशान्तर में नहीं प्राप्त करायेगा, यह भी उसी प्रकार है । इसलिये यजि (=यागकर्म) भङ्गी (=नष्ट होनेवाला) है। उसके भङ्गी होने से [फल को कालान्तर में प्राप्त करानेवाला] अपूर्व है । इस विचार का प्रयोजन क्या है? यदि द्रव्य गुण शब्द भी अपूर्व के ज्ञापक हैं, तो द्रव्य गुण के अपचार (=विनाश आदि) होने पर [यज्ञ की पूर्ति के लिये] प्रतिनिधि (=तत्सदृश द्रव्यान्तर वा गुणान्तर का उपादान (=ग्रहण) नहीं करना चाहिये, जैसा कि पूर्वपक्ष है [क्योंकि शब्द बोधित उपात्त (=गृहीत) द्रव्य गुण ही

प्रतिनिधाय प्रयोगोऽनुष्ठातव्य इति ॥५॥ इत्यपूर्वस्यास्तित्वाधिकरणम् ॥२॥

[कर्मणां गुणप्रधानभावविभागाऽधिकरणम् ॥३॥]

अवगतमेतद्—भावशब्दाः कर्म्मणो वाचका इति। बहुप्रकाराश्च भावशब्दाः—यजति जुहोति ददातीत्येवम्प्रकाराः; दोग्धि पिनष्टि विलापयतीत्येवमादयश्च। तेषु सन्देहः— किं सर्वे प्रधानकर्म्मणोः विधायकाः उत केचित् संस्कारकर्म्मण इति? भावार्थत्वाविशेषात् सर्वे प्रधानकर्म्मणो वाचका इति प्राप्तम्। ततो ब्रूमः—

अपूर्व के उत्पादक होंगे, उसके प्रतिनिधिभूत द्रव्य गुण नहीं होंगे]। और जैसा सिद्धान्त है (भाव शब्द ही अपूर्व के चोदक हैं)तो[यथाश्रुत द्रव्य गुण के विनाश होने पर]द्रव्य वा गुण का प्रतिनिधि बनाकर प्रयोग(=कर्म) का अनुष्ठान करना चाहिये ॥५॥

विवरण—न प्रतिनिधिरुपादातव्यः—शास्त्रकारों ने यथाश्रुत मुख्य द्रव्य आदि का ग्रहण करके याग आरम्भ करने पर यदि गृहीत द्रव्य नष्ट हो जावे, वा दूषित हो जावे, अथवा उपलब्ध ही न होवे (यथा सोम), तो उसके प्रतिनिधिभूत किसी द्रव्य को ग्रहण करके याग पूर्ण किया जावे वा नहीं, इस विषय पर विचार करके सिद्धान्त किया है—मुख्य द्रव्य के अपचार में, अथवा मुख्य द्रव्य की अनुपलब्धि में, प्रतिनिधि द्रव्य से याग करना चाहिये। यथा—**नियते सामान्यतः प्रतिनिधिः स्यात्**(कात्या० श्रौत १।४।२)। इसका भाव यह है कि नियत द्रव्य के अपचार=नाशादि होने पर सामान्य धर्म के अनुसार प्रतिनिधि होवे। मुख्य द्रव्य के उपलब्ध न होने पर भी प्रतिनिधि का विधान किया है। यथा—**यदि सोमं न विन्देत् पूतीकतृणान्यभिषुणुयात्** (ताण्ड्य ब्रा० ९।५।३)= अर्थात् सोम न मिलने पर पूतीकसंज्ञक तृण का अभिषव करे। शतपथ (११।१।३।१) में भी **यत् पयो न स्यात् केन जुहुयात्** (=यदि दूध न मिले तो किस से होम करे?) इत्यादि प्रकरण में एक के अभाव में अन्य, उसके अभाव में अन्य द्रवों का नामनिर्देशपूर्वक उल्लेख करके कर्म करने का विधान किया है। मीमांसाशास्त्र में भी प्रतिनिधि के विषय (कहां प्रतिनिधि होवे, कहां न होवे) का विस्तार से तृतीय अध्याय के षष्ठ पाद तथा षष्ठाध्याय के तृतीय पाद में विस्तार से विधान किया है। उसे आगे यथाशास्त्र यथाप्रकरण देखें ॥५॥

व्याख्या—यह ज्ञात हो गया है कि—भावशब्द कर्म के वाचक हैं। और भाव शब्द बहुत प्रकार के हैं—यजति जुहोति ददाति इस प्रकार के; और दोग्धि पिनष्टि विलापयति इस प्रकार के। उन में सन्देह है कि—क्या सब प्रधानकर्म के विधायक हैं, अथवा कतिपय संस्कारकर्म के? भावार्थत्व के सामान्य होने से सब प्रधान कर्म के वाचक हैं, यह प्राप्त होता है। इस कारण कहते हैं—

विवरण—प्रधानकर्मणो विधायकाः—प्रधान कर्म=याग होम दान के विधायक। संस्कार-

तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि ॥६॥ (सि०)

तानि द्वैधं भवितुमर्हन्तीति द्विप्रकाराणि । कानिचित् प्रधानकर्म्मणो वाचकानि, कानिचित् संस्कारकर्म्मणः । एवमपि सर्वाण्यर्थवन्ति । अर्थवत्त्वे सति सर्वेभ्यो न शक्यमपूर्वं कल्पयितुम् । अतो न सर्वाणि प्रधानकर्म्मणो वाचकानि ॥६॥

एवं सति अल्पीयसी अदृष्टकल्पना न्याय्या । ननु न विनिगमनायां हेतुरवगच्छामः । कुतोऽपूर्वं, कुतो नेति ? तदुच्यते—

कर्मणः—प्रधानकर्म के साधनभूत द्रव्य वा हवि आदि के संस्कारक । संस्कारक कर्म द्वारा संस्कृत द्रव्य याग उपकारक होते हैं । इस प्रकार संस्कारकर्म के परार्थ होने से संस्कारकर्म गुण (=गौण) कर्म कहाते हैं ।

तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि ॥६॥

सूत्रार्थः—(तानि) भावशब्द-बोधित कर्म (द्वैधम्) दो प्रकार के हैं—(प्रधानगुणभूतानि) प्रधानभूत और गुणभूत (=गौण) ।

व्याख्या—वे भाववाचक शब्द दो विभागवाले अर्थात् दो प्रकार के हो सकते हैं । कतिपय प्रधानकर्म के वाचक, और कतिपय संस्कारकर्म के वाचक । इस प्रकार भी सभी भाववाचक अर्थवान् होते हैं । और अर्थवान् होने पर सब भावशब्दों से अपूर्व की कल्पना नहीं की जा सकती । इसलिये सब प्रधानकर्म के वाचक नहीं हैं ॥६॥

विवरण—सर्वेभ्यो न शक्यमपूर्वं कल्पयितुम्—का भाव यह है कि जो प्रधानकर्म के वाचक यजति आदि भाव शब्द हैं । उनसे ही अपूर्व की कल्पना होती है । गुणकर्म (=संस्कारकर्म) के वाचक भावशब्दों से अपूर्व उत्पन्न नहीं होता है । यहां ध्यान रहे कि संस्कारकर्म (=गुणकर्म) वाचक भावशब्दों से अपूर्व की उत्पत्ति का जो अभाव कहा है, वह स्वर्गादि फल के दाता अपूर्व से है । वैसे संस्कारकर्मों से भी अङ्गापूर्व की उत्पत्ति मीमांसक मानते हैं । अतः अङ्गापूर्वरूप परार्थ (यागापूर्व के लिये) अपूर्व स्वर्गादि फलों के साक्षात् दाता नहीं हैं । इतना ही भाष्यकार का तात्पर्य है ॥६॥

व्याख्या—इस प्रकार (=दो प्रकार के भावशब्द) मानने पर लघीयसी अदृष्ट-कल्पना न्याय्य होगी । (आक्षेप) विनिगमना (=निश्चय) में हम कोई हेतु नहीं जानते हैं । किस भाव शब्द से अपूर्व होता है, किस से नहीं ? (समाधान) वह कहते हैं—

विवरण—यद्यपि भाष्यकार ने पूर्वसूत्र के भाष्य में ही यह ध्वनित कर दिया है कि किस भावशब्द से अपूर्व होता है, किस से नहीं, परन्तु वह पूर्वसूत्र के अभिप्राय से बहिर्भूत है । उत्तर दो सूत्रों पर आधृत है । पूर्व सूत्र का प्रयोजन तो भाव शब्दों के दो विभाग दर्शानामात्र है ।

यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥७॥ (सि०)

यैर्भावकर्मभिर्न द्रव्यं संस्कर्तुमिष्यते, उत्पादयितुं वा, तानि प्रधानभूतानि प्रधान-कर्म्मणो वाचकानि । द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् । तत्र द्रव्यं हि गुणभूतम्, कर्म्मनिर्वृत्तेरीप्सित-तमत्वात् ॥७॥ प्रधानकर्मलक्षणम् ॥

यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत तस्य द्रव्यप्रधानत्वात् ॥८॥ (सि०)

यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते, गुणस्तत्र प्रतीयेत कर्म्म । कुतः ? तस्य द्रव्यप्रधानत्वात् । प्रत्यक्षं यजेतेत्येवमादिभिर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते । तस्मात्तानि प्रधानकर्म्मणो वाचकानि, द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् । पिनष्टीत्येवमादिभिर्द्रव्यं संस्क्रियते । तस्मात्तानि गुणकर्म-वचनानि । एष एव विनिगमनायां हेतुः । प्रयोजनन्तु— पूर्वस्मिन् पक्षे प्रैयङ्गवेऽपि चरौ व्रीहय उत्पाद्या अवघातार्थत्वेन, सिद्धान्ते नोत्पाद्याः ॥८॥ गुणकर्मलक्षणम् ॥ इति कर्मणां गुणप्रधानभावविभागाऽधिकरणम् ॥३॥

यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते····द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥७॥

सूत्रार्थः—(यैः) जिन भावशब्दों से (द्रव्यम्) द्रव्य (न चिकीर्ष्यते) चिकीर्षित (=द्रव्य का संस्कार वा निष्पत्ति इष्ट) नहीं है, (तानि) वे भावशब्द (प्रधानभूतानि) प्रधानकर्म के वाचक हैं । (द्रव्यस्य) द्रव्य के (गुणभूतत्वात्) [याग के प्रति] गुणभूत=गौण होने से ।

व्याख्या—जिन भावकर्मों से द्रव्य को संस्कृत करना, वा उत्पन्न करना इष्ट नहीं होता है, वे भावशब्द प्रधानभूत=प्रधानकर्म के वाचक होते हैं । द्रव्य के गुणभूत होने से । वहां द्रव्य गुणभूत होता है, कर्म की निष्पत्ति के लिये ईप्सिततम होने से ॥७॥

यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते····द्रव्यप्रधानत्वात् ॥८॥

सूत्रार्थः—(तु) और (यैः) जिन भावशब्दों से (द्रव्यम्) द्रव्य (चिकीर्ष्यते) चिकीर्षित (द्रव्य का संस्कार वा निष्पत्ति इष्ट) होता है, (तत्र) वहां=ऐसे भावशब्दों में (गुणः) गुणकर्म (प्रतीयेत) जाने । (तस्य) उस भावकर्म के (द्रव्यप्रधानत्वात्) द्रव्यप्रधान होने से, अर्थात् उन में द्रव्य के संस्कार वा उत्पत्ति की प्रधानता होने से ।

व्याख्या— और जिन भावशब्दों से द्रव्य चिकीर्षित (=द्रव्य का संस्कार वा निष्पत्ति इष्ट) होता है, वहां गुणभूत कर्म [है, ऐसा] जाने । किस हेतु से ? उस भावशब्द के द्रव्यप्रधान होने से । यजेत आदि प्रकार के भावशब्दों से द्रव्य चिकीर्षित नहीं है, यह प्रत्यक्ष है । इसलिये वे यजेत आदि भावशब्द प्रधानकर्म के वाचक हैं, वहां द्रव्य के गुणभूत (=गौण) होने से । पिनष्टि आदि प्रकार के भावशब्दों से द्रव्य का संस्कार किया जाता है । इसलिये वे गुणकर्म के वाचक हैं । यही [दो भेदों की] विनिगमना (=निश्चय) में हेतु है । [इस विचार का] प्रयोजन है—पूर्व पक्ष में प्रियङ्गु (=कङ्गु=कंगनी=मालकंगनी) के चरु में भी अवघातादि कर्म के लिये व्रीहि की उत्पत्ति (=प्राप्ति) आवश्यक है, सिद्धान्तपक्ष में व्रीहि की उत्पत्ति इष्ट नहीं है ॥८॥

[सम्मार्जनादीनामप्रधानताऽधिकरणम् ।।४।।]

स्रुचः संमार्ष्टि,[1] अग्निं संमार्ष्टि,[2] परिधिं संमार्ष्टि,[3] पुरोडाशं पर्य्यग्निकरोति[4] इति श्रूयते। तत्र सन्देहः—किं पर्य्यग्निकरणं सम्मार्जनञ्च प्रधानकर्म्म, उत गुणकर्म्मेति ? किं तावत् प्राप्तम् ? तदुच्यते—

विवरण—प्रैयङ्गवेऽपि चरौ—यथा—पृश्न्यै दुग्धे प्रैयङ्गवं चरुं निर्वपेत् मरुद्भ्यो ग्रामकामः (तै० सं० २।२।११।४)=पृश्नि=श्वेत गौ के दूध में प्रियङ्गु सम्बन्धी चरु का मरुतों के लिये ग्राम की कामनावाला निर्वाप करे। चरु वह पका द्रव्य कहाता है, जो अन्तरूष्मा से पक जाता है, जिसमें ओदन के समान पानी(=मांड)नहीं निकाला जाता है। व्रीहय उत्पाद्या अवघातार्थत्वेन—प्रकृति-याग दर्शपौर्णमास में पढ़ा है—व्रीहीनवहन्ति(तु०—आप० श्रौत १।१६।११)। यदि अवहननक्रिया प्रधानकर्म होवे, तो प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या नियम से दर्शपौर्णमासरूप अवहननक्रिया प्रैयङ्गव चरुवाले कर्म में भी उपस्थित होगी। प्रकृति में अवहननक्रिया के साथ व्रीहि संबद्ध हैं। अर्थात् व्रीहिसंबद्ध अवहनन ही से अपूर्व होता है। अतः प्रैयङ्गव चरु में अवहनन (=कूटना) कर्म से उत्पाद्य अपूर्व की सिद्धि के लिये वहां भी व्रीहि का आगमन करना पड़ेगा। नोत्पाद्याः—सिद्धान्त पक्ष में अवहनन कर्म प्रधान नहीं है, वह व्रीहि के संस्कार के लिये है। अतः उस अवहनन कर्म के प्रैयङ्गव चरु में भी अनिर्देश से उपस्थित होने पर व्रीहि का आगमन नहीं होगा। प्रकृति में याग-साधक जो प्रियङ्गु है, उसी का अवहनन होगा ।।८।।

व्याख्या—स्रुचः सम्मार्ष्टि, अग्निं सम्मार्ष्टि, परिधिं सम्मार्ष्टि (=स्रुचों अग्नियों और परिधियों का सम्मार्जन(=साफ) करे, पुरोडाशं पर्यग्निकरोति (=पुरोडाश का पर्यग्निकरण[5])=पुरोडाश के चारों ओर अंगारे को प्रदक्षिणा के समान दाहिनी ओर से चारों ओर घुमाना)आदि सुना जाता है। इनके विषय में सन्देह है कि—क्या पर्यग्निकरण और सम्मार्जन प्रधानकर्म हैं, अथवा गुणकर्म ? क्या प्राप्त होता है ? वह कहा जाता है—

विवरण—स्रुचः सम्मार्ष्टि—जुहू उपभृत् ध्रुवा संज्ञक तीनों स्रुचों का संमार्जन कुशामुष्टि को मध्य से मोड़कर: दोनों भागों को बराबर करके, मध्य में कुशा के तृणों से बांध दिया है। दोनों भागों को बराबर करने के लिये कुशामुष्टि के आगे का लम्बायमान तृणभाग होता है, उसे काट दिया

---

१. शत० ब्रा० १।३।१।१।। तै० ब्रा० ३।३।१।१।।

२. द्र०—अग्निमग्नीत् सम्मृड्ढि। कात्या० श्रौत ३।१।१२।।

३. द्र०—परिधीन् सम्मार्ष्टि। तै० ब्रा० ३।३।७।४।।

४. द्र०—[पुरोडाशं] पर्यग्निकरोति··· सहाज्यम्। कात्या० श्रौत २।५।२२।।

५. हविषाम् आसमन्तात् प्रादक्षिण्येन उल्मुकस्य परिभ्रमणं पर्यग्निकरणमुच्यते। श्रौत-पदार्थ-निर्वचन, पृष्ठ १८, संख्या १४४, द्वि. सं.।

धर्ममात्रे तु कर्म स्यादनिर्वृत्तेः प्रयाजवत् ॥९॥ (पू०)

कर्म्ममात्रम्[1] एवञ्जातीयकम्, अपर्य्याप्तं यत् प्रयोजनस्य दृष्टस्य, तद्धर्म्ममात्रमिति ब्रूमः। तत्र प्रधानकर्म्मत्वं स्यात्। कस्मात्? अनिर्वृत्तेरुपकारस्य। न ह्येवञ्जातीयकं द्रव्यस्योपकारकम्। द्रव्यं त्वेवञ्जातीयकमभिनिर्वर्त्तयद् गुणभूतम्। तस्य गुणभूतत्वादिदं प्रधानभूतम् ॥९॥

जाता है। इस प्रकार वेद का आकार घरों में चूने की कलई करने की कूचीसा बन जाता है। वेद के अग्र भाग को बराबर करने पर जो पृथक् हुए तृण हैं, उनसे स्रुचों के मूल से लेकर अग्रभाग पर्यन्त उपरिभाग का, और मुख भाग से मूलपर्यन्त पृष्ठ (=नीचे के) भाग का सम्मार्जन किया किया जाता है। द्र०—शत० १।३।१।७; तथा कात्या० श्रौत० २।६।३९॥ अग्नि सम्मार्ष्टि—मूल-भाष्योक्त वचन हमें उपलब्ध नहीं हुआ। कात्यायन श्रौत ३।१।१२ में अग्निम् अग्नीत् समृड्ढि ऐसा प्रैष मिलता है। आपस्तम्ब श्रौत में 'अग्नीत् परिधींश्चाग्निं च त्रिस्त्रि: समृड्ढि' इति संप्रेष्यति वचन है। इध्म नामक समित् को बांधने के जो तृण थे, उनसे अग्नि और ३ परिधियों का तीन-तीन वार सम्मार्जन (=साफ) करने का अग्नीत् को अध्वर्यु प्रैष देता है (विशेष वहीं टीका ग्रन्थों में देखें)। परिधि संमार्ष्टि इस भाष्योद्धृत वचन में एकवचन जाति में है। तीनों परिधियों का सम्मार्जन होता है। अतएव तै० ब्रा० ३।३।७।४ में परिधीन् संमार्ष्टि में बहुवचन श्रुत है। पुरोडाशं पर्यग्निकरोति का तात्पर्य भाष्य-व्याख्या में स्पष्ट कर दिया है।

धर्ममात्रे तु कर्म स्यादनिर्वृत्तेः प्रयाजवत् ॥९॥

सूत्रार्थः—(कर्म) सम्मार्जनादि कर्म (तु) तो (धर्ममात्रे) धर्ममात्र=अपूर्व विषय में (स्यात्) होवे [अर्थात् सम्मार्जनादि कर्म भी अपूर्व के उत्पादक प्रधानकर्म होवें], (अनिर्वृत्तेः) [द्रव्य के उपकारकत्व की] निर्वृत्ति=सिद्धि न होने से, (प्रयाजवत्) प्रयाज के समान। जैसे प्रयाजसंज्ञक कर्म अपूर्वोत्पादक प्रधानकर्म हैं, उसी प्रकार सम्मार्जन आदि से भी स्रुच् आदि का उपकार न देखे जाने से सम्मार्जन आदि भी प्रधानकर्म हैं।

व्याख्या—कर्ममात्र इस प्रकार का, जो दृष्ट प्रयोजन के लिये अपर्याप्त (=असमर्थ) है, वह केवल धर्ममात्र(=अपूर्वमात्र) के लिये है, ऐसा हम कहते हैं। वहां(=दृष्टोपकार के लिये असमर्थ संमार्जनादि में) प्रधानकर्मत्व होवे। किस हेतु से? [द्रव्य के] उपकार की निर्वृत्ति (=सिद्धि) न होने से। इस प्रकार का कर्म द्रव्य का उपकारक नहीं है। [स्रुच् आदि] द्रव्य तो इस प्रकार के प्रधानकर्म को सिद्ध करता हुआ गुणभूत हैं। उस(=स्रुच् आदि द्रव्य) के गुणभूत होने से यह (=सम्मार्जनादि कर्म) प्रधानभूत है। [[2]प्रयाज के समान। जैसे प्रयाजान् यजति का 'प्रयाजकर्म से अपूर्व को उत्पन्न करे' अर्थ विदित होता है। उसी प्रकार स्रुचः सम्मार्ष्टि आदि भी अपूर्वोत्पादक कर्म के विधायक हैं] ॥९॥

---

१. अस्य स्थाने कर्म धर्मशास्त्रे इत्येवं सूत्रप्रतीकात्मकः पाठ आचार्यपादैर्निदर्शितोऽध्यापनकाले।

२. भाष्य में सूत्रस्थ 'प्रयाजवत्' की व्याख्या उपलब्ध नहीं है। सम्भव है भाष्य का पाठ टूट गया हो, अथवा सुगम होने से भाष्यकार ने व्याख्या न की हो।

तुल्यश्रुतित्वाद्वा इतरैः सधर्म[1] स्यात् ॥१०॥ (सि०)

वा शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। इतरैर्गुणकर्म्मभिः सधर्म्म[1] स्यादेवञ्जातीयकः। यथा व्रीहीनवहन्ति[2]। तथा कुतः? तुल्यश्रुतित्वात्। तुल्या हि द्वितीयाश्रुतिरेषां द्रव्येषु। यथा व्रीहीनवहन्ति इति। एवम् अग्निं संमार्ष्टि,[3] पुरोडाशं पर्य्यग्निकरोति[4] इति। किं गुणकर्म्मणि द्रव्ये द्वितीया दृष्टेत्यतो द्वितीयादर्शनादिहापि समान्यतो दृष्टेन गुणकर्म्मता? नेति

विवरण—पूर्वपक्षी ने यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते० (२।१।७) सूत्र में कहे गये प्रधानकर्म के लक्षण को स्वीकार करके यह पक्ष स्थापित किया है। **कर्ममात्रम्**—यह भाष्य का मुद्रित पाठ है। हमने इसी के अनुसार व्याख्या की है। आचार्यपाद ने अध्यापन कराते हुये कर्ममात्रम् के स्थान में **कर्म धर्ममात्रे** सूत्रांश पाठ के रूप में शुधवाया था। इसका अर्थरूप ही आगे की पंक्ति एवञ्जातीयकं……धर्ममात्रमिति ब्रूमः है। **धर्ममात्रम्**—भाष्यकार ने सूत्र के धर्ममात्रे में विभक्तिव्यत्यय करके व्याख्या की है। **नह्येवं……उपकारकम्**—इसका भाव यह है कि जैसे व्रीहीन् अवहन्ति (तै० ब्रा० ३।८।५।६) में अवहनन (=कुट्टन) कर्म व्रीहि के छिलकों को दूर करने जैसा द्रव्य का उपकारक है, उस प्रकार का स्रुचः सम्मार्ष्टि आदि वाक्यों में उक्त सम्मार्जन वा पर्यग्निकरण कर्म स्रुच् अग्नि परिधि और पुरोडाश का प्रत्यक्ष उपकारक नहीं है ॥९॥

तुल्यश्रुतित्वाद्वा इतरैः सधर्म स्यात् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(वा) पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है=सम्मार्जन आदि प्रधानकर्म नहीं हैं। (इतरैः) अन्य 'अवहनन' आदि गुणकर्मों से (सधर्म) समान धर्मवाले (स्यात्) होवें, (तुल्यत्वात्) तुल्य होने से=द्रव्यों में द्वितीया विभक्ति का श्रवण तुल्य होने से।

विशेष—कई भाष्यपुस्तकों में **सधर्मः** अपपाठ मिलता है।

व्याख्या—'वा' शब्द पक्ष(=संमार्जनादि प्रधानकर्म हैं) की निवृत्ति करता है। इस प्रकार का [संमार्जनादि कर्म] अन्य गुणकर्मों से समानधर्मवाला होवे। जैसे व्रीहीन् अवहन्ति (=व्रीहि को कूटता है)है, वैसे। किस कारण? तुल्यश्रुति होने से। इन(=सम्मार्जनादि कर्म-विधायक वाक्यों)के द्रव्यों में द्वितीया विभक्ति(=स्रुचः अग्निम् परिधिम् पुरोडाशम् तुल्य)हैं। जैसे व्रीहीन् अवहन्ति में। इसी प्रकार अग्निं सम्मार्ष्टि, पुरोडाशं पर्यग्निकरोति [में द्रव्यों में द्वितीया विभक्ति है]। तो क्या 'गुणकर्म विषय में द्रव्य में द्वितीया विभक्ति देखी गई है', इससे द्वितीयादर्शन से यहां भी सामान्यतो दृष्ट नियम से [सम्मार्जनादि में] गुणकर्मता कहते हो? नहीं, ऐसा

---

१. 'सधर्मः' इति बहुत्र मुद्रितोऽपपाठः।
२. तु०—हविरध्यवहन्ति। तै० ब्रा० ३।२।५।६॥ का० श्रौत २।४।१४॥
३. शत० ब्रा० १।३।१।१॥ तै० सं० ३।३।१।१॥
४. द्र०—[पुरोडाशं] पर्यग्निकरोति—सहाज्यम्। का० श्रौत २।५।२२॥

ब्रूमः। द्वितीया विभक्तिः कर्त्तुरीप्सिततमे स्मर्यते।[1] सा चेह द्वितीया विभक्तिः। तत एव तदीप्सिततमम्, इति गम्यते। तच्चेदीप्सिततमं,कर्म्म गुणभूतम्। यद्यपि प्रत्यक्षादिभिर्गुणभावो न गम्यते, प्रमाणान्तरेण शब्देन गम्यते। तस्माद् गुणभूतमेवञ्जातीयकमिति ॥१०॥

द्रव्योपदेश इति चेत्।११।(पू०)

इति चेत् पश्यसि—द्वितीयादर्शनात् प्रधानभूतमत्र द्रव्यमिति, नैतदेवम्। गुण-

---

हम नहीं कहते। द्वितीया विभक्ति कर्त्ता के ईप्सिततम(=अत्यन्त चाहे हुए) में सुनी जाती है। वह द्वितीया विभक्ति यहां(स्रुचः पुरोडाशम् में)है। इसी [द्वितीया विभक्ति] से ही[स्रुच् पुरोडाश] ईप्सिततम हैं, यह जाना जाता है। अतः वह ईप्सिततम है, और कर्म गुणभूत है। यद्यपि प्रत्यक्ष आदि से गुणभाव नहीं जाना जाता है, तथापि प्रमाणान्तर शब्द से जाना जाता है। इसलिये गुणभूत ही हैं इस प्रकार के कर्म ॥१०॥

विवरण—इतरैर्गुणकर्मभि—का तात्पर्य है कि जिन व्रीहीन् अवहन्ति आदि में गुणकर्मता उभयपक्ष सम्मत है, उनगुण कर्मों से सम्मार्जनादि भी समानधर्मवाला होवे। सामान्यतो दृष्टेन—सामान्यतो दृष्ट अनुमान का प्रतिपादन भाष्यकार ने १।१।५ के भाष्य(भाग १,पृष्ठ २९)में किया है, वहां देखें। कर्त्तुरीप्सिततमे—कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म(अष्टा० १।४।४९)से कर्ता के अत्यन्त अभिलषित साधन की कर्म संज्ञा होती है, और कर्मणि द्वितीया (अष्टा० २।३।२) से कर्म में द्वितीया विभक्ति कही है। अतएव यहां 'द्वितीया विभक्ति कर्ता के अत्यन्त अभिलषित द्रव्य में होती है' यह कहा है। प्रत्यक्षादिभिर्गुणभावः—व्रीहीन् अवहन्ति यहां अवहननक्रिया का व्रीहि ईप्सिततम है, क्योंकि अवहनन कर्म से धान के छिलके उतारना प्रत्यक्ष है। इस प्रकार स्रुच् अग्नि परिधि के सम्मार्जन, एवं पुरोडाश के पर्यग्निकरण में प्रत्यक्ष फल दृष्ट नहीं है। प्रमाणान्तरेण शब्देन—यहां भाष्यकार का तात्पर्य स्रुच् आदि में सम्मार्जन, और पुरोडाश में पर्यग्निकरण से स्रुच् आदि में अदृष्टसंस्कार की उत्पत्ति से है। हमारा विचार है कि स्रुच् और परिधि के सम्मार्जन में इनका शुद्धीकरण, और अग्नि के सम्मार्जन में भी अग्नि पर जमी हुई राख को हटाना दृष्ट प्रयोजन है। पुरोडाश के पर्यग्निकरण के विषय में अगले सूत्र के भाष्य में जहां यह प्रकरण आयेगा वहां कहेंगे ॥१०॥

द्रव्योपदेश इति चेत् ॥११॥

सूत्रार्थः—[द्वितीया विभक्ति के श्रवण से यदि स्रुचः सम्मार्ष्टि आदि में] (द्रव्योपदेशः) द्रव्य का उपदेश=द्रव्य की प्रधानता का निर्देश है, (इति चेत्) यदि ऐसा मानते हो, तो ठीक नहीं है, गुणभूत द्रव्य में भी द्वितीया देखी जाती है। (यथा—सक्तून् जुहोति में। सत्तू याग के लिये होने से गुणभूत है, याग प्रधान है)।

व्याख्या—यदि यह देखते हो कि—द्वितीया विभक्ति के दर्शन से यहां(=स्रुचः सम्मार्ष्टि

---

१. द्र०—कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म (अष्टा० १।४।४९); कर्मणि द्वितीया (अष्टा० २।३।२)।

भूतेऽपि द्वितीया भवति ; तथाहि दृश्यते—सक्तून् जुहोति,[1] मारुतान् जुहोति,[2] एककपालं जुहोति[3] इति ॥११॥

न तदर्थत्वाल्लोकवत्तस्य च शेषभूतत्वात् ॥१२॥ (उ०)

न गुणभूतेऽपि द्वितीया। एवं ह्यभियुक्ता उपदिशन्ति—कर्म्मणि द्वितीया,[4] कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म[5] इति। न च लोके गुणभूते क्वचिद् द्वितीयां पश्यामः। यदपि च 'तण्डुलानोदनं पच' इति=ओदनार्थं तण्डुलान् संस्कुर्विति। ईप्सिता एव तण्डुलाः। 'बल्वजान् शिखण्ड-

---

आदि में) द्रव्य प्रधानभूत है, तो यह इस प्रकार नहीं है। गुणभूत [द्रव्य में] भी द्वितीया होती है। जैसा कि देखा जाता है—सक्तून् जुहोति (=सत्तू को अग्नि में छोड़ता है), मारुतान् जुहोति (=मरुत्देवताक पुरोडाशों को अग्नि में छोड़ता है), एककपालं जुहोति (=एककपाल में संस्कृत पुरोडाश को अग्नि में छोड़ता है) ॥११॥

न तदर्थत्वाल्लोकवत्तस्य च शेषभूतत्वात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—[गुणभूत में भी द्वितीया होती है, यह] (न) नहीं है। (तदर्थत्वात्) होम के लिये होने से [सक्तू आदि की] प्रधानता है, (लोकवत्) लोक के समान [लोक में भी तदर्थ में द्वितीया देखी जाती है]। (च) और (तस्य) स्रुच् आदि के (शेषभूतत्वात्) क्रतु के लिये जो आज्यादि हवि उसके धारण के प्रति शेषभूत=अङ्गभूत होने से स्रुचादि का संस्कारकर्म युक्त है।

व्याख्या—गुणभूत द्रव्य में भी द्वितीया होती है, यह नहीं है। अभियुक्त (=नित्य अच्छे प्रकार शास्त्रादि के अध्यापनाऽध्ययनादि कर्मयुक्त अर्थात् प्रामाणिक पुरुष) इस प्रकार उपदेश करते हैं—कर्मणि द्वितीया (=कर्मकारक में द्वितीया विभक्ति होती है), और कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म (=कर्त्ता का जो अत्यन्त चाहा हुआ है, वह कर्म होता है)। लोक में गुणभूत में कहीं द्वितीया नहीं देखते हैं। और जो तण्डुलान् ओदनं पच [में गुणभूत तण्डुल में द्वितीया है, वह भी गुणभूत में नहीं है। उस]का अर्थ है—ओदन के लिये तण्डुलों (=चावलों) को संस्कृत करो [अर्थात् तण्डुलों को इस प्रकार पकाओ कि वे पककर ओदन बन जायें]। इस प्रकार तण्डुल [कर्त्ता के] ईप्सित ही हैं। बल्वजान् शिखण्डकान् कुरु में बल्वज ही उस [शिखण्डकरूप] आकार से सम्बद्ध

---

१. तु०—अञ्जलिना सक्तून प्रदाव्ये जुहुयात्। तै० सं० ३।३।८॥ गो० ब्रा० २।४।८॥ आप० श्रौत १३।२४।१६॥

२. तै० सं० ५।४।७॥ अत्र भाष्ये 'मारुतं' इत्यपपाठः।

३. अनुपलब्धमूलम्। तुलना कार्या—द्यावापृथिवीयमेककपालमुपक्रम्य श्रूयते—यत् सर्वंहुतं करोति। मै० सं० १।१०।७॥

४. अष्टा० २।३।२॥ ५. अष्टा० १।४।४९॥

कान् कुरु' इति। बल्वजा एव तेनाकारेण सम्बद्धा ईप्सिताः, इति तत्राभिप्रायः। लौकिकश्च प्रयोगः शब्दार्थपरिच्छेदे हेतुः, न वैदिकः। यत्तु लौकिके जुहोतीति प्रयोगे द्वितीया, शक्यते तत्र वक्तुमीप्सिततमे एव स प्रयोग इति। 'तण्डुलानद्य जुहुधि'=तण्डुलानद्य होमेन संबन्धयेति लोके भवति हि बहुप्रकारा विवक्षा। अन्याय्यश्चाऽनेकार्थत्वम्[1]। तेन प्रधानभावेन सिद्धा सती द्वितीया गुणभावे न कल्प्येत।

ईप्सित है, यह वहां अभिप्राय है। लौकिक प्रयोग ही शब्दार्थ के निश्चय में हेतु है, वैदिक नहीं। जो तो लौकिक व्यवहार में जुहोति के प्रयोग में द्वितीया होती है, वहां ईप्सिततम में ही है वह प्रयोग है, ऐसा कह सकते हैं। तण्डुलानद्य जुहुधि=तण्डुलों को आज होम से सम्बद्ध करो, इत्यादि लोक में अनेक प्रकार की विवक्षा होती है। और [एक का] अनेकार्थत्व अन्याय्य है। इस हेतु से प्रधानरूप से सिद्ध होती हुई द्वितीया गुणभाव में कल्पित नहीं होगी।

विवरण—बल्वजान् शिखण्डकान् कुरु—'बल्वे पर्वते जाता बल्वजाः' पर्वत पर उत्पन्न तृणविशेष। मनुस्मृति २।४२ में कहा है—मुञ्जालाभे तु कर्तव्या कुशाश्मन्तकबल्वजैः (=मूंज प्राप्त न होने पर कुशा अश्मन्तक और बल्वज से मेखला बनानी चाहिये)। इससे बल्वज मूंज वा कुशा के समान कोई तृणविशेष है, यह स्पष्ट है। शिखण्ड शब्द के 'मोरपंख, चोटी, जूड़ा अर्थ कोशों में मिलते हैं। इन अर्थों के साथ बल्वज का सम्बन्ध सम्भव नहीं है। जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—'बल्वज ही उस आकार से सम्बद्ध ईप्सित हैं' इससे जाना जाता है कि शिखण्डक चटाई के समान तृणों से बना कोई द्रव्य है। सम्भव है शिखण्डक सीतलपाटी हो। वह असम प्रदेश में उत्पन्न तृणविशेष से निर्मित होती है। लौकिकः ·····हेतुः, न वैदिकः—इसका तात्पर्य है कि लोकभाषा में होनेवाला व्यवहार और उसका अभिप्राय जैसा ज्ञात होता हैं, वैसा वैदिक प्रयोग विज्ञात नहीं होता। अन्याय्यश्चानेकार्थत्वम्—के विषय में पूर्वभाग १, पृष्ठ २७३ पर लिख चुके हैं। इस विषय में यह ज्ञातव्य है कि एक ही गो शब्द के पशुविशेष-पृथिवी-धनुष-ज्या-इषु-सूर्य, चन्द्र-रश्मि(द्र०—निरुक्त २।५-६) आदि अनेक अर्थ मानें, तो अनेक अर्थों में गो शब्द का वाचक शक्तिसम्बन्ध मानने पर गौरव होता है।[2] अतः गौरव के परिहार के लिये एक शब्द का एक ही अर्थ न्याय्य माना जाता है। इस पक्ष में प्रति अर्थ 'गो' शब्द का भेद माना जाता है। आकृतिसामान्य से एकत्व की भ्रान्ति मानी जाती है। साहित्यशास्त्रविशारद इस पक्ष को नहीं मानते। क्योंकि यदि अनेकार्थत्व न माना जाय, नो उनका श्लेष अलंकार ही उपपन्न नहीं होता है। वास्तविकता तो यह है कि वाचक शक्तिसम्बन्ध प्रति अर्थ न मानकर धातुजत्व पक्ष में एक धात्वर्थ सामान्य में एक ही वाचक शक्ति-

---

१. एतद् वचनं भाष्यकृता 'उक्तम्' शब्दपूर्वं 'प्रयोगचोदनाभावात्०' (१।३।३०) सूत्रभाष्य उद्धृतम्। एतद्विषयिकी टिप्पणी तत्रैव (भाग १, पृष्ठ २७३) द्रष्टव्या। विशेषस्तु मीमांसाकोशस्य प्रथमे भागे ४६२तमे पृष्ठे द्रष्टव्यः।

२. द्र०—न्यायेन हि स्थितमेकस्य शब्दस्यार्थैक्यम्, अनवस्थितसंबन्धानेकादृष्टवाचकशक्तिकल्पनविकल्पदोषप्रसंगात् (तन्त्रवार्तिक १।३।९)।

वेदे तु कथं द्वितीयानिर्दिष्टे गुणभाव इति? द्वितीयानिर्देशात् प्राधान्यमेवावगच्छामः। एवमवगते प्राधान्ये बलीयसा हेतुना 'नास्ति प्राधान्यम्' इत्यवगम्यते। कुतः? न होमस्य केनचित् प्रकारेण सक्त्वर्थताऽवकल्प्यते। कुतः? सक्तूनां निष्प्रयोजनत्वात्। न सक्तूनामन्यत् प्रयोजनं दृश्यते, श्रूयते वा। यदि वा होमस्तदर्थः, होमोऽपि निष्प्रयोजनः। अथाऽऽरादुपकारको होमः, ततः प्रयोजनवान्। ज्योतिष्टोमप्रकरणे पाठाद्[1] गम्यते प्रयोजनवत्ता। नाप्रयोजन इति शक्यते वक्तुम्। प्रयोगवचनेन हि स आकाङ्क्ष्यते। ननु सक्तूनामपि प्रकरणपाठात् प्रयोजनवत्त्वं भविष्यति? को वा ब्रूते— नेति? प्रयोजनवत्तैव।

सम्बन्ध मानने से जहां धात्वर्थयोग से अनेकार्थत्व भी सम्पन्न हो जाता है, और अनेक वाचक शक्तिसम्बन्ध भी नहीं मानना पड़ता है। इसीलिये नैरुक्त और वैयाकरणों में प्रमुख शाकटायन[2] आचार्य सभी शब्दों को धातुज ही मानते हैं (द्र०—निरुक्त १।१२)। भाष्यकार ने ७।३।३५ के भाष्य में एक शब्द के अनेकार्थ मानने में अर्थसंशय दोष, तथा अर्थविनिश्चय के लिये कारणान्तर वा प्रकरण आदि की उपेक्षा करनी पड़ती है, ऐसा कहा है। वस्तुतः यह भी अविचारितरमणीय है। भाष्यकार ने स्वयं शास्त्र के आरम्भ में लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि तानि सति सम्भवे तदर्थान्येव (भाष्य १।१।१) में सति सम्भवे का निर्देश करके असम्भव होने पर लौकिक-प्रसिद्धि भिन्न अर्थ ग्रहण करने का सुझाव दिया है। और १।१।५ के भाष्य में औत्पत्तिक शब्द का लोक में अप्रसिद्ध 'नित्य' अर्थ, तथा २।१।५ के भाष्य में चोदना शब्द का लोक में अप्रसिद्ध 'अपूर्व' स्वीकार किया है।

व्याख्या—(आक्षेप) अच्छा तो वेद(=सक्तून् जुहोति) में द्वितीयानिर्दिष्ट में गुणभाव कैसे होगा? (समाधान) द्वितीया के निर्देश से ('सक्तून्' में) प्राधान्य ही हम जानते हैं। इस प्रकार(=द्वितीयानिर्देश से) प्राधान्य के अवगत होने पर [किसी] बलवान् हेतु से 'प्राधान्य नहीं है' ऐसा जाना जाता है। किस से? होम की किसी भी प्रकार सक्तु-प्रयोजनता(=सक्तु के लिये होम की आवश्यकता) कल्पित नहीं होती है। किस कारण? सक्तु के निष्प्रयोजन होने से। सक्तु का अन्य कोई प्रयोजन न दीखता है, वा न सुना जाता है। और यदि होम सक्तु के लिये होवे, तो [सक्तु के निष्प्रयोजन होने से] होम भी निष्प्रयोजन होता है। यदि होम आराद् उपकारक (=दूर से उपकारक=जो साक्षात् उपकारक नहीं है) होवे, तो प्रयोजनवान् होता है। ज्योतिष्टोम के प्रकरण में [सक्तून् जुहोति के] पाठ से प्रयोजनवत्ता जानी जाती है। इसलिये 'अप्रयोजन नहीं है,' यह कहा जा सकता है। प्रयोगवचन(=उपसंग्राहक वचन) से ही वह आकाङ्क्षित होता है। (आक्षेप) तब तो सक्तु की भी प्रकरणपाठ से प्रयोजनवत्ता हो जायेगी? (समाधान) कौन कहता है कि [सक्तु की प्रयोजनवत्ता] नहीं है? प्रयोजनवत्ता है ही। [सक्तु की] प्रयोजनवत्ता

---

१. ज्योतिष्टोमस्यान्तिमे दिनेऽवभृथकर्मणोऽनन्तरं वेद्याः प्रदाहकाले अञ्जलिना सक्तून् प्रदाव्ये जुहोति, इति वचनं श्रूयते। द्र०—पृष्ठ ७९, टि० ६।

२. द्र०—अनुशाकटायनं वैयाकरणाः, उपशाकटायनं वैयाकरणाः। शाकटायनाद् हीना अन्ये वैयाकरणा इत्यर्थः (काशिका १।४।८५-८६)।

प्रयोजनवत्त्वन्तु होममभिनिर्वर्त्तयताम्, नान्येन प्रकारेण। ननु तेऽपि प्रयोगवचनेनाकाङ्क्ष्यन्ते? तदुच्यते, न द्रव्यं तेनाकाङ्क्ष्यते। इतिकर्त्तव्यतां[1] हि स आकाङ्क्षति। होमश्चेतिकर्तव्यता, न द्रव्यम्।

ननु होमे कृते सक्तुभ्योऽदृष्टं निष्पत्स्यते? नास्त्यत्र प्रमाणम्। ननु द्वितीयाविभक्तिः प्रमाणम्? न हि। द्वितीया विभक्तिर्होमस्य सक्त्वर्थतां ज्ञापयति। न सक्तवः

होम को सिद्ध करते हुए ही है, अन्य प्रकार से नहीं है। (आक्षेप) तब तो वे [सक्तु] भी प्रयोगवचन से आकाङ्क्षित होते हैं? (समाधान) इसके विषय में कहते हैं—उस (=प्रयोगवचन) से द्रव्य आकाङ्क्षित नहीं होता है। वह [=प्रयोगवचन] इतिकर्तव्यता (=क्रियाप्रकार) की आकाङ्क्षा करता है। होम इतिकर्तव्यतारूप है [क्रिया होने से], द्रव्य [इतिकर्तव्यतारूप] नहीं है।

विवरण—बलीयसा हेतुना—होम से सक्तु की निष्पत्ति न होना रूप हेतु से। द्रष्टव्य—उत्तरवाक्य। न होमस्य केनचित् प्रकारेण—इसका भाव यह है कि यदि सक्तून् जुहोति वाक्य का अर्थ स्वर्गकामो यजेत (=स्वर्ग की कामनावाला याग से स्वर्ग को सिद्ध करे) के समान किया जाये, तो अर्थ होगा—होमेन सक्तून् भावयेत् (=होम से सक्तु को सिद्ध करे)। होम से सक्तु की की निष्पत्ति असम्भव है। सक्तूनां निष्प्रयोजनत्वात्—यदि सक्तून् जुहोति का अर्थ 'होम से सक्तु को संस्कृत करे' किया जाये, तो उस होम से संस्कृत सक्तु का प्रकरण में कोई उपयोग नहीं है, अतः सक्तु निष्प्रयोजन है। आराादुपकारकः—आरात् शब्द दूर और सामीप्य का वाचक है। आरादुपकारक शब्द में आरात् का दूर अर्थ अभिप्रेत है। दूर से उपकारक अर्थात् साक्षाद् उपकारक नहीं। ज्योतिष्टोमप्रकरणे—ज्योतिष्टोम में अवभृथ कर्म के अनन्तर याग समाप्त होने पर वेदि के प्रदाह की अग्नि में अञ्जलि से सक्तुहोम का विधान है—अञ्जलिना सक्तून् प्रदाव्ये जुहुयात् (तै० सं० ३।३।८।४; आप० श्रौत १३।२४।१६; गो० ब्रा०२।४।८)। प्रयोगवचनेन=उपसंग्रहवचनेन। 'उपसंग्रह' में उप शब्द समीपवाची है, 'सम्' शब्द साकल्य=संपूर्णता का वाची है, और 'ग्रह' शब्द ग्रहण करना अर्थ का वाचक है। अतः प्रयोगवचन का अर्थ है—एक याग के प्रकरण में पठित वा अतिदेश से प्राप्त सब अङ्गों का पूर्णता से संग्राहक वचन (द्र०—टुप् टीका, मी० १२।१।७; तथा शाबरभाष्य ६।४।५; ६।१।१७; १०।३।३६)। इतिकर्तव्यता—इति शब्द प्रकारवाची है। कर्तव्यता प्रकार=क्रियाव्यापार (द्र०—शास्त्रदीपिका ३।३।४, पृष्ठ २३७)। अर्थात् इस प्रकार कर्म करके स्वर्गादि फल को सिद्ध करे।

व्याख्या—(आक्षेप) होम करने से तो सक्तु से अदृष्ट उत्पन्न होगा? (समाधान) इसमें कोई प्रमाण नहीं है। (आक्षेप) होम करने पर [सक्तु से अदृष्ट होता है, इसमें] द्वितीया विभक्ति ही प्रमाण है? (समाधान) ऐसा नहीं है। द्वितीया विभक्ति तो [ईप्सिततम में होने के

---

१. 'इतिशब्दः प्रकारवचनः, कर्तव्यताप्रकारः क्रियाप्रकार इति यावत्।' शास्त्रदीपिका अ. ३, पा. ३, अधि० ४, पृष्ठ २३७।

प्रयोजनवन्त इति । भवेद्धोमः सक्त्वर्थः, होमसम्बद्धाः सक्तवः[1]स्युरिति । भवन्ति होमे कृते सक्तवो होमसम्बद्धाः । न होमस्य सक्त्वर्थता निष्प्रयोजनेषु सक्तुषु घटते । सक्त्वर्थतावचनन्तु न पुरुषस्योपकारकम्, न क्रतोः । तदनर्थकमेव स्यात् । [2]न च तद्वचनाच्छक्यमन्यतरत् कल्पयितुम् । स एष द्वितीयान्तः सक्तूनां होमस्य च सम्बन्धं करोति । सम्बन्धे च सति द्रव्याणां कर्म्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसम्बन्धः[3] इति भूतत्वात्[4], गुणभावे च तृतीया । तेनोच्यते तृतीयायाः स्थाने द्वितीयेति । तेन तदर्थत्वात् होमार्थत्वात् सक्तूनां न प्राधान्यं द्वितीयासंयोगेऽपि । एवं सत्यर्थवद्वचनम् । न चार्थवत्त्वे सति आनर्थक्यमित्युच्यते । तस्य च पुरोडाशादेर्यागादिषु शेषभावः, तेन प्रयोजनवन्तः । तत्र संस्कारो नानर्थकः । न स दृष्टोपकारायेति चेत्, अदृष्टार्थो भविष्यति । [5]अदृष्टोऽपि संस्कारोऽस्तीति अवगम्यते लोके यथा । ग्रामान्तरादागतानां पुरुषाणां पर्य्यग्निकरणेनादृष्ट उपकारः क्रियते, इत्युच्यते । लोके च नानुपपत्तिः ।

कारण] होम की सक्त्वर्थता (=सक्तु के लिये होम का होना) ज्ञापित करती है । सक्तु प्रयोजनवाले नहीं हैं [ऐसा पूर्व कह चुके] । (आक्षेप) होम सक्त्वर्थ होवे, होम से सम्बद्ध सक्तु होवें [कैसे इसके लिये] । (समाधान) होम करने पर सक्तु होम से सम्बद्ध होते हैं । परन्तु निष्प्रयोजन सक्तुओं में होम की सक्त्वर्थता (=सक्तु के लिये होना) घटित नहीं होता । [इतना ही नहीं, होम की] सक्त्वर्थता वचन तो न पुरुष का उपकारक है, और ना ही क्रतु का । इसलिये वह [सक्त्वर्थतावचन] अनर्थक ही होगा । और ना ही उसके [सक्त्वर्थता] वचन से अन्य किसी की कल्पना की जा सकती है । अतः यह द्वितीयान्त प्रयोग सक्तु और होम का सम्बन्ध करता है । और [सक्तु तथा होम के] सम्बन्ध होने पर द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसम्बन्धः (६।१।१) =द्रव्यों का कर्म के साथ संयोग होने पर गुणरूप से सम्बन्ध होता है, भूतत्व (=विद्यमानत्व) के कारण । और गुणभाव में तृतीया होती है । इसलिये कहते हैं— तृतीया के स्थान में द्वितीया है । इस प्रकार तदर्थ=होम के लिये होने से सक्तुओं का द्वितीया का योग होने पर भी प्राधान्य नहीं है । इस प्रकार होने पर वचन (=सक्तून् जुहोति) अर्थवान् होता है । और अर्थवान् होने पर आनर्थक्य नहीं है, यह कहते हैं । और उस पुरोडाश आदि का याग आदि के प्रति शेषभाव (=अङ्गभाव) है, इसलिये वे प्रयोजनवान् हैं । अतः उनमें [पर्यग्निकरणादि से] संस्कार होना अनर्थक नहीं है । यदि कहो कि वह (=संस्कार) दृष्ट उपकार के लिये नहीं है, तो अदृष्ट के लिये होगा । अदृष्ट के लिये भी संस्कार होता है, ऐसा लोक में जाना जाता है । जैसे ग्रामान्तर से आये हुए पुरुषों का पर्यग्निकरण से अदृष्ट उपकार किया जाता है, ऐसा कहते हैं । और लोक में अनुपपत्ति भी नहीं मानी जाती है ।

---

१. 'सक्तवः कथं स्युरिति' पाठान्तरम् ।

२. 'यतो न तद्वचना०' इति क्वाचित्कोऽपपाठः । ३. मीमांसा ६।१।१।।

४. 'इति गुणभूतत्वाद्' इति क्वाचित्कः पाठः । ५. 'अदृष्टार्थोऽपि' इति क्वाचित्क. सुगमः पाठः ।

विवरण—तृतीयायाः स्थाने द्वितीया— इस पर भट्टकुमारिल ने महाभाष्यकारेणोक्तम् ऐसा कहा है। यदि भट्टकुमारिल का महाभाष्य से तात्पर्य पातञ्जल महाभाष्य से होवे, तो यह चिन्त्य है। क्यों कि पातञ्जल महाभष्य में यह वचन नहीं है। यदि मीमांसा के पूर्व देवस्वामी भवदास आदि के भाष्यों की अपेक्षा शाबरभाष्य के विस्तार को ध्यान में रखकर कहा हो, तो उक्त कथन युक्त हो सकता है। सम्भव है इसी दृष्टि से श्लोकात्मिका पाणिनीय-शिक्षा की 'प्रकाशनाम्नी' टीका के रचयिता ने य एव लौकिकाः·········त एव तेषामर्थाः इस शाबरभाष्य (१।३।३०) वचन को इति महाभाष्ये लिखकर उद्धृत किया है।

अदृष्टार्थो भविष्यति—मध्यकालिक मीमांसक जहां दृष्ट प्रयोजन होता है, वहां भी अपूर्व की कल्पना करते हैं। यथा—व्रीहीन् अवहन्ति(=धान को ऊखल में डालकर मूसल से कूटता है), तण्डुलान् पिनष्टि (=चावलों को शिला पर लोढ़ी से पीसता है)। व्रीहि का अवहनन कर्म तुष-विमोक (=छिलका उतारना) रूप दृष्टप्रयोजन के लिये है। फिर भी मीमांसक कहते हैं कि व्रीहि का छिलका तो मूसल से कूटने के अतिरिक्त अन्य साधन से भी हो सकता है। यथा–नखों से छीलकर अथवा शिला पर हलके हाथ से पीस कर भी छिलके उतारे जा सकते हैं। इसलिये अवहनन (=मूसल से कूटना) तुषविमोकरूप दृष्ट फलवाला होने पर भी अवघातेनैव तुष-विमोकः कर्तव्यः (=मूसल से कूटकर ही छिलका दूर करना चाहिये) इस नियम के लिये व्रीहीन् अवहन्ति वचन है। और इस नियम से अपूर्व उत्पन्न होता है। इसी प्रकार तण्डुल का पीसना भी घट्टी आदि से हो सकता है, उसमें भी तण्डुलान् पिनष्टि वचन से शिला पर तण्डुल डालकर लोढ़ी से ही पीसने से अपूर्व की उत्पत्ति मानी जाती है। इसे मीमांसक नियमापूर्व कहते हैं। यह अपूर्व का भूत याज्ञिकों पर इतना सवार हो गया है कि साम्प्रतिक याज्ञिक पहले से ही पिसे हुये चावलों को ऊखल में डालकर कूटते और शिला पर पीसते हैं। यह हमने काशी में अग्निहोत्री श्री पं० रामभट्ट रराटे जी के दर्शपौर्णमास कर्म में प्रत्यक्ष देखा है। पिसे हुये चूर्ण में अवहननरूप नियम के अदृष्टार्थ सम्प्रति ऊखल-मूसल भी नियत प्रमाण से छोटे नाममात्र के बनाये जाते हैं। वस्तुतः नियमापूर्व एक कल्पनामात्र है। व्रीहि को ऊखल में डालकर मूसल से कूटकर छिलका उतारने में ही सुकरता है। नखों से छिलका उतारना जहां क्लेशसाध्य कर्म है, वहां बहुकालसाध्य भी है। नखों से दर्शपौर्णमास के आग्नेय और अग्नीषोमीय दो पुरोडाशों के लिये गृहीत चार-चार मुट्ठी =आठ मुट्ठी धान का छिलका उतारने में ही कर्म का पूरा काल व्यतीत हो जायेगा। इसी प्रकार शिला पर चाहे कितनी ही हल्के हाथ से व्रीहि का पेषण किया जाये, चावल अधिकतर टूट वा पिस जायेंगे। उस अवस्था में यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्तात् चन्द्रमा अभ्युदेति; त्रेधा तण्डुलान् विभजेद्। ये मध्यमाः स्युस्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्यात्, ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दध्नँश्चरुम्, येऽणिष्ठास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम् (तै० सं० २।५।५।१-२) वचन में निर्दिष्ट तण्डुलों के स्थूल मध्यम और अणिष्ठ=(कणी)का भेद सम्यग् उपपन्न नहीं होंगे। अतः ऊखल-मूसल से अवहनन, और शिला पर पेषण में न कोई नियम है, और न कोई उससे अपूर्व होता है। ये विधान भी सुकरता की दृष्टि से ही किये गये हैं। भट्टकुमारिल ने लिखा है—'प्राचीन [भर्तृमित्र

प्रभृति] व्याख्याकारों ने मीमांसाशास्त्र को लोकायतों का शास्त्र बना दिया था। उसे पुनः आस्तिक पथ लाने का मेरा यह प्रयत्न है (प्रायेण हि मीमांसा…—श्लोकवार्तिक प्रस्तावना श्लोक १०)। सम्भव है भर्तृमित्र प्रभृति प्राचीन व्याख्याकारों ने तत्कालीन मीमांसकों की पदे-पदे अदृष्ट कल्पना का खण्डन किया हो और यज्ञविधियों की दृष्टार्थता दर्शाई हो। भट्ट कुमारिल ने दृष्टार्थता का खण्डन करके पुनः पदे-पदे अदृष्टकल्पना की स्थापना को ही मीमांसा को आस्तिक पथ पर लाना प्रयोजन बताया है। भट्ट उम्बेक ने 'श्लोकवार्तिक' के 'प्रायेण हि मीमांसा' श्लोक की व्याख्या में भर्तृमित्रादि का पक्ष जिस रूप से उपस्थित किया है, वह सम्भव है भर्तृमित्रादि के प्रति असूयाजनित हो (द्र०—हमारी व्याख्या भाग १, पृष्ठ १६-१७)।

स्रुचः सम्मार्ष्टि आदि में स्रुच् आदि, जो कुछ काल पूर्व वेदी में रखे हुये हैं, पर धूल आदि के जमे हुये कणों को, और अग्नि पर आई राख को दूर करने रूप दृष्ट प्रयोजन के लिये ही उनके सम्मार्जन का विधान है, न कि किसी अपूर्व को उत्पन्न करने के लिये। इसी प्रकार पुरोडाश का पर्यग्निकरण उसके चारों ओर अग्नि को घुमाना भी पुरोडाश पर वाय्वादि के संसर्ग से रोगोत्पादक कीटाणुओं के नाश के लिये है। पर्यग्निकरण में विनियुक्त अन्तरितं रक्षोऽन्तरिता अरातयः (द्र० का० श्रौत २।५।२२) मन्त्र भी उक्त अभिप्राय का ही पोषक है। सम्भव है पूर्वकाल में पुरोडाश को पर्यग्निकरण द्वारा भले प्रकार तपाते होंगे, उत्तरकाल में पर्यग्निकरण को अदृष्टार्थ मानकर एक अङ्गारे से ही पर्यग्निकरण प्रचलित हो गया।

ग्रामान्तररादागतानां पुरुषाणां पर्यग्निकरणेन—यदि कोई मनुष्य किसी ऐसे ग्रामादि से आया हो, जिसमें रोग व्याप्त हो विशेषकर छूत के, तो गृह में प्रवेश से पूर्व उसकी शुद्धि आवश्यक ही है। इस शुद्धि का सरल उपाय यही है कि उसके चारों ओर इतनी अग्नि प्रज्वलित की जाये, जिससे उसके वस्त्र और शरीर तप जायें। इस अग्नि के पर्यग्निकरण से उसके वस्त्र वा शरीर के साथ संलग्न रोग के कीटाणु नष्ट हो जायेंगे। जब अमेरिका के चन्द्रयान द्वारा चन्द्र की यात्रा से यात्री लौटे, तो उनको संभावित कीटाणुओं से मुक्त करने के लिये अनेक उपाय किये गये। यह भारतीय पर्यग्निकरण के ही रूपान्तर हैं। भट्ट कुमारिल ने प्रकृत वचन की व्याख्या में लिखा है कि—'जैसे ग्रामान्तर से आये हुये पुरुषों की शान्ति के लिये अग्नि लवण दधि अक्षत प्रभृति का शिर के चारों ओर घुमाना, और शुद्ध देश में ठहराना कर्म किया जाता है।' इसमें अग्नि लवण और दधि प्रत्यक्ष कीटाणुओं के नाशक द्रव्य हैं। केवल इनको चारों ओर घुमाने से ही इष्टसिद्धि० नहीं होती है। अपितु अग्नि से तपाने लवणमिश्रित जल से स्नान, दही को शरीर पर मलकर स्नान से इष्टसिद्धि हो सकती है। अक्षत शब्द अनेकार्थक है—चावल धान की खील यव खसखस आदि। इनके धूप देने से भी रोगोत्पादक कीटाणुओं का नाश सम्भव है। शुद्ध स्थान में कुछ काल ठहराने से भी शुद्ध वातावरण से कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। लोक में सम्प्रति थाली में चावल रखकर और कपूर जलाकर अभ्यागत की जो आरती उतारी जाती है, वह इसी पर्यग्निकरण का ही एक रूपान्तर है।

प्रयोजनं च[1]—वरुणप्रघासेषु श्रूयते—**शमीमय्यः स्रुचो भवन्ति, हिरण्मय्यो वा[2] इति।** प्रकृतौ [3]नानावृक्षस्रुक्सम्मार्गसाध्यमपूर्वमिति। नानावृक्षस्रुच उत्पादयितव्याः सम्मार्गार्थत्वेन यथा पूर्वपक्षः। यथा तर्हि सिद्धान्तः—शमीमय्य एव हि हिरण्मय्यो वा सम्मार्ष्टव्याः। तथा यत्र **बाणवन्तः परिधयः**[4], तत्रापि पालाशा उत्पादयितव्याः पूर्वपक्षे। सिद्धान्ते बाणवन्त एव सम्मार्ष्टव्याः। अवभृथे च पूर्वपक्षे उत्पादयितव्योऽग्निः सम्मार्गाय, सिद्धान्ते चापः सम्मार्जनीयाः। तथा षट्त्रिंशत्संवत्सरे[5] तरसमयाः पुरोडाशाः सवनीया इति श्रूयते। तत्रापि पिष्टमयः पुरोडाश उत्पादयितव्यः पर्य्यग्निकरणार्थत्वेन पूर्वपक्षे। सिद्धान्ते मांसमया एव पर्य्यग्निकर्त्तव्या इति ॥१२॥ **इति सम्मार्जनादीनामप्रधानताऽधिकरणम् ॥४॥**

व्याख्या—[प्रकृत विचार का] प्रयोजन है—[चातुर्मास्यान्तर्गत] वरुणप्रघास [संज्ञक द्वितीय पर्व] में सुना जाता है (=श्रुति है)—शमीमय्यः स्रुचो भवन्ति (=शमी वृक्ष के काष्ठ की स्रुच् होती हैं), हिरण्मय्यो वा (=अथवा सुवर्ण की बनी स्रुच् होती हैं)। प्रकृति (=दर्श-पौर्णमास) में विभिन्न वृक्षों की बनी हुई स्रुच् सम्मार्जन से साध्य अपूर्ववाली हैं। [अतः वरुण-प्रघास कर्म में भी नानावृक्ष-निर्मित स्रुक्सम्मार्जनसाध्य अपूर्व की सिद्धि के लिये] नाना-वृक्ष-निर्मित स्रुचों को उत्पन्न (=ग्रहण) करना चाहिये, जैसा कि पूर्वपक्ष है। और जैसा कि सिद्धान्तपक्ष है शमी-वृक्ष-निर्मित अथवा हिरण्यनिर्मित स्रुचों का ही सम्मार्जन करना चाहिये। तथा जिस कर्म में बाणवाली[7] परिधियां कहीं हैं, वहां (=उस कर्म में) भी पूर्वपक्ष में पलाश वृक्ष की परिधियां ग्रहण करनी चाहिये। सिद्धान्तपक्ष[6] में बाणवाली परिधियों का ही सम्मार्जन करना चाहिये। और अवभृथ (=सोमयाग का अन्तिम) कर्म में [जो कि जल में ही किया जाता है, अतः प्रकृति के समान यहां] सम्मार्जन के लिये पूर्वपक्ष में अग्नि का उत्पादन करना चाहिये। सिद्धान्तपक्ष में जलों का ही सम्मार्जन करना योग्य है। तथा छत्तीस वर्ष के सत्र में मांसमय सवनीय पुरोडाश कहे हैं। वहां भी पूर्वपक्ष में पर्यग्निकरण के लिये [प्रकृतिभूत अग्निष्टोम के अनुसार] पिष्टमय पुरोडाश उत्पन्न करना चाहिये। सिद्धान्तपक्ष में मांसमय पुरोडाश का ही पर्यग्निकरण करना चाहिये ॥१२॥

---

१. सार्वत्रिकः सन्नपि 'च' शब्दोऽनावश्यक इव।

२. द्र०—शमीमय्यो हिरण्यमय्यो वा स्रुचो भवन्ति। आप० श्रौत ८।५।२९॥

३. पालाशी जुहूः। आश्वथ्युपभृत्। वारणान्यहोमसंयुक्तानि (कात्या० श्रौत १।३।३५, ३६,३७) इतिवचनात् ध्रुवाया होमसंबन्धाभावाद् ध्रुवा वैकङ्कती ज्ञेया।

४. मै० सं० २।२।३॥ कात्या० श्रौत २२।१०।२५॥ आप० श्रौत २२।४।२२॥ 'बाणवन्तः तीक्ष्णाग्राः शराः' कात्यायनश्रौतटीकाकाराः।

५. षट्त्रिंशत्संवत्सरसाध्यं सत्रं 'शाक्त्यानामयनम्' इत्याख्यायते। द्र०—ताण्ड्य ब्रा० २५।७।१॥ कात्या० श्रौत २४।५।२०॥ आप० श्रौत २३।११।११॥

६. पूर्वटिप्पण्यां निर्दिष्टान्येव स्थानान्यत्राप्यनुसंधेयानि।

७. कात्यायन श्रौत २२।१०।४ की टीका में कर्काचार्य आदि ने लिखा है कि—'बाणवत्' शब्द इषु में देखा जाता है (द्र०—शत० ब्रा० १४।६।८।२)। इसलिये तीक्ष्ण शर (=सरकण्डे) का ग्रहण करना चाहिये।

विवरण—**प्रकृतौ नानावृक्ष०**—दर्शपौणमास में नानावृक्षों की स्रुच् कही हैं। यथा—**पालाशी जुहूः, आश्वत्थी उपभृत्** (का० श्रौत १।३।३४-३५) के अनुसार जुहू स्रुच् पलाश के काष्ठ की, और उपभृत् स्रुच् अश्वत्थ की होती है। तथा **वारणान्यहोमसंयुक्तानि** (का० श्रौ० १।३।३६) के अनुसार होम-साधनीभूत न होने से ध्रुवा स्रुच् वारण (=वरणा) काष्ठ की होती है। दर्शपौर्णमास में इन वृक्षों से निर्मित स्रुचों का सम्मार्जन होता है। **नानावृक्षस्रुच उत्पादयितव्याः**—पूर्वपक्ष में सम्मार्जन से अपूर्व की उत्पत्ति मानने से **प्रकृतिवत् विकृतिः कर्तव्या** नियम से प्रकृति में नाना वृक्ष की स्रुचों के सम्मार्जन से जिस अपूर्व को सिद्ध किया है, उसी अपूर्व को सिद्ध करने के लिये वरुणप्रघास कर्म में भी प्रकृतिवत् नानावृक्षनिर्मित स्रुचों को उत्पन्न करना=ग्रहण करना पड़ेगा। क्योंकि वरुणप्रघास में शमीमयी वा हिरण्यमयी स्रुचों के होने पर भी उनके सम्मार्जन से प्रकृतिवत् अपूर्व की सिद्धि नहीं होगी। सिद्धान्तपक्ष में स्रुच् द्रव्य के प्रधान होने से वरुणप्रघास में विहित शमीमयी वा हिरण्यमयी स्रुचों का ही प्रकृतिवत् सम्मार्जन होगा। **बाणवन्तः परिधयः**—मैत्रायणी सं० २।२।३ के अनुसार राजा के संग्राम के जय के लिये विहित **ब्राह्मणस्पत्यं चरुं निर्वपेत्संग्रामे** (=संग्राम में ब्रह्मणस्पतिदेवतावाले चरु का निर्वाप करे) काम्येष्टि में **बाणवन्तः परिधयः** वचन पठित है। कात्यायन श्रौत २२।१०।२५ में उद्भिद् बलभिद् और इषुसंज्ञक एकाहों में **बाणवन्तः परिधयः** वचन है। आपस्तम्ब श्रौत २२।४।२२ में भ्रातृव्यवान् (=शत्रुयुक्त) के लिये विहित 'गौ' संज्ञक एकाह में पठित हैं। **षट्त्रिंशत्संवत्सरे**—यह छत्तीसवर्ष में पूर्ण होनेवाला सत्रसंज्ञक कर्म है। सत्रसंज्ञक कर्म के विषय में हम पूर्व (भाग १, पृष्ठ ६४) पर लिख चुके हैं। इसमें १७ व्यक्ति मिलकर कार्य करते हैं। उनमें से एक यजमान बनता है और १६ ऋत्विक्। यतः मिलकर कर्म को पूर्ण करते हैं अतः सत्रस्थ सभी १७ व्यक्ति यजमान पदवाच्य भी होते हैं—(**ये यजमानास्त ऋत्विजः**)। ऋत्विक् कर्म का विधान केवल ब्राह्मणों के लिये है, इसलिये मिलकर कार्य करनेवाले १७ व्यक्ति ब्राह्मण ही होते हैं। इस प्रकार सत्र-याग ब्राह्मणों द्वारा ही सम्पन्न होता है। **तरसमयाः पुरोडाशाः**—षट्त्रिंशत्संवत्सर-साध्य **शाक्त्यानामयनम्** नामक सत्र में मांसमय (=मांससिद्ध) पुरोडाश का विधान **कात्यायन श्रौत** (२४।५।२०) तथा आपस्तम्ब २३।११।११ में मिलता है। ताण्ड्यब्राह्मण २५।७।१ में षट्त्रिंशत्संवत्सरसाध्य सत्र का निर्देश करके द्वितीय कण्डिका में लिखा है—'तरसमय पुरोडाशवाले गौरवीति नाम के शाक्त (=शाक्त्य =शक्तिपुत्र) ने यव्यावती नाम की नदी के तट पर इस सत्र को करके सब समृद्धि को प्राप्त किया था[1]।' तरसमय पुरोडाश किस के मांस से सिद्ध किया जाये, इस के विषय में आप० श्रौत २३।११।१२-१३ में लिखा है—**संस्थिते संस्थितेऽहनि गृहपतिर्मृगयां याति, स यान् मृगान् हन्ति तेषां तरसाः पुरोडाशाः भवन्ति** (=३६ वर्ष तक प्रतिदिन [कर्मसमाप्ति के पश्चात्] दिन के समाप्त होने पर गृहपति (=सत्र में यजमान स्थानीय व्यक्ति) आखेट को जाता है और वह जिन मृगों को मारता है उनके मांस के पुरोडाश होते हैं)। इस विषय में दो बातें विचारणीय हैं—(१) उपलब्ध वैदिक-संहिताओं में हमें इस सत्र का वर्णन नहीं मिला। उपलब्ध ब्राह्मणो में

१. एतेन गौरवीति शाक्तस्तरसपुरोडाशो यव्यावत्यां सर्वामृद्धिमार्ध्नोत्।

[स्तोत्र-शस्त्र-प्राधान्याऽधिकरणम् ॥५॥]

प्रउगं शंसति[1], निष्केवल्यं शंसति,[1] आज्यैः स्तुवते,[1] पृष्ठैः स्तुवते[1], इति गुणवचनं स्तवनं शंसनञ्च। यथा—इन्द्रस्य नु वीर्य्याणि प्रवोचम्[2] इति। यदेतद् गुणवचनं श्रूयते, किमेतद् गुणभूतं देवतां प्रति, उत प्रधानमिति ? तत्रोच्यते—

भी केवल ताण्ड्य ब्राह्मण (२५।७।१) में इस सत्र का उल्लेख मिलता है। (२) सत्रसंज्ञक कर्म ब्राह्मणों द्वारा ही किये जाते हैं। ब्राह्मणों के लिये हिंसा सर्वथा वर्जित है। अध्वर (=हिंसारहित) नामवाले सत्रकर्म में ब्राह्मण गृहपति लगातार ३६ वर्ष तक प्रतिदिन मृगों को मारेगा, यह न बुद्धिसंगत है न वैदिक यज्ञीय भावना के अनुरूप है। आश्चर्य का विषय तो यह है कि भ्रातृव्यवान् (=शत्रुवाले) के लिये विहित 'गो'संज्ञक सोमयाग (द्र०—आप० श्रौत २२।१।६) में अग्नीषोमीय पशु के स्थान में अग्नीषोमीय एकादश कपाल पुरोडाश, और अनूबन्ध्या गौ के स्थान से मैत्रावरुणी आमिक्षा का विधान आपस्तम्बश्रौत में ही (२२।३।११) में मिलता है। अतः गरम दूध में दही डालकर फाड़ने से जो घना भाग पृथक् होता है, उसे 'आमिक्षा' कहते हैं—तप्ते पयसि दध्यानयति साऽऽमिक्षा। यदि इस शाक्त्यानामयनं नामक षट्त्रिंशत् संवत्सरसाध्य सत्र को करना ही है, तो प्रतिदिन किये जानेवाले सोमयाग में अग्नीषोमीय पशु का पर्यग्निकरण के अनन्तर उत्सर्ग करके कार्य की पूर्ति अग्नीषोमीय एकादशकपाल में संस्कृत यवमय वा व्रीहिमय पुरोडाश से करनी चाहिये। हमारा विचार है कि ताण्ड्यब्राह्मण १५।७।२ में पठित तरसपुरोडाशः में तरस शब्द का अर्थ मांस नहीं है। श्रौतसूत्रों में 'तरस' शब्द का मांस अर्थ उत्तरकालिक है, और आपस्तम्ब श्रौत का ऊपर उद्धृत संस्थिते संस्थितेऽहनि० वचन प्रमाणार्ह नहीं है ॥१२॥

व्याख्या—प्रउगं शंसति (=प्रउगसंज्ञक शस्त्र को पढ़ता है), निष्केवल्यं शंसति (=निष्केवल्य शस्त्र को पढ़ता है) आज्यैः स्तुवते (आज्यसंज्ञक स्तोत्रों से स्तुति करता है), पृष्ठैः स्तुवते (=पृष्ठसंज्ञक स्तोत्रों से स्तुति करता है), यह स्तवन (=स्तुति करना) और शंसन (=पाठ करना) गुणवचन हैं। जैसे—इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम् (=मैं इन्द्र के पराक्रम का वर्णन करता हूं)। जब यह [स्तवन और शंसन] गुणवचन सुना जाता है, तब क्या यह देवता के प्रति गुणभूत है, अथवा प्रधान है ? इसमें कहते हैं·

विवरण—शस्त्र और स्तोत्र दो प्रकार के कर्म हैं। इन से देवताओं की स्तुति की जाती है। शस्त्र का लक्षण—'अप्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं शस्त्रम्'—अर्थात् बिना गान किये ऋङ्मन्त्रों से सिद्ध किया जानेवाला, गुणी में वर्तमान गुण का कथन 'शस्त्र' कहाता है। दूसरे शब्दों में ऋङ्मन्त्रों के यथास्थित पाठ द्वारा किसी देवता की स्तुति 'शस्त्र'पदवाच्य होती है।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. ऋ० सं० १।३२।१॥

स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो याज्यावद्देवताऽभिधानत्वात् ॥१३॥ (पू०)

स्तुतशस्त्रे संस्कारकर्म्मणी इति । कुतः ? देवताभिधानत्वात् । गुणवचने निर्वर्त्त्यमाने गुणिनो देवता संकीर्त्यते । नान्यथा तद्गुणवचनं भवति । तत्र प्रत्यक्षं देवताभिधानं गम्यते, देवताप्रकाशेन च प्रत्यक्ष उपकारो यागसिद्धिः । तस्मात् संस्कारकर्म्मणी, याज्यावत् । यथा—याज्यामन्वाह,[1] पुरोऽनुवाक्यामन्वाह,[1] इति स्तुतिवचनं देवताप्रकाशनेनार्थवत्, तद्वदेतदपीति ॥१३॥

ऋग्वेद के साथ होता का संबन्ध होने से यह होतृकर्तृक है । स्तोत्र का लक्षण—'प्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं स्तोत्रम्'—अर्थात् गान किये गये ऋङ्मन्त्रों से सिद्ध किया जानेवाला, गुणी में वर्तमान गुण का कथन 'स्तोत्र' कहाता है । दूसरे शब्दों में सामगान द्वारा देवता की स्तुति स्तोत्रपदवाच्य जाननी चाहिये । प्रउग निष्केवल्य आदि शस्त्रों का स्वरूप ऋग्वेदीय ब्राह्मणग्रन्थों श्रौतसूत्रों और होतृकर्म के ज्ञाताओं, तथा आज्य पृष्ठ आदि स्तोत्रों का स्वरूप सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों श्रौतसूत्रों और उद्गातृकर्म के विशेषज्ञों से ज्ञेय है ।

स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो याज्यावद्देवताऽभिधानत्वात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(स्तुतशस्त्रयोः) स्तवन=सामगान द्वारा स्तुति, और शस्त्र=यथाभूत ऋङ्मन्त्र का पाठ (तु) तो (संस्कारः) संस्कारकर्म है, (याज्यावत्) जैसे याज्या=जिस मन्त्र का उच्चारण करके देवता के प्रति आहुति दी जाती है, वह संस्कारकर्म है, उसी प्रकार (देवताभिधानत्वात्) स्तवन और शंसनकर्म से देवता का वर्णन होने से ।

व्याख्या—स्तवन और शंसन संस्कारकर्म हैं । किस हेतु से ? देवता का कथन होने से । गुणों के कथन करने पर गुणी देवता का संकीर्तन (=कथन) होता है । अन्यथा [देवता के] गुणों का कथन नहीं होता है । वहां (=स्तवन और शंसन में) प्रत्यक्ष देवता का कथन जाना जाता है, और देवता के प्रकाश से प्रत्यक्ष उपकार याग की सिद्धि होती है । इसलिये [स्तवन और शंसन] संस्कारकर्म हैं, याज्या के समान । जैसे—याज्यामन्वाह (=याज्या को पढ़ता है), पुरोनुवाक्यामन्वाह (=पुरोऽनुवाक्या को पढ़ता है,) यहां [याज्या और पुरोऽनुवाक्या से] स्तुति करना देवता के प्रकाशन से सप्रयोजन हैं, उसी प्रकार यह=स्तवन और शंसनकर्म भी देवता के प्रकाशन से सप्रयोजन हैं ॥१३॥

विवरण— श्रौतयागों में हव्य-द्रव्य की आहुति देने के लिये दो दो मन्त्र प्रयुक्त होते हैं । प्रथम मन्त्र 'पुरोनुवाक्या' कहाता है, और दूसरा 'याज्या' । पुरोनुवाक्या का शब्दार्थ है—पूर्व उच्चार्यमाण ऋचा; और याज्या का शब्दार्थ है—जिस ऋचा से यजन=आहुतिप्रदान कर्म किया जाये । पुरोनुवाक्या का प्रयोजन याज्ञिककर्म के प्रति देवता को अनुकूल करना, अथवा देवता का आवाहन करना मानते हैं । पुरोनुवाक्या मन्त्र में देवता का निर्देश प्रायः प्रथम चरण में होता है, और याज्या में अन्त्य चरण में ।

१. अनुपलब्धमूलम् ।

अर्थेन त्वपकृष्येत देवतानामचोदनार्थस्य गुणभूतत्वात् ॥१४॥ (उ०)

'पुरोनुवाक्या' और 'याज्या' के स्वरूप तथा कर्म का सरलता से बोध कराने के लिये पौर्णमासयागान्तर्गत आग्नेय याग का उल्लेख करते हैं—

अध्वर्यु दक्षिण पैर से हवि के समीप आकर बैठकर होता को प्रेरित करता है—अग्नयेऽनुब्रूहि (=अग्नि के लिये पुरोनुवाक्या को पढ़ो)।

तत्पश्चात् होता निम्न पुरोनुवाक्या को पढ़ता है—

ओम् अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपां रेतांसि जिन्वतो३म् (ऋ० ८।४४।१६)॥

इस पुरोनुवाक्या को पढ़ने के पश्चात् अध्वर्यु यजनीय द्रव्य को यथाविधि जुहू में लेकर जुहू को उपभृत् के ऊपर रखकर, जहां खड़े होकर आहुति देनी है, वहां जाकर अग्नीत् को प्रेरित करे—**ओ३ श्रा३वय** (=हे अग्नीत् सुनाओ=कर्म का निर्देश करो)।

पुनः अग्नीत् पढ़ता है—**अस्तु श्रौ३षट्** (=श्रौषट् होवे=अहुति दी जाये)। इसके अनन्तर अध्वर्यु होता को प्रेरित करता है—**अग्निं यज** (=अग्नि के प्रति यजन करो)।

अध्वर्यु से प्रेरित होता याज्या मन्त्र पढ़ता है—**ओं ये३ यजामहेऽग्निं—भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः। दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहां३ वौ३षट्** (ऋ० १०।८।६)।

होता के द्वारा याज्या मन्त्र के पढ़ने पर अध्वर्यु वौषट् शब्द के साथ ही प्रज्वलित अग्नि में हव्य-द्रव्य का होम करे।

यहां यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि—याग और होम दोनों भिन्न कर्म हैं। याग में आहुति देने के लिये पुरोनुवाक्या और याज्या दो ऋचाओं को पढ़ना होता है, और अध्वर्यु खड़े होकर आहुति देता है। होम में आहुति के लिये एक ही मन्त्र पढ़कर बैठकर आहुति देते हैं ॥१३॥

अर्थेन त्वपकृष्येत देवतानामचोदनार्थस्य गुणभूतत्वात् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(तु) पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है। [स्तवन-शंसन के संस्कारकर्म होने पर] (देवतानामचोदना) देवतावाचक पदयुक्त मन्त्र से क्रियमाण स्तवन और शंसन का विधान (अर्थेन) देवताप्रकाशनरूप प्रयोजन से (अपकृष्येत) अन्यत्र खींचा जायेगा=अन्यत्र ले जाना पड़ेगा, (अर्थस्य) स्तवन और शंसनरूप कर्म के (गुणभूतत्वात्) देवता के प्रति गुणभूत होने से।

विशेष—सोमयाग में महेन्द्र-देवता सम्बन्धी ग्रह से क्रियमाण याग के समीप में स्तोत्र शस्त्र का **अभि त्वा शूर नोनुमः** इत्यादि मन्त्र पढ़ा है। इसमें केवल इन्द्र पद है। क्रियमाण माहेन्द्र ग्रहयाग का देवता महेन्द्र है। यदि स्तवन और शंसन संस्कारकर्म होवें, तो प्रकृत में पठित मन्त्र से क्रियमाण स्तवन वा शंसन को माहेन्द्र ग्रहयाग की समीपता से हटाकर जहां केवल इन्द्र देवता होगा, वहां ले जाना पड़ेगा। क्योंकि संस्कारकर्म मानने पर देवता की प्रधानता होती है, स्तवन और शंसनकर्म गुणभूत होते हैं। इसलिये प्रधान के अनुरोध से माहेन्द्र ग्रहयाग के सन्निधि में पठित मन्त्र से

यदि संस्कारकर्म्मणी एव स्तोत्रशस्त्रे, अर्थेनापकृष्येत देवतानाम्नश्चोदनार्थस्य गुणभूतत्वात्। देवतार्थस्य गुणभूतो मन्त्रः, इति तत्प्रधानभावे यत्र प्रधानं तत्र नीयेत। तत्र क्रमसन्निधी उपरुध्येयाताम्। तस्मादेष दुष्टः पक्षः, इति पर्य्युदसितव्यः। कतमः पुनरसौ मन्त्रः? 'अभि त्वा शूर'[1] इत्यैन्द्रः प्रगाथो माहेन्द्रस्य ग्रहयजेः सन्निधावाम्नातः,[2] यत्रेन्द्रस्तत्रापकृष्येत ॥१४॥

क्रियमाण स्तवन-शंसन को हटाना पड़ेगा। क्योंकि याज्ञिकों के मत में महेन्द्र और इन्द्र भिन्न-भिन्न देवता हैं।

व्याख्या—यदि स्तोत्र और शस्त्र संस्कारकर्म ही हैं, तो स्तवन-शंसनरूप प्रयोजन के कारण देवता नाम के निर्देश के गुणभूत होने से अपकर्ष (=स्थानान्तरण) होवे। देवता के लिये मन्त्र गुणभूत है, अतः देवता के प्रधान होने से जहां प्रधान [इन्द्र देवता] होगा, वहां ले जाया जायेगा। उस अवस्था में (=मन्त्र के अपकर्ष होने पर) क्रम और सन्निधि (=सामीप्य) दोनों का उपरोध होगा। इसलिये यह पक्ष दुष्ट (=दूषित) है, इस कारण इसे छोड़ देना चाहिये। वह कौनसा मन्त्र है? अभि त्वा शूर' ऐसा ऐन्द्र प्रगाथ महेन्द्र देवता सम्बन्धी ग्रहयाग के समीप पठित है। उस [ऐन्द्र प्रगाथ] को जहां इन्द्र देवता होगा, वहां ले जाना पड़ेगा ॥१४॥

विवरण—**अपकृष्येत**—अपकर्ष और उत्कर्ष दो शब्दों का प्रयोग स्थानान्तर में लें जाने के लिये होता है। उनमें 'अपकर्ष' का अर्थ है—जहां पढ़ा गया है उससे पूर्व ले जाना, और 'उत्कर्ष' का अर्थ है—जहां पढ़ा गया है वहां से आगे ले जाना। भाष्यकार ने उत्तर सूत्र में अपकर्ष के स्थान में दो बार उत्कर्ष शब्द का निर्देश किया है। कुतुहलवृत्तिकार ने इसी सूत्र में अपकृष्येत का अर्थ उत्कृष्येत किया है। इसी कारण हमने अपनी व्याख्या में 'अन्यत्र ले जाना' इतना सामान्य-निर्देश किया है। **देवतानाम्नश्चोदना**—देवता नाम की चोदना=निर्देशभूत मन्त्र। **गुणभूतो मन्त्रः**—मन्त्र देवता के प्रकाशन=वर्णन के लिये प्रयुक्त होता है। इसलिये मन्त्र देवता के प्रति गौण है। **क्रम सन्निधी**—इसका विवरण आगे दिया है—**माहेन्द्रस्य ग्रहयजेः सन्निधौ**। **अभि त्वा शूरेत्यैन्द्रः प्रगाथः**—प्रगाथ छन्दःसमुदाय विशेष का नाम है। इस समुदाय में विभिन्न-छन्दस्क दो वा दो से अधिक ऋचाएं होती हैं। सामगान के समय **एकं साम तृचं क्रियते** के नियमानुसार प्रत्येक साम के लिये तीन ऋचाओं की आवश्यकता होती है। परन्तु सामवेद के उत्तरार्चिक में जहां सामगान के लिये प्रगाथ-संज्ञक दो ऋचाओं का पाठ है, वहां उन्हीं दो ऋचाओं को गान के समय तीन बना लिया जाता है। दो ऋचाओं को तीन बनाने के कुछ प्रकार आश्व० श्रौत ५।१५ में दिये गये हैं। **माहेन्द्रस्य ग्रहयजेः सन्निधौ**—द्र०—कात्या० श्रौत १०।३।११-१२ सूत्र तथा विद्याधरकृत व्याख्या; आप० श्रौत १३.८। ४-५ माहेन्द्रस्य स्तोत्रमुपाकरोति; तथा आश्व० श्रौत ५।१५—अभि त्वा शूर प्रगाथौ स्तोत्रियानुरूपौ। इन निर्देशों से स्पष्ट हो जाता है कि अभि त्वा शूर नोनुमः प्रगाथ का निर्देश माहेन्द्र ग्रहयाग

---

१. ऋ० ७।३२।२२,२३॥ साम सं० प्र० १, प्रथम अर्ध, तृच ११, मं० १-२॥
२. द्र०- आप० श्रौत १३।८।४-५॥ कात्या० श्रौत १०।३।११-१२ [टीकाऽप्यत्र द्र०]॥

वशावद्वा गुणार्थं स्यात् ॥१५॥ (पू०)

न पर्युदसिष्याम इमं पक्षम्—'संस्कारकर्म्मणी एव स्तोत्रशस्त्रे', देवताभिधानत्वादेव । यत्तूक्तम्—'प्रगाथस्योत्कर्षः' इति । तन्न । इन्द्रशब्देन महेन्द्रोऽभिधायिष्यते । स एवेन्द्रो

के सन्निधि में है । अधिक स्पष्टीकरण के लिये मीमांसक-शिरोमणि पूज्य आचार्यवर विरचित यज्ञतत्त्वप्रकाश पृष्ठ ७७ देखें ।[1] उसका भाषानुवाद इस प्रकार है—'अध्वर्यु, जिस पात्र में शुक्र-ग्रह का ग्रहण किया था, उसी पात्र में माहेन्द्रग्रह का ग्रहण करके खरसंज्ञक स्थान में रखकर माहेन्द्र-संज्ञक प्रथम पृष्ठ स्तोत्र का उद्गाताओं को प्रैष देवे । उद्गाताओं द्वारा स्तोत्र के समाप्त करने पर निष्केवल्य शस्त्र के लिये होता को प्रैष देकर होता के द्वारा शस्त्र के पाठ करते हुए प्रतिगर देता हुआ बैठे । शस्त्र के समाप्त होने पर मरुत्वतीय ग्रह के समान माहेन्द्रग्रह का होम करें । यत्रेन्द्रस्तत्रापकृष्येत—सोमयाग में इन्द्र ऋतुसंज्ञक ग्रहों में प्रथम और पञ्चम का देवता है (द्र०—यज्ञतत्त्व-प्रकाश, पृष्ठ ७२)। इन ग्रहों से याग प्रातःसवन में होता है । अतिग्राह्य-संज्ञक तीन ग्रहों में द्वितीय ग्रह का इन्द्र देवता है । इन अतिग्राह्य ग्रहों से याग माध्यन्दिन सवन में माहेन्द्र ग्रहयाग के अनन्तर होता है । (द्र०—यज्ञतत्त्वप्रकाश, पृष्ठ ७७-७८) । भाष्यकार ने यहां सूत्रगत अपकृष्येत शब्द का ही प्रयोग किया है । तदनुसार प्रातःसवनस्थ इन्द्रदेवताक ऋतुग्रह के समय अभि त्वा शूर प्रगाथ का अपकर्षण जानना चाहिये । भाष्यकार ने उत्तर सूत्र में दो बार अपकर्ष के स्थान में उत्कर्ष का निर्देश किया है । उसके अनुसार अतिग्राह्यसंज्ञक ३ ग्रहों में मध्यम ऐन्द्र ग्रह की सन्निधि में उत्कर्ष होगा ॥१४॥

वशावद्वा गुणार्थं स्यात् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व 'ऐन्द्र प्रगाथ के अपकर्ष' की निवृत्ति के लिये है । (वशावद्) वशा के समान (गुणार्थम् स्यात्) गुणनिर्देश के लिये है । अर्थात् जैसे अजा वशा करने पर वशा (= वन्ध्या) रूप गुण की प्रतीति होती है, उसी प्रकार 'महेन्द्र' शब्द से इन्द्र के महत्त्वगुण की प्रतीति होती है । इस कारण ऐन्द्र प्रगाथ का माहेन्द्र ग्रहयाग की सन्निधि से अपकर्ष नहीं करना पड़ेगा ।

व्याख्या—'स्तोत्रशस्त्र संस्कारकर्म ही हैं', इस पक्ष को [इन्द्र] देवता का कथन होने होने से ही हम नहीं छोड़ेंगे । और जो कहा है कि—प्रगाथ का उत्कर्ष होगा । वह नहीं होगा । इन्द्र शब्द से महेन्द्र का ही कथन कराया जायेगा । वही इन्द्र महत्त्व गुण के योग से महेन्द्र कहाता है ।

---

१. 'यस्मिन् पात्रे शुक्रग्रहो गृहीतस्तस्मिन् पात्रे माहेन्द्रं ग्रहं गृहीत्वा खरे सादयित्वा माहेन्द्र-संज्ञकस्य प्रथमपृष्ठस्तोत्रस्य प्रैषमुद्गातृभ्यो दद्यात् । ततः स्तोत्रे समापिते निष्केवल्यशस्त्रार्थं होत्रे प्रैषं दत्त्वा होत्रा शस्त्रे पठ्यमाने प्रतिगरं गृणंस्तिष्ठेत् । समाप्ते शस्त्रे मरुत्वतीयग्रहवन्माहेन्द्रग्रहस्य होमः । इति यज्ञतत्त्वप्रकाशे आचार्यपादाः (पृष्ठ ७७) ।

महत्त्वेन गुणेन महेन्द्र इत्युच्यते। प्रत्यक्षं हीन्द्रशब्दं देवतावचनमुपलभामहे, महत्त्ववचनं च महच्छब्दम्। यथा—राजा महाराजः, ब्राह्मणो महाब्राह्मण इति। वशावत्। यथा—सा वा एषा सर्वदेवत्या यदजा वशा। वायव्यामालभेत[1] इत्यजावशाशब्देन चोदिते कर्म्मणि छागशब्देन निगमा भवन्ति। तद्वत् सगुणे चोदिते निर्गुणेनाभिधानं भविष्यति। तेन न भविष्यत्युत्कर्ष इति ॥१५॥

[महेन्द्र शब्द में] प्रत्यक्ष ही देवता को कहनेवाले 'इन्द्र' शब्द को हम उपलब्ध करते हैं, और महत्त्व को कहनेवाले 'महत्' शब्द को। जैसे—राजा महाराजा, ब्राह्मण महाब्राह्मण [इन प्रयोगों में महत् शब्द राजा और ब्राह्मण के महत्त्व को ही कहता है। महाराज राजा से, और महाब्राह्मण ब्राह्मण से भिन्न का वाचक नहीं है]। वशा के समान। जैसे—सा वा एषा सर्वदेवत्या यदजा वशा (=वह निश्चय ही सब देवोंवाली है, जो वशा अजा है) । वायव्यामालभेत (=वायु देवतावाली [अजा] का आलभन करे) में अजा वशा शब्द से कथित कर्म में छाग शब्द से निगम (=मन्त्र) होते हैं। उसी तरह गुणसहित (=महेन्द्र) से कहे गये कर्म में गुणरहित (=इन्द्र) से कथन हो जायेगा। इस कारण [अभि त्वा शूर प्रगाथ का माहेन्द्र ग्रहयाग से] उत्कर्ष नहीं होगा ॥१५॥

विवरण—वशावद्—वशा अजा का जो यज्ञ में आलभन कहा है, उसका भी श्रौतयज्ञ-मीमांसा के अन्तर्गत पशुयाग की व्यवस्थानुसार पर्यग्निकरण के पश्चात् उत्सर्ग जानना चाहिये। वस्तुतः समस्त पशुयागों में जो गौ अश्व अज अवि का निर्देश है, वह प्राकृतिक दिव्य पदार्थों के प्रतीकात्मक हैं। अज शब्द का अर्थ है अजति गच्छतीत्यजः=गतिशील घूमनेवाले लोकलोकान्तर। ये सूर्यरूप यूप के चारों ओर रश्मियों से बन्धे हुए घूमते रहते हैं। इसीलिये प्रत्येक पशुयाग में प्रतीकात्मक पशु को आदित्य के प्रतीकात्मक यूप (आदित्यो यूपः, तै० ब्रा० २।१।५) में बान्धा जाता है। रश्मियों की प्रतीक रशना (=रस्सी) है। प्रकृत में अजा वशा उस काल की पृथिवी की प्रतीक है, जब पृथिवी पर लोमरूप ओषधिवनस्पतियां पैदा नहीं हुई थीं। देखो—श्रौतयज्ञमीमांसा, पृष्ठ १४१-१४२ पर वशा अवि का प्रकरण। वशा अवि और अजा अवि में कुछ अन्तर है। वशा अवि पृथिवी की वह स्थिति है, जब अभी पृथिवी पिलपिली थी—अविरासीत् पिलिप्पिला, यजु० २०।१२। अजा अवि उससे उत्तरकाल की अवस्था है। इस समय पृथिवी का दृंहण तो हो गया था, पर अभी ओषधिवनस्पतियां उत्पन्न नहीं हुई थीं।

ब्राह्मणो महाब्राह्मणः—आजकल महाब्राह्मण शब्द का प्रयोग मृतक के वस्त्रादि लेनेवाले निन्दित व्यक्ति के लिये होता है। परन्तु प्रकृत प्रसंग में महाब्राह्मण शब्द श्रेष्ठ ब्राह्मण अर्थवाला है। **छागशब्देन निगमाः**—यज्ञीय विधिवाक्यों में अज का निर्देश मिलता है। परन्तु छागस्य हविषो वपाया मेदसो जुषेताम् (यजुः २१।४१) आदि मन्त्रों में छाग शब्द का निर्देश मिलता है। इस मन्त्र पर विशेष विचार आगे इसी प्रकरण के २०वें सूत्र पर करेंगे ॥१५॥

---

१. तै० सं० ३।४।३।२॥

न श्रुतिसमवायित्वात् ॥१६॥ (उ०)

नैतदेवम्—'इन्द्रोऽस्य ग्रहस्य देवता' इति तद्धितसंयोगेन विज्ञायेत। न चास्य महत्त्वमपेक्षमाणस्य तद्धितसंयोग उपपद्यते। तद्धितसंयोगाऽपेक्षस्य वा महत्त्वसम्बन्धात् समासकल्पना। न च तद्धितार्थे वृत्तस्य महत्त्वसम्बन्धः। न च समासार्थे वृत्तस्य तद्धितसंबन्धः। न चाऽस्मिन्नेव प्रयोगे समासार्थे वृत्तिरिष्यते, एतस्मिन्नेव तद्धिताऽर्थे। न चायमिन्द्रशब्दोऽविहितवत् स्वार्थं तद्धितार्थेन सम्बद्धयेत. विहितवच्च परार्थं महत्त्वेन सम्बद्धमनूद्येत। विस्पष्टश्चायमन्योऽर्थो महेन्द्रो भवति—महानिन्द्रो भवतीति महेन्द्रः। अन्यश्चेन्द्रो हविषो देवता भवतीति। सकृदुच्चारणे च नोभयं शक्येत। तस्मान्नेन्द्रो देवता महत्त्वविशिष्टः। महेन्द्रशब्दात्तु तद्धित उत्पन्नः। तस्मात् तत्प्रातिपदिकमर्थवदिति गम्यते। न त्ववयवसम्बन्धेन। तस्माद् देवतान्तरमिन्द्रान्महेन्द्रः। तेनैन्द्रस्य प्रगाथस्योत्कर्षः

न श्रुतिसमवायित्वात् ॥१६॥

सूत्रार्थः—इन्द्रदेवताक प्रगाथ का उत्कर्ष नहीं होगा, ऐसा (न) नहीं है। उत्कर्ष ही होगा, (श्रुतिसमवायित्वात्) महेन्द्र के तद्धितप्रत्ययरूप श्रुति के साथ समवेत=संयुक्त होने से। अर्थात् माहेन्द्रस्य स्तोत्रमुपाकरोति (आप० श्रौत १३।८।५) में तद्धितान्त माहेन्द्र शब्द का अर्थ है—'महेन्द्र देवता है इस स्तोत्र का वह।' इस तद्धित प्रत्यय का सम्बन्ध महेन्द्र के साथ है, न कि एकदेश भूत इन्द्र के साथ। अभि त्वा शूर प्रगाथ ऐन्द्र देवतावाला है, उसे माहेन्द्र नहीं कह सकते। अतः स्तोत्रशस्त्र को संस्कारकर्म मानने पर ऐन्द्र देवतावाले प्रगाथ का उत्कर्ष ही होगा।

व्याख्या—'इन्द्र इस ग्रह का देवता है', यह तद्धितप्रत्यय के संयोग से जाना जाये, ऐसी बात नहीं है। और नाही महत्त्व की अपेक्षा रखनेवाले इस [इन्द्र] का तद्धितप्रत्यय से संयोग उत्पन्न होता है। और नाही तद्धितप्रत्यय के संयोग की अपेक्षा रखनेवाले इन्द्र की महत्त्व-सम्बन्ध से समास की कल्पना [उपपन्न होती है]। और तद्धितार्थ में वृत्त (=तद्धितार्थ से युक्त हुए) इन्द्र का न महत्त्व के साथ सम्बन्ध होता है। और नाही समासार्थ में वृत्त (समासार्थ से युक्त) का तद्धित के साथ सम्बन्ध होता है। और नाही इसी [माहेन्द्र एक] प्रयोग में समासार्थ में वर्तन (=प्रवृत्ति) इष्ट है, और ना ही इसी में तद्धितार्थ में वृत्ति इष्ट है [अर्थात् एक साथ समासार्थ और तद्धितार्थ में वृत्ति नहीं हो सकती]। नाही यह इन्द्र शब्द अविहित के समान अर्थात् प्रथमोपात्त अपने अर्थ को तद्धितार्थ से युक्त करे, और विहित (=पूर्वनिर्दिष्ट) के समान पर के लिये महत्त्व से सम्बन्ध जोड़ने के लिये अनुदित होगा। विस्पष्ट ही यह अन्य अर्थ महेन्द्र होता है—महान् इन्द्र=महेन्द्र। और अन्य इन्द्र हवि का देवता होता है। और एक बार उच्चारण में दोनों [महत्त्व और तद्धितसम्बन्ध] नहीं हो सकते। इसलिये इन्द्रदेवता महत्त्व से विशिष्ट है, ऐसा नहीं है। [माहेन्द्र में] महेन्द्र शब्द से ही तद्धित प्रत्यय उत्पन्न हुआ है। इससे [महेन्द्र समुदित] प्रातिपदिक अर्थवान् है, ऐसा जाना जाता है। यह अवयव-सम्बन्ध से अर्थवान् नहीं है। इसलिये इन्द्र से महेन्द्र भिन्न देवता है। इस हेतु से [स्तोत्र शस्त्र को संस्कारकर्म मानने पर] माहेन्द्र प्रगाथ का

प्राप्नोति। अतः पर्य्युदसितव्य एष पक्षः। यदप्युच्यते—इन्द्रस्य वृत्रवधोत्तरकालं महेन्द्रत्वं दर्शयति—'महान् वाऽयमभूद् यो वृत्रमवधीद्'[1] इति। तथा वेदस्यादिमत्तादोषः प्रसज्ज्येत। अतोऽन्य इन्द्रो महेन्द्रात् ॥१६॥

उत्कर्ष प्राप्त होता है। इसलिये यह [संस्कारकर्म] पक्ष छोड़ने योग्य है। और जो कहते हो कि इन्द्र के द्वारा वृत्र का वध करने के पश्चात् महेन्द्रत्व को दर्शाता है—'यह इन्द्र निश्चय ही महान् हुआ, जो इसने वृत्र को मारा।' ऐसा होने पर वेद की आदिमत्ता का दोष प्राप्त होता है। इसलिये इन्द्र अन्य है महेन्द्र से ॥१६॥

विवरण—इन्द्रोऽस्य ग्रहस्य देवता—माहेन्द्र ग्रह का महेन्द्र देवता के साथ सम्बन्ध है—**महेन्द्रोऽस्य ग्रहस्य देवता** इस अर्थ में **साऽस्य देवता** (अष्टा० ४।२।२३) वह इसका देवता है, इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित (=अण्) प्रत्यय होता है। अतः माहेन्द्र ग्रह का इन्द्र देवता है, यह अभिप्राय तद्धितप्रत्यय के संयोग से नहीं जाना जाता है। 'इन्द्र इस ग्रह का देवता है', इस अर्थ में ऐन्द्र शब्द प्रयुक्त होगा, न कि माहेन्द्र। **साऽस्य देवता** (अष्टा० ४।२।२३) आदि समस्त तद्धित-प्रकरण में **समर्थानां प्रथमाद्वा** (अष्टा० ४।१।८२) से समर्थ की अनुवृत्ति होने से समर्थ प्रातिपदिक से ही तद्धितप्रत्यय होते हैं। जो शब्द शब्दान्तर की अपेक्षा करता है, वह असमर्थ होता है—**सापेक्षमसमर्थं भवति** (महा० २।१।१) इस नियम से जैसे **महत् कष्टं श्रितः** में महत् के साथ अपेक्षा रखनेवाले द्वितीयान्त कष्ट शब्द का श्रितशब्द के साथ समास नहा होता है, उसी प्रकार शब्दान्तर के साथ सम्बन्ध रखनेवाले शब्द से तद्धितप्रत्यय उत्पन्न नहीं होता है। इसी हेतु से कहा है कि—**न चास्य महत्त्वमपेक्षमाणस्य तद्धितसंयोग उपपद्यते**। इसी प्रकार तद्धित-प्रत्यय के संयोग की अपेक्षा रखनेवाले इन्द्र शब्द का महत् शब्द के साथ समास नहीं होगा। **न च तद्धितार्थे वृत्तस्य महत्त्वसम्बन्धः**—इन्द्र से **साऽस्य देवता** अर्थ में तद्धितप्रत्यय करके ऐन्द्र शब्द के साथ महत्त्व का सम्बन्ध नहीं होगा। इसका तात्पर्य यह है कि तद्धितप्रत्ययान्त ऐन्द्र पदावयव इन्द्र का महत्त्व के साथ सम्बन्ध नहीं होगा। और यदि ऐन्द्र पद का महत्त्व के साथ कथंचित् सम्बन्ध करें भी, तो महेन्द्र शब्द निष्पन्न होगा। और इसका अर्थ होगा—इन्द्रदेवता सम्बन्धी महान् ग्रह। **न च समासार्थे वृत्तस्य तद्धितसम्बन्धः** - का भाव यह है कि महेन्द्र ऐसा समास बनाने के पश्चात् अवयवभूत इन्द्र का तद्धितप्रत्यय के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसका यह भाव नहीं है कि महेन्द्र समस्त शब्द से तद्धितप्रत्यय नहीं हो सकता। **महेन्द्रोऽस्य ग्रहस्य देवता**—इस अर्थ में महेन्द्र शब्द से तद्धित प्रत्यय होता ही है। **अविहितवत्**—विहित वह होता है जिसका किसी प्रसङ्ग में निर्देश किया जा चुका हो। अतः अविहित का अर्थ है—प्रथम प्रयुक्त। इन्द्र शब्द प्रथम प्रयुक्त के समान अपने अर्थ को तद्धितप्रत्यय से युक्त के, और विहित पूर्वयुक्त के समान

---

१. तै० सं० ६।५।५।४॥ तु०—इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा महान् अभवत्। ऐ० ब्रा० १।१॥ इन्द्रो ह वा एष पुरा वृत्रस्य वधात्। अथ वृत्रं हत्वा यथा महाराजो विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत्॥ शत० ब्रा० २।५।४।६; ४।३।३।१७॥

व्यपदेशभेदाच्च ॥१७॥

व्यपदेशभेदश्च भवति । बहु दुग्धीन्द्राय देवेभ्यो हविः[1] इति, बहु दुग्धि महेन्द्राय देवेभ्यो हविः[2] इति । अतोऽपि देवतान्तरम् । एकदेवतात्वे मन्त्रविकल्पः स्यात् ॥१७॥

गुणश्चानर्थकः स्यात् ॥१८॥ (उ०)

यदा विधिशब्दादवगतमेतद् भवति—इन्द्रो देवतेति, तदाऽस्य गुणान्वाख्याने किं

परार्थं महत्त्व सम्बन्ध के प्रति अनूदित हो, यह उपपन्न नहीं हो सकता। एक में ही स्वार्थ-निर्देश के लिये प्रयोग, और परार्थ अनुवाद दो परस्परविरुद्ध सम्बन्ध सम्भव नहीं हैं। तस्मात् प्रातिपदिककमर्थवत्—का भाव है कि इन्द्र के समान ही महेन्द्र स्वतन्त्र शब्द है। वृत्रवधोत्तरकालम्—यह देवराज इन्द्रविषयक निर्देश है। इन्द्र-वृत्र संग्राम की घटना है। वेदस्यादिमत्ता दोषः—भाष्यकार ने यह दोष स्वमतानुसार, अर्थात् मन्त्र-ब्राह्मण-उपनिषद्समूह को वेद मानकर दिया है। वस्तुतः ब्राह्मण-ग्रन्थ न वेद हैं, और न वे अपौरुषेय हैं। इसकी मीमांसा हम पूर्व वेदापौरुषेयताधिकरण के अन्त में विस्तार से कर चुके हैं। द्र०—भाग १, पृष्ठ १०२-१२४ ॥१६॥

व्यपदेशभेदाच्च ॥१७॥

सूत्रार्थः—(च) और (व्यपदेशभेदात्) कथन=निर्देश के भेद से भी [इन्द्र से महेन्द्र भिन्न देवता है]।

व्याख्या—और व्यपदेश=कथन=निर्देश का भेद भी होता है। बहु दुग्धीन्द्राय देवेभ्यो हविः, और बहु दुग्धि महेन्द्राय देवेभ्यो हविः [दर्श में गायों के दोहन के पश्चात् इन्द्र और महेन्द्र देवता के भेद से भिन्न-भिन्न-देवता-पदघटित मन्त्रों से वाणी का विसर्जन किया जाता है]। इससे [भी जाना जाता है कि इन्द्र और महेन्द्र] भिन्न-भिन्न देवता हैं। [इन्द्र और महेन्द्र के] एक देवता होने पर [वाग्विसर्जन में] मन्त्र का विकल्प होवे ॥१७॥

विवरण—शाखाभेद से दर्श में पयः और दधिरूप हवि का इन्द्र और महेन्द्र देवता होता है। तदनुसार वाग्विसर्जन में यथादैवत मन्त्र का प्रयोग होता है ॥१७॥

गुणश्चानर्थकः स्यात् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(च) और [इन्द्र और महेन्द्र के एक होने पर] (गुणः) महत् गुण (अनर्थकः) अनर्थक=व्यर्थ (स्यात्) होवे।

व्याख्या—जब विधि शब्द से यह जाना जाता है कि—इन्द्र देवता है, तब 'महत्त्व इन्द्र का

---

१. तै० ब्रा० ३।२।३॥

२. तु०—तिसृषु दुग्धासु बहु दुग्धीन्द्राय देवेभ्यो हविरिति त्रिरुक्त्वा वाचं विसृजते। माहेन्द्रायेति वा ॥ मानव श्रौत १।१।३।२९॥

प्रयोजनम्, 'महत्त्वं नामेन्द्रस्य गुणो भवति' इति ? देवताभिधानम् । कथं तस्यै देवतायै दीयते इति ? गुणेऽपि हि विहिते सति तस्यै एव देवतायै दीयतेऽविहितेऽपि । तस्माद् गुणविधानमनर्थकम् । अथोच्येत—'योऽस्मिन् ग्रहे इन्द्रः, स महान्' इति। नैवम् । ग्रहसम्बन्धस्याप्रसिद्धत्वाद् विशेषणं नात्र कल्प्यते । गुणसम्बन्धस्य चाप्रसिद्धत्वाद् गुणेन विशेषणमनवक्लृप्तम् । तस्मादपि देवतान्तरम् ॥१८॥

तथा याज्यापुरोरुचोः ॥१९॥ (उ०)

एवं सति याज्यापुरोऽनुवाक्ययोर्भेदेन दर्शनमुपपद्यते । एन्द्र सानसिं रयिम्[1]

गुण होता है' इस गुण के कथन में क्या प्रयोजन होगा? [यदि कहो कि] 'देवता का कथन प्रयोजन है। उस देवता को कैसे हवि दी जाये? तो [महत्त्व] गुण के कथन होने पर भी उसी इन्द्र देवता के लिये हवि दी जायेगी, और [महत्त्वगुण के] कथन न करने पर भी । इस कारण गुण का कथन अनर्थक होता है । यदि यह कहो कि—'इस ग्रह में जो इन्द्र देवता है, वह महान् है ।' तो यह इस प्रकार भी नहीं है । [इन्द्र के साथ] ग्रह-सम्बन्ध के अप्रसिद्ध होने से उसका 'महान्' विशेषण उपपन्न नहीं होता है । और [इन्द्र के] गुण-सम्बन्ध के अप्रसिद्ध होने से गुण से विशेषण समर्थ नहीं होता है । इसलिये भी [इन्द्र से महेन्द्र] भिन्न देवता है ॥१८॥

विवरण—'तदाऽस्य····· देवतायै दीयते इति'—कथन सिद्धान्ती द्वारा ही उपपादित है । कथं तस्यै देवतायै—सभी देवताओं का निर्देश इसीलिये किया जाता है कि उनके उद्देश से कर्म कैसे किया जाये । इस कारण महत्त्व गुण के देवता के अन्तर्भूत न होने से उसका उपादान अनर्थक है । गुणेऽपि विहिते—इसका भाव यह है कि गुण का कथन होने पर अर्थवान् होने पर देवता का व्यवहार जब 'इन्द्र' पद से ही होता है, तब गुणविधान अनर्थक है । ग्रहसम्बन्धस्याप्रसिद्धत्वात्—माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति आदि वाक्य से जिस ग्रह का ग्रहण होता है, उसका इन्द्र के साथ सम्बन्ध प्रसिद्ध नहीं है । यदि इन्द्र के साथ सम्बन्ध विवक्षित होता, तो ऐन्द्रं ग्रहं गृह्णाति प्रयोग होना चाहिये था । गुणसम्बन्धस्य चाप्रसिद्धत्वात्—इसका भाव यह है कि महान् इन्द्र देवता किसी वचन से प्राप्त ही नहीं है, जिससे उसको गुण से लक्षित करके विधान किया जावे ॥१८॥

तथा याज्यापुरोरुचोः ॥१९॥

सूत्रार्थः—[जिस प्रकार व्यपदेशभेदाच्च सूत्र में बहु दुग्धि मन्त्रों में इन्द्र और महेन्द्र का पृथक् निर्देश होने से देवतान्तर की सिद्धि, और एक मानने पर मन्त्र का विकल्प दोष दिया था] (तथा) उसी प्रकार (याज्यापुरोरुचोः) याज्या और पुरोऽनुवाक्या में भी इन्द्र और महेन्द्र का निर्देश होने से जानना चाहिये ।

व्याख्या · इस प्रकार होने पर याज्या और पुरोऽनुवाक्या में भी भेद से [इन्द्र और महेन्द्र

१. एन्द्र सानसिं रयिम् (ऋ० १।८।१) इति पुरोऽनुवाक्या, प्र ससाहिषे पुरुहूत (ऋ० १०।१८०।१, इति याज्या । (द्र०—आश्व० श्रौत १।६।१॥ तै० सं० ३।४।११॥ मै० सं० ४।१२।३)॥

इत्यैन्द्रयाज्यापुरोऽनुवाक्याद्वयं, महाँ इन्द्रो य ओजसा[1] इति भेदेन माहेन्द्रं दर्शयति। तदेकत्वे विकल्प्येत। तत्र पक्षे बाधः स्यात् ॥१९॥

वशायामर्थसमवायात् ॥२०॥ (उ०)

यदुक्तम्—अजावशाशब्देन चोदिते कर्म्मणि छागशब्देन निगमा भवन्तीति। तद्

का] दर्शन उपपन्न होता है। एन्द्र सानसिं रयिम् ये इन्द्र की दो याज्या और पुरोनुवाक्या हैं। और महान् इन्द्रो य ओजसा द्वारा भिन्नता से महेन्द्र देवता सम्बन्धी याज्या पुरोनुवाक्या को दिखाया जाता है। [इन्द्र और महेन्द्र के] एक देवता होने पर इन याज्या पुरोनुवाक्या में विकल्प प्राप्त होगा। विकल्प होने पर [एक याज्या पुरोनुवाक्या की] पक्ष में बाधा प्राप्त होगी ॥१९॥

विवरण – याज्यापुरोनुवाक्या के सम्बन्ध में हम पूर्व २।१।१३ के विवरण में पृष्ठ ३८७ पर लिख चुके हैं। एकत्वे विकल्प्येत—इन्द्र और महेन्द्र देवता की याज्या पुरोनुवाक्याएं पृथक्-पृथक् पढ़ी गई हैं। आश्वलायन श्रौत (१।६।१) में लिखा है—उक्ता देवतास्तासां याज्यानुवाक्या······ एन्द्र सानसिं रयिं, प्र ससाहिषे पुरुहूत शत्रून्, महाँ इन्द्रो य ओजसा भुवस्त्वम्, इन्द्र ब्रह्मणा महान् इति। इनमें एन्द्र सानसिं इन्द्रदेवताक याग की पुरोनुवाक्या और प्र ससाहिषे याज्या है। महाँ इन्द्रो य ओजसा महेन्द्रदेवताक याग की पुरोनुवाक्या, और इन्द्र ब्रह्मणा महान् याज्या है। यद्यपि याज्या पुरोनुवाक्या प्रयोग में याज्या पद का प्रथम प्रयोग हुआ है, तथापि प्रथम ऋक् पुरोनुवाक्या और द्वितीय ऋक् याज्या है। याज्यापुरोनुवाक्या समास में याज्या के अल्पाच् (=न्यून स्वरवाला) होने से पूर्व प्रयोग होता है। यदि इन्द्र और महेन्द्र एक ही देवता होवें, तो दो-दो पढ़ी गई याज्यानुवाक्या में विकल्प होगा। चाहे प्रथम पठित याज्यानुवाक्या का प्रयोग किया जावे, चाहे द्वितीय का। तत्र पक्षे बाधः—विकल्प होने पर पक्ष में एक याज्यापुरोनुवाक्या की बाधा होगी, अर्थात् प्रयोग का अभाव होगा ॥१९॥

वशायामर्थसमवायात् ॥२०॥

सूत्रार्थः—(वशायाम्) अजावशा में छाग शब्द का प्रयोग (अर्थसमवायात्) अर्थ=प्रयोजन के समवाय=सम्बन्ध के उपलब्ध होने से युक्त है।

विशेष—सुबोधिनी वृत्तिकार ने 'प्रत्यक्षेण' पद का अध्याहार करके अर्थ इस प्रकार किया है—(वशायाम्) वशा अजा में (अर्थसमवायात्) वन्ध्यारूप अर्थ के समवाय=सम्बध के छागी में [प्रत्यक्षेण] प्रत्यक्षरूप से देखे जाने से शब्द से वशा कही गई विधियों में छागी सम्बन्धी मन्त्र का प्रयोग होता है।

व्याख्या—जो यह कहा है कि—अजा वशा शब्द से कहे गये कर्म में छाग शब्द से निगम

---

१. महाँ इन्द्रो य ओजसा (ऋ० ८।६।१) इति पुरोऽनुवाक्या, भुवस्त्वमिन्द्र ब्रह्मणा महान् (ऋ० १०।५०।४) इति याज्या (द्र०—आश्व० श्रौत १।६।१) ॥

युक्तम्। वशायामर्थसमवायित्वं वयं प्रत्यक्षमवगच्छामः। छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहीति।[1] यैव वशा सैव छागेति। तस्मात् प्रगाथस्योत्कर्षः संस्कारपक्षे। अतः प्रधानकर्म्मणी इति ॥२०॥

होते हैं। वह ठीक है। वशा में [द्रव्योत्सर्गरूप] अर्थ=प्रयोजन का संबन्ध हम प्रत्यक्ष देखते हैं। छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि=छाग की वपा और मेद के लिये कथन करो। जो वशा है वही छाग है। इसलिये [स्तोत्रशस्त्र के] संस्कारपक्ष में ऐन्द्र प्रगाथ का उत्कर्ष ही करना पड़ेगा। इसलिये [स्तोत्रशस्त्र] प्रधानकर्म हैं ॥२०॥

विवरण—इस प्रकरण को समझने के लिये मी० अ० ६ पा० ८ अधि० १० (सूत्र ३०—४२) को जानना आवश्यक है। वहां प्रश्न यह है कि 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' विधि में पशु शब्द का प्रयोग होने से किसी भी पशु का आलभन करना चाहिये, अथवा अज=बकरा पशु का ही। वहां सिद्धान्त किया है कि छागो वा मन्त्रवर्णात्। अग्नये छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि मन्त्र में छाग का निर्देश है। छाग शब्द का निर्देश करके किसी कर्म का विधान नहीं किया है। इसलिये यदि छाग=अज का ग्रहण न किया जाये, तो छाग को कहने में समर्थ मन्त्र का पाठ व्यर्थ होवे। इसलिये अग्नीषोमीयं पशुमालभेत विधिवाक्य में छाग=अज पशु का ग्रहण ही अभीष्ट है।

इस निर्णय के पश्चात् यह जानना आवश्यक है कि समस्त पशुयागों की प्रकृति[2] सोमयागान्तर्गत अग्नीषोमीय पशुयाग है। क्योंकि पशुसम्बन्धी समस्त विधियों का विधान शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों में इसी प्रकरण में मिलता है। पूर्व १५वें सूत्र के भाष्य में उद्धृत सा वा एषा सर्वदेवत्या यदजा वशा, वायव्यामालभेत वचन से निर्दिष्ट पशुयाग विकृतिरूप है। विकृतिसंज्ञक कर्म प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या नियम के अनुसार अपनी प्रकृति से धर्मों को ग्रहण करते हैं। अतः अजावशा याग में भी अग्नीषोमीय प्रकृति से छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि मन्त्र उपस्थित होता है। प्रकृतिपठित मन्त्र में छागस्य पुंल्लिङ्ग निर्देश है। उसे अजावशा याग में अर्थ के अनुकूल लिङ्ग की ऊह करके छागाया (छाग्या)[3] वपाया मेदसोऽनुब्रूहि के रूप में बोलना पड़ता है। छागी में वशा=वन्ध्यारूप अर्थ संबद्ध देखा जाता है।

अब छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि में वपा और मेद शब्द का अर्थ चिन्तनीय है। हम 'श्रौतयज्ञ-मीमांसा' निबन्ध में सप्रमाण विस्तार से निरूपण कर चुके हैं कि आदिकाल में यज्ञों

---

१. तै० ब्रा० ३।६।८॥ २. प्रकृति-विकृति का लक्षण 'श्रौतयज्ञमीमांसा' निबन्ध (भाग १ के आरम्भ में मुद्रित) के पृष्ठ ९२-९३ पर देखें।

३. मीमांसा-भाष्य आदि कुछ ग्रन्थों में छाग का स्त्रीलिङ्गरूप छागा प्रयुक्त है। इसमें अजादिगण (गणपाठ ४।१।४) को आकृतिगण मानकर स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय जानना चाहिये। सुबोधिनी आदि ग्रन्थों और कोशग्रन्थों में छागी प्रयोग देखा जाता है। इसमें जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् (अष्टा० ४।१।६३) से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है। इसलिये हमने छागस्य पद के ऊह में छागायाः और छाग्याः दोनों का निर्देश किया है।

में पशुओं का वध और उनके अवयवों से याग नहीं होता था (द्र०—पृष्ठ १६३-१६६)। शुक्ल यजु: अ० २१ के अनेक मन्त्रों में छाग भेड़ वृषभ आदि की वपा और मेद का निर्देश मिलता है। इनके सम्बन्ध में दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। एक—जब पशुओं के अङ्गों से याग नहीं होता था, उस काल में भी ये मन्त्र तो विद्यमान थे ही। उस समय वपा और मेद का क्या अभिप्राय समझा जाता था? दूसरा—आयुर्वेद के ग्रन्थों में मांस मज्जा वपा अस्थि आदि शब्दों का कन्दमूल फल आदि के गूदे स्निग्धभाग कठोरभाग आदि में बहुधा प्रयोग मिलता है। छाग मेष आदि जातिवाची शब्द हैं। इनसे छागी मेषी का भी ग्रहण होता है। अजक्षीरेण जुहोति (तै० सं० ५।४।३) आदि में स्पष्ट ही अज से अजा का ग्रहण ही अभिप्रेत है। अज=बकरे का तो दूध होता ही नहीं है। तथा निरुक्तकार ने कहा है कि वेद में विना भी तद्धितप्रत्यय के तद्धित अर्थों में व्यवहृत होनेवाले शब्दों के समान प्रयोग होता है। यथा गोभि: श्रीणीत मत्सरम् (ऋ० ९।४६।४) मन्त्र में गोभिः का अर्थ है—गोपयोभिः। अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि (ऋ० १०।९४।९) में गवि का अर्थ है—गोचर्मणि, जिसपर सोम को कूटा जाता है। इसी प्रकार गो का गो की आंत और श्लेष्मा (=सरेस) अर्थ भी दर्शाया है (द्र०—निरुक्त २।५,६)। अतः जो शब्द वेद में प्रयुक्त है, उसके मुख्यार्थ का ही ग्रहण करना चाहिये, न यह नियम ही है, और नाही ऐसा आग्रह उचित है। मुख्यार्थ के असम्भव होने पर वेद में यथासम्भव लाक्षणिक अर्थों का भी ग्रहण होता है। यतः वेद में गो अवि अज अश्व आदि पशुओं की हिंसा न करने का स्पष्ट निर्देश है (द्र०—श्रौतयज्ञमीमांसा पृष्ठ १०९), अतः छागस्य वपाया मेदसः का सीधा सादा अर्थ भेड़ के दुग्ध पर जमी मलाई वपा है, और दुग्ध में निहित स्नेह मेद। इसी प्रकार अन्य पशुओं के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये। इसलिये अनेक पशुयज्ञों में आजकल भी उस पशु के घृत वा दूध वा दूध के विकार पयस्या आदि से याग का विधान माना जाता है। यथा 'गो' संज्ञक अभिचार कर्म में अनूबन्ध्या गौ के आलभन के स्थान में आमिक्षा का विधान मिलता है—अनूबन्ध्यास्थाने मैत्रावरुणी आमिक्षा (आप० श्रौत २२।३।१२)। 'आमिक्षा' पनीर को कहते हैं। इस प्रकार के अनेक वचन उपलब्ध याज्ञिक ग्रन्थों और उनके टीका ग्रन्थों से उद्धृत किये जा सकते हैं। विस्तारभय से हमने यहां निदर्शनमात्र कराया है ॥२०॥

यच्चेति वाऽर्थवत्त्वात् स्यात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धान्तपक्ष की निवृत्ति के लिये है। अर्थात् स्तोत्र-शस्त्र प्रधानकर्म नहीं हैं। (यच्चेति) और जो यह कहा है कि इन्द्रप्रगाथ का उत्कर्ष होगा, (स्यात्) उत्कर्ष होवे। उत्कर्ष के (अर्थवत्त्वात्) अर्थवान्=प्रयोजनवान् होने से। अर्थात् जहां इन्द्र देवता है, वहां ऐन्द्र प्रगाथ का उत्कर्ष करना अर्थवत् है।

विशेष—कुतुहलवृत्ति तथा सुबोधिनी वृत्ति में सूत्र में यत्रेति पाठभेद है। यह 'यत्रेति' निर्देश पूर्व उक्त यत्रेन्द्रस्तत्र प्रगाथस्योत्कर्षः का एकदेश द्वारा स्मारक है। अर्थ होगा—जहां इन्द्र

वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। संस्कारकर्म्मणी एव स्तोत्रशस्त्रे। यच्चैतत्—'प्रगाथस्योत्कर्षः' इति। उत्कृष्यताम् यत्रेन्द्रस्तत्र प्रगाथः। लिङ्गेन हि क्रमसन्निधी बाधितव्यावेव ॥२१॥

न त्वाम्नातेषु ॥२२॥ (उ०)

अपरेषां मन्त्राणामुत्कृष्टानामन्यत्रार्थवत्ता नास्ति, तेषामानर्थक्यं स्यात्। यथा—याम्याः शंसति[1]; शिपिविष्टवतीः शंसति[2]; पितृदेवत्याः शंसति[3] आग्निमारुते[4]।

प्रगाथ अर्थवान् होना है, वहां ऐन्द्र प्रगाथ का (स्यात्) उत्कर्ष होवे, उत्कर्ष के (अर्थत्त्वात्) प्रयोजनवान् होने से।

व्याख्या—'वा' शब्द [सिद्धान्ती के] पक्ष को हटाता है। स्तोत्रशस्त्र संस्कारकर्म ही हैं। और जो यह कहा था—[संस्कारकर्म मानने पर] 'प्रगाथ का उत्कर्ष होता है।' जहां इन्द्र है, वहां प्रगाथ का उत्कर्ष करें। लिङ्ग (=विशेष अर्थबोधक शब्दप्रयोग) से क्रम और सान्निध्य बाधा के योग्य ही हैं। [अर्थात् क्रम-सन्निधि की अपेक्षा लिङ्ग बलवान् होता है। द्र०—श्रुतिलिङ्ग-वाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम्, अर्थविप्रकर्षात् (३।३।१४) सूत्र]॥२१॥

न त्वाम्नातेषु ॥२२॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व ऐन्द्र प्रगाथ के उत्कर्ष की बाधा के लिये है। (आम्नातेषु) प्रत्यक्ष पठित कर्मों में जहां अर्थवत्ता (न) नहीं है, वहां उत्कर्ष नहीं हो सकता है। यथास्थान स्तोत्रशस्त्र को प्रधानकर्म=अदृष्टोपकारक मानना चाहिये। इसी प्रकार ऐन्द्र प्रगाथ के यथास्थान पाठ से अदृष्टोपकारकता जाननी चाहिये।

विशेष—यह एकदेशी (=एक अंश की दृष्टि से समाधान करनेवाले) का सूत्र है। सुबोधिनी-वृत्ति में इस सूत्र और उत्तर सूत्रों की व्याख्या नहीं है। यदि ये सूत्र न होवें, प्राचीन व्याख्याग्रन्थों के समाधान वा आक्षेपपरक वचन मानें, तब भी सूत्रप्रकरण यथावत् उपपन्न हो जाता है।

व्याख्या—[जिन प्रकृत में असम्बद्ध] अन्य मन्त्रों की उत्कर्ष किये गयों की अन्यत्र प्रयोजनवत्ता नहीं है, उनका उत्कर्ष अनर्थक होवें। जैसे—याम्याः शंसति (=यम देवतावाली ऋचाओं को पढ़ता है); शिपिविष्टवतीः शंसति (=शिपिविष्ट शब्दयुक्त ऋचाओं को पढ़ता

---

१. द्र०—यामीं पूर्वां शंसे३त् पित्र्यां३ इति? ऐ० ब्रा० ३।३५॥ यामीश्च। आश्व० श्रौत ६।१०॥ याम्यः। शाङ्खा० श्रौत ८।६।१३॥

२. अनुपलब्धमूलम्। मुद्रितः पाठः पूनासंस्करणे विद्यते। अन्यत्र 'शिपिविष्टती' इत्यपपाठः।

३. पूनासंस्करणानुसारी मुद्रितः पाठः। अन्यत्र 'पितृदेवत्याम्' इत्यपपाठः। द्र०—यामीं पूर्वां शंसे३त् पित्र्यां ३ इति। ऐ० ब्रा० ३।३५॥

४. अयं सार्वत्रिकः पाठः। अस्य न पूर्वत्रान्वयः सम्भवति न परत्र। कुतुहलवृत्तिकारेण तु

कुषुम्भकसूक्तम्,[1] अक्षसूक्तम्,[2] मूषिकासूक्तम्[3] इत्येवमादीनाम् ।।२२।।

दृश्यते ।।२३।। (आ०)

तदुच्यते । सर्वेषामर्थवत्ताऽस्ति । मण्डूकसूक्तस्याग्नौ, अक्षसूक्तस्य राजसूये, मूषिकासूक्तस्यैकादशिन्यां, सर्वेषां वाचस्तोमे, सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि वाचस्तोमे[4], पारिप्लवमश्वमेधे शंसति[5] इति । तथा यस्याश्विने शस्यमाने सूर्यो नोदियादपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयाद्[6] इति । तस्मादस्त्यर्थवत्ता उत्कृष्टानाम् । अतः 'संस्कारकर्म्मणी स्तोत्र-शस्त्रे इति ।।२३।।

है); पितृदेवत्याः शंसति (पितृदेवतावाली ऋचाओं को पढ़ता है) आग्निमारुत शस्त्र[7] में । कुषुम्भक-सूक्त, अक्षसूक्त, मूषिकासूक्त आदि की [उत्कर्ष करने पर भी अर्थवत्ता नहीं देखी जाती है]।।२२।।

विवरण—कुतुहलवृत्तिकार ने भाष्योक्त कुषुम्भकादिसूक्तों के सम्बन्ध में कुषुम्भकसूक्तं शंसति, अक्षसूक्तं शंसति, मूषकसूक्तं शंसति वचन पढ़े हैं । वे भाष्यकार के उत्तर सूत्रस्थ भाष्य से विपरीत होने, तथा एतादृशी विधि के उपलब्ध न होने से चिन्त्य हैं । मूषिकासूक्तम् यह सूक्त हमें उपलब्ध नहीं हुआ ।।२२।।

दृश्यते ।।२३।।

सूत्रार्थः—[जिनका उत्कर्ष करने पर भी आनर्थक्य कहा है, उनका प्रयोजन] (दृश्यते) देखा जाता है ।

व्याख्या—इस विषय में कहते हैं । सब की अर्थवत्ता है । मण्डूकसूक्त की अग्निचयन में, अक्षसूक्त की राजसूय में, मूषिकासूक्त की एकादशिनी में, सब की वाचस्तोम में । सब ऋचाओं, सब यजुओं, और सब सामों का वाचस्तोम कर्म में [पाठ का विधान होने से], अश्वमेध-प्रकरण में पारिप्लवरूप से शंसन करता है [वचनविहित पारिप्लवाख्यान में]। तथा [सोमयाग में] अश्वि-देवतावाले शस्त्र के पढ़ते हुए सूर्य उदय न होवे, तो सारी दाशतयी (=ऋग्वेद की ऋचायें) बोले [आदि में प्रयोजन है]। इसलिये उत्कर्ष किये गये [कुषुम्भक आदि सूक्तों] की अर्थवत्ता है । इसलिये स्तोत्रशस्त्र संस्कारकर्म ही हैं ।।२३।।

आग्निमारुते शस्त्रे याम्याः शंसति पित्र्याः शंसति' इत्येवं निर्देशः कृतः । ऐतरेयब्राह्मणे (३।३५) तु आग्निमारुतं शंसति इति पाठदर्शनाद् भाष्येऽपि तथाविधेनैव पाठेन भाव्यमित्यस्मन्मतम् ।

१. ऋ० १।१६१।। २. ऋ० १०।३४।। ३. अनुपलब्धमूलम् ।

४. अनुपलब्धमूलम् । तुलना कार्या—अथो वाचस्तोमाः...... तस्मिन् सर्वा ऋचः सर्वाणि सामानि सर्वाणि यजूंषि प्रयुज्यन्ते। आप० श्रौत २२।५।१-३।। तथा द्र०—शां० श्रौत १५।११।५-६।।

५. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—अश्वमेधप्रकरणे पारिप्लवमाचक्षीत । आश्व० श्रौत १०।६।। पारिप्लवं प्रेष्यति । कात्या० श्रौत २०।२।२२।।

६. द्र०—यस्याश्विने शस्यमाने सूर्यो नाविर्भवति......सर्वा अपि दाशतयीरनुब्रूयात् । आप० श्रौत १४।२४।१-२।। तु०—तै० सं० २।३।१।३।। ७. द्र०—कुतुहलवृत्ति का पाठ ।

विवरण—भट्ट कुमारिल की व्याख्यानुसार—**मण्डूकसूक्तस्याग्नौ**—अग्निचयन में **मण्डूके विकर्षति** (तै० ५।४।४) मण्डूकसम्बन्धी विधि में मण्डूकसूक्त का उत्कर्ष होकर प्रयोजनवत्ता है। **अक्षसूक्तस्य राजसूये**— राजसूय में **अक्षैर्दीव्यति** (द्र०—आप० श्रौत १८।१९।५) =अक्षों से जुवा खेलने में[1] अक्ष-सूक्त अर्थवान् होगा। **मूषिकासूक्तस्यैकादशिन्याम्**— कर्मविशेष में यूपैकादशिनी' (=११ यूप) होती है। उसमें ग्यारहवें यूप के समीप **उपशय** नाम का यूप रखा जाता है। उसमें आरण्य आखु (=चूहे) का निर्देश पशुरूप से होता है (द्र०—आप० १४।७।१-३)। उस प्रकरण में मूषिकासूक्त का प्रयोजन होगा। कुसुम्भ सूक्त की कहीं प्रयोजनवत्ता भाष्यकार ने नहीं कही है। भट्ट कुमारिल ने भी इतना ही लिखा है—'कुषुम्भकसूक्त आदि का कहीं विशेषरूप से प्रयोजन नहीं है। इसलिये सामान्य-विधान से [वाचस्तोम, पारिप्लव अथवा आश्विनशस्त्र के पढ़ते हुए सूर्योदय न होने पर दाशतयी के पाठ द्वारा] प्रयोजनवत्ता हो जायेगी।

वाचस्तोमे - वाचस्तोमसंज्ञक एकाह (एकदिन-साध्य) कर्मविशेष का श्रौतसूत्रों में विधान मिलता है। यथा—कात्या० श्रौत २२।६।२४॥ आप० श्रौत २२।५।१। **सर्वा ऋचः** (द्र०—आप० श्रौत २२।५।३; शां० श्रौत १५।११।५-६)। **पारिप्लवम्**—लौकिक कोशकारों ने परिप्लव का अर्थ चञ्चलता किया है। परिप्लव से अष्टा० ५।४।३८ से स्वार्थ में अण् प्रत्यय होकर पारिप्लव शब्द बनता है। इसका अर्थ भी चञ्चलता ही है। परन्तु प्रकृत में अश्वमेध-प्रकरण में जिस पारिप्लव के शंसन का विधान है, वह आख्यान विशेष है। इसका निर्देश प्रायः सभी श्रौतसूत्रों में मिलता है। इसमें भी प्रथम दिन ऋङ्मन्त्रों का और द्वितीय दिन यजुर्मन्त्रों के पाठ का विधान है। **दाशतयी**—दश अवयव जिसके हैं, वह दशतयी। यह ऋग्वेद का नामान्तर है। ऋग्वेद में दश मण्डलरूप अवयव हैं। दशतय्यांभवा=दशतयी में होनेवाली ऋक् 'दाशतयी' कहाती है। **सर्वा दाशतय्यः**= ऋग्वेद की सब ऋचाएं।

सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि—वेद यज्ञ के लिये प्रवृत्त हुए हैं—**वेदा हि यज्ञार्थं प्रवृत्ताः**—वेदाङ्गज्योतिष, वचन के अनुसार वेद का प्रयोजन अग्निहोत्र से अश्वमेधान्त द्रव्ययज्ञ माना जाता है। इस पर जब कहा जाता है कि चारों वेदों के सम्पूर्ण मन्त्रों का द्रव्ययज्ञों में विनियोग नहीं है। केवल ऋग्वेद के ही आधे से अधिक मन्त्रों का द्रव्ययज्ञों में विनियोग नहीं है। अतः वेदों का प्रयोजन केवल द्रव्ययज्ञ करना ही नहीं है। इस पर याज्ञिक लोग प्रायः कहते हैं कि जिन मन्त्रों का द्रव्ययज्ञों में साक्षात् विनियोग नही हैं, उन का भी [भाष्योदाहृत वचनों के अनुसार] वाच-स्तोम, पारिप्लवाख्यान और आश्विन शस्त्र के पढ़ते हुए सूर्योदय न होने पर द्रव्ययज्ञ में विनियोग है। इसपर हमारा कथन है कि इन दोनों प्रकरणों के जो वचन भाष्य में उद्धृत हैं, वे ही इस बात के बोधक है कि उक्त प्रकरणों में भी सब ऋक् सब यजुः सब साम अथवा सम्पूर्ण दाशतयी का पाठ नहीं होता। वाचस्तोम का भी इतना दीर्घकाल नहीं है, कि जिसमें सब ऋचाओं यजुओं और

---

१. जुआ खेलने का वेद में साक्षात् निषेध किया है—**अक्षैर्मा दीव्यः** (ऋ० १०।३४।१३)। अतः जुआ खेलना चाहे किसी यज्ञीय कर्म का अङ्ग होवे, वह हिंसा के समान अनर्थक होने से धर्म नहीं है। (द्र०—शाबरभाष्य १।१।२—**हिंसा हि सा, हिंसा च प्रतिषिद्धा**, पृष्ठ १५)।

अपि वा श्रुतिसंयोगात् प्रकरणे स्तौतिशंसती क्रियोत्पत्तिं विदध्याताम् ॥२४॥ (उ०)

अपि वा, प्रधानकर्म्मणी स्तोत्रशस्त्रे स्याताम्। कुतः? श्रुतिसंयोगात्। सप्तमी-श्रुतिसंयोगो हि भवति—कवतीषु स्तुवते,[1] शिपिविष्टवतीषु स्तुवते[1] इति। यदि स्तुतिः, ततः कवत्यक्षरेष्वाहिता। यदि प्रकाशनं, ततो देवतायाम्। तत्र करणं कवत्यस्तृतीयया अश्रोष्यन्त, न सप्तम्या। अपि च, श्रुतिसंयोगो भवति—प्रउगं शंसति,[2] निष्केवल्यं शंसति[3] इति। अतः स्तुतिरभिनिर्वर्त्तयितव्या तेन मन्त्रेण। गुणवचनः शब्दः स्तुतिनिर्वर्त्तनार्थोऽ-

---

सामों का पाठ होवे। इसी प्रकार आश्विन शस्त्र के पढ़ते हुए यदि सूर्योदय न होवे, तो सूर्योदय पर्यन्त जो थोड़ा काल रहता है, उसमें ऋत्विगादि मानुष वाक् का प्रयोग न करें, ऋग्वेद की ऋचाएं पढ़ें, इतना मात्र है। अतः इन वचनों की आड़ में सब ऋक् सब यजुः और सब सामों का द्रव्ययज्ञ प्रयोजन कहना केवल अगतिकगतिमात्र है। अतः चारों वेदों की प्रवृत्ति द्रव्ययज्ञों के लिये ही हुई, यह सिद्धान्त चिन्त्य है। वेदों का वास्तविक प्रयोजन सर्वविध विद्याओं का विधान है। इसीलिये भगवान् मनु ने कहा है—सर्वज्ञानमयो हि सः (मनु० २।७, मेधातिथि-व्याख्या)। भगवान् मनु के इसी अभिप्राय को आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज के तृतीय नियम में 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है' के रूप में व्यक्त किया है ॥२३॥

अपि वा श्रुतिसंयोगात्······क्रियोत्पत्तिं विदध्याताम् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि' 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये हैं।[4] अर्थात् स्तोत्र शस्त्र संस्कारकर्म नहीं हैं। किन्तु (श्रुतिसंयोगात्) श्रुति के संयोग से (प्रकरणे) प्रकरण में [जहां पठित हैं वहीं] (स्तौतिशंसती) 'स्तौति' और 'शंसति' शब्द (क्रियोत्पत्तिम्) क्रिया की उत्पत्ति अर्थात् अपूर्व की उत्पत्ति का (विदध्याताम्) विधान करेंगे।

व्याख्या—अपि वा=संस्कारकर्म नहीं हैं, स्तोत्रशस्त्र प्रधानकर्म होवें। किस हेतु से? श्रुति के साथ संयोग होने से। सप्तमीविभक्तिरूप श्रुति का संयोग होता है—कवतीषु स्तुवते (='क' शब्दयुक्त ऋचाओं पर स्तुति करता है), शिपिविष्टवतीषु स्तुवते (=शिपिविष्ट शब्दयुक्त ऋचाओं पर स्तुति करता है)। यदि स्तुति (=स्तवन) होवे, तो 'क' शब्दवाली ऋचा के अक्षरों पर आधारित होवे। और यदि प्रकाशन होवे, तो देवता पर आधारित होवे। उस अवस्था में (=स्तुति होने पर) कवती ऋचाओं के करण होने पर तृतीयाविभक्ति से सुनाई देतीं, सप्तमी से नहीं। [अर्थात् स्तुति होने पर कवतीभिः स्तुवते ऐसा प्रयोग होता।] और भी, श्रुति का संयोग होता है—प्रउगं शंसति (=प्रउगसंज्ञक शस्त्र को पढ़ता है), निष्केवल्यं शंसति (=निष्केवल्य शस्त्र को पढ़ता है)। अतः उस मन्त्र से स्तुति अभिनिर्वृत्त (=सिद्ध) करनी चाहिये।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. शां० ब्रा० १४।४॥ ३. अनुपलब्धमूलम्।
४. द्र०—शाबरभाष्य २।१।३१; तथा इसी सूत्र पर कुतुहलवृत्ति।

दृष्टमर्थं करिष्यति। तस्मात् प्रधानकर्म्मणी। अपि च, श्रुतिसंयोगो भवति षष्ठीविभक्तिसंयोगः। यथा—इन्द्रस्य नु वीर्य्याणि प्र वोचम्[1] इति। तेन देवताशब्दः स्तुतिसम्बन्धार्थ इत्युच्यते। देवताभिधानार्थे प्रातिपदिकार्थत्वात् प्रथमा स्यात्। अथ यत् प्रथमान्तं, तद्देवतार्थं भवितुमर्हति? यथा—इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा[2] इति। नेत्युच्यते। तदपि वाक्यसंयोगात् स्तुत्यर्थमेव। ननु वाक्याल्लिङ्गं बलीयः। सत्यम्। एतदपि लिङ्गम्, यत् स्तुतिवाक्यस्य साकाङ्क्षस्य निराकाङ्क्षीकरणसामर्थ्यम्। तथाप्युभयथा लिङ्गेऽनुगृह्यमाणे कुतो निर्णयः? वाक्यशेषादेव। न [इन्द्रशब्दो][3] देवताभिधानार्थं इति। देवताभिधानार्थं इत्येतस्मिन् पक्षे स्तुत्यर्थं [4]साकाङ्क्षमनर्थकमेव स्यात्। तस्माददृष्टार्थत्वात् स्तुतिवचनस्य प्रधानकर्म्मणी स्तोत्रशस्त्रे। अपिच, स्तौतिशंसतीति साक्षाद् गुणवचनौ लक्षणया अभिधानार्थौ स्याताम्। तस्मात् क्रियोत्पत्तिम्—अपूर्वोत्पत्तिं विदध्याताभिति ॥२४॥

स्तुति की सिद्धि के लिये गुणवचन शब्द अदृष्ट अर्थ को करेगा। [अर्थात् स्तुतिरूप गुण का कथन करनेवाले शंसति शब्द से 'स्तुति से अदृष्ट होता है' ऐसा जाना जाता है।] इसलिये [स्तोत्रशस्त्र] प्रधानकर्म हैं। और भी, श्रुति का संयोग होता है षष्ठी विभक्ति का संयोग। जैसे—इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम् (=मैं इन्द्र के वीर्य=पराक्रम को कहता हूं)। इससे देवताशब्द [इन्द्र] स्तुति के सम्बन्ध के लिये है, ऐसा कहा जाता है। देवता का कथन करने के लिये प्रातिपदिकार्थ होने से प्रथमा विभक्ति होवे। (आक्षेप) क्या जो प्रथमान्त शब्द है, वह देवता के [कथन के] लिये हो सकता है? जैसे—इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा (=इन्द्र जङ्गम और स्थावर का राजा है)। (समाधान) नहीं। वह भी वाक्य के संयोग से स्तुति के लिये ही है। (आक्षेप) वाक्य से तो लिङ्ग बलवान् होता है। (समाधान) सत्य है। यह भी लिङ्ग है जो साकाङ्क्ष स्तुति वाक्य के निराकाङ्क्षीकरण का सामर्थ्य है। (आक्षेप) फिर भी दोनों प्रकार के (=प्रथमान्त और साकाङ् के निराकाङ्क्ष करने के सामर्थ्यरूप) लिङ्ग के अनुगृह्यमाण (=अनुग्रहयुक्त) होने पर किस से निर्णय होगा? (समाधान) वाक्यशेष से ही। इन्द्र शब्द देवता के लिये नहीं है। [इन्द्र पद] देवता के अभिधान के लिये है, इस पक्ष में स्तुति के लिये [यातः अवसितस्य राजा आदि] साकाङ्क्ष अनर्थक ही होवें। इसलिये स्तुतिवचन के अदृष्टार्थ के लिये होने से स्तोत्रशस्त्र प्रधानकर्म हैं। और भी, स्तौति शंसति शब्द साक्षात् गुणवचन होते हुए लक्षणा से [देवता के] कथन के लिये होवें। इसलिये क्रिया की उत्पत्ति अर्थात् अपूर्व की उत्पत्ति का विधान करेंगे ॥२४॥

विवरण—कवतीषु स्तुवते—'क' शब्द युक्त ऋचाएं हैं—कया नश्चित्र आ; कस्त्वा सत्यो

---

१. ऋ० १।३२।१॥ २. ऋ० १।३२।१५॥

३. आचार्यपादैरवबोधितः पाठः।

४. 'साकाङ्क्षवचनमनकर्थम्' इत्यन्यत्र पाठः। 'साकाङ्क्षमनर्थकम्' इत्येवाचार्यपादैर्निदिष्टः पाठः साधुः।

शब्दपृथक्त्वाच्च ॥२५॥ (उ०)

शब्देन पृथक्त्वमेव गम्यते। द्वादशस्तोत्रशस्त्रोऽग्निष्टोमः[1]। इतरथा हि द्वादशत्वं न स्यात् स्तोत्राणां शस्त्राणां च। एकमेव शंसनं स्तवनं च। अथ भेद आश्रीयते, ततो न द्वादशत्वेऽवतिष्ठते ॥२५॥

मदानाम्; अभी षु णः सखीनाम् (साम उ० प्र० १, अर्ध १, त्रिक १२)। यद्यपि तृतीय ऋचा में 'क' शब्द नहीं है, फिर भी भूमा (=आधिक्य) न्याय (मी० १।१।२७, पृष्ठ ३४७) से दो ऋचाओं में 'क' शब्द होने से तीनों को 'कवती' कहा है। शिपिविष्टवतीषु स्तुवते—शिपिविष्ट शब्दवाली ऋचाएं हैं—किमित्ते विष्णो; प्र तत्ते अद्य; वषट् ते विष्णवास (साम उ० प्र० ८, अर्ध १, त्रिक ४)। इन तीनों ऋचाओं में शिपिविष्ट शब्द है। अक्षरेष्वाहिता—स्तुति=स्तोत्र=साम। ऋच्यध्यूढं साम गायति[2] नियम से सामगान का आश्रय ऋचाओं के अक्षर होते हैं। ततो देवतायाम्—यदि स्तोत्र का कार्य देवता का प्रकाशन होवे, तो स्तोत्र=स्तुति देवता पर आधारित होवे। करणं कवत्यः—देवता की स्तुति में कवती ऋचाओं के करण होने से कवती शब्द तृतीया से युक्त होना चाहिये। तेन मन्त्रेण—प्रउग और निष्केवल्य शस्त्र के मन्त्र से। प्रातिपदिकार्थत्वात् प्रथमा—देवतावाचक इन्द्र शब्द यदि देवतारूप अर्थ को ही कहने के लिये प्रयुक्त होवे, तो उस इन्द्र देवतारूप अर्थ के प्रातिपदिकार्थ मात्र होने से प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा (अष्टा २।३।४६) के नियम से प्रथमा विभक्ति होनी चाहिये। परन्तु मन्त्र में षष्ठी विभक्ति श्रुत है। इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा—'यातः' पद या प्रापणे धातु के शतृप्रत्ययान्त 'यात्' शब्द का षष्ठी का एकवचन है। यातः=जङ्गमस्य=गतिशील का। अवसित शब्द अव उपसर्गपूर्वक षोऽन्तकर्मणि धातु के क्त प्रत्यय का रूप है। यातः के प्रतिपक्ष में 'अवसित' का प्रयोग होने से इसका अर्थ निश्चित=एक स्थान में रहनेवाला अर्थात् स्थावर होता है। वाक्यशेषादेव—मन्त्र में श्रुत राजा वज्रबाहुः आदि शब्दों से ॥२४॥

शब्दपृथक्त्वाच्च ॥२५॥

सूत्रार्थः—(च) और (शब्दपृथक्त्वात्) शब्द से पृथकत्व के गम्यमान होने से स्तोत्र-शस्त्र प्रधानकर्म हैं।

व्याख्या—शब्द से पार्थक्य ही जाना जाता है। अग्निष्टोम नामक क्रतु बारह स्तोत्र और शस्त्रोंवाला होता है। अन्यथा (=स्तोत्र शस्त्र प्रधानकर्म न मानने पर) स्तोत्रों और शस्त्रों का बारहपना न बने। क्योंकि [संस्कारकर्म पक्ष में स्तोत्र और शस्त्र से देवता-प्रकाशन प्रयोजन होने से] शंसन और स्तवन एक ही होते हैं। और यदि भेद का आश्रयण करते हो, तो [भेद] द्वादश तक ही सीमित नहीं रहता ॥२५॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्। तु०—द्वादशाग्निष्टोमस्य स्तोत्राणि। तै० ब्रा० १।२।२॥

२. भाट्ट दीपिका ६।२। अ० २ उद्धृत। ऋचि साम गायति। शाबर० ६।२।४॥

अनर्थकञ्च तद्वचनम् ॥२६॥ (उ०)

अग्निष्टुति श्रूयते—'आग्नेया ग्रहा भवन्ति'[1] इति । तत्र पुनरुच्यते—'आग्नेयीषु स्तुवन्ति,'[1] 'आग्नेयीषु शंसन्ति'[1] इति । तन्न विधातव्यमेव, यदि संस्कारकर्म्मणी । तस्मादपि प्रधानकर्म्मणी इति ॥२६॥

विवरण—तै० ब्रा० १।२।२ में कहा है—द्वादशाग्निष्टोमस्य स्तोत्राणि । इसके भाष्य में सायणाचार्य ने द्वादश स्तोत्रों का परिगणन इस प्रकार किया है—प्रातःसवन में—'बहिष्पवमान' नाम का एक स्तोत्र, और चार 'आज्य'संज्ञक स्तोत्र (१+४=५) । माध्यन्दिन सवन में—'माध्यन्दिनपवमान' नाम का एक स्तोत्र, और 'पृष्ठ'संज्ञक चार स्तोत्र (१+४=५) । तृतीय-सवन में—'आर्भवपवमान'संज्ञक एक स्तोत्र, और 'यज्ञायज्ञीय' नाम का दूसरा । इस प्रकार तीनों सवनों में ५+५+२=१२ स्तोत्र होते हैं । स्तोत्रों के समान ही शस्त्रों की भी संख्या जाननी चाहिये । द्वादश शस्त्रों के नाम इस प्रकार हैं—प्रातःसवन में—(१) आज्य (२) प्रउग (३) मैत्रावरुण (४) ब्राह्मणाच्छंसी (५) अच्छावाक । माध्यन्दिन सवन में—(१) मरुत्वतीय (२) निष्के-वल्य (३) मैत्रावरुण (४) ब्राह्मणाच्छंसी (५) अच्छावाक । तृतीयसवन में—(१) वैश्वदेव (२) आग्निमारुत । तीनों सवनों में ५+५+२=१२ शस्त्र । अथ भेद आश्रीयते—यदि किञ्चिन्निमित्त से भेद स्वीकार करते हो, तो प्रति ऋचा स्तवन और शंसन होने से स्तोत्र-शस्त्रों की संख्या १२ तक ही सीमित नहीं रहेगी । प्रत्येक स्तोत्र का गान तृचे साम गीयते नियम से तीन-तीन ऋचाओं पर गाया जाता है । स्तोत्र-शस्त्र को प्रधानकर्म मानने पर जितनी ऋचाओं में स्तोत्र वा शस्त्र पूर्ण हो जाता है, उसे एक स्तोत्र वा शस्त्र माना जाता है । इस प्रकार द्वादश संख्या उपपन्न हो जाती है ॥२५॥

अनर्थकञ्च तद्वचनम् ॥२६॥

सूत्रार्थः—(च) और (तद्वचनम्) स्तोत्र-शस्त्रों का [अग्निष्टोम में] वचन (अनर्थकम्) अनर्थक होता है ।

व्याख्या—अग्निष्टुत् (=अग्निष्टोम) में सुना जाता है—आग्नेय ग्रह होते हैं । वहीं पुनः कहा है—अग्निदेवतावाली ऋचाओं में स्तवन (=स्तुति) करते हैं, अग्निदेवतावाली ऋचाओं में शंसन करते हैं । उसका विधान ही नहीं करना चाहिये, यदि [स्तोत्र-शस्त्र] संस्कारकर्म होवें । इसलिये भी [स्तोत्र-शस्त्र] प्रधानकर्म हैं ॥२६॥

विवरण—अग्निष्टुत् शब्द का अर्थ है—अग्नि की स्तुति करनेवाला । अग्नि कर्म उपपद होने पर ष्टुञ् स्तुतौ धातु से क्विप् च (३।२।७६) से क्विप् प्रत्यय होता है । अग्निष्टुत् स्तोत्र से जिस सोमयाग की समाप्ति होती है, वह भी अग्निष्टुत् कहा जाता है । इसी प्रकार अग्निष्टोम का

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

अन्यश्चार्थः प्रतीयते ॥२७॥ (उ०)

'संबद्धे वै स्तोत्रशस्त्रे'[1][2] इति । यद्यन्यत् स्तोत्रमन्यच्छस्त्रं, ततस्तयोः सम्बन्धः । यदि वा अपूर्ववचने, ततोऽन्यत् स्तोत्रमन्यच्छस्त्रम् । इतरथा यदेव स्तोत्रं तदेव शस्त्रं स्यात् ॥२७॥

शब्दार्थ है—अग्नि का स्तोम (=स्तवन), जिससे अग्नि की स्तुति की जाये। अग्निष्टोमसंज्ञक साम से कर्म की समाप्ति होने से अग्निष्टोम कहाता है। दोनों समानार्थक हैं। सोमयाग के ७ भेद हैं। इन्हें संस्था कहते हैं। 'संस्था' शब्द का अर्थ है—सन्तिष्ठतेऽनया=जिससे कर्म की समाप्ति होवे। इसलिये इन ७ संस्थाओं का जिस-जिस साम से कर्म की समाप्ति होती है, उन्हीं के आधार पर नामकरण किया गया है। सात संस्थाओं के नाम इस प्रकार हैं—अग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्याम। तन्न विधातव्यम्—ग्रहयाग के समय स्तोत्र-शस्त्र पढ़े जाते हैं। यदि स्तोत्र और शस्त्र संस्कारकर्म=देवता का प्रकाशनमात्र होवें, तो ग्रहों के आग्नेय होने से उसी अग्नि देवता के प्रकाशनरूप स्तोत्र-शस्त्र स्वभावतः आग्नेयी (=अग्निदेवता-वाली) ऋचाओं से ही सम्बद्ध होंगे। फिर आग्नेयीषु स्तुवन्ति, आग्नेयीषु शंसन्ति के विधान करने का क्या प्रयोजन? इससे ज्ञात होता है कि स्तोत्र-शस्त्र स्वतन्त्र प्रधानकर्म हैं ॥२६॥

अन्यश्चार्थः प्रतीयते ॥२७॥

सूत्रार्थः—(च) और [स्तोत्र तथा शस्त्र का] (अन्यः) अन्य=भिन्न (अर्थः) अर्थ (प्रतीयते) जाना जाता है।

व्याख्या—'स्तोत्र और शस्त्र सम्बद्ध हैं' [वचन से स्तोत्र और शस्त्र भिन्न हैं, ऐसा जाना जाता है]। यदि स्तोत्र अन्य होवे, और शस्त्र अन्य होवे तो उनका परस्पर सम्बन्ध हो सकता है। [क्योंकि एक होने पर भिन्नता के अभाव में परस्पर सम्बन्ध कहना उपपन्न नहीं होता है।] अथवा यदि [स्तोत्र और शस्त्र] अपूर्ववचन [भिन्न-भिन्न अपूर्व के उत्पादक] होवें तो इससे स्तोत्र अन्य होवे और शस्त्र अन्य होवे। अन्यथा [दोनों का एक ही देवता-स्मरण प्रयोजन होने से] जो स्तोत्र है वही शस्त्र होवे। [स्तोत्र शस्त्र के भिन्न-भिन्न न होने पर सम्बन्धविधायक सम्बद्धे वै स्तोत्रशस्त्रे वचन उपपन्न न होवे।]॥२७॥

विवरण—कुतुहल वृत्तिकार ने सम्बद्धे वै स्तोत्रशस्त्रे वचन व्यक्ति के साथ स्तुतमनुशंसति वचन भी दोनों में भेद दर्शाने के लिये उदाहृत किया है। इस वचन में स्तोत्र के अनु=पश्चात् शंसन का निर्देश भी दोनों के भिन्न-भिन्न होने पर ही उपपन्न होता है ॥२७॥

---

१. द्र०—सम्बद्धे वै स्तोत्रं च शस्त्रं च। मै० सं० ४।८।७॥

२. 'स्तोत्रशस्त्रे वा इति' इत्यपपाठः।

अभिधानं च कर्मवत् ॥२८॥ (उ०)

प्रधानकर्म्मण इव चाभिधानं भवति द्वितीयासंयोगेन। प्रउगं शंसति[1] इति, निष्केवल्यं शंसति[2] इति ॥२८॥

फलनिर्वृत्तिश्च ॥२९॥

फलनिर्वृत्तिदर्शनं च भवति—स्तुतस्य स्तुतमसि[3] इत्येवमादि। इन्द्रवन्तो वनेमहि भक्षीमहि प्रजामिषं सा मे सत्याशीर्यज्ञस्य भूयाद्[4] इति स्तोत्रफलमनूद्यते, न देवतायाः। तस्मात् प्रधानकर्मणी स्तोत्रशस्त्रे। अन्यत्र सूत्रबद्धं प्रयोजनं दशमेऽध्याये—ग्रहाणां देवताऽन्यत्वे स्तुतशस्त्रयोः प्रधानकर्मत्वादविकारः स्यात्[5] ॥ २९ ॥ इति स्तोत्रशस्त्रप्राधान्याऽधिकरणम् ॥ ५ ॥

अभिधानं च कर्मवत् ॥२८॥

सूत्रार्थः—(अभिधानम्) कथन=निर्देश (च) भी (कर्मवत्) कर्म के समान देखा जाता है।

व्याख्या—और प्रधानकर्म के समान ही [स्तोत्र और शस्त्र का] द्वितीया के संयोग से कथन भी होता है—प्रउगं शंसति, निष्केवल्यं शंसति ॥२८॥

विवरण—प्रधानकर्मण इव—अग्निहोत्रं जुहोति, समिधो यजति आदि प्रधानकर्म का जैसे द्वितीया के साथ सम्बन्ध देखा जाता है, वैसे ही पृष्ठान्युपैयन्ति स्तोत्र का, और प्रउगं शंसति में शस्त्र के साथ भी द्वितीया का प्रयोग होने से ये प्रधानकर्म हैं, ऐसा जाना जाता है ॥२८॥

फलनिर्वृत्तिश्च ॥२९॥

सूत्रार्थः—[स्तोत्र और शस्त्र के] (फलनिर्वृत्तिः) फल की निर्वृत्ति=सिद्धि (च) भी दिखाई देने से ये प्रधानकर्म हैं।

व्याख्या—फल की निर्वृत्ति (=सिद्धि) का दर्शन भी होता है—स्तुतस्य स्तुतमसि इत्यादि। इन्द्रवन्तो वनेमहि…यज्ञस्य भूयात् में स्तोत्र के फल का अनुवचन है देवता के फल का नहीं। इसलिये स्तोत्र-शस्त्र प्रधानकर्म हैं। इस [विचार का] अन्यत्र दशमाध्याय (पाद ४, सूत्र ४९) में सूत्रनिर्दिष्ट प्रयोजन है—'ग्रहों के देवता के भिन्न होने पर स्तोत्र और शस्त्र के प्रधानकर्म होने से विकार (=देवता निर्देश में परिवर्तन=ऊह) नहीं होता है ॥२९॥

---

१. शां० ब्रा० १४।४॥ २. अनुपलब्धमूलम्।

३. तै० सं० ३।२।७॥ तत्रायं समग्रः पाठः—स्तुतस्य स्तुतमस्यूर्जं मह्यं स्तुतं दुहामा मा स्तुतस्य स्तुतं गम्याच्छस्त्रस्य शस्त्रमस्यूर्जं मह्यं शस्त्रं दुहामा मा शस्त्रस्य शस्त्रं गम्यात्। अस्मिन् मन्त्रे स्तुतशस्त्रयोः पार्थक्येन निर्देशः फलं च श्रूयते।

४. अनुपलब्धमूलम्। तैत्तिरीयसंहितायाम् (३।२।७) एवं पठ्यते—इन्द्रियावन्तो वनामहे धुक्षीमहि प्रजामिषम्। सा मे सत्याशीर्देवेषु भूयात्॥ ताण्ड्यब्राह्मणे (५।३।८ अन्यत्र च)—इन्द्रवन्तो वनेमहि भक्षीमहि प्रजामिषम्। पूनासंस्करणे वनेमहि भक्षीमहि पदद्वयं तै० संहितावत् परिवर्तितम्। ५. मीमांसा १०।४।४९॥

[मन्त्राविधायकत्वाधिकरणम् ॥६॥]

इदं समाम्नायते—न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासाममित्रो व्यथिरा दधर्षति। देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योग् इत्ताभिः सचते गोपतिः सह' इति। यजते ददातीत्युदाहरणम्। किं यद्वद् ब्राह्मणे भावशब्दो विधायकस्तद्वन्मन्त्रेऽपि? उत मन्त्रेऽभिधायकः इति? किं तावत् प्राप्तम्?

विवरण—स्तुतस्य स्तुतमसि—यह यजमान सम्बन्धी मन्त्र है। इसका पूरा मन्त्रपाठ इस प्रकार है—स्तुतस्य स्तुतमस्यूर्जं मह्यं स्तुतं दुहामा मा स्तुतस्य स्तुतं गम्याच्छस्त्रस्य शस्त्रमस्यूर्जं मह्यं शस्त्रं दुहामा मा शस्त्रस्य शस्त्रं गम्यात्(तै०सं० ३।२।७)। इसका अर्थ है—'उद्गाताओं से गीयमान हे स्तोत्र! तू स्तुत का स्तुत है=स्तोत्र का स्तोत्र है, अर्थात् स्तोत्रों में उत्तम है। इस प्रकार का स्तुत=स्तोत्ररूप तू मेरे लिये ऊर्क्=सार का दोहन कर=प्राप्त करा। स्तोत्रों में उत्तम स्तोत्र तू मेरे प्रति आ=मुझे प्राप्त हो। इसी प्रकार होताओं से उच्चरित हे शस्त्र तू! शस्त्र का शस्त्र है, अर्थात् शस्त्रों में उत्तम है। इस प्रकार शस्त्र के शस्त्ररूप तू मेरे लिये ऊर्क्=सार का दोहन कर मुझे प्राप्त करा। इन्द्रवन्तो वनेमहि—यह भाष्योक्त पाठ हमें उपलब्ध नहीं हुआ। इससे मिलता-जुलता पाठ तै० सं० ३।२।७ में उपलब्ध होता है (द्र०—भाष्यपाठ पर पूर्व पृष्ठस्थ टिप्पणी ३)। इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—इन्द्र से युक्त हुए हम स्तोत्र-शस्त्र के फल को प्राप्त करें। प्रजा और अन्न को प्राप्त होवें। वह मेरी यज्ञ की सत्यकामना पूर्ण होवे।

अन्यत्र सूत्रबद्धं प्रयोजनम्—प्रकृत में प्रयोजन है कि स्तोत्र-शस्त्र के प्रधानकर्म होने से इनका यथादेवता उत्कर्ष नहीं होगा। ग्रहाणां देवतान्यत्वे—यथा अग्निष्टुत् नामक एकाह में आग्नेय ग्रह कहे हैं। उनसे सम्बद्ध स्तोत्र-शस्त्र में सन्देह होता है कि स्तोत्र-शस्त्र के देवताओं के ग्रहों के देवताओं से भिन्नता होने पर देवता के अनुसार स्तोत्र-शस्त्र में देवता का ऊह (=परिवर्तन) किया जाये वा नहीं? इसका समाधान किया है—'ग्रहों के देवताओं के भिन्न होने पर भी स्तोत्र-शस्त्र के प्रधानकर्म होने से उन में विकार=ऊह नहीं होता है' ॥२९॥

व्याख्या—यह पढ़ा जाता है—न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासाममित्रो व्यथिरा दधर्षति। देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योग् इत्ताभिः सचते गोपतिः सह॥ (=वे गौवें नष्ट नहीं होतीं, चोर भी उन्हें नहीं मारता, और इन गौवों का शत्रु भी पीड़ा का हेतु नहीं होता है, देवों के प्रति जिन गौवों से यजन करता है और देता है, चिरकाल तक इन गौवों के साथ गोपति सम्बद्ध रहता है) इस [मन्त्र] में यजते और ददाति उदाहरण हैं। क्या जिस प्रकार ब्राह्मण में भावशब्द (=आख्यात शब्द) विधायक होता है, उसी प्रकार मन्त्र में भी विधायक होता है? अथवा मन्त्र में अभिधायक (=क्रियमाण कर्म को कहनेवाला) मात्र होता है? क्या प्राप्त है?

---

१. ऋ० ६।२८।३॥ तै० ब्रा० २.४.६—'तस्करो नैना अमित्रो' इति पाठान्तरम्।

विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात् ॥३०॥ (पू०)

विधौ मन्त्रे चाम्नायमानस्य भावशब्दस्य एक एवार्थः स्यात्, ऐकशब्द्यात्। स एवायमेकः शब्दो ब्राह्मणगतो विधास्यति, मन्त्रगतो न शक्नोति विधातुम् इत्यनुपपन्नम्। तस्माद् विधायकः ॥३०॥

अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात् ॥३१॥ (उ०)

अपि वेति पक्षो व्यावर्त्त्यते। एवञ्जातीयको मन्त्रोऽभिधानवचनः स्यात्। प्रयोग-सामर्थ्यात्। प्रयोगे क्रियमाणे अस्य सामर्थ्यं विद्यते, गोदानं गोयागञ्च प्रत्याययितुं, न विधातुम्। कुतः? विहितत्वाद् गोदानस्य दक्षिणाविधाने, गोयागस्य त्वनुबन्ध्यायाम्। कर्मान्तरं भविष्यतीति चेन्न। असकृदप्युच्यमाने तत्प्रत्ययादेव। स्तुत्यर्थकल्पनायामप्या-नर्थक्यम्। परिसमाप्तेन सार्थवादकेन वाक्येन विहितत्वात् यागस्य। तस्मान्न मन्त्रगतो भावशब्द एवञ्जातीयको विधायक इति ॥३१॥ इति मन्त्राविधायकत्वाधिकरणम् ॥६॥

विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात् ॥३०॥

सूत्रार्थः—(विधिमन्त्रयोः) विधि=ब्राह्मण और मन्त्र में [भावशब्दों का] (ऐकार्थ्यम्) एक ही अर्थ है, (ऐकशब्द्यात्) एक=समान शब्द होने से। अर्थात् ब्राह्मणवचन में भावशब्द= क्रियाशब्द यदि विधायक हैं, तो उन्हें वैसे ही मन्त्र में भी विधायक जानना चाहिये।

व्याख्या—विधि (=ब्राह्मणवचन) और मन्त्र में पठित भावशब्द का एक ही अर्थ होना चाहिये, एकशब्द होने से। यह वही एक(=समान) शब्द ब्राह्मणपठित विधान करेगा, और मन्त्र-गत विधान के लिये समर्थ नहीं होगा, यह उत्पन्न नहीं होता है। इसलिये [मन्त्रगत भावशब्द भी] विधायक है ॥३०॥

अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात् ॥३१॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि' वा शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये हैं। अर्थात् मन्त्रगत भावशब्द विधायक नहीं हैं। (प्रयोगसामर्थ्यात्) प्रयोग में सामर्थ्य होने से मन्त्र (अभिधानवाची) [क्रियमाणकर्म के] कहनेवाला (स्यात्) होता है।

व्याख्या—अपि वा पदों से [पूर्व]पक्ष निवर्त्तित होता है। इस प्रकार का मन्त्र अभि-धानवचन (=कथन करेवाला मात्र) होवे। प्रयोग में सामर्थ्य होने से। [कर्म में] प्रयोग करने में इसका सामर्थ्य है, गोदान और गोयाग के ज्ञान कराने में, [गोदान और गोयाग के] विधान करने में नहीं। किस हेतु से ? गोदान के दक्षिणा में, और गोयाग के अनुबन्ध्या (=बन्ध्या से क्रियमाण कर्म) में विहित होने से। यदि कहो कि [यह मन्त्रों का गोदान और गोयाग] कर्मान्तर होवेगा, यह उचित नहीं। बारबार कहने पर भी उसका ही ज्ञान कराने से। [अर्थात् पुनः कथनमात्र से कर्मान्तर का विधायक नहीं होगा, विहित कर्म का ही कथन करेगा। मन्त्र की] स्तुति के लिये

[मन्त्रनिर्वचनाऽधिकरणम् ॥७॥]

मन्त्रगतो भावशब्दो विधायको न, इति परीक्षितम् । कोऽयं मन्त्रो नामेति? उच्यते । अज्ञाते मन्त्रे तद्गतो भावशब्दः कथं विचारित इति? इदमर्थंतोऽधिकरणं पूर्वं द्रष्टव्यम् । कथँल्लक्षणो मन्त्र इति ?

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥३२॥ (उ०)

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या । अभिधानस्य चोदकेष्वेवञ्जातीयकेष्वभियुक्ता उपदिशन्ति—'मन्त्रानधीमहे, मन्त्रानध्यापयामः, मन्त्रा वर्त्तन्ते' इति । प्रायिकमिदं लक्षणम् । अनभिधायका अपि केचिन्मन्त्रा इत्युच्यन्ते । यथा—वसन्ताय कपिञ्जलानालभते[1] इति । न

कल्पना में भी आनर्थक्य है । क्योंकि अर्थवादसहित पूर्णवाक्य से याग के विहित होने से । इसलिये मन्त्रगत इस प्रकार का भावशब्द विधायक नहीं है ॥३१॥

विवरण—मीमांसकों का यह मत है कि ब्राह्मणगत भावशब्द ही विधायक होता है, मन्त्र क्रियमाण कर्म का स्मारक अथवा अनुवदन करनेवाला होता है । गोपथ ब्राह्मण (२।२।६) में भी कहा है—एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति=अर्थात् यज्ञ की यही रूपसमृद्धि=पूर्णता है, जो यज्ञ में क्रियमाण कर्म का ऋक् और यजुमन्त्र अनुकथन करता है । यह सिद्धान्त प्रायिक है । मन्त्रगत शब्द भी कहीं-कहीं पर कर्म के विधायक होते हैं । यह हम पूर्व (भाग १, पृष्ठ ९८-९९ में) चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (१।१।२) सूत्र की विशेष व्याख्या में लिख चुके हैं । शबरस्वामी आदि समस्त मीमांसक भी अगले सूत्र(२।१।३२)के व्याख्यान में किन्हीं मन्त्रगत भावशब्दों को विधायक भी मानते हैं ॥३१॥

व्याख्या—मन्त्रगत भावशब्द विधायक नहीं है, इसकी पूर्व परीक्षा की जा चुकी है । वह मन्त्र क्या है ? कहते हैं । (आक्षेप) मन्त्र का ज्ञान न होने पर मन्त्रगत भावशब्द पर कैसे विचार किया ? यह प्रकृत अधिकरण अर्थ की दृष्टि से पूर्व जानना चाहिये । किस लक्षणवाला मन्त्र है ?

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥३२॥

सूत्रार्थः—(तच्चोदकेषु) अभिधान चोदक=प्रेरक है जिनका, उनमें (मन्त्राख्या) मन्त्र संज्ञा है । [यह भट्ट कुमारिल के अनुसार सूत्रार्थ है ।]

व्याख्या—इस प्रकार के अभिधान के चोदकों में अभियुक्त(=प्रामाणिक पुरुष)उपदेश(=कथन)करते हैं—'हम मन्त्रों को पढ़ते हैं, मन्त्रों को पढ़ाते हैं, मन्त्र प्रयुक्त हो रहे हैं ।' यह[सूत्रकारोक्त] लक्षण प्रायिक है । [क्रियमाण कर्म को] न कहनेवाले भी कुछ मन्त्र कहे जाते हैं । जैसे—वसन्ताय कपिञ्जलान् आलभते(=वसन्त देवता के लिये कपिञ्जल का आलभन=स्पर्श करे)। पीठ

---

१. यजुः २४।२०॥

शवर्थं पृष्ठाकोटेन तत्र तत्रोपदेष्टुम्, इति लक्षणमुक्तम् ।

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः ।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः ॥[१]

उदाहरणम्—मेधोऽसि[२] इत्येवमादयोऽस्यन्ताः, इषे त्वा[३] इत्येवमादयस्त्वान्ताः, आयुर्दा असि[४] इत्याशीः, अग्निर्मूर्द्धा[५] इति स्तुतिः, सङ्ख्या—एको मम[६] इति, प्रलपितम—अक्षी ते

पीठ पर कोड़ा मार-मार करके, [अर्थात् प्रत्येक का किसी द्रव्य से स्पर्श कर करके] उस-उसके विषय में उपदेश नहीं किया जा सकता है, इसलिये [सूत्रकार ने] लक्षण कहा है। ऋषि लोग भी पृथक्-पृथक् रूप से पदार्थों का अन्त नहीं पाते, किन्तु लक्षण से सिद्ध (=निर्दिष्ट) वस्तुओं का बुद्धिमान् जन अन्त पा लेते हैं।"

विवरण—अभिधानस्य चोदकेषु—इस पर भट्ट कुमारिल ने लिखा है कि सूत्रस्थ तच्चोदकेषु पद में 'वह अभिधान चोदक=प्रयोजक है जिनका, ऐसा बहुव्रीहिसमास है।' भाष्यकार ने अर्थमात्र का निदर्शन कराने के लिये षष्ठी विभक्ति का निर्देश किया है। **अभियुक्ताः**- इस शब्द का मूल यौगिक अर्थ 'सब ओर से=अच्छे प्रकार किसी कार्य में लगे हुए' मात्र है इस। प्रकार यह निरन्तर किसी श्रेष्ठ कर्म में लगे प्रामाणिक पुरुष और निन्दित पुरुष दोनों का वाचक है। प्राचीन वाङ्मय में अभियुज् नाम पद चोर दस्यु आदि के लिये प्रयुक्त होता है। यथा—**विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्य** (ऋ० ५।४।५)। इसलिये आधुनिक भाषावैज्ञानिकों का अभियुक्त शब्द के विषय में यह कहना कि 'पहले यह श्रेष्ठ प्रामाणिक पुरुष के लिये प्रयुक्त होता था, अब अर्थ की हीनता होकर निन्दित व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होता है' चिन्त्य है। **वसन्ताय कपिञ्जलान् आलभते**—यह मन्त्र है, कर्म का विधायक होते हुये भी यह ब्राह्मण नहीं है। यह शवरस्वामी के कथन से स्पष्ट है। आधुनिक अनधिगत-शास्त्रतत्त्व लोग यजुर्वेद के जिस २४ वें अध्याय में यह मन्त्र आया है, उसे ब्राह्मणभाग मानते हैं। यह प्राचीन परम्परा के सर्वथा विपरीत है। यजुर्वेद (वाजसनेय संहिता) में कहीं भी ब्राह्मण का संमिश्रण नहीं है। इस विषय पर हम **वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा** के अन्तर्गत **वेदसंज्ञामीमांसा** निवन्ध (संस्कृत में—पृष्ठ १४५-१५१, हिन्दी में—पृष्ठ १६५-१७२) में विस्तार से लिख चुके हैं। इस विषय में रुचि रखनेवाले पाठक उक्त प्रकरण अवश्य देखें। **पृष्ठाकोटेन**—कुमारिल ने इस का अर्थ 'पृथिवीस्थ अनेक द्रव्यों में से प्रत्येक के निरीक्षण के लिये पुनः-पुनः पीठ को झुकाना' किया है। **ऋषयोऽपि०**—इस वचन को निरुक्त-व्याख्याकार दुर्गाचार्य ने भी पृष्ठ १२ (आनन्दाश्रम सं०) से उद्धृत किया है।

व्याख्या—[वृत्तिकार उपवर्ष द्वारा दर्शाये मन्त्रों के उदाहरण—'असि' अन्तवाले मन्त्र—मेधोऽसि आदि, 'त्वा' शब्दान्त मन्त्र—इषे त्वा आदि, आशीर्मन्त्र—आयुर्दा असि स्तुतिमन्त्र—अग्निर्मूर्धा, संख्यानिदर्शकमन्त्र—एको मम, प्रलाप-मन्त्र—अक्षी ते इन्द्र पिङ्गले दुलेरिव (=हे इन्द्र!

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. अनुपलब्धमूलम्। ३. यजुः १।१॥
४. शां० श्रौत ४।१२।१०॥ ५. ऋ० ८।४४।१६॥ ६. शत० ब्रा० १।५।४।१२॥

इन्द्र पिङ्गले कुलेरिव[1] इति, परिवेदनम्—अम्बे अम्बिके[2] इति, प्रैषः—अग्नीदग्नीन्[3] इति अन्वेषणम्—कोऽसि कतमोऽसि[4] इति, पृष्टम्—पृच्छामि त्वा[5] इति, आख्यानम—इयं वेदिः[6] इति, अनुषङ्गः—अच्छिद्रेण पवित्रेण[7] इति, प्रयोगः—त्रैस्वर्यं चातुःस्वर्यञ्च, सामर्थ्यम्—अभिधानम्। तच्चैतद् वृत्तिकारेणोदाहरणोपदेशेनाख्यातम्।

एतदपि प्रायिकमेव। असिमध्या अपि च मन्त्रा भवन्ति—ईडचश्चासि वन्द्यश्च वाजिन्[8] इति। त्वामध्याश्च—तस्त्वा यामि[7] इति। आशीर्ब्राह्मणमपि—सोऽकामयत प्रजाः सृजेय[10] इति, स्तुतिरपि—वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता[11] इति, प्रलापः—न चैतद् विद्मो यदि ब्राह्मणा

तुम्हारी आंखें कछुए के समान पिङ्गल=पीली हैं), परिवेदना (=अज्ञातभय से दुःखी होना) मन्त्र—अम्बे अम्बिके[अम्बालिके न मा नयति कश्चन]=हे अम्बे अम्बिके अम्बालिके! मुझे कोई नहीं प्राप्त कराता), प्रैष(=आज्ञा)-मन्त्र-अग्नीत् अग्नीन्[विहर](=हे अग्नीत्! अग्नियों का विहरण करो), अन्वेषण-मन्त्र—कोऽसि कतमोऽसि (=तू कौन है, कौनसा है?), प्रश्न-मन्त्र—पृच्छामि त्वा [परमन्तं पृथिव्याः] (=मैं तुमसे पृथिवी के पर अन्त=अवधि को पूछता हूं), आख्यान(=उत्तर)-मन्त्र—इयं वेदिः [परो अन्तः पृथिव्याः] (=यह वेदि ही पृथिवी का पर अन्त=अवधि है), अनुषङ्ग (=अन्य के पीछे सम्बद्ध होनेवाला)-मन्त्र—अच्छिद्रेण पवित्रेण[इसका चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु(यजु० ४।४)के साथ सम्बन्ध होता है], प्रयोग—त्रैस्वर्य(=तीन स्वरों) और चातुःस्वर्य (=चार स्वरों से)[जिसका प्रयोग होवे, वह मन्त्र], सामर्थ्य—[क्रियमाण कर्म को]कहना। यह वृत्तिकार [उपवर्ष]ने उदाहरणों के उपदेश से कहा है।

विवरण—यहां मन्त्रों का अर्थ अभिप्रेत नहीं है, उनके स्वरूप का निदर्शन ही इष्ट है। अतः हमने कुछ मन्त्रों के ही एकांश के सामान्य अर्थ लिखे हैं। त्रैस्वर्यं चातु स्वर्यं च—किन्हीं शाखाओं में मन्त्रों का तीन स्वरों=उदात्त अनुदात्त स्वरित भेद से प्रयोग होता है, और किन्हीं में चार स्वरों=उदात्त अनुदात्त स्वरित और एकश्रुति से (द्र०—शुक्लयजुः प्रातिशाख्य टीका १।१२८ यजुर्वेद में तीन स्वर, किस शाखा के मन्त्रों में चातुःस्वर्य होता है, यह वैदिकों से ज्ञातव्य है)।

व्याख्या—यह[वृत्तिकार का प्रदर्शन]भी प्रायिक ही है। 'असि' पद जिन के मध्य में होता है, वे भी मन्त्र होते हैं—इडचश्चासि वन्द्यश्च वाजिन्(=हे वाजिन्! तुम स्तुत्य और नमस्करणीय हो), 'त्वा' मध्यवाले मन्त्र—तस्त्वा यामि। आशीःरूप ब्राह्मण भी होता है—सोऽकामयत प्रजाः सृजेय (=उसने कामना की कि मैं प्रजाओं को उत्पन्न करूं), स्तुतिरूप भी ब्राह्मण—वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता(=वायु ही अत्यन्त शीघ्रकारी देवता है), प्रलापरूप ब्राह्मण—न चैतद्

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. यजुः २३।१८।
३. तै० सं० ६।३।१॥ ४. यजुः ७।२९॥ ५. यजुः २३।६१॥
६. यजुः २३।६२॥ ७. यजुः ४।४॥ ८. यजुः २९।३॥
९. अ० ०१२४।११॥ १०. संकर्षणोपनिषद् १। ११. तै० सं० २।१।१॥

वा स्मोऽब्राह्मणाः स्मो वा[1] इति, परिवेदनम्—ये मामघुक्षन्त ते मां प्रत्यमुञ्चन्त[2] इति, प्रैषः—अमुतः सोममाहर[3] इति, अन्वेषणम्—इह वा स इह वा[4] इति, प्रश्नः—वेद कर्णवतीं सूर्मिम्[5] इति, प्रतिवचनम्—विद्मो वा[6] इति, अनुषङ्गः—हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः[7] इति, प्रयोगः—त्रैस्वर्य्यञ्चातुःस्वर्य्यञ्चेति, सामर्थ्यम्—स्रुवेण अवद्यति[8] द्रवेष्विति।

लक्षणकर्म्मणि प्रयोजनं प्रसिद्धत्वान्न वक्तव्यम्। लघीयसी प्रतिपत्तिर्लक्षणेन।

आक्षेपेष्वपवादेषु प्राप्त्यां लक्षणकर्म्मणि।
प्रयोजनं न वक्तव्यं यश्च कृत्वा प्रवर्त्तते॥

आक्षेपेषु पूर्वाधिकरणस्य प्रयोजनम्, अपवादेषूत्सर्गस्य, प्राप्त्यामुत्तरविवक्षा, कृत्वाचिन्तायां पूर्वाधिकरणस्य प्रयोजनम्।

विद्मो यदि ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणाः स्मो वा (=हम यह नहीं जानते कि हम ब्राह्मण हैं, अथवा अब्राह्मण हैं), परिवेदनारूप ब्राह्मण—ये मामघुक्षन्त ते मां प्रत्यमुञ्चन्त (=उन्होंने मुझे धुना=पीड़ित किया, और मुझे छोड़ दिया), प्रैषरूप ब्राह्मण—अमुतः सोममाहर (=उस द्युलोक से सोम को ला), अन्वेषणरूप ब्राह्मण—इह वा स इह वा (=वह यहां है अथवा यहां), प्रश्न-रूप ब्राह्मण—वेद कर्णवतीं सूर्मिम् (=कानोंवाली सूर्मि=सच्छिद्र भूमि को जानते हो?), उत्तररूप ब्राह्मण—विद्मो वा (=जानते हैं), अनुषङ्गरूप ब्राह्मण—हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः (=यहां 'अवद्यति' का उत्तर दोनों जिह्वायाः और वक्षसः के साथ सम्बन्ध होता है), प्रयोग—त्रैस्वर्य वा चातुःस्वर्य से ब्राह्मण का, सामर्थ्ययुक्त ब्राह्मण—स्रुवेणावद्यति वचनसामर्थ्य से द्रव द्रव्यों में अवदान जाना जाता है।

विवरण—मन्त्रस्वर के समान चरकों के ब्राह्मण में भी त्रैस्वर्य होता है। तथा उन्हीं चरकों के खाण्डिकेय औखेयों के ब्राह्मण में चातुःस्वर्य भी होता है। द्र०—भाषिक स्वर ३।२५,२६॥

व्याख्या—लक्षणरूप कर्म (=लक्षणविधान) में [लक्षणविधान के] प्रयोजन के प्रसिद्ध होने से प्रयोजन नहीं कहना चाहिये। लक्षण से प्रतिपत्ति (=ज्ञान) में लाघव होता है। 'आक्षेपों अपवादों, प्राप्ति और लक्षणविधानकर्म में प्रयोजन कहने योग्य नहीं है [क्योंकि वह स्वतः जाना जाता है], और जो कृत्वा (=किसी पक्ष को स्वीकार करके) प्रवृत्त होता है, उसमें भी प्रयोजन कहने योग्य नहीं है।' आक्षेपसूत्रों में पूर्व अधिकरण का जो प्रयोजन है, वही होता है, अपवादों में उत्सर्ग का बाध प्रयोजन होता है, प्राप्ति में उत्तर की विवक्षा प्रयोजन होता है, कृत्वाचिन्ता में पूर्वाधिकरण का प्रयोजन ही प्रयोजन होता है।

---

१. द्र०—मै० सं० १।४।११॥ विशेषः—१।१।२ सूत्र-भाष्य-टिप्पण्यां (भाग १, पृष्ठ १३३) द्रष्टव्यः।
२. अनुपलब्धमूलम्।
३. अनुपलब्धमूलम्।
४. अनुपलब्धमूलम्।
५. अनुपलब्धमूलम्।
६. अनुपलब्धमूलम्।
७. तै० सं० ६।३।१०॥
८. अनुपलब्धमूलम्।

अस्ति वेदे मन्त्रशब्दः, यस्यायमर्थः परीक्षितः। अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयः स्त्रयीविदा विदुः, ऋचः सामानि यजूंषि' इति ॥३२॥ इति मन्त्रनिर्वचनाऽधिकरणम् ॥७॥

[ब्राह्मणनिर्वचनाधिकरणम् ॥८॥]

शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥३३॥ (उ०)

अथ किंलक्षणं ब्राह्मणम्? मन्त्राश्च ब्राह्मणञ्च वेदः।[1] तत्र मन्त्रलक्षणे उक्ते परिशेषसिद्धत्वाद् ब्राह्मणलक्षणमवचनीयम्। मन्त्रलक्षणवचनेनैव सिद्धम्। यस्यैतल्लक्षणं

वेद में मन्त्रशब्द प्रयुक्त है, उसी के अर्थ की यह परीक्षा की है। अहे बुध्निय मन्त्रं मे— ऋचः सामानि यजूंषि ॥३२॥

विवरण—कृत्वाचिन्ता—द्रष्टव्य तन्त्रवार्तिक १।३।२७, पृष्ठ २८७ (आनन्दाश्रम)—यत्पुनः परावृत्य भाष्यकारेण 'अथवा पुनरस्तु ज्ञाने धर्म इति' अभ्युपेत्य वादमात्रं तत्पूर्वोक्तदोषपरिहार-सामर्थ्यप्रदर्शनार्थं कृत्वाचिन्तान्यायेनोक्तम्। =अर्थात् भाष्यकार पतञ्जलि ने लौटकर 'अथवा शब्द के ज्ञान में धर्म है' ऐसा स्वीकार करके कथनमात्र उस पूर्वोक्त दोष के परिहार-सामर्थ्य के प्रदर्शन के लिये कृत्वाचिन्तान्याय से उपस्थापित किया है ॥३२॥

शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥३३॥

सूत्रार्थः—(शेषे) मन्त्र से बचे हुए भाग में (ब्राह्मणशब्दः) ब्राह्मण शब्द का व्यवहार जानना चाहिये।

विशेषः—सूत्रकार जैमिनि ने आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् (२।१।१) सूत्र में यज्ञादि कर्म के लिये प्रयुक्त ग्रन्थ के लिये आम्नाय शब्द का व्यवहार किया है। 'आम्नाय' का लक्षण कौशिकसूत्र १।३ में आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च (=मन्त्र और ब्राह्मण आम्नाय है) किया है। इस प्रकार मन्त्र का लक्षण (२।१।३२) कर देने पर आम्नाय का जो शेष भाग रहता है वह ब्राह्मण कहाता है। यह सूत्रकार का तात्पर्य है।

व्याख्या—ब्राह्मण किस लक्षणवाला है? मन्त्र और ब्राह्मण वेद हैं। वहां मन्त्र के लक्षण के कह देने पर परिशेष से सिद्ध (=बचे हुए ग्रन्थ के लिये) ब्राह्मण का लक्षण कहने योग्य नहीं है। मन्त्र-लक्षण-कथन से ही [ब्राह्मण का लक्षण] सिद्ध है। जिसका यह (=मन्त्रविषयक) लक्षण नहीं है,

---

१. तै० ब्रा० १।२।१॥

२. द्र०—मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। आप० श्रौत परिभाषा। एतत्सूत्रविषये विशेषविचारोऽस्मदीयायां 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसायाम्' वेदसंज्ञामीमांसाख्ये निबन्धे (पृष्ठ १४३-१४५) द्रष्टव्यः॥

न भवति, तद् ब्राह्मणमिति परिशेषसिद्धं ब्राह्मणम् । वृत्तिकारस्तु शिष्यहितार्थं प्रपञ्चितवान—इतिकरणबहुलम्; इत्याहोपनिबद्धम्; आख्यायिकास्वरूपम् । हेतुः—शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियते[1] इति । निर्वचनम्—तद् दध्नो दधित्वम्[2] । निन्दा—उपवीता वा एतस्याग्नयः[3] । प्रशंसा—वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता[4] इति । संशयः—होतव्यं गार्हपत्ये न होतव्यम्[5] इति । विधिः—यजमानसम्मितौदुम्बरी भवति[6] । परकृतिः—माषानेव मह्यं पचत[7] इति । पुराकल्पः—उल्मुकैर्हं स्म पूर्वे समाजग्मुः[8] इति । व्यवधारणकल्पना—यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयाद्[9] इति ।

"हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः ।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना ॥
उपमानं[10] दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु ।
एतद्वै सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्" ॥[11]

वह ब्राह्मण है, ऐसा परिशेष से सिद्ध ब्राह्मण [जाना जाता] है । तो भी वृत्तिकार=उपवर्ष ने शिष्यों के हित के लिये [ब्राह्मण के लक्षणों को] विस्तार से कहा है—इतिकरण बहुल (=जिसमें 'इति' शब्द का बहुतायत से निर्देश है वह) ब्राह्मण होता है; 'इत्याह' (=ऐसा कहा) से युक्त ब्राह्मण होता है; आख्यायिका (=कथा) रूप ब्राह्मण होता है । हेतुरूप ब्राह्मण—शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियते (=सूप से होम करता है, क्योंकि उससे ही अन्न साफ किया जाता है)। निर्वचन (=अर्थ बताना)—तद् दध्नो दधित्वम् (=वही दही का दहीपन है)। निन्दा—उपवीता वा एतस्याग्नयः (=इसकी अग्नियां निर्वीर्य हो गईं)। प्रशंसा—वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता (=वायु ही अत्यन्त शीघ्रकारी देवता है) । संशय—होतव्यं गार्हपत्ये न होतव्यम् (=गार्हपत्य अग्नि में होम करना चाहिये वा नहीं) । विधि—यजमानसम्मितौदुम्बरी भवति (=यजमान के बराबर ऊंची औदुम्बरी होती है) । परकृति—माषानेव मह्यं पचत (=मेरे लिये माष=उड़द ही पकाओ) । पुराकल्प—उल्मुकैर्हं स्म पूर्वे समाजग्मुः (=उल्मुकों=अंगारों के साथ ही पूर्वजन प्राप्त हुए थे=आये थे)। व्यवधारणकल्पना (=निश्चय करना)—यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् (=जितने अश्वों का प्रतिग्रह करे=दान लेवे) ।

"हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि, परक्रिया, पुराकल्प, व्यवधारणकल्पना, और उपमान ये ब्राह्मण की दश विधियां (=ब्राह्मण-भेद) हैं। यही सब वेदों में विधि (=ब्राह्मण) के नियत लक्षण है ।"

---

१. शूर्पेण जुहोति तेन ह्यशनं क्रियते । शत० २।५।२।२३॥
२. तै० सं० २।५।३॥ ३. अनुपलब्धमूलम् ।
४. तै० सं० २।१।१॥ ५. अनुपलब्धमूलम् ।
६. द्र०—यजमानेन सम्मितौदम्बरी भवति । तै० सं० ६।२।१०॥
७. माषान्मे पचत । शत० १।१।१।१०॥ ८. अनुपलब्धमूलम् ।
९. तै० सं० २।३।१२॥ १०. 'उपमा च' इति शुद्धः पाठ ऊहनीयः ।
११. द्र०—किञ्चिद्भेदेन ब्रह्माण्डपुराणे १।३३।४७-४८॥ तत्र द्वितीयश्लोकस्योत्तरार्धस्य

विवरण—**मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेदः**—यह श्रौतसूत्र आदि याज्ञिक ग्रन्थों की पारिभाषिक संज्ञा है। कृष्ण यजुर्वेद के सभी श्रौतसूत्रों में उपलब्ध **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** वचन परिभाषा-प्रकरण में पढ़ा है। अतः इस वेदसंज्ञा का क्षेत्र याज्ञिक ग्रन्थों तक ही सीमित है, जैसे पाणिनि की गुण और वृद्धि संज्ञा का क्षेत्र उसके शास्त्र तक ही सीमित है। मीमांसाशास्त्र भी याज्ञिक विधियों की मीमांसा करता है, अतः यहां भी मन्त्र-ब्राह्मण की वेदसंज्ञा चरितार्थ हो सकती है। परन्तु सूत्रकार जैमिनि ने अपने ग्रन्थ में मन्त्र और ब्राह्मण की वेदसंज्ञा के स्थान पर १।२।१ में आम्नाय संज्ञा का प्रयोग किया है—**आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्** =आम्नाय मन्त्र और ब्राह्मण के क्रियार्थ होने से। मीमांसा में प्रयुक्त 'वेद' शब्द पर विशेष विचार हम पूर्व (भाग १, पृष्ठ १०२-११४) विस्तार से कर चुके है। **इतिकरणबहुलम्**—यथा—इषे त्वोर्जे त्वेति वृष्ट्यै तदाह(शत० १।७।१।२,। **इत्याहोपनिबद्धम्**—शतं हिमा इत्याह शतं वा हेमन्तान् इन्धीषीयेति वै तदाह (तै० सं० १।५।८)। **आख्यायिकास्वरूपम्**—देवासुरा वा संयत्ता आसन् (बहुत्र पठित)। **औदुम्बरी**—सोमयाग में सदोमण्डप में गूलर के वृक्ष का बना एक स्तम्भ मध्य में गाड़ा जाता है। उसका स्पर्श करके उद्गाता सामगान करता है—**औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्** (१।३।३ के भाष्य में उद्धृत)। **परकृति और पुराकल्प**—ये अर्थवाद के ही भेद हैं—**स्तुतिर्निन्दापरकृतिःपुराकल्प इत्यर्थवादः** (न्यायसूत्र २।१।६४)। इस सूत्र के व्याख्यान में परकृति और पुराकल्प का लक्षण भाष्यकार वात्स्यायन ने इस प्रकार किया है—'अन्यकर्तृक व्याहत (=खण्डन की गई) विधि का वाद परकृति, और ऐतिह्यसमाचरित विधि का वाद पुराकल्प कहाता है।' भट्ट कुमारिल ने 'एक-पुरुषकर्तृक उपाख्यान परकृति, और बहुकर्तृक उपाख्यान पुराकल्प होता है' ऐसा कहा है। एक-कर्तृक उपाख्यान—**तद्ध ह स्माहापि बर्कुर्वार्ष्णो माषान् मे पचत न वा एतेषां हविर्गृह्णन्तीति** (शत १।१।१।१०)=वर्कु वार्ष्ण ने [उपवास के विषय में] कहा—मेरे लिये उड़द पकाओ, क्यों कि इन की हवि देवता ग्रहण नहीं करते। बहुकर्तृक उपाख्यान—**उल्मुकैर्ह स्म पूर्वे समाजग्मुः** (भाष्योक्त उद्धरण)। यहां बहुत जनों के उल्मुक के साथ आने का निर्देश है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये, तो दोनों (वात्स्यायन, भट्ट कुमारिल) के लक्षणों में तात्त्विक भेद नहीं है। वात्स्यायनोक्त लक्षण में उदाहृत वचन में **चारकाध्वर्यवः** बहुवचन का निर्देश चरकाध्वर्यु= वैशंपायन के आदरार्थ है। **हेतुर्निवचनम्**—ये श्लोक भाष्यकार ने किसी प्राचीन ग्रन्थ से उद्धृत किये हैं। कुछ पाठभेद से ये श्लोक ब्रह्माण्डपुराण १।३३।४७-४८ में भी मिलते हैं। (द्र०—पुराणगत वेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन, पृष्ठ ९७)। **उपमानं दर्शते**—यहां उपमा च दर्शते शुद्ध पाठ होना चाहिये। **विषयो ब्राह्मणस्य तु**—यहां विधि शब्द विधा प्रकार के लिये प्रयुक्त है। **नियतं विधिलक्षणम्**—यहां विधि से ब्राह्मण का ग्रहण है।

भाष्यकार-उद्धृत श्लोकों में ब्राह्मण के जो दश भेद दर्शाये हैं, उसी प्रकार का वर्णन वायुपुराण अ० ५९ श्लोक १३२-१३९ तक मिलता है। पाठकों के परिज्ञान के लिये हम उन्हें नीचे उद्धृत करते हैं—

'लक्षणं ब्राह्मणस्यैतत् विहितं सर्वशाखिनाम्' इत्येवं पाठो दृश्यते। इमे ब्राह्मणस्य दश विधयो वायुपुराणे (अ० ५९, श्लोक १३३-१३९) विस्तरेण व्याख्याताः।

[13] एतदपि प्रायिकम् । इतिकरणबहुलो मन्त्रोऽपि कश्चित्—इति वा इति मे मन[1] । इत्याहोपनिबद्धश्च—भगं भक्षीत्याह[2] । आख्यायिकास्वरूपञ्च—तुग्रो ह भुज्युम्[3] इति । हेतुः—इन्दवो वामुशन्ति हि[4] । निर्वचनम्—तस्मादापो नु स्थ न[5] इति । निन्दा—मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः[6] इति । प्रशंसा—अग्निर्मूर्द्धा[7] इति । संशयः—अधः स्विादसीदुपरि स्विदासीत्[8] इति । विधिः—पृणीयादिन्नाधमानाय[9] इति । परकृतिः—सहस्रमयुता ददत्[10] । पुराकल्पः—यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा[11] इति ॥३३॥ इति ब्राह्मणनिर्वचनाधिकरणम् ॥८॥

.... लक्षणं [12]ब्राह्मणश्चैतद् विहितं सर्वशाखिनाम् ॥१३२॥
हेतुर्हिते स्मृतो धातोर्यन्निहन्युदितं परैः । अथवार्थपरिसमाप्ते हिनोतेर्गतिकर्मणः ॥१३३॥
तथा निर्वचनं ब्रूयाद् वाक्यार्थस्यावधारणम् । निन्दा तामाहुराचार्या यद्दोषान्निन्द्यते वचः ॥१३४॥
प्रपूर्वाच्छंसतेर्धातोः प्रशंसा गुणवत्तया । इदं स्विदमिदं नेदमित्यनिश्चित्य संशयः ॥१३५॥
इदमेव विधातव्यमित्ययं विधिरुच्यते । अन्यस्यान्यस्य चोक्तत्वात् बुधाः परकृतिः स्मृताः ॥१३६॥
यो ह्यत्यन्ततरोक्तश्च पुराकल्पः स उच्यते । पुरा विक्रान्तवाचित्वात् पुराकल्पस्य कल्पना ॥१३७॥
मन्त्रब्राह्मणकल्पैस्तु निगमैः शुद्धविस्तरैः । अग्निश्चित्य कृतामाहुर्व्यवधारणप्रकल्पना ॥१३८॥
यथा हीदं तथा तद्वै इदं वापि तथैव तत् । इत्येष ह्युपदेशो[13]ऽयं दशमो ब्राह्मणस्य तु ॥१३९॥

व्याख्या—यह भी प्रायिक हैं । इतिकरणबहुल भी कोई मन्त्र है—इति वा इति मे मनः (=ऐसा निश्चय से इस प्रकार का मेरा मन है) । इत्याहोपनिबद्ध मन्त्र—भगं भक्षीत्याह (=भग का सेवन करो, ऐसा कहा) । आख्यायिकास्वरूप मन्त्र—तुग्रो ह भुज्युम् । हेतुरूप मन्त्र—इन्दवो वामुशन्ति हि । निर्वचनरूप मन्त्र—तस्मादापो नु स्थ न । निन्दारूप मन्त्र—मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः (=वह मूर्ख व्यर्थ अन्न को प्राप्त करता है) । प्रशंसारूप मन्त्र—अग्निर्मूर्धा (=अग्नि द्युलोक का मूर्धा है) । संशयरूप मन्त्र—अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत् (=नीचे था या ऊपर था) । विधिरूप मन्त्र—पृणीयान्नाधमानाय (=याचना करनेवाले को तृप्त करे) । परकृतिरूप मन्त्र—सहस्रमयुता ददत् (=दस सहस्र दिये) । पुराकल्परूप मन्त्र—यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः (=देवों ने यज्ञ से यज्ञ का यजन किया) ॥३३॥

विवरण—आख्यायिकास्वरूपम्—इसका मन्त्र में किसी कहानी का निर्देश बताने में तात्पर्य नहीं है, अपितु कहानी के ढंग पर अश्विनी देवता के गुणों का वा कार्यों का निर्देश किया है । वेद

---

१. ऋ० १०।११९।१॥ २. ऋ० ७।४१।२॥
३. ऋ० १।११६।३॥ अत्र भाष्यपाठे 'उग्रो ह भुज्यम्' इत्यपपाठः । ४. ऋ० १।२।४॥
५. तै० सं० ५।६।१॥ मुद्रिते भाष्ये 'तस्मादापो नु' इत्यपपाठः ।
६. ऋ० १०।११७।६॥ ७. ऋ० ८।४४।१६॥
८. ऋ० १०।१२९।५॥ ९. ऋ० १०।११७।५॥
१०. ऋ० ८।२१।१८॥ ११. ऋ० १०।९०।१६॥
१२. ब्राह्मणस्येत्यर्थः । द्र०—श्लोक १३९ ॥ १३. उपदेश उपमारूप इति शेषः ।

[ऊहाद्यमन्त्रताऽधिकरणम् ॥६॥]

ऊहप्रवरनामधेयेषु संशयः—मन्त्रा उत नेति ? अभिधायकत्वान्मन्त्राः, इति प्राप्ते ब्रूमः—

अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वम्, आम्नातेषु हि विभागः ॥३४॥ (उ०)

के प्राचीन स्कन्द स्वामी आदि व्याख्याकारों ने तो साक्षात् अश्वि-सूक्तों में कथाओं का ही निर्देश किया है। परन्तु इन आख्यानस्वरूप मन्त्रों में आधिदैविक घटनाओं का आख्यानरूप से कैसे वर्णन किया गया है, इसका ज्ञान कराने के लिये हम ऋ० १।११७।१६ का एक मन्त्र उपस्थित करते हैं। मन्त्र का पूर्वार्ध है—'अजोहवीदश्विना वर्त्तिका वामास्नो यत्सीममुञ्चतं वृकस्य।' इसका स्कन्द स्वामी ने अर्थ किया है—'हे अश्विनौ ! भेड़िये के मुख में गई अर्थात् खाई जा रही वर्त्तिका=चिड़िया ने तुम दोनों को बुलाया। तुमने वृक=भेड़िये के मुख से उसको छुड़ाया।' परन्तु इसी मन्त्र का निरुक्तकार यास्क ने इस प्रकार व्याख्यान किया है—आह्वयदुषा अश्विनौ आदित्येन ग्रस्ता, तामश्विनौ प्रमुमुञ्चतुः। इत्याख्यानम् (निरुक्त ५।२१)। अर्थात्—'हे अश्विनौ! वर्त्तिका=उषा, जो आदित्य से ग्रस्त थी, ने तुम्हें बुलाया। उसको अश्वि देवताओं ने वृक=आदित्य के मुख से छुड़ाया, यह आख्यान है। इससे स्पष्ट है कि वेद में जो आख्यानस्वरूप मन्त्र हैं, उनमें कोई कहानी वा इतिहास निर्दिष्ट नहीं है। अपितु आख्यान वा इतिहास के रूप में आधिदैविक जगत् के पदार्थों के गुण कर्म का ही वर्णन किया है। इसी प्रकार परकृति और पुराकल्प के विषय में भी जानना चाहिये। आख्यान इतिहास परकृति पुराकल्प के रूप में किसी तत्त्व का निर्देश करना मन्त्रों की भिन्न-भिन्न विधामात्र है ॥३३॥

व्याख्या—ऊह प्रवर और नामधेय में संशय है—ये मन्त्र हैं वा नहीं ? इनके भी अभिधायक (=क्रियमाण कर्म के स्मारक) होने से ये मन्त्र हैं, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—ऊह का स्वरूप पूर्व ऊहः (१।२।५२) सूत्र के सूत्रार्थ के नीचे पृष्ठ २०६-२१० पर दर्शाया जा चुका है। प्रवर के विषय में भी पूर्व (१।२।१३) के व्याख्यान में पृष्ठ १५८ पर लिख चुके हैं। प्रवरोच्चारण के समय अपने-अपने प्रवरों का प्रयोग किया जाता है। यथा—भारद्वाज गोत्र का यजमान होगा, तो वह 'अग्निर्देवो दैव्यो होता देवान् यक्षद् विद्वांश्चिकित्वान् मनुष्वद् भरतवत्' मन्त्र के अन्त में पढ़ेगा—अङ्गिरस्वद् बृहस्पतिवत् भरद्वाजवत्। नामधेय का निर्देश—होता का वरण करते समय मन्त्र बोला जाता है—ब्राह्मणवद् आ च वक्षद् ब्राह्मणा यज्ञस्य प्रावितारोऽमुको होता मानुषः। इसमें 'अमुक' के स्थान में होता का नाम जगन्नाथशर्मा आदि बोला जाता है। इसी प्रकार का नामधेय यहां अभिप्रेत है।

अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वम्, आम्नातेषु हि विभागः ॥३४॥

सूत्रार्थः—(अनाम्नातेषु) जो पठित नहीं हैं उनमें (अमन्त्रत्वम्) मन्त्रत्व नहीं है। (आम्नातेषु) पठितों में (हि) ही (विभागः) मन्त्र और ब्राह्मण का विभाग है।

अनाम्नातेषु मन्त्रत्वं न स्यादभिधायकेष्वपि। नाभिधायकत्वं मन्त्रत्वे हेतुः। किं तर्हि? अभियुक्तप्रयोगः। ये अभियुक्तैर्मन्त्रा नोच्यन्ते, न ते मन्त्राः। न चैवमादयो मन्त्रसमाम्नाये सन्ति। तस्माद् अमन्त्राः। प्रयोजनम्—मन्त्रे भ्रष्टे यत् प्रायश्चित्तम्, अमन्त्रेषु तन्न ॥३४॥ इत्यूहाद्यमन्त्रताऽधिकरणम् ॥ ९ ॥

[ऋग्लक्षणाऽधिकरणम् ॥१०॥]

'ऋचः' इत्यस्ति वेदे—अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रयीविदा विदुः। ऋचो यजूंषि सामानि' इति। कथँल्लक्षणिका ऋचः?

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥३५॥ (उ०)

व्याख्या—अपठितों (=ऊह प्रवर और नामधेयों) में अभिधायकत्व होने पर भी मन्त्रत्व न होवे। अभिधायकत्वमात्र मन्त्रत्व में हेतु नहीं है। तो क्या है? अभियुक्त (=प्रामाणिक) पुरुषों का प्रयोग। जिनको प्रामाणिक पुरुष मन्त्र नहीं कहते, वे मन्त्र नहीं हैं। इस प्रकार के (=ऊह प्रवर नामधेययुक्त) मन्त्र-समाम्नाय=संहिता में [पठित] नहीं हैं। इसलिये ये मन्त्र नहीं हैं। इस विचार का प्रयोजन है—मन्त्र के भ्रष्ट (=स्वर वर्ण आदि से भ्रष्ट प्रयोग) होने पर जो प्रायश्चित्त कहा है, वह [इन ऊह प्रवर और नामधेयरूप] अमन्त्रों में नहीं किया जाता है ॥३४॥

विवरण—भ्रष्टे यत प्रायश्चित्तम्, अमन्त्रेषु तन्न—सिद्धान्तपक्ष में ऊहादि के अमन्त्र होने से मन्त्रभ्रेष में उक्त प्रायश्चित नहीं करना पड़ता है, परन्तु अविज्ञात प्रायश्चित्त किया जाता है। पूर्वपक्ष =ऊहादि को मन्त्र मानने पर मन्त्रभ्रेष होने का प्रायश्चित्त करना पड़ेगा ॥३४॥

व्याख्या—वेद में 'ऋचः' ऐसा पद है—अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रयोविदा विदुः। ऋचो यजूंषि सामानि (=हे अहिंसनीय बुध्निय मूलभूत आवसथ्यसंज्ञक अग्ने! मेरे मन्त्र की रक्षा कर, जिस मन्त्र को त्रयीविदः=तीनों वेदों के जाननेवाले ऋषि लोग जानते हैं। मन्त्र हैं—ऋचाएं यजुः और साम)। [इस मन्त्र में पठित] ऋचाएं किस लक्षणवाली हैं?

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥३५॥

सूत्रार्थः—(तेषाम्) उन मन्त्रों में (यत्र) जहां (अर्थवशेन) अर्थ के अनुरोध से (पादव्यवस्था) पादों=चरणों की व्यवस्था होवे, वह (ऋक्) ऋक् ऋचा होती है।

---

१. तै० ब्रा० १।२।१।२६॥

यत्र पादकृता व्यवस्था, स मन्त्र ऋग्नामा। यथा—अग्निमीळे[1] इति। एवञ्जातीयकेषु मन्त्रेषु अभियुक्ता उपदिशन्ति—'ऋचोऽधीमहे, ऋचोऽध्यापयामः, ऋचो वर्त्तन्ते' इति। यद्यर्थवशेनेत्युच्यते, यत्र वृत्तवशेन, तत्र न प्राप्नोति—अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः[2] इति। अतो[3] न अर्थवशेनेति वृत्तादिवशव्यावृत्त्यर्थम्। किं तर्हि ? अनुवाद एष प्रदर्शनार्थः[4]। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। वृत्तादिनिवृत्त्यर्थे सति वाक्यं भिद्येत। तस्माद् यत्र पादकृता व्यवस्था, सा ऋगिति ॥३५॥ इत्यृग्लक्षणाधिकरणम् ॥ १० ॥

व्याख्या—जिसमें पादों की व्यवस्था होवे, वह मन्त्र ऋक् नामवाला होता है। जैसे—अग्निमीळे [पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥] इति। इस प्रकार के [पादबद्ध] मन्त्रों में अभियुक्त पुरुष कथन करते हैं—'ऋचोऽधीमहे (=ऋचाओं को पढ़ते हैं), ऋचोऽध्यापयामः (=ऋचाओं को पढ़ते हैं), ऋचो वर्तन्ते (=ऋचाएं बोली जा रही हैं) इत्यादि। यदि अर्थवशेन (=अर्थ के अनुरोध से) [पादव्यवस्था] कहते हैं, तो जहां [पादव्यवस्था अर्थ के अनुरोध से न होकर] छन्द के अनुरोध से होवे, वहां [यह ऋक् का लक्षण] प्राप्त नहीं होता है, यथा—अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः। इसलिये [सूत्र में पठित] 'अर्थवशेन' पद छन्द आदि के अनुरोध की निवृत्ति के लिये नहीं है। तो किस लिए है ? यह [पादव्यवस्था के] प्रदर्शन के लिये अनुवादरूप है। यह इस प्रकार अवश्य जानना चाहिये। [अर्थवशेन पद के] छन्द आदि की निवृत्ति के लिये होने पर वाक्यभेद होगा। इसलिये जहां पादकृत व्यवस्था है, वह ऋक् है ॥३५॥

---

१. ऋ० १।१।१॥ २. ऋ० १।१।२॥ ३. 'यतः' इति मुद्रितः पाठोऽसम्बद्ध इव।

४. एतेन भाष्यकारः सूत्रसंगृहीतम् 'अर्थवशेन' पदं निरर्थकमाह। परन्त्वेतत् शौनककात्यायनाद्युक्तछन्दोलक्षणान्याश्रित्य तथा मन्यते। शौनककात्यायनाद्युक्तछन्दोलक्षणानुसारं न स्ववचोविरोध एवोपजायते, अपि तु परस्परमुभयोः पादविभागे वैमत्ये स्वरशास्त्र विरोधोऽप्युपपद्यते। स्ववचोविरोधो यथा—शौनकेन 'अनुदात्तं तु पादादौ नोवर्जं विद्यते पदम्' (ऋक्प्राति० १७।२७) इत्युक्त्वा नव स्थानेषु क्रियामन्त्रितपदानां पादादावनुदात्तत्वं स्वीकृतम् (ऋक्प्राति० १७।२९-३६)। शौनककात्यायनयोः पादविभागे वैमत्यस्य प्राचुर्यान्नात्रोदाह्रियन्ते। स्वरशास्त्रविरोधः—पाणिनिना स्पष्टमुक्तम्—पदात् पराणि आमन्त्रितानि तिङन्तपदानि चानुदात्तानि भवन्ति—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, आमन्त्रितस्य च, तिङ्ङतिङः (अष्टा० ८।१।१८,१९,२८)। उक्तदोषाण्यपाकर्तुं भगवता पतञ्जलिना निदानसूत्रे नियतपादाक्षराणामभिक्रमणसंक्रमणयोर्ये विशेषनियमा उक्ताः, तानादृत्य न क्वचित् स्वरशास्त्रविरोध उपपद्यते। न चापि सूत्रकारस्य जैमिनेर्ऋग्लक्षणं दूषयितुं शक्यते। अष्टाक्षरपादः दशाक्षरमभिक्रामति इति निदानसूत्रस्थनियमेन—अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यः इत्यत्र प्रथमपादस्य विच्छेदे कृते अवान्तरार्थपरिसमाप्तिरञ्जसोपपद्यते। एवं च सति नूतनैरुत इत्यत्र ईड्यः इत्यस्यानुषङ्गात् अत्राप्यवान्तरार्थ उपपद्यते। न चान्यः कश्चिद् दोष आपद्यते। अयं विषयोऽस्माभिः, वैदिकछन्दोमीमांसा ग्रन्थस्याष्टादशाध्याये विस्तरेण मीमांसितः, सुधीभिस्तत्रैव द्रष्टव्यः। (द्र०—पृष्ठ २४३—२५४, प्र० सं०)।

विवरण—पादव्यवस्था—अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ।। यहां **अग्निमीळे पुरोहितम्** (=पुरोहित अग्नि की स्तुति करता हूं), **यज्ञस्य देवमृत्विजम्** (=यज्ञ के देव और ऋत्विक् अग्नि की स्तुति करता हूं), **होतारं रत्नधातमम्** (रत्नों के धारण करनेवाले यज्ञ के होता अग्नि की स्तुति करता हूं) । इस मन्त्र में पूर्वपाद में श्रुत ईळे क्रिया का उत्तर पादों में अनुषङ्ग होने से तीनों विभागों के अवान्तर अर्थ उपपन्न होते हैं । इसी अर्थ के अनुरोध से ८-८ अक्षरों के तीन पादवाला यह ऋङ् मन्त्र होता है । **यद्यर्थवशेन इत्युच्यते**—इस अगले प्रकरण मे भाष्यकार सूत्र में उक्त **अर्थवशेन** पद पर दोषारोपण करते हैं कि **अर्थवशेन** पद का निर्देश करने से जहां अर्थानुरोध से पादव्यवस्था उपपन्न नहीं होती, वहां यह ऋक्लक्षण व्याप्त नही होगा । यथा—**अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः** इन आठ अक्षरों के प्रथम पाद में किसी क्रिया का निर्देश न होने से अर्थ उपपन्न नहीं होता है । यहां गायत्री छन्द के अनुरोध से आठ अक्षरवाला पाद जानना चाहिये । वस्तुत: भाष्यकार का यह कथन छन्दःशास्त्र के विशिष्ट लक्षणों के और वैदिक पदप्रयोगशैली के यथावत् न जानने के कारण है । हम इन दोनों कारणों का क्रमश: निर्देश करते हैं—

छन्दःशास्त्र के विशिष्ट लक्षणों का अज्ञान—सम्भवत: शबर स्वामी ने उक्त दोष ऋक्प्रातिशाख्य और ऋक्सर्वानुक्रमणी में निर्दिष्ट सामान्य छन्दोलक्षणों को ध्यान में रखकर ही दर्शाया है । क्योंकि इन ग्रन्थों में अर्थ के अनुरोध से पादाक्षरों के बढ़ाने और घटाने का नियम उल्लिखित नहीं है । पतञ्जलि ने निदानसूत्र के अन्तर्गत छन्दोविचिति के आरम्भ में अष्टाक्षर एकादशाक्षर द्वादशाक्षर पादों में अक्षर-संख्या के घटाने-बढ़ाने के नियम विस्तार से सोदाहरण दिये हैं (द्र०—प्रपा० १)। गायत्री छन्द के अष्टाक्षर-पाद के सम्बन्ध में लिखा है—

अष्टाक्षर आपञ्चाक्षरतायाः प्रतिक्रामति । आचतुरक्षरताया इत्येके । आदशाक्षरताया अभिक्रामति । अर्थात्—अष्टाक्षर पाद पांच अक्षरों तक, किन्हीं के मत में चार अक्षरों तक संकुचित होता है, और दश अक्षर तक बढ़ता है ।

इन नियमों के अनुसार **अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवां एह वक्षति** (ऋ० १।१।२) ऋचा का अष्टाक्षर प्रथम पाद दश अक्षर पर्यन्त बढ़कर **अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यः** बनता है, और दूसरा पाद **नूतनैरुत** पञ्चाक्षर का होता है । '**ईड्यः**' को पूर्व चरण में सम्मिलित कर देने पर पूर्वपाद का अवान्तर अर्थ उपपन्न हो जाता है । इस प्रकार शबर स्वामी-निर्दिष्ट मन्त्र में भी अर्थवश पादव्यवस्था सम्यक् प्रकार उपपन्न हो जाती है । अतः सूत्रकार का **अर्थवशेन** पद रखना सर्वथा निर्दोष और युक्तियुक्त है । निदानसूत्रोक्त पादाक्षरों की न्यूनता वा वृद्धिवाले नियमों का निर्देश अर्थवश पादव्यवस्था मानने के लिये ही किया गया है ।

इतना ही नहीं, यदि ऋक्प्रातिशाख्य और ऋक्सर्वानुक्रमणी के लक्षणों को ही प्रमाण माना जाये, तो स्ववचनविरोध, परस्परविरोध और शास्त्रान्तर से विरोध भी आता है । यथा—**स्ववचनविरोध**—शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य १७।२७ में कहा है—**अनुदात्तं तु पादादौ नोवर्जं विद्यते पदम्**=अर्थात् पाद के आरम्भ में 'उ' को छोड़कर कोई अनुदात्त पद नहीं है । पुनः आगे (ऋक्प्राति० १७।२९-३६) तक अनेक क्रियापदों और सम्बोधनपदों को पादादि में अनुदात्त कहा

है। परस्पर-विरोध—शौनक और कात्यायन के लक्षणों में परस्पर विरोध प्रचुरता से उपलब्ध होता है। शास्त्रान्तर-विरोध—स्वरशास्त्र का नियम है कि पाद के आरम्भ में कोई क्रियापद और आमन्त्रित अनुदात्त नहीं होता है—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, आमन्त्रितस्य च, तिङ्ङतिङः (अष्टा० ८।१।१८,१९,२०)। शौनक और कात्यायन के अनुसार पादव्यवस्था मानने पर अनेक मन्त्रों में पाद के आरम्भ में अनुदात्त क्रियापद और आमन्त्रित पद आते हैं। अतः ऋक्प्रातिशाख्य और ऋक्सर्वानुक्रमणी के दूषित छन्दोलक्षणों के आधार पर शबर स्वामी का सूत्रकार जैमिनि के लक्षण में दोष दर्शाना सर्वथा चिन्त्य है। इस विषय की हमने वैदिक छन्दोमीमांसा के १८वें अध्याय में विस्तार से मीमांसा की है (द्र०—पृष्ठ २४३-२५४ प्र० सं०)।

यहां यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि यदि अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः इतने को ही एक पाद माने, और ईड्यो नूतनैरुत को दूसरा, तब भी अर्थवश पादव्यवस्था में कोई दोष नहीं होता है। जैसे तै० ब्रा० के पुरुषमेध में पठित ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते क्षत्राय राजन्यम् (३।४।१-१९) आदि में प्रथम वाक्य में पठित आलभते क्रिया का अनुषङ्ग होकर वाक्यार्थ उपपन्न होता है, उसी प्रकार माध्यन्दिन-संहिता अ० ३०।५-२२ तथा काण्व सं० ३३।५-२२ तक पठित वाक्यों के प्रथम वाक्य में आलभते का निर्देश न होकर २२वीं कण्डिका के अथैतानष्टौ विरूपानालभते वाक्य में पठित आलभते क्रिया का पूर्ववाक्यों के साथ सम्बन्ध होकर प्रतिवाक्य अर्थ पूर्ण होता है[1]। वैसे ही द्वितीय चरण में पठित ईड्यः पद का पूर्व चरण के साथ सम्बन्ध होकर भी पूर्वेभिर्ऋषिभिरग्निरीड्यः, उत नूतनैरपि ऋषिभिरीड्यः अर्थ यथावत् उपपन्न हो जाता है। इस प्रकार द्वितीयचरणस्थ ईड्यः पद का पूर्वचरण के साथ सम्बन्ध होने पर सूत्रकार का अर्थवशेन पादव्यवस्था कहना सर्वथा युक्त है। भाष्यकार शबर स्वामी का सूत्र में दोषप्रदर्शन किसी भी दृष्टि से उपपन्न नहीं होता। इत्यलमतिपल्लवितेन।

कुतुहल-वृत्तिकार द्वारा 'अर्थवशेन' पद की उपपत्ति—कुतुहलवृत्तिकार ने भाष्यकार द्वारा सूत्रपद 'अर्थवशेन' की अनुपयुक्तता को स्वीकार न करते हुए उसकी इस प्रकार सार्थकता दर्शाई है—'अग्निमीळे पुरोहितं, यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्, अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः' इतना अंश ४ अष्टाक्षरपादात्मक चतुष्पाद अनुष्टुप् क्यों न माना जाये? 'रत्नधातमम्' पर्यन्त त्रिपदा गायत्री ही क्यों माना जाये? इसकी व्यवस्था के लिये अर्थवशेन पादव्यवस्था=अर्थ के अनुरोध से पादव्यवस्था ३ पाद, ४ पाद वा ५ पाद (पञ्चपदा पङ्क्ति) की व्यवस्था होती है। अर्थात् जितने पादों में एक अर्थ पूर्ण हो जाता है, उतना अंश एक ऋक् माना जाता है। रत्नधातमम् पर अर्थ पूर्ण हो जाता है। अतः यहीं तक एक ऋक् है। अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः यह चरण पूर्व के साथ सम्बन्ध नहीं होता, अतः वृत्तिकार ने ऋक् का लक्षण किया है—विशिष्टैकार्थप्रतिपादकत्वे सति पादबद्धमन्त्रत्वमृचो लक्षणम्। अर्थात् एक विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादक होते हुए जो पादव्यवस्था युक्त मन्त्र है, वह ऋक् कहाता है।

---

१. द्र०—काण्व संहिता आनन्दबोध व्याख्या—ब्रह्मणे देवतायै ब्राह्मणं पशुमालभते, क्षत्राय देवतायै राजन्यं पशुमालभते……(३३।५)।

[सामलक्षणाऽधिकरणम् ॥११॥]

गीतिषु सामाख्या ॥३६॥ (उ०)

अथ साम्नः किं लक्षणम् ? विशिष्टा काचिद् गीतिः सामेत्युच्यते । प्रगीते हि मन्त्रवाक्ये सामशब्दमभियुक्ता उपदिशन्ति—'सामान्यधीमहि, सामान्यध्यापयामः, सामानि वर्त्तन्ते' इति । अभियुक्तोपदेशश्च नः प्रमाणम् । यथा—अम्लं दधि, मधुरो गुड इति । गीतिविशिष्टे तावन्मन्त्रे गीतिशब्दः । गीतिसम्बन्धान्मन्त्रे सम्प्रत्यय इत्यवगन्तव्यम् ॥३६॥

इति सामलक्षणाऽधिकरणम् ॥ ११ ॥

अनुवाद एष प्रदर्शनार्थः—इसका तात्पर्य यह है कि पादव्यवस्था को जानने के जो नियम हैं, उनमें से एक अर्थवश को अनुवादरूप से उपलक्षणार्थ प्रदर्शित किया है। **भिद्यते वाक्यम्**—शबरस्वामी का वाक्यभेद दोष दर्शाना भी चिन्त्य है। यदि **अर्थवशेन** पद को वृत्तादिवशेन न पादव्यवस्था (वृत्तादि के अनुरोध से पादव्यवस्था नहीं होती है) इस अर्थ को कहने के लिये प्रयुक्त करें, तो उक्त दोष होगा। सूत्रकार ने तो **अर्थवशेन** पद का प्रयोग विधिरूप से किया है, निषेधरूप से नहीं। अतः वाक्यभेद दोष उपपन्न ही नहीं होता है।

विशेष—ऋक् का भी यजुष्ट्व—तै० ब्रा० १।३।६(२९) का पाठ है—**वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वेत्याह……यजुषा युनक्ति व्यावृत्त्यै**। इसमें वायुर्वा त्वा ऋक्-मन्त्र को ही यजुः कहा है। इस पर भट्टभास्कर लिखता है—**'यजुर्वेदपठितत्वात् ऋगेव यजुरुच्यते ।'** अर्थात् वायुर्वा त्वा ऋक् का यजुर्वेद में पाठ होने से इसे यजुः कहा है। द्र०—भट्टभास्कर भाष्य, भाग १, पृष्ठ १५५ ॥३५॥

गीतिषु सामाख्या ॥३६॥

सूत्रार्थः—(गीतिषु) गीति=गान-सहचरित मन्त्रों में (सामाख्या) साम संज्ञा होती है।

व्याख्या—साम का क्या लक्षण है? कोई विशिष्ट गीति(=गान) साम कही जाती है। प्रगीत मन्त्रवाक्य में ही अभियुक्तजन सामशब्द का प्रयोग करते हैं—'सामों को पढ़ते हैं, सामों को पढ़ाते हैं, सामों का उच्चारण हो रहा है।' अभियुक्त पुरुषों का उपदेश हमारे लिये प्रमाण है। जैसे—अम्लं दधि (=दही खट्टा है), मधुरो गुडः (=गुड़ मधुर है) [वचन प्रमाण होते हैं]। [सूत्र में] गीतिविशिष्ट मन्त्र में गीतिशब्द का प्रयोग हुआ है। गीति के सम्बन्ध से मन्त्र के विषय में प्रतीति होती है, ऐसा जानना चाहिये ॥३६॥

विवरण—गान शब्दों के आश्रय पर होता है। अतः गान और गेय अक्षरों का परस्पर आश्रय-आश्रयीभाव होता है। इसी सम्बन्ध से सूत्रकार ने गीतिविशिष्ट मन्त्र के लिये गीतिशब्द का भाक्त प्रयोग किया है ॥३६॥

[यजुर्लक्षणाऽधिकरणम् ॥१२॥]

शेषे यजुःशब्दः ॥३७॥ (उ०)

अथ यजुषः किं लक्षणमिति ? यजुषो लक्षणं न वक्तव्यम् । ऋग्लक्षणसामलक्षणाभ्यामेव यजुर्विज्ञास्यते वैपरीत्येन । या न गीतिर्न च पादबद्धं, तत् प्रश्लिष्टपठितं यजुरिति ॥३७॥ इति यजुर्लक्षणाऽधिकरणम् ॥१२॥

[निगदानां यजुष्ट्वाऽधिकरणम् ॥१३॥]

अथ निगदो नाम किं यजूंषि, उत यजुषोऽन्य इति ?

निगदो वा चतुर्थः स्याद्धर्मविशेषात् ॥३८॥ (पू०)

निगदा न यजूंषि । कुतः ? धर्म्मविशेषात् । उच्चैर्ऋचा क्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांशु यजुषा, उच्चैर्निगदेन[1] । इत्येष धर्म्मविशेषः । उच्चैर्निगदेनेत्यनूद्यते, यदि यजुषो निगदत्वं

शेषे यजुःशब्दः ॥३७॥

सूत्रार्थः—(शेषे) ऋक् और सामसंज्ञक मन्त्रों से शेष मन्त्रों में (यजुःशब्दः) यजुः शब्द शब्द का व्यवहार होता है ।

व्याख्या—यजुः का लक्षण क्या है ? यजुः का लक्षण नहीं कहना चाहिये । ऋक् और साम के लक्षणों से ही विपरीतभाव से यजुः जान लिया जायेगा । जो न गानरूप है और न पादबद्ध, वह प्रश्लिष्ट (मिला हुआ) पठित मन्त्र यजुः है ॥३७॥

व्याख्या—निगद नामवाला मन्त्र क्या यजुः है, अथवा यजुः से भिन्न है ?

निगदो वा चतुर्थः स्याद् धर्मविशेषात् ॥३८॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द यजुःसंज्ञा की निवृत्ति के लिये है । (निगदः) निगद मन्त्र (चतुर्थः) चौथा [पूर्वोक्त तीनों से भिन्न] होवे, (धर्मविशेषात्) धर्म के विशेष होने से ।

व्याख्या—निगद यजुःसंज्ञक नहीं हैं । किस कारण से ? धर्मविशेष होने से । उच्चैर्ऋचा क्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांशु यजुषा, उच्चैर्निगदेन (=ऋचा से उच्चैः स्वर से प्रयोग होता है, साम से उच्चैः स्वर से, यजु से उपांशु (नीचैः)स्वर से, और निगद से उच्चैः स्वर से) । यह [निगद का उच्चैः] धर्मविशेष है । उच्चैर्निगदेन यह अनुवाद होवे, यदि यजुः का

---

१. 'उच्चैर्निगदेन' इत्यंशं परित्यज्यावशिष्टपाठः मै० सं० ३।६।५; ४।८।७ इत्यादिषु स्थलेषूपलभ्यते । 'उच्चैर्निगदेन' इत्यंशो न क्वचिदस्माभिरुपलब्धः ।

स्याद्, न च तस्योच्चैस्त्वं धर्मो दृश्येत । दृश्यते तु । तस्माच्चतुर्थं मन्त्रजातं निगदो नाम ॥३८॥

व्यपदेशाच्च ॥३९॥ (पू०)

व्यपदेशोऽपि भवति—यजूंषि वर्त्तन्ते न निगदाः; निगदा वर्त्तन्ते न यजूंषीति । तस्मादपि मन्त्रान्तरम् ॥३९॥

यजूंषि वा तद्रूपत्वात् ॥४०॥ (उ०)

यजूंष्येव वा निगदाः । कुतः? तद्रूपत्वात् । तदेवैषां रूपं, यद् यजुषां प्रश्लिष्टपाठः । ऋक्सामलक्षणविलक्षणता च ॥४०॥

निगदत्व होवे, और उस [निगद] का उच्चैस्त्व धर्म न देखा जाये । [यतः निगद का उच्चैस्त्व धर्म] देखा जाता है । इसलिये निगद चौथे प्रकार का मन्त्र है ॥३८॥

विवरण—भाष्य में उद्धृत वचन यथातथरूप में हमें कहीं उपलब्ध नहीं हुआ । उच्चैर्निगदेन अंश को छोड़कर शेष पाठ बहुत्र मिलता है । यथा—मै० सं० ३।६।५; ४।८।७॥ उपांशु यजुषा—उपांशु का अभिप्राय है—उतने प्रयत्न से बोलना, जिसे समीपस्थित व्यक्ति भी यथावत् न सुन सके । हरदत्त ने आप० श्रौत परिभाषा के उपांशु यजुषा (१।८) सूत्र की व्याख्या में लिखा है—अशब्दम् अमनः प्रयोग उपांशु—तात्वादिव्यापारे प्रत्यक्षेऽपि यत्र शब्दो न श्रूयते । न च मनोव्यापारमात्रं तदुपांशिवत्युच्यते । अर्थात् तालु जिह्वा आदि का प्रयोग होने पर भी शब्द का सुनाई न पड़ना, और मनोव्यापारमात्र=मानसिक उच्चारणमात्र न होना उपांशु कहाता है ॥३८॥

व्यपदेशाच्च ॥३९॥

सूत्रार्थः—(व्यपदेशात्) [यजुः और निगद शब्दों के पृथक्रूप से लोक में] व्यवहार होने से (च) भी निगद यजुओं से भिन्न हैं ।

व्याख्या—[लोक में] कथन (=व्यवहार) भी होता है—'यजुः पढ़े जा रहे हैं निगद नहीं'; 'निगद पढ़े जा रहे हैं यजुः नहीं ।' इस व्यवहार से भी निगद यजुओं से भिन्न मन्त्र हैं ॥३९॥

यजूंषि वा तद्रूपत्वात् ॥४०॥

सूत्रार्थः—(यजूंषि) यजुः (वा) ही निगद हैं, (तद्रूपत्वात्) यजुओं के समान प्रश्लिष्ट =गद्यरूप होने से ।

व्याख्या—निगद यजु ही हैं । किस हेतु से ? तद्रूप (=यजु रूप) होने से । इन निगदों का वही रूप है, जो यजुओं का प्रश्लिष्ट पाठ है । और ऋक् तथा साम के लक्षण से विलक्षण होना ॥४०॥

वचनाद्धर्मविशेषः ॥४१॥ (उ०)

वचनात् प्रत्यायनसामर्थ्यात्। अस्ति हि पुरुषान्तरप्रत्यायनसामर्थ्यं केषाञ्चिद् यजुषाम् ॥४१॥

अर्थाच्च ॥४२॥ (उ०)

अस्ति च तै पुरुषान्तरैः प्रत्यायितैः प्रयोजनम्। नोपांशूच्चार्य्यमाणाः पुरुषान्तरं प्रत्याययेयुः। तस्माद् धर्म्मविशेषोऽर्थवान्। यानि च यजूंषि उच्चैरुच्चार्य्यन्ते, ते निगदाः। कुतः ? निशब्दः प्रकर्षस्य वक्ता। यथा प्रकर्षेण रक्तं नितरां रक्तमित्युच्यते। गदतिर्गदनार्थः पाठवचनः। एष एव हि प्रकर्षः, यदुच्चैस्त्वावच्छिन्नत्वम्। ननु वाचनिको गुणो

वचनाद्धर्मविशेषः ॥४१॥

सूत्रार्थः – (वचनात्) उच्चैर्निगदेन वचन-सामर्थ्य से निगदों का (धर्मविशेषः) उच्चैस्त्व धर्मविशेष है।

व्याख्या—वचन से अर्थात् बोधन-सामर्थ्य से [निगदों का धर्मविशेष है]। किन्हीं यजुओं का पुरुषान्तर (=अन्य पुरुष) को [कार्य का] ज्ञान करना सामर्थ्य है। [अर्थात् जिन यजुओं का उच्चारण अन्य पुरुष को कार्य का ज्ञान कराने के लिये किया जाता है, उन्हें पुरुषान्तर-प्रत्यायन-सामर्थ्य से उच्चैः बोला जाता है] ॥४१॥

विवरण—पुरुषान्तरप्रत्यायनसामर्थ्यं केषाञ्चिद् यजुषाम्—इस नियम से जो-जो भी यजुसंज्ञक मन्त्र अन्य पुरुष को कार्य का बोध कराने के लिये बोले जाते हैं, उन्हें उच्चैः बोला जाता है। वे हैं—आश्रावण प्रत्याश्रावण प्रवरनिर्देश संवाद संप्रैष के मन्त्र। द्र०—आप० श्रौत परिभाषासूत्र—उपांशु यजुर्वेदेनान्यत्राऽऽश्रुतप्रत्याश्रुतप्रवरसंवादसंप्रैषेश्च (१।६०)। उच्चैः उच्चार्यमाण इन मन्त्रों को ही 'निगद' कहते हैं। द्र०—शाबरभाष्य २।१।४२॥४१॥

अर्थाच्च ॥४२॥

सूत्रार्थः—[निगद-मन्त्रों का पुरुषान्तरों को बोध कराना रूप] (अर्थात्) प्रयोजन होने से (च) भी [निगद-मन्त्रों का उच्चैस्त्व धर्मविशेष है]।

व्याख्या—उन [निगद-मन्त्रों से] बोध कराये गये पुरुषान्तरों से प्रयोजन भी है। उपांशु उच्चारण किये गये [निगद-मन्त्र] पुरुषान्तर को [कार्य का] बोध नहीं करायेंगे। इसलिये [निगदों का उच्चैस्त्व] धर्मविशेष सप्रयोजन है। जो यजुः उच्चैः बोले जाते हैं, वे निगद होते हैं। किस हेतु से ? निशब्द प्रकर्ष (=आधिक्य) का वाचक है। जैसे अधिक रंगावस्त्र 'नितरां रक्त' कहा जाता है। 'गद' धातु बोलने अर्थवाली पाठवचन है। [पाठ का] प्रकर्ष (=आधिक्य) यही है, जो उसका उच्चैस्त्व से युक्त होना है। (आक्षेप) यजुओं का उपांशुत्व वाचनिक (=वचन से कहा

यजुषामुपांशुत्वम् । नेति ब्रूमः । गुणो नाम स भवति, यः स्वकार्य्यं कुर्वतामुपकारे वर्त्तते । न च परसम्बोधनार्थानां यजुषामुपांशुत्वं साहाय्ये वर्त्तते । तद्धि स्वकर्म्मक्रियाविघातं करोति । तेन पुरुषान्तरसम्बोधनार्थमुच्चैस्त्वं गुणः । इतरार्थं तु वचनं भविष्यति । इतराणि यानि यजूंषि न परसम्बोधनार्थानि, तेषूपांशुत्वं निवेक्ष्यते ॥४२॥

गुणार्थो व्यपदेशः ॥४३॥ (उ०)

अथ यदुक्तम्—व्यपदेशः इति, स चैकत्वेऽपि गुणतो भवति । यथा—इतो ब्राह्मणा भोज्यन्ताम्, इतः परिव्राजका इति । एवमुच्चैस्त्वेन गुणेन तान्येव यजूंषि व्यपदिश्यन्ते—निगदा इति ॥४३॥

सर्वेषामिति चेत् ॥४४॥ (आ०)

यदि य उच्चैर्गद्यते स निगदः, ऋगपि निगदः प्राप्नोति ॥४४॥

गया) गुण है । (समाधान) नहीं । गुण वह होता है, जो स्वकार्य को करते हुओं के उपकार में वर्तमान होता है=उपकारक होता है । दूसरे को संबोधन(=बोधन) प्रयोजनवाले यजुओं का उपांशुत्व साहाय्य में वर्तमान नहीं होता है=सहायकारी नहीं होता है । वह [उपांशुत्व] तो अपने कार्य (=पर-संबोधनक्रिया) का विघात करता है=उपांशु उच्चारण से पर-संबोधन नहीं हो सकता । इसलिये [निगदों का] पुरुषान्तर-संबोधन प्रयोजन के लिये उच्चैस्त्व गुण है । इतर (=जो परपुरुष के सम्बोधन के लिये नहीं हैं, उन यजुओं) के लिये [उपांशु यजुषा] वचन हो जायेगा । अन्य जो यजुः परसम्बोधन के लिये नहीं हैं, उनमें उपांशु धर्म निविष्ट(=संबद्ध) होगा ॥४२॥

गुणार्थो व्यपदेशः ॥४३॥

सूत्रार्थः—[गुणार्थः] गुणबोधन के लिये [विशिष्ट यजुओं का निगद ऐसा] (व्यपदेशः) कथन होता है ।

व्याख्या—और जो कहा है—[निगद ऐसा विशिष्ट] कथन होता है, वह एक (=यजुष्ट्व सामान्य) होने पर भी [उच्चैस्त्व] गुण से होता है । जैसे—[एक ही स्थानविशेष में] इधर ब्राह्मणों को भोजन कराओ, इधर संन्यासियों को । इसी प्रकार उच्चैस्त्व गुण से वे ही यजु 'निगद' कहे जाते हैं ॥४३॥

सर्वेषामिति चेत् ॥४४॥

सूत्रार्थः—[उच्चैस्त्व गुण से] (सर्वेषाम् चेत्) सभी उच्चैस्वर से बोले जानेवाले मन्त्रों का निगद नाम यदि होवे तो ।

व्याख्या—यदि यह कहो कि जो उच्चैः बोला जाये वह निगद होता है, तब तो ऋक् भी निगद है, ऐसा प्राप्त होता है ॥४४॥

न ऋग्व्यपदेशात् ॥४५॥ (उ०)

न ऋचो निगदा व्यपदिश्यन्ते। अयाज्या वै निगदाः,[1] ऋचैव यजन्ति[2], इति पृथक्त्व-निमित्ता हि व्यपदेशा भवन्ति। उच्यते, व्यपदेशो लिङ्गम्, प्राप्तिरुच्यतामिति। अपादबद्धे गदतिर्वर्तते। अपादबद्धो हि गद्य इत्युच्यते ॥४५॥ इति निगदानां यजुष्ट्वाऽधिकरणम् ॥१३॥

[एकवाक्यत्वलक्षणाऽधिकरणम्, अर्थैकत्वाऽधिकरणं वा ॥१४॥]

अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात् ॥४६॥ (उ०)

न ऋग्व्यपदेशात् ॥४५॥

सूत्रार्थः—[ऋक् निगद] (न) नहीं हैं, (ऋग्व्यपदेशात्) 'ऋक्' ऐसा पृथक् कथन होने से। [अर्थात निगद से ऋक् का पृथक् कथन होने से]।

व्याख्या—ऋचाएं निगद नहीं कही जाती हैं। अयाज्या वै निगदाः (=निगद याज्या नहीं हैं), ऋचैव यजन्ति (=ऋचाओं से ही यजन करते हैं), इस पृथक् निमित्तवाले व्यपदेश होते हैं। (आक्षेप) व्यपदेश [ऋक् के निगद न होने में] लिङ्ग है, प्रसिद्धि कहो। (समाधान) गद धातु अपादबद्ध पाठ में प्रयुक्त होती है। अपादबद्ध पाठ ही गद्य कहाता है ॥४५॥

अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्यात् ॥४६॥

सूत्रार्थः—इस सूत्र का दो प्रकार से अर्थ किया जाता है—

१—(अर्थैकत्वात्) एक प्रयोजनवाला होने से [पदसमुदाय] (एकं वाक्यं स्यात्) एक वाक्य=एक वचन=एक यजुः होवे, (विभागे साकाङ्क्षं चेत्) यदि वह विभाग=किसी पद के पृथक् करने से साकाङ्क्ष हो जाता हो।

२—(अर्थैकत्वात्) एक प्रयोजनवाला होने से (एकं वाक्यम्) एक वाक्य=वचन होवे। (साकाङ्क्षं चेत्) यदि परस्पर साकाङ्क्ष होवे, तो (विभागे) विभाग करने पर (एक वाक्य=एक वचन होवे।

विशेष—यजुओं के प्रश्लिष्ट (=परस्पर संयुक्त) होने से कितने पदसमुदाय से एक कर्म किया जाये, अर्थात् एक यजुः माना जाये, इसके समाधान के लिये भगवान् जैमिनि ने यह सूत्र रचा है। इसमें वाक्यम् पद से यह वाक्य का लक्षण सूत्रकार ने दर्शाया है, ऐसी भूल नहीं करनी चाहिये।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. अनुपलब्धमूलम्।

अथ प्रश्लिष्टपठितेषु यजुःषु कथमवगम्येत—इयदेकं यजुरिति? यावता पदसमूहेनेज्यते, तावान् पदसमूह एकं यजुः। कियता चेज्यते? यावता क्रियाया उपकारः प्रकाश्यते। तावद् वक्तव्यत्वाद् वाक्यमित्युच्यते। तेनाभिधीयते—अर्थैकत्वादेकं वाक्यमिति। एतस्माच्चेत् कारणादेकवाक्यता भवति, तस्मादेकार्थः पदसमूहो वाक्यम्। यदि च विभज्य-

---

सूत्र में अर्थ शब्द प्रयोजन अर्थवाला है, और वाक्य शब्द वचन (=जो बोला जाये) अर्थवाला। यह सूत्र के दोनों अर्थों में समान है।

प्रथम सूत्रार्थ जहां सूत्रपद के निकट है, वहां वह कात्यायन श्रौत के तेषां वाक्यं निराकाङ्क्षम् (१।३।२) से भी अनुमोदित है (द्र०—सूत्र की व्याख्यायें)। शबरस्वामी ने भाष्य के आरम्भ में यही व्याख्या की है। प्रथम सूत्रार्थ को इस प्रकार समझना चाहिये—विभज्यमान-साकाङ्क्षत्वे सति अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्=विभज्यमान होते हुए साकाङ्क्ष होने पर एक अर्थ होने से एक वाक्य होता है।

द्वितीय सूत्रार्थ का स्पष्टीकरण इस प्रकार जानना चाहिये—एक प्रयोजनवाला (=जितने से एक कर्म किया जाये वह) पदसमूह एक वाक्य=एक वचन=एक यजुः है। और यदि कहीं पर साकाङ्क्षता होवे—यथा—स्योनं ते सदनं करोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि। तस्मिन् सीदाऽमृते प्रतिष्ठ व्रीहीणां मेधः सुमनस्यमानः (तै० ब्रा० ३।७।५)। यहां पूर्वार्ध उत्तरार्ध परस्पर साकाङ्क्ष हैं, यह तस्मिन् पद से जाना जाता है। ऐसे स्थानों में क्या दोनों भागों को एक वाक्य-एक यजुः मानें, अथवा भिन्न-भिन्न प्रयोजन होने से दो वाक्य=दो यजुः स्वीकार करें। अतः सूत्रकार ने कहा है—साकाङ्क्ष होने पर विभाग करने पर एकं वाक्यं स्यात् एकवाक्य एक यजुः होवे। अर्थात् साकांक्ष होने पर विभाग करके उन्हें पृथक्-पृथक् प्रयोजन के लिये पृथक्-पृथक् वाक्य=यजुः स्वीकार करना चाहिये।

यह सूत्रार्थ आपस्तम्ब (प्रश्न २, खं० १०, सूत्र ६; तथा खं० ११, सू० २) तथा मानव श्रौत (१।१६, २२) के अनुसार है। भाष्यकार ने भी इस सूत्र के भाष्य के उत्तरार्ध में लगभग ऐसी ही व्याख्या की है। जैमिनीय सूत्र की अपेक्षा श्रौतसूत्रों में एक यजुः के परिमाण का ज्ञान कराने के लिये सीधासा उपाय बताया है। उनका कहना है कि प्रतीक-निर्देश से यजुः मन्त्र का आदि जानना चाहिये, और उत्तर प्रतीक-निर्देश से पूर्व यजु का अन्त जानना चाहिये—आदिप्रदिष्टा मन्त्राः, उत्तरस्यादिना पूर्वस्यावसानं विद्यात् (आप० श्रौत परिभाषा २।३,४)।

व्याख्या—अच्छा तो प्रश्लिष्ट (=मिले हुए) पठित यजुओं में यह कैसे जाना जाये कि यह एक यजुः है, अर्थात इतना पदसमूह एक यजुः है? जितने पदसमूह से यजन (=यज्ञीय कर्म) किया जाता है, उतना पदसमूह एक यजुः है। कितने [पदसमूह] से यजन किया जाता है? जितने [पदसमूह] से क्रिया का उपकार (=क्रियमाण कर्म का कथन वा स्मरण) प्रकाशित होता है। उतना [पदसमूह] कहने योग्य होने से वाक्य कहा जाता है। इस लिये कहते हैं—अर्थ (=प्रयोजन) के एकत्व से एक वाक्य होता है। इस कारण से यदि एकवाक्यता होती है, अतः एकार्थ (=एक प्रयोजनवाला) पदसमूह वाक्य होता है। और यदि वह विभज्यमान (=टुकड़े

मानं साकाङ्क्षं पदं भवति । किमुदाहरणम् ? देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे[1] इति । ननु पदं पदमत्रैकार्थम् । सत्यम्, न तु तद्विभागे साकाङ्क्षम् । न तर्ह्यर्थैकत्वमुपपद्यते, बहुत्वात् पदार्थानाम् । पदसमुदायस्य च पृथगर्थो नास्ति,इत्युक्तम्[2] । भेदः संसर्गो वा वाक्यार्थः, इति यद्युच्यते, तथाप्येकार्थता न स्यात् । बहुपदे भेदानां संसर्गाणां च बहुत्वात् । एकप्रयोजनत्वादुपपन्नम् । यथा तावद्—देवस्य त्वा[3] इति निर्वापप्रकाशनम् । तस्य विशिष्टस्य वाचक एतावान् पदसमूहः, तद् वाक्यम् ।

किया हुआ) पद साकाङ्क्ष होता है । क्या उदाहरण है ? देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे[ऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि] । (आक्षेप) यहां (=प्रकृत मन्त्र में) एक-एक पद एक प्रयोजनवाला है । (समाधान) यह सत्य है, परन्तु प्रत्येक अलग-अलग पद उस-उस पद के विभाग करने पर साकाङ्क्ष नहीं है । ऐसा मानने पर एकार्थत्व उपपन्न नहीं होता है, पदार्थों के बहुत होने से । और पदसमुदाय का [पदों से] पृथक् अर्थ नहीं है यह हम कह चुके हैं (द्र०—१।१।२५ सूत्रभाष्य) । यदि भेद वा संसर्ग वाक्यार्थ है, ऐसा कहते हो, तो भी एकार्थता नहीं होगी । बहुत पदों में भेदों वा संसर्गों के बहुत होने से । [एकार्थता] एक प्रयोजन से उपपन्न होती है । जैसे कि—देवस्य त्वा मन्त्र में [हवि के] निर्वाप का प्रकाशन करना । उस विशिष्ट अर्थ का वाचक जो इतना पदसमूह है, वह वाक्य है ।

विवरण—अर्थैकत्वात्—'अर्थ' शब्द प्रयोजनवाची है । द्र०—मीमांसा भाष्य २।२।२७—"अर्थ इति प्रयोजनमभिधीयते । यावन्ति पदान्येकप्रयोजनमभिनिर्वर्तयन्ति तावन्त्येकं वाक्यम् ।" यदि च विभज्यमानं साकाङ्क्षं पदं भवति—तुलना करो—तेषां वाक्यं निराकाङ्क्षम् (कात्या० श्रौत १।३।२) । पृथगर्थो नास्तीत्युक्तम्—द्र०—मीमांसा भाष्य १।१।२५—न अनपेक्ष्य पदार्थान् पार्थगर्थ्येन वाक्यमर्थान्तरप्रसिद्धम् । कुतः ? प्रमाणाभावात् (भाग १, पृष्ठ ८२) । देवस्य त्वेति—यहां पूर्व व्याख्या में उद्धृत पूरा मन्त्र देखना चाहिये । उससे स्पष्ट हो जायेगा कि सम्पूर्ण पदों का हविनिर्वाप के प्रकाशन में तात्पर्य है । निर्वापप्रकाशनम्—प्रत्येक याग की पुरोडाश चरु आदि हवियों की सिद्धि के लिये हविर्धान शकट (जिसमें हवि भरी हुई है) के बायें पहिये पर दाहिने पैर से चढ़कर, अथवा अग्निहोत्रहवणी में रखे धान से प्रत्येक आहुति के लिये चार-चार मुट्ठी व्रीहि वा यव को क्रमशः पवित्रसंज्ञक दो कुशा रखी अग्निहोत्रहवणी वा शूर्प में ग्रहण करना हविनिर्वाप कहाता है । इस निर्वाप में प्रथम तीन मुट्ठी हवि देवस्य त्वा सवितुः मन्त्र से ग्रहण किया जाता है । प्रत्येक मुट्ठी के ग्रहण के समय देवस्य त्वा मन्त्र बोला जाता है, परन्तु चौथी मुट्ठी विना मन्त्र के ग्रहण की जाती है, (द्र०—आप० श्रौत १।१०।४-११) ।

---

१. तै० सं० १।१।४॥ तथा चास्य समग्रः पाठः—देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि ।

२. द्र०—मीमांसा भाष्य १।१।२५। ३. तै० सं० १।१।४।

नन्वत्र देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे निर्वपामि इत्येकं वाक्यम्, अश्विनोर्बाहुभ्यां निर्वपामि इत्यपरम् । एवं बहूनि वाक्यानि । यदि निर्वपामीत्यनुषङ्गस्ततो बहूनि वाक्यानि । न त्वेवमनुषङ्गो भवति । यदि गुणभूतो निर्वपामीति, तदा प्रतिप्रधानं भिद्येत । न च निर्वापो देवस्य त्वेत्येवमादीनामर्थेनोच्यते । साधनप्राधान्ये हि अदृष्टार्थता वचनस्य स्यात् । निर्वापे पुनः प्रधाने दृष्टं कार्यं निर्वापप्रकाशनम् । तत् सर्वैर्विशेषणैर्विशिष्टमुच्यते । तस्मादविरोधः । यथा च पदं पदेन विशेष्यते, तथोक्तम्—तद्भूतानाम्[1] इति । तस्मादेकं वाक्यम् ।

व्याख्या—(आक्षेप) यहां देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे निर्वपामि यह एक वाक्य है, अश्विनोर्बाहुभ्यां निर्वपामि यह दूसरा है । इस प्रकार बहुत वाक्य हैं । (समाधान) यदि निर्वपामि का सब के साथ अनुषङ्ग (=अनु=पश्चात् सङ्ग=सम्बन्ध) होवे, तो बहुत वाक्य होवें । इस प्रकार अनुषङ्ग नहीं होता है । यदि निर्वपामि यह पद गुणभूत होवे, तब प्रतिप्रधान उसका भेद होवे (=प्रतिप्रधान सम्बन्ध होवे) । और देवस्य त्वा इत्यादि के अर्थ (=प्रयोजन) से निर्वपामि नहीं कहा जाता है । साधन (=कारक) की प्रधानता होने पर वचन की अदृष्टार्थता होवे । निर्वाप के प्रधान होने पर [देवस्य त्वा आदि के] निर्वाप का प्रकाशन दृष्ट कार्य होता है । वह [निर्वाप] सब विशेषणों से विशिष्ट कहा जाता है । इसलिये विरोध नहीं है । और जैसे पद से पद विशेषित होता है, यह तद्भूतानाम्० (१।१।२५) में कह चुके हैं । इससे [देवस्य त्वा से लेकर निर्वपामि पर्यन्त] एक वाक्य है ।

विवरण—बहूनि वाक्यानि—देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि इस मन्त्र में अन्त में पढ़े हुए निर्वपामि पद का प्रत्येक अवान्तर वाक्य के साथ सम्बन्ध करने पर देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे निर्वपामि, अश्विनोर्बाहुभ्यां निर्वपामि, पूष्णो हस्ताभ्यां निर्वपामि, अग्नये जुष्टं निर्वपामि इस प्रकार चार वाक्य बनते हैं । अनुषङ्गः—किसी पदसमूह के साथ वाक्यार्थ की पूर्ति के लिये प्रकरण-पठित पद अन्त में जोड़ा जाता है, उसे 'अनुषङ्ग' कहते हैं । (द्र०—आगे सूत्र २।१।४८) । जो-जो पद वाक्यार्थ की पूर्ति के लिये बाहर से जोड़ा जाता हैं, उसे 'अध्याहार' कहते हैं । यदि गुणभूतो निर्वपामि—जो पद गुणभूत होता है, उसका प्रतिप्रधान आवर्तन होता है; गुण के प्रधान के लिये होने से । देवस्य त्वेत्येवमादीनामर्थेनोच्यते—इसका तात्पर्य यह है कि देवस्य त्वा आदि से गुणभूत निर्वाप नहीं कहा जाता है । निर्वाप के गुणभूत होने पर देवस्य त्वा आदि कारक पदों की प्रधानता होगी । साधनप्राधान्ये—कारक पदों की प्रधानता होने इन पर पदों का उच्चारण केवल अदृष्ट के लिये होगा । निर्वापे पुनः प्रधाने—निर्वाप को प्रधान मानने पर देवस्य त्वा आदि पदों का प्रयोजन निर्वाप का प्रकाशन होगा । सर्वैर्विशेषणैः—देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे, अश्विनोर्बाहुभ्याम्, पूष्णो हस्ताभ्याम्, अग्नये जुष्टं रूप विशेषणों से विशिष्ट निर्वाप कहा जाता है । अर्थात् मन्त्र का अर्थ होगा—'सविता देव की अनुज्ञा में अश्वियों के बाहुओं और पूषा के हाथों से अग्नि के लिये तुझ प्रिय हवि का निर्वाप करता हूं ।' तथोक्तं

---

१. मी० १।१।२५॥

अथ किमर्थमुभयं सूत्रितम्—अर्थैकत्वादिति च, विभागे साकाङ्क्षत्वादिति च ? उच्यते, भवति किञ्चिदेकार्थम्, न तु विभागे साकाङ्क्षम। यथा—भगो वां विभजतु, अर्यमा वां विभजतु[1], [पूषा वां विभजतु][2] इति। एकार्थाः सर्वे[3] विभागमभिदधति। ननु भगविशिष्टाद् विभागादर्य्यमविशिष्टोऽन्यो विभागः। नेत्युच्यते। विभागसामान्येनास्य प्रयोजनम्, न विशेषेण। सामान्ये हि दृष्टोऽर्थो भवति, न विशेषे। विभागे तु न साकाङ्क्षम्। तस्माद्भिन्नमिदं वाक्यं विभागे विकल्प्यते। तथा—स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि। तस्मिन् सीदाऽमृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेधः सुमनस्यमानः[4] इति विभागे साकाङ्क्षम्। द्वे तु प्रयोजने क्रियेते—सदनकरणं पुरोडाशप्रतिष्ठापनञ्च। तस्माद भिन्ने वाक्ये। पूर्वं सदनकरणे विनियुज्यते,[5] उत्तरं पुरोडाशप्रतिष्ठापने[6]। तस्मात् सम्यक्

तद्भूतानाम्०—द्र०—मी० १।१।२५—पदानि हि स्वं स्वं से लेकर विशिष्टार्थसम्प्रत्ययश्च वाक्यार्थः पर्यन्त भाष्य, भाग १, पृष्ठ ८३।

व्याख्या—(आक्षेप) किस लिये दोनों पढ़े हैं—अर्थैकत्वाद् और विभागे साकाङ्क्षत्वात् ? (समाधान) कुछ [पदसमुदाय] एकार्थ होते हैं, विभाग करने पर साकाङ्क्ष नहीं होते। जैसे—भगो वां विभजतु, अर्यमा वां विभजतु.[पूषा वां विभजतु]इति। ये सब पदसमूह एकार्थक होते हुए विभाग का कथन करते हैं। (आक्षेप) भगविशिष्ट विभाग से अर्यमाविशिष्ट विभाग अन्य है। (समाधान) नहीं। विभागसामान्य से इस पदसमुदाय का प्रयोजन है, विशेष में नहीं। सामान्य प्रयोजन मानने पर ही अर्थ दृष्ट होता है, विशेष में नहीं। विभाग में ये पदसमुदाय साकाङ्क्ष नहीं होते हैं। इसलिये ये भिन्न-भिन्न वाक्य-विभाग कर्म में विकल्प को प्राप्त होते हैं। तथा—स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि। तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेधः सुमनस्यमानः(=हे पुरोडाश ! तेरा सुखकारी स्थान बनाता हूं, घृत की धारा से उसे सुखपूर्वक शयनाधार बनाता हूं। उस अमृत स्थान में तू स्थित हो, हे व्रीहियों के सारभूत! प्रसन्नतापूर्वक स्थिर हो]। यह विभाग होने पर साकाङ्क्ष है [क्योंकि उत्तरार्ध के आदि में प्रयुक्त तस्मिन् पद दोनों भागों को जोड़े हुए है]। इस पदसमुदाय [के पूर्व और उत्तर भाग] से दो प्रयोजन सिद्ध किये जाते हैं—[पूर्वार्ध से पुरोडाशपात्री में घृत के अभिघारण वा उपस्तरण से पुरोडाश के लिये] स्थान बनाया जाता है, और [उत्तरार्ध से] पुरोडाश को स्थापित किया जाता है। इसलिये ये भिन्न वाक्य हैं। पूर्ववाक्य सदनकरण में विनियुक्त होता

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. कुतुहलवृत्त्याद्यनुरोधेन वर्धितोऽयं मन्त्रपाठः।

३. उभयोः पुरोडाशयोः सह पिष्टानां व्रीहीणां पुरोडाशनिर्माणकाले उभाभ्यां पुरोडाशाभ्यां पिष्टस्य (चूर्णस्य) यो विभागः क्रियते, स इहाभिप्रेतः।

४. मानव श्रौत १।२।६।१९,२२॥ तै० ब्राह्मणे (३।७।५) तु कृणोमि स्थाने करोमि इति श्रूयते। ५. स्योनं ते······कल्पयामीति पात्र्यामुपस्तृणाति। मानव श्रौत १।२।६।१९॥ द्र०—आप० श्रौत २।१०।६॥ ६. तस्मिन्त्सीद······सुमनस्यमान इत्युपस्तीर्णे सादयति। मानव श्रौत २।१०।२२॥ द्र०—आप० श्रौत २।११।१॥ †साकाङ्क्षमिति पूनापाठः।

सूत्रितं, न सूत्रोपालम्भो भवति ॥४६॥ इत्येकवाक्यत्वलक्षणाऽधिकरणम्, अर्थैकत्वाऽधिकरणं वा ॥१४॥

है, और उत्तरवाक्य पुरोडाश के स्थापन में। इसलिये सूत्रकार ने सम्यक् सूत्र बनाया है। सूत्र पर उपालम्भ उपपन्न नहीं होता है ॥४६॥

विवरण—**विभागे साकाङ्क्षत्वात्**—यह सूत्रगत पद साकाङ्क्षं चेत् विभागे स्यात् का अर्थतः अनुवाद है। **पूषा वां विभजतु**—यह अंश हमने कुतुहलवृत्ति आदि के आधार पर बढ़ाया है। **विभागमभिदधति**—पौर्णमास में आग्नेय पुरोडाश और अग्नीषोमीय पुरोडाश के लिये व्रीहि वा यव का पृथक् पृथक् निर्वाप किया जाता है। तत्पश्चात् तुष हटाने के लिये कूटने के समय दोनों पुरोडाशों के भागों को मिलाकर कूटा जाता है, तत्पश्चात् शिला पर पीसा जाता है। तदनन्तर पुरोडाश बनाते समय उस के दो भाग किये जाते हैं। इस विभागकरण में भगो वां विभजतु मन्त्र विनियुक्त है। **सामान्ये हि दृष्टोऽर्थः**—दोनों पुरोडाशों के हवि द्रव्य के सामान्य भाग में विभाग करना रूप दृष्ट प्रयोजन है। **न विशेषे**—यदि भगविशिष्ट विभाग अर्यम विशिष्ट विभाग और पूषा विशिष्ट विभाग करना प्रयोजन होवे, तो मन्त्रपाठ अदृष्टार्थ होवे। क्योंकि हवि द्रव्य भग अर्यमा और पूषा देवता सम्बन्धी तो हैं नहीं। अतः विशिष्ट विभाग में इन मन्त्रों का पाठ अदृष्टार्थ के लिये ही मानना पड़ेगा। **विभागे विकल्प्यते**—यतः उक्त वाक्यों का विभाग करना मात्र सामान्य प्रयोजन है, इसलिये ये विभाग कर्म में विकल्प से विनियुक्त होते हैं। किन्हीं के मत में तीनों समुदायों से पिष्ट का यथादैवत विभाग किया जाता है।

सदनं कृणोमि—तै० ब्रा० ३।७।५ में कृणोमि के स्थान में करोमि पाठ है। मानव श्रौत १।२।६।१९ में कृणोमि पाठ मिलता है। **व्रीहीणां मेधः**—पुरोडाश के लिये व्रीहि और यव द्रव्य का विकल्प है। मन्त्र में व्रीहीणां मेधः पाठ होने से इससे व्रीहिनिष्पन्न पुरोडाश को ही पुरोडाशपात्री में रखते हैं। यवनिर्मित पुरोडाश का पुरोडाशपात्री में बिना मन्त्रोच्चारण के स्थापन होता है। द्र०—आप० श्रौत २।११।२—**तूष्णीं यवमयम्**। इस की टीका में रुद्रदत्त ने लिखा है—**यदा यवान् निर्वपति तदा तूष्णीं प्रतिष्ठापयति व्रीहीणामिति लिङ्गविरोधात्**। मन्त्र में व्रीहीणाम् का निर्देश होने से। प्रकृति में ऊह नहीं होता, यह सामान्य नियम है। अतः **यवानां मेधः** ऐसा ऊह करके समन्त्रक यवमय पुरोडाश को प्रतिष्ठित नहीं किया जाता है। मानव श्रौत १।२।२२ में **यवानां मेध इति यवानाम्** सूत्र से मन्त्र में **यवानां मेधः** ऐसा ऊह करके समन्त्रक यवमय पुरोडाश का प्रतिष्ठापन कहा है। इस से विदित होता है कि मानव श्रौतकार प्रकृति में भी ऊह मानते हैं। यह भेद महत्त्वपूर्ण है। **सदनकरणे विनियुज्यते**—दोनों भागों का सदनकरण और पुरोडाश-स्थापन में विनियोग आपस्तम्ब श्रौत २।१०।६ तथा २।११।१ में; और मानव श्रौत १।२.६।१६,२२ में मिलता है। यहां यह भी ध्यान रखने योग्य है कि भाष्यकार ने यजुःपाठ के एकमन्त्रत्व के प्रसङ्ग में **स्योनं ते सदनं** मन्त्र उपस्थित किया है। तदनुसार यह यजुः है। भट्ट भास्कर ने तै० ब्रा० ३।७।५ के भाष्य में इसे त्रिष्टुप्छन्दस्क ऋक् माना है। विशेष विचार प्रकृत सूत्र की कुतुहलवृत्ति में देखें ॥४६॥

[वाक्यभेदाऽधिकरणम् ॥१५॥]

इषे त्वा, ऊर्जे त्वा[1] इति ; तथा आयुर्यज्ञेन कल्पतां, प्राणो यज्ञेन कल्पताम्[2] इति । अत्र सन्देहः—किमेवमादिषु भिन्नं वाक्यमुतैकमिति ? एकमिति ब्रूमः । इषे त्वा इत्येवमुक्ते न किञ्चिद् दृष्टं प्रयोजनम्, तथा ऊर्जे त्वा इत्यपि च । वचनसामर्थ्याददृष्टम् । तदुभाभ्यामेकं कल्पयितुं न्याय्यम् । एवमल्पीयसी अदृष्टानुमानकल्पना भविष्यति । तस्मादेकं वाक्यम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

समेषु वाक्यभेदः स्यात् ॥४७॥ (उ०)

समेषु परस्परानाकाङ्क्षेषु वाक्यं भिद्यते । इषे त्वा इत्यनेन एकोऽर्थः क्रियते, ऊर्जे त्वा इत्यनेनापरः । नन्विदानीमेवोक्तम्—नात्र दृष्टोऽर्थ इति । यद्यपि प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन नोपलभ्यते,[3] श्रुत्या तु गम्यते—इषे त्वेति छिनत्ति, ऊर्जे त्वेत्यनुमार्ष्टि इति । तथा आयुर्यज्ञेन कल्पतां, प्राणो यज्ञेन कल्पताम्[2] इत्यायुःक्लृप्तेरन्या प्राणक्लृप्तिः ।

व्याख्या— इषे त्वा, ऊर्जे त्वा; तथा आयुर्यज्ञेन कल्पताम्, प्राणो यज्ञेन कल्पताम् । इत्यादि में सन्देह होता है— क्या इस प्रकार के मन्त्रों में भिन्न वाक्य है अथवा एक वाक्य ? एक वाक्य है ऐसा कहते हैं । इषे त्वा ऐसा कहने पर कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं है, तथा ऊर्जे त्वा इस में भी । वचनसामर्थ्य से अदृष्ट [प्रयोजन स्वीकार करना पड़ता है] । इसलिये (=अदृष्टार्थ मानने पर) दोनों से एक अदृष्ट की कल्पना करना न्याय्य है । इस प्रकार थोड़ी अदृष्ट अनुमान कल्पना होगी । इसलिये एक वाक्य है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

समेषु वाक्यभेदः स्यात् ॥४७॥

सूत्रार्थः—(समेषु) [परस्पर आकाङ्क्षारहित] समान वचनों में (वाक्यभेदः) वाक्य का भेद (स्यात्) होवे, अर्थात् अनेक वाक्य माने जायें ।

व्याख्या—परस्पर आकाङ्क्षारहित समान वाक्यों में वाक्यभेद होता है । इषे त्वा इससे एक प्रयोजन [सिद्ध] किया जाता है, और ऊर्जे त्वा से दूसरा । (आक्षेप) अभी तो कहा है कि—यहां कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं है । (समाधान) यद्यपि प्रत्यक्षादि प्रमाण से [दृष्ट प्रयोजन] उपलब्ध नहीं होता है, तथापि श्रुति से तो जाना जाता है—इषे त्वेति छिनत्ति (=इषे त्वा से पलाश वृक्ष की शाखा को काटता है), तथा ऊर्जे त्वेत्यनुमार्ष्टि (=ऊर्जे त्वा से अनुमार्जन=मूल की ओर से अग्रभागपर्यन्त स्पर्श वा शुद्धीकरण करता है) । तथा आयुर्यज्ञेन कल्पताम्, प्राणो यज्ञेन कल्पताम् में आयु की क्लृप्ति (=प्राप्ति) से अन्य प्राण की क्लृप्ति ।

---

१. यजुः १।१॥ २. यजुः ९।२०॥

३. यथाश्रुतं नोपलभ्यते । द्र०—'अपि वा इषे त्वेत्याछिनत्ति, ऊर्जे त्वेति संनमयत्यनुमार्ष्टि वा' । आप० श्रौत १।१।११॥

ननु सामान्यमात्रमिष्टम्, तद् न विशेषणभेदाद् भेदमर्हतीति । यथा—**अग्नये जुष्टं निर्वपामि**[1] इति निर्वाप एकः । तस्य विशेषाः **सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्**[2] इति । न तेषां भेदान्निर्वापस्य भेद इष्यते । एवमिहापि क्लृप्तिर्नामैकोऽर्थः । नासावायुरादिभिर्विशेषैर्भिन्नो भविष्यतीति । उच्यते, इह **क्लृप्तीर्वाचयति**[3] इति बह्वचः क्लप्तयः श्रूयन्ते । ताश्च वक्तव्याः । तत्रैकामायुःक्लृप्तिम् **आयुर्यज्ञेन कल्पताम्** इत्येष मन्त्रः शक्नोति वदितुम्; **प्राणो यज्ञेन कल्पताम्** इत्ययमपि प्राणक्लृप्तिमपराम् । एवन्तु सर्वे क्लृप्तिविशेष-

---

विवरण— **श्रुत्या तु गम्यते**—ऐसा लिखकर भाष्यकार ने जो **इषे त्वेति छिनत्ति, ऊर्जे त्वेत्यनुमार्ष्टि** श्रुति पढ़ी है, वह हमें उपलब्ध नहीं हुई । भट्ट कुमारिल ने इसे ब्राह्मणपाठ कहा है—**ब्राह्मणोपदिष्टदृष्टार्थसाधनत्वात्** । इस विषय में ब्राह्मण और श्रौतसूत्रों के प्रवक्ताओं तथा मन्त्र-व्याख्याताओं में मतभेद है । शतपथ ब्रा० १।७।१।२ में **तामाच्छिनत्ति इषे त्वोर्जेत्वेति** से दोनों वाक्यों का शाखाछेदन में विनियोग दर्शाया है । कात्यायन श्रौत ४।२।१ में **इषे त्वा, ऊर्जे त्वा** दोनों अंशों को स्वतन्त्र वाक्य मानकर विकल्प से छेदन में विनियोग कहा है । इसकी टीका में कर्काचार्य ने कहा है कि—इन मन्त्रों के करण होने से दोनों का समुच्चय नहीं होता है । शतपथ १।७।१।२ के भाष्य में सायणाचार्य ने ब्राह्मणकार के पक्ष में दोनों वाक्यों का छेदन में समुच्चय मानकर सूत्रकार कात्यायन के मत में दोनों वाक्यों का छेदन में विकल्प माना है । कात्यायन ने पक्षान्तर में **इषे त्वा** का छेदन में, और **ऊर्जे त्वा** का सनमन (=यदि शाखा टेढ़ी हो तो उसे सीधा करने) में विनियोग दर्शाया है । बौधायन श्रौत १।१ में दोनों वाक्यों का छेदन में ही विनियोग मिलता है—**तामाच्छिनत्ति—इषे त्वोर्जे त्वेति** । आपस्तम्ब श्रौत में छेदन में समुच्चय दर्शाकर **इषे त्वा** से छेदन, और **ऊर्जे त्वा** से सन्नमन अथवा अनुमार्जन कहा है (द्र०—१।१।१०-११) । सायणाचार्य ने तै० सं० १।१।१ के भाष्य में अनुमार्जन का अर्थ संलग्न धूल आदि का अपनयन अर्थ किया है ।

व्याख्या—(आक्षेप) यहां सामान्य [क्लृप्ति]मात्र इष्ट है, वह सामान्य [क्लृप्ति आयु प्राण आदि] विशेषण के भेद से भेद के योग्य नहीं है । जैसे—अग्नये जुष्टं निर्वपामि से क्रियमाण निर्वाप एक है । उसी [निर्वाप]के विशेष सवितुः प्रसवे, अश्विनोर्बाहुभ्याम्, पूष्णो हस्ताभ्याम् हैं । इनके भेद से निर्वाप का भेद इष्ट नहीं है, (द्र०—पूर्वसूत्र, पृष्ठ ४३०) । इसी प्रकार यहां भी क्लृप्ति नाम एक अर्थ है । वह आयु आदि के विशेषों से भिन्न नहीं होगा । (समाधान) यहां क्लृप्तीर्वाचयति (=क्लृप्तियों का वाचन करता है), से बहुत सी क्लृप्तियां सुनी जाती हैं । उन सभी को कहना चाहिये । उनमें एक आयुक्लृप्ति को आयुर्यज्ञेन कल्पताम् यह मन्त्र कह सकता है; प्राणो यज्ञेन कल्पताम् यह भी दूसरी प्राणक्लृप्ति को । इस प्रकार सब क्लृप्ति

---

१. तै० सं० १।१।४।। २. तै० सं० १।१।४।।

३. यथाश्रुतमनुपलब्धमूलम् । द्र०—'अथ षट् क्लृप्तीर्जुहोति वा वाचयति वा ······· । स वा वाचयति' । शत० ५।२।१।३-४।। कात्या० श्रौत० १४।५।१ अपि द्रष्टव्यम् ।

वचनाः । तच्च दृष्टं प्रयोजनम् । तस्मादनेकार्थत्वात् तत्रापि वाक्यभेद इति । ननु सामान्यवचनादेकत्वम्, यथा विभागे । नैतदेवम् । विभागे दृष्टार्थं सामान्यम् इह न । अपिच, क्लृप्तीर्वाचयति इति विहितम् । आयुर्यज्ञेन कल्पताम् इति चायुःक्लृप्त्यभिधानम् अभिनिवर्त्यते प्रत्यक्षम् । प्राणो यज्ञेन कल्पताम् इति च प्राणक्लृप्तेः । तस्माद्वाक्यभेदः ॥४७॥

इति वाक्यभेदाऽधिकरणम् ॥१५॥

[अनुषङ्गाऽधिकरणम् ॥१६॥]

या ते अग्नेऽयाशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा, उग्रं वचो अपावधीत् त्वेषं वचो अपावधीत् स्वाहा । या ते अग्ने रजाशया, या ते अग्ने हराशया[1] इति । अत्र सन्देहः—तनूर्वर्षिष्ठा इति किं सर्वेष्वनु-

---

विशेष के कहनेवाले मन्त्र हैं। यह दृष्ट प्रयोजन है। इस कारण अनेकार्थक होने से वहां (आयुर्यज्ञेन आदि में) भी वाक्यभेद है। (आक्षेप) [क्लृप्ति] सामान्यवचन होने से एकत्व होवे, जैसे विभाग (=पूषा वां विभजतु आदि) में है। (समाधान) इस प्रकार यह नहीं है। विभाग में दृष्ट प्रयोजन के लिये सामान्य यहां नहीं है। और भी, क्लृप्तीर्वाचयति ऐसा [क्रिया-बहुत्व] कहा है। आयुर्यज्ञेन कल्पताम् इस से आयुःक्लृप्ति का कथन प्रत्यक्ष उपपन्न होता है। और प्राणो यज्ञेन कल्पताम् इससे प्राणक्लृप्ति का। इसलिये वाक्यभेद है ॥४७॥

विवरण—यथा विभागे—द्र०—पूर्वसूत्र भाष्य (पृष्ठ ४३१)—"विभागसामान्येनास्य प्रयोजनम् ।" विभागे दृष्टार्थं सामान्यम्—द्र०—पूर्वसूत्र भाष्य (पृष्ठ ४३१)—"सामान्ये हि दृष्टोऽर्थो भवति ।" इह न – पूषा वां विभजतु आदि में विभागसामान्य जैसे दृष्टार्थ है, वैसे आयुर्यज्ञेन कल्पताम् इत्यादि में क्लृप्तिसामान्य की विवक्षा नहीं है, जिससे विभाग के समान ऐकार्थ्य होवे। क्लृप्तीर्वाचयति—यहां बहुत्व संख्या से कर्म का भेद होने से आयु आदि विशेषणकृत भेद के आश्रयण से मन्त्रभेद है ॥४७॥

व्याख्या—या ते अग्नेऽयाशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा, उग्रं वचो अपावधीत् त्वेषं वचो अपावधीत् स्वाहा । या ते अग्ने रजाशया, या ते अग्ने हराशया (=हे अग्ने ! जो तुम्हारा अयः=लोह में सोनेवाला शरीर है, वह विस्तीर्णतम, निगूढ़ देशस्थायी है, वह असुरों के उग्र वचन को नष्ट करे, दीप्त बलवत् वचन को नष्ट करे। हे अग्ने ! जो तुम्हारी रजा=चांदी में सोनेवाली तनू है, हे अग्ने! जो तुम्हारी हरा=सुवर्ण में सोनेवाली तनू है)। यहां सन्देह है कि—तनूर्वर्षिष्ठा आदि भाग सब (=या ते अग्ने रजाशया तथा या ते अग्ने हराशया) के साथ

---

१. यथापठितं क्वचिन्नोपलभ्यते । स्वल्पभेदेन मै० सं० १।२।७ पाठो द्रष्टव्यः ।'तै० संहितायां (१।२।११)तु—'या ते अग्नेऽयाशया रजाशया हराशया' इत्युक्त्वा 'तनूर्वर्षिष्ठा' इत्यादि पठ्यते । काठकसंहितायां (१।२।८)—'या ते अग्नेऽयाशया तनूर्वर्षिष्ठा······त्वेषं वचोऽपावधीत्

षक्तव्यम्, आहोस्विल्लौकिको वाक्यशेषः कर्त्तव्य इति? किं प्राप्तम्? या ते अग्ने रजाशया इत्येतस्य तनूर्वर्षिष्ठा इति न वाक्यशेषः। न ह्ययमस्मात् परः प्रयुज्यते। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः सर्वेषु तुल्ययोगित्वात् ॥४८॥ (उ०)

अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः स्यात्—तनूर्वर्षिष्ठा इति। यथैव ह्ययं या ते अग्नेऽयाशया

पीछे बोलना चाहिये, अथवा [या ते अग्ने रजाशया और या ते अग्ने हराशया के पीछे] लौकिक वाक्यशेष करना चाहिये? क्या प्राप्त होता है? या ते अग्ने रजाशया इसका तनूर्वर्षिष्ठा आदि वाक्यशेष नहीं है। क्योंकि यह इसके परे प्रयुक्त नहीं है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—भाष्यकार उद्धृत पाठ स्वल्प भेद से मै० सं० १।२।७ में मिलता है। अन्यत्र बहुत पाठभेद है। द्र०—भाष्यपाठ की टिप्पणी। काण्व सं० ५।२।८ तथा माध्यंदिन सं० ५।८ में तो या ते अग्ने तीनों अंशों के पश्चात् तनूर्वर्षिष्ठा आदि पाठ मिलता है।[1] अतः वह पाठ इस सूत्र और भाष्य का विषय नहीं है। **अत्र सन्देहः**—सन्देह का कारण यह है कि या ते अग्ने अयाशया में जो स्त्रीलिङ्ग 'या' पद से बोधित तनूर्वर्षिष्ठा है, वह और उससे सम्बद्ध पद आगे पढ़े हुए हैं। या ते अग्ने रजाशया और या ते अग्ने हराशया में पठित स्त्रीलिङ्ग 'या' पद को निराकाङ्क्ष करनेवाला स्त्रीपदार्थवाचक कोई पद नहीं है, अतः सन्देह होता है कि इसको निराकाङ्क्ष कैसे किया जाये?

अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः सर्वेषु तुल्ययोगित्वात् ॥४८॥

सूत्रार्थः—[या ते अग्ने रजाशया और या ते अग्ने हराशया के पश्चात्] (अनुषङ्गः) पीछे से सम्बद्ध होनेवाला वाक्यशेष (वाक्यसमाप्तिः) वाक्य की समाप्ति=पूर्ति जिससे होवे, वैसा होता है। (सर्वेषु) सब में (तुल्ययोगित्वात्) तुल्य सम्बन्धवाला होने से।

विशेष—अनुषङ्गः—'अनु=पश्चात् सज्यत इत्यनुषङ्गः'=पीछे से सम्बद्ध होनेवाला। 'समाप्ति' शब्द में क्तिन् प्रत्यय करण कारक में है। वाक्यं समाप्यतेऽनेनेति वाक्यसमाप्तिः।

व्याख्या—तनूर्वर्षिष्ठा आदि अनुषङ्ग वाक्य की पूर्ति करनेवाला होवे। जैसे यह (=

स्वाहा' इत्युक्त्वा 'या ते अग्ने रजाशया हराशया तनूर्वर्षिष्ठा' इत्यादि पठ्यते। काण्वमाध्यन्दिनयोस्तु प्रत्येकं तनूर्वर्षिष्ठा इत्यादिवाक्यं पठ्यते (काण्व ५।२।८; माध्य० ५।८)।

१. इसी सूत्रभाष्य में भट्ट कुमारिल ने लिखा है—'स हि सकृदाम्नायमानः सर्वेषामीप्सिते प्रदेशे न शक्य आम्नातुमित्येकस्य यथाक्रममाम्नातः' कथन चिन्त्य है। काण्व और माध्यन्दिन संहिताओं में सब के साथ आम्नात उपलब्ध होता है। यदि प्रकृत भाष्योदाहृत पाठ तक ही भट्ट-कुमारिल के कथन को स्वीकार किया जाये, तो कथंचित् ठीक माना जा सकता है।

इत्येतस्यानन्तरम्, एवं या ते अग्ने रजाशया; या ते अग्ने हराशया इत्येतयोरपि। हराशया इत्येतस्य व्यवहित इति चेत्, तन्न। समुदायस्याव्यवधानात्। अव्यवहितो रजाशया इति समुदायः। समुदायेन च वाक्यशेषस्य सम्बन्धाभावात् समुदायिभ्यां सम्बन्धः। समुदायिसम्बन्धे च न गम्यते विशेषः। तस्मात् सर्वत्रानुषङ्गः।

अपि च साकाङ्क्षस्य सन्निधौ परस्तात् पुरस्ताद्वा परिपूरणसमर्थः श्रूयमाणो वाक्यशेषो भवति। कियाँस्तु कालः सन्निधिरिति? उच्यते, यावति शक्नोत्युभावप्यपेक्षितुम्। कश्चाऽसौ? आनन्तर्यं सम्बन्धिपदव्यवायो वा। तावति हि शक्नोत्युभावप्यपेक्षितुम्। सम्बन्धिपदव्यवाये हि सम्बन्धादेव पूर्वसंस्कारो नापैति। यत्राप्यपरेण साकाङ्क्षेण व्यवायः, तत्राप्यस्ति सम्बन्धः। द्वयोरपि हि कार्यं वक्तव्यमिति। परः पूर्वमपेक्षते। अनपेक्षमाणेऽन्यतरः प्रमादपाठः स्यात्। शक्यते चासावपेक्षितुम्। तस्माद् यथैवायमेकस्य

तनूर्वर्षिष्ठा)० 'या ते अग्ने अयाशया' के अनन्तर है, वैसे ही या ते अग्ने रजाशया; या ते अग्ने हराशया इन दोनों के अनन्तर भी है। हराशया इसका व्यवहित है ऐसा कहो, तो ठीक नहीं है। समुदाय के व्यवधान न होने से। रजाशया यह समुदाय अव्यवहित है। समुदाय के साथ वाक्यशेष का सम्बन्ध न होने से दोनों समुदायियों के साथ सम्बन्ध है। समुदायी के साथ सम्बन्ध होने से कोई भेद ज्ञात नहीं होता है। इसलिये सर्वत्र अनुषङ्ग होता है।

विवरण—हराशयेत्येतस्य व्यवहितः—इसका तात्पर्य यह है कि या ते अग्ने अयाशया और या ते अग्ने रजाशया इन दोनों के मध्य पठित तनूर्वर्षिष्ठा आदि समुदाय सामान्यरूप से शेष दोनों के अनन्तर सम्बद्ध हो सकता है; परन्तु तृतीय हराशया के व्यवहित होने से अर्थात् मध्य में या ते अग्ने रजाशया का व्यवधान होने से या ते अग्ने हराशया के आगे सम्बन्ध नहीं हो सकता, यह मानकर आशंका उठाई है। अव्यवहितो रजाशया—'रजाशया' यह समुदाय तनूर्वर्षिष्ठा आदि के अव्यवहित है। उसके साथ तनूर्वर्षिष्ठा० का सम्बन्ध न होने से समुदायी या ते अग्ने अयाशया और या ते अग्ने रजाशया दोनों समुदायों के साथ सम्बन्ध होता है। समुदायिसम्बन्धे च—तनूर्वर्षिष्ठा आदि का समुदायी के साथ सम्बन्ध होने पर जैसा समुदायी या ते अग्ने रजाशया है, वैसा ही या ते अग्ने हराशया है। इन दोनों समुदायियों में कोई भेद गम्यमान न होने से तनूर्वर्षिष्ठा आदि का या ते अग्ने हराशया के साथ भी सम्बन्ध हो जायेगा। (द्र०—भट्ट कुमारिलकृत व्याख्या)।

व्याख्या—और भी, साकाङ्क्ष [पदसमुदाय] की समीपता में पूर्व वा पीछे [वाक्य को] परिपूर्ण करने में समर्थ श्रूयमाण वाक्यशेष होता है। (प्रश्न) कितने काल तक सन्निधि होती है? (उत्तर) जितने काल तक दोनों पदसमुदायों] को अपेक्षित कर सकता है। वह (= सन्निधि) क्या है? आनन्तर्य अथवा सम्बन्धी पदों का व्यवधान। उतने ही काल तक दोनों को ही अपेक्षित कर सकता है। सम्बन्धी पद के व्यवधान में सम्बन्ध के कारण ही पूर्वसंस्कार दूर नहीं होता है, अर्थात् बना रहता है। और जहां अपर साकाङ्क्ष से व्यवधान है, वहां भी सम्बन्ध है। दोनों का ही कार्य कहना चाहिये। इसलिये पर पूर्व की अपेक्षा करता है। अपेक्षा न करने पर दोनों में से एक प्रमादपाठ होवे। और वह अपेक्षा करने में समर्थ है। इस कारण जैसे यह एक की सन्निधि में है,

सन्निधौ, एवमपरस्य। द्वयोरप्यसम्बद्धैः पदैरव्यवहितत्वात्। द्वयोरप्याकाङ्क्षतोरेतावच्च वाक्यशेषसम्बन्धे कारणम्, नानन्तर्यम्। अव्यवधाने विच्छेदेऽपि भवति सम्बन्धः। तस्मादनुषङ्गः।

अथेह कथं भवितव्यम्, यत्र निराकाङ्क्षाणां सन्निधौ परिपूरणसमर्थः श्रूयते? यथा—चित्पतिस्त्वा पुनातु, वाक्पतिस्त्वा पुनातु, देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः

उसी प्रकार दूसरे की [सन्निधि में भी है]। दोनों ही के असम्बद्ध पदों से व्यवधान न होने से। और दोनों ही आकाङ्क्षा करनेवालों के वाक्यशेष के सम्बन्ध में इतना ही कारण है, आनन्तर्य नहीं है। [असम्बद्ध के] व्यवधान न होने पर विच्छेद होने पर भी सम्बन्ध होता है। इस कारण [तनूर्वर्षिष्ठा० का सभी के साथ] अनुषङ्ग होता है।

विवरण—साकाङ्क्षस्य—प्रथम पाठ में या ते अग्नेऽयाशया में स्त्रीलिङ्ग 'या' पद साकाङ्क्ष है, उसकी आकाङ्क्षा की पूर्ति तनूर्वर्षिष्ठा आदि से होती है। अतः तनूर्वर्षिष्ठा० उसका वाक्यशेष है। या ते अग्ने रजाशया, या ते अग्ने हराशया में साकाङ्क्ष 'या' की आकाङ्क्षा की पूर्ति तब तक नहीं होती, जब तक कि उनके साथ भी तनूर्वर्षिष्ठा आदि का सम्बन्ध न होवे। **कश्चासौ**—यह प्रश्न और इसका उत्तर परस्पर दो सम्बद्ध वाक्यों यावति शक्नोति ·····, तावति हि — ' के मध्य में प्रसङ्गात् पढ़ा गया है। अथवा इसका पाठ पहले तावति हि शक्नोत्युभावप्यपेक्षितुम् वाक्य के अनन्तर रहा हो, उत्तरकाल में लेखकप्रमाद से मध्य में संक्रान्त हो गया हो। **सम्बन्धिपदव्यवधाने**—प्रथम वाक्य में या ते अग्नेऽयाशया जैसे सम्बन्धी पद है, वैसे ही या ते अग्ने रजाशया और या ते अग्ने हराशया में भी श्रुत है। यह सम्बन्धी पद पूर्व सम्बन्ध को बुद्धि में उपस्थित करता है। इस कारण यहां भी पूर्व दृष्ट सम्बन्ध से तनूर्वर्षिष्ठा आदि का अनुषङ्ग हो जाता है। **एतावच्च वाक्यशेषसम्बन्धे कारणम्**—भट्ट कुमारिल ने वाक्यशेष के सम्बन्ध में तीन कारण कहे हैं—आकाङ्क्षा सन्निधान और योग्यता।[1] **अव्यवधाने विच्छेदेऽपि भवति सम्बन्धः**—भट्ट कुमारिल ने इस प्रकार सम्बन्ध प्रतिपादन किया है—या ते अग्ने रजाशया इस समुदाय से अपेक्षित शेष, जो इसके पश्चात् पठित नहीं है, पुरस्तात् आवृत्ति से आलोच्यमान तनूर्वर्षिष्ठा० को प्राप्त करता है= सम्बद्ध होता है। और जब तनुर्वर्षिष्ठा० या ते अग्ने रजाशया के आगे उपस्थित हो जाता है, तब या ते अग्ने हराशया इसके समीप में होता हुआ फिर उसी प्रकार से तृतीय या ते अग्ने हराशया के साथ भी सम्बद्ध हो जाता है। इसके पश्चात् कोई तादृश समुदाय पठित न होने से वहीं तक सम्बद्ध होकर निवृत्त हो जाता है।

व्याख्या—(पूर्वपक्ष) और यहां कैसे होना चाहिये, जहां निराकाङ्क्ष [समुदायों] की सन्निधि में [अर्थ को] पूर्ण करने में समर्थ [पदसमूह] सुना जाता है? जैसे—चित्पतिस्त्वा पुनातु, वाक्पतिस्त्वा पुनातु, देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य

---

१. आकाङ्क्षा सन्निधानं च योग्यता च इति त्रयम्। सम्बन्धकारणत्वेन क्लृप्तं नानन्तरश्रुतिः॥ तन्त्रवार्तिक २।१।४८॥

सूर्यस्य रश्मिभिः'[1] इति । अत्र हि पुनात्वन्तानि परिपूर्णानि, न किञ्चिदाकाङ्क्षन्ति । नन्वच्छिद्रेणेत्येतदाकाङ्क्षिष्यति । सत्यमाकाङ्क्षति । आकाङ्क्षदप्येतदेकमाकाङ्क्षेत् । एकेनैव तन्निराकाङ्क्षं सम्पद्यते इति । एकेन हि निराकाङ्क्षीकृतो नेतरावाकाङ्क्षिष्यति । अनर्थकत्वादाकाङ्क्षतीति । एकेन च सम्बद्धो नानर्थको भवति । तस्मान्नेतरावाकाङ्क्षतीति । इतरावपि परिपूर्णत्वान्न तमाकाङ्क्षतः । नन्वेतस्य वाक्यशेषस्य एकमप्याकाङ्क्षतो न गम्यते विशेषः– केन निराकाङ्क्षीक्रियते, केन वा नेति? तेनानवगम्यमाने विशेषे सर्वैः सह सम्भन्त्स्यते । आह । नैतदेवम् । येनास्य प्रत्यक्षमानन्तर्य्यमुपलभामहे, तेन सह सम्भन्त्स्यते, इति गम्यते विशेषः । तस्मात् तेनानन्तरेण सह सम्भन्त्स्यते । इति नास्ति सर्वत्रानुषङ्ग इति ।

रश्मिभिः (=हे यजमान ! ज्ञान का स्वामी तुझे पवित्र करे, वाक् का स्वामी तुझे पवित्र करे, सविता देव तुझे छिद्ररहित पवित्र से पवित्र करे, वास करानेवाले सूर्य की रश्मियों से)। यहां 'पुनातु' अन्तवाले परिपूर्ण [पदसमुदाय] हैं, किसी की आकाङ्क्षा नहीं करते। (प्रश्न) अच्छिद्रेण इत्यादि [पदसमुदाय] आकाङ्क्षा करेगा। (उत्तर) सत्य है, [अच्छिद्रेण आदि] आकाङ्क्षा करता है। आकाङ्क्षा करता हुआ भी एक [पुनात्वन्त-समुदाय] की आकाङ्क्षा करेगा। एक से ही वह निराकाङ्क्ष हो जाता है। एक से निराकाङ्क्ष किया हुआ अन्य दो की आकाङ्क्षा नहीं करेगा। [अच्छिद्रेण आदि] अनर्थक होने से आकाङ्क्षा करता है। एक के साथ सम्बद्ध होकर अनर्थक नहीं होता है। इस हेतु से अन्य दो की आकाङ्क्षा नहीं करता है। अन्य दो भी परिपूर्ण होने से उस (=अच्छिद्रेण आदि) की आकाङ्क्षा नहीं करते हैं। (आक्षेप) एक की भी आकाङ्क्षा करते हुए इस (=अच्छिद्रेण०) वाक्यशेष का विशेष नहीं जाना जाता है कि—किस से यह आकाङ्क्षा रहित किया जाता है, और किस से नहीं? इस कारण विशेष के ज्ञान न होने से सब के साथ सम्बन्ध होगा। (उत्तर) ऐसा नहीं है। जिसके साथ इस (=अच्छिद्रेण०) का प्रत्यक्ष आनन्तर्य हम उपलब्ध करते हैं, उसके साथ सम्बन्ध होगा, यह विशेष जाना जाता है। इस हेतु से उस अनन्तर (पठित देवस्त्वा सविता पुनातु) के साथ सम्बद्ध होगा। इस लिये सर्वत्र अनुषङ्ग नहीं है।

विवरण—चित्पतिस्त्वा आदि मन्त्र अग्निष्टोम में यजमान के प्राग्वंशसंज्ञक मण्डप में प्रवेश के समय, प्राग्वंश के बाहर यजमान के दर्भसमूह से पवित्रीकरण में विनियुक्त है—अथैनमुत्तरेण बहिः प्राग्वंशाद् दर्भपुञ्जीलैः पवयति (आप० श्रौत १०।७।५)। दर्भपुञ्जील शब्द का अर्थ टीकाकारों ने दर्भस्तम्ब=दर्भसमूह किया है (द्र०—आप० श्रौत १।२।३)। मानव श्रौत (२।१।१।४०) में दर्भपुञ्जीलैः के स्थान में दर्भपिञ्जूलैः प्रयुक्त हुआ है। अर्थ दोनों का समान है।

---

१. तै० सं० १।२।१॥

आह, नैतदेवम् । पुनातुशब्देनास्य प्रत्यक्षमानन्तर्य्यमुपलभामहे । पुनातुशब्दस्यापि चित्पतिस्त्वेत्येवमादिभिः । एकश्चासौ पुनातुशब्दः पुनः पुनरुच्चरितः । तेनावगच्छामः— यत्र पुनातुशब्दः प्रयुक्तः, तत्र तेनैकवाक्यत्वाद् अच्छिद्रेणेत्ययमपि प्रयोक्तव्यः । तथा च सति चित्पतिस्त्वेत्येवमादयो विना पुनातुशब्देन साकाङ्क्षाः । ते च पुनातुशब्दमाकाङ्क्षन्ति । स च पुनातुशब्दोऽच्छिद्रेणेत्यनेन विशिष्टः । तेन पुनातुशब्देन सानुषङ्गेण नियोगतः सर्वे निराकाङ्क्षीकर्त्तव्याः । तस्मात् सर्वेषु तुल्यप्रयोगा इति वाक्यपरिसमाप्तिरनुषज्ज्यते ॥४८॥ इत्यनुषङ्गाऽधिकरणम् ॥१६॥

[व्यवेताननुषङ्गाऽधिकरणम् ॥१७॥]

व्यवायान्नानुषज्ज्येत ॥४६॥ (उ०)

सं ते वायुर्वातेन गच्छतां, सं यजत्रैरङ्गानि, सं यज्ञपतिराशिषा[1] इति । वायुर्वातेन गच्छताम् इत्येष सं यजत्रैरङ्गानि इति बहुवचनान्तेन व्यवहितत्वात्, सं यज्ञपतिराशिषा इत्यत्र नानुषज्ज्यते । एकेन साकाङ्क्षेणाव्यवेतो गच्छतामिति शेषः । ततो बहुवचनान्तेन सं यजत्रै-

व्याख्या—(सिद्धान्त) ऐसा नहीं है । पुनातु शब्द के साथ इस (=अच्छिद्रेण०) का प्रत्यक्ष आनन्तर्य हम उपलब्ध करते हैं । पुनातु शब्द का भी चित्पतिस्त्वा इत्यादि के साथ । एक ही वह पुनातु शब्द पुनः-पुनः उच्चरित हुआ है । इससे हम जानते हैं कि—जहां पुनातु शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहां उसके साथ एकवाक्य होने से अच्छिद्रेण० यह भी प्रयोगार्ह है । ऐसा होने पर चित्पतिस्त्वा इत्यादि विना पुनातु शब्द के साकाङ्क्ष हैं । और वे पुनातु शब्द की आकाङ्क्षा करते हैं । और वह पुनातु शब्द अच्छिद्रेण इत्यादि से विशिष्ट है । इस कारण अनुषङ्गसहित पुनातु शब्द से नियमतः सब को निराकाङ्क्ष करना चाहिये । इस हेतु से सब में तुल्य प्रयोग होने से वाक्य-परिसमाप्ति में [अच्छिद्रेण आदि] का अनुषङ्ग होता है ॥४८॥

विवरण—सर्वे निराकाङ्क्षीकर्त्तव्याः—आपस्तम्ब आदि श्रौत सूत्रकारों ने अच्छिद्रेण० का सर्वत्र अनुषङ्ग स्पष्टतः कहा है । यथा—अच्छिद्रेण पवित्रेणेति सर्वत्रानुषजति (आप० श्रौत १०।७।११) ॥४८॥

व्यवायान्नानुषज्ज्येत ॥४६॥

सूत्रार्थः—[यदि कहीं व्यवधान होवे तो पूर्वपठित] (व्यवायात्) व्यवधान होने के कारण (न) नहीं (अनुषज्ज्येत) सम्बद्ध होवे ।

व्याख्या—सं ते वायुर्वातेन गच्छताम्, सं यजत्रैरङ्गानि, सं यज्ञपतिराशिषा (=हे पशो ! तेरा वायु=प्राण वात=वायु के साथ मिल जाये, अङ्ग यजत्रों=यागों के साथ मिल जायें, यज्ञपति आशीः के साथ संयुक्त हो जाये) । वायुर्वातेन गच्छताम् यह सं यजत्रैरङ्गानि इस बहुवचनान्त से व्यवहित होने से, सं यज्ञपतिराशिषा यहां अनुषक्त (=संबद्ध) नहीं होता है । एक साकाङ्क्ष [वातेन] से अव्यवहित गच्छताम् यह शेष है । इस हेतु से

1. मै० सं० १।२।१५॥

रङ्गानि इत्येतेन सम्बन्धमनुपेत्य व्यवेतत्वात् परेण न सम्बद्धचते। गम्यते हि तदा विशेषः—एकेन व्यवेत इति । गम्यमाने विशेषे न तत्र भावो वाक्यशेषस्योपपद्यते । तस्माद् बहुवचनान्तस्य परस्य च तद्व्यपेतस्य लौकिको वाक्यशेषः कर्त्तव्य इति ॥ ४९ ॥ इति व्यवेताऽननुषङ्गाऽधिकरणम् ॥ १७॥

इति श्रीशबरस्वामिकृतौ मीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः (उपोद्घातभिधेयः) पादः ॥

बहुवचनान्त सं यजत्रैरङ्गानि इस के साथ सम्बन्ध को प्राप्त न होकर व्यवहित होने से पर सं यज्ञपतिराशिषा) के साथ संबद्ध नहीं होता है । इस अवस्था में विशेष जाना जाता है कि एक से व्यवहित है । विशेष के गम्यमान होने पर वहां वाक्यशेष का भाव (=सत्ता) उपपन्न नहीं होता है । इस कारण बहुवचनान्त का और तद्व्यवहित पर (=सं यज्ञपतिराशिषा) का लौकिक वाक्यशेष करना चाहिये ॥४९॥

विवरण—वेद वा शाखाओं के व्याख्याकारों एवं श्रौतसूत्रकारों के मतानुसार ये मन्त्र (=सं ते प्राणो वातेन अथवा वायुना पाठभेदसहित) अग्निष्टोम में मारे गये पशु के शिर अंस (=कन्धे) आदि अङ्ग और श्रोणी का जुहू से (=जुह्वास्थ घृत से) अञ्जन (=चुपड़ने) में विनियुक्त हैं । अग्निष्टोम में अज पशु है । यह यज्ञीय अज प्राकृत आधिदैविक अग्निष्टोम के किस पदार्थ का प्रतिनिधि है, यह अभी अन्वेषणीय है । उस के ज्ञात होने पर पशुसम्बन्धी मन्त्रों का संबन्ध प्राकृत आधिदैविक पशु के साथ होगा । आधिदैविक जगत् के व्याख्यान करनेवाले नाटकस्थानीय अग्निष्टोम आदि यज्ञों में विहित अज आदि पशुओं का पर्यग्निकरण के पश्चात् उत्सर्ग होता है । और यज्ञकर्म की पूर्ति पशुदैवत्यक पुरोडाश से की जाती है, यह हम मीमांसा-व्याख्या भाग १ के आरम्भ में 'श्रौतयज्ञ-मीमांसा' निबन्ध के पृष्ठ १२०—१६० तक विस्तार से लिख चुके हैं । उसी के अनुसार यहां वैदिक मन्तव्य की ऊहा करनी चाहिये ।

प्रकृत अधिकरण में विचार यह किया गया है कि सं वायुर्वातेन गच्छताम् में पठित गच्छताम् पद का पूर्वाधिकरण न्याय से उत्तरत्र अनुषङ्ग होगा वा नहीं होगा ? मध्यम सं यजत्रैरङ्गानि में बहुवचनान्त अङ्गानि का एकचवनान्त गच्छताम् के साथ अन्वय नही हो सकता है । अतः इसके साथ तो गच्छताम् के अनुषङ्ग का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है । अन्तिम सं यज्ञपतिराशिषा में एकवचनान्त गच्छताम् अन्वित हो सकता है । उसका सूत्रकार ने उत्तर दिया है कि मध्यम पद-समुदाय के व्यवधान के कारण अन्तिम के साथ गच्छताम् का अनुषंङ्ग नहीं होगा । सं यजत्रैरङ्गानि और सं यज्ञपतिराशिषा वाक्यों के क्रियारहित होने से वाक्यपूर्त्यर्थ उपयुक्त क्रिया पद का अध्याहार करना होगा । उस अवस्था में सं यजत्रैरङ्गानि गच्छन्ताम्; सं यज्ञपतिराशिषा गच्छताम् प्रयोग होगा, यदि अन्त्य पदसमुदाय के आगे जब गच्छताम् पद ही अन्वित होगा, तो वैदिक प्रथमभागस्थ गचछताम् का अनुषङ्ग माने अथवा लौकिक गच्छन्ताम् का अध्याहार करें, इस विचार का प्रयोजन क्या है? इस का उत्तर भट्ट कुमारिल ने दिया है कि—'वैदिक पद का अनुषङ्ग होने पर प्रमादादि से गच्छताम् पद के भ्रष्ट होने पर प्रायश्चित्त करना होगा । लौकिक पद का अध्याहार करने पर प्रायश्चित नहीं करना पड़ेगा' । इस विषय में 'ऊहप्रवराद्यमन्त्रताऽधिकरण' का प्रयोजन (मी० भा० २।१।३४ पृष्ठ, ४१८) देखना चाहिये ॥४९॥

द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः

[अङ्गाऽपूर्वभेदाऽधिकरणम् ।।१।।]

अस्ति ज्योतिष्टोमः । तत्र श्रूयते—सोमेन यजेत[1], दाक्षिणानि जुहोति[2], हिरण्यमात्रेयाय ददाति[3] इति । यजति ददाति जुहोतयः,ते किं संहृत्य कार्य्यं कुर्वन्ति, उत वियुत्येति संशयः । साधकाः संहृत्यापि साधयन्तो दृश्यन्ते, वियुत्यापि । संहृत्य तावत्—त्रयो ग्रावाण एकामुखां धारयन्तो दृश्यन्ते, नागदन्तकास्तु वियुत्यापि । एकैकस्मिन् हि शक्यते शिक्यमवलम्बयितुम् । अतो यजति-ददाति-जुहोतयः संहृत्य साधयेयुर्वियुत्य वेति जायते संशयः ।

व्याख्या—ज्योतिष्टोम कर्म हैं । उसमें सुना जाता है—सोमेन यजेत (=सोम से यज्ञ करे), दाक्षिणानि जुहोति (=दाक्षिण=दक्षिणा-सम्बन्धी होम करता है), हिरण्यमात्रेयाय ददाति (=आत्रेय के लिये हिरण्य देता है) । ये जो यजति ददाति जुहोति हैं, वे क्या मिलकर कार्य करते हैं (=मिलकर एक अपूर्व को उत्पन्न करते हैं), अथवा पृथक्-पृथक् कार्य करते हैं, यह संशय है । साधक मिलकर भी [कार्य को] सिद्ध करते हुए देखे जाते हैं, और पृथक् होकर भी । जैसे संहृत्य—तीन ग्रावा एक उखा को धारण करते हुए देखे जाते हैं, और नागदन्त (=खूंटियाँ) अलग होकर भी । एक-एक खूंटी में भी शिक्य (=छींका) लटकाया जा सकता है । इस लिये यजति ददाति और जुहोति मिलकर कार्य को सिद्ध करेगें अथवा पृथक्-पृथक् ऐसा संशय उत्पन्न होता हैं ।

विवरण—एकामुखां धारयन्तः—यह लौकिक उदाहरण है । अतः यह उखा लौकिक वटलोई संज्ञक पात्र है । यात्री लोग तीन पत्थरों पर वटलोई अथवा पतीली रखकर दाल वा भात पकाते हैं । नागदन्त काः—नागदन्त इव=हाथी के दांत के समान अपने आश्रय भींत आदि से बाहर निकली हुई खूंटियाँ । शिक्यम्=छींका । जिसमें खादय पदार्थ रखकर चींटी आदि से बचाव के लिये खूंटी पर या छत के कड़े के साथ टांग देते हैं ।

---

१. द्र०—य एवं विद्वान् सोमेन यजते । तै० सं० ३।२।२।। द्र०—शाबरभाष्य ३।१।१३।।

२. आप० श्रौत १३।५।६।। तत्र 'प्रचरण्या दक्षणानि जुहोति' इत्यत्र 'दक्षणानि' इत्यपपाठः, 'दाक्षिणानि' पाठेन तत्र भाष्यम् । दाक्षिणानि=दक्षिणासंवन्धीनि । तुलना कार्या—अथ दाक्षिणानि होष्यन् । बौधा० श्रौत ८।५।१; शालाद्वारे दाक्षिणहोमः । कात्या० श्रौत १०।२।४।।

३. द्र०—आत्रेयाय हिरण्यं ददाति । शत० ५।३।४।२१।।

किं तावत् प्राप्तम्, संहत्येति । कुतः ? अदृष्टार्थानामुपकारकल्पनाऽल्पीयसो न्याय्येति । कथम् ?

अदृष्टो योऽश्रुतो वार्थः, स नास्तीत्यवगम्यते ।
तस्मिन्नसति दृष्टश्चेच्छ्रुतो वा न विरुद्धयते ॥
विरुद्धयमाने कल्प्यः स्याज्जायते तेन सोऽर्थवान् ।
विशेषश्चेन्न गम्येत, ततो नैकोऽपि कल्प्यते ॥

गम्यते च विशेषः—बहुभ्य एकमपूर्वमिति । तस्मात् समुदायश्चिकीर्षितः । ततो ह्यदृष्टे कल्प्यमाने, अवयवानां समुदायं प्रति अर्थवत्त्वात्, एकमपूर्वं समुदायात् कल्पितं भविष्यति । न च अशब्दः समुदायः, अवयवशब्दैरेव समुदायस्योक्तत्वात् । तस्मात् समुदायश्चिकीर्षितः ।

अथ वा यजेतेत्यस्य पूर्वो भागो यजत्यर्थं ब्रवीति, उत्तरो भावयेत् । तथा ददातीति पूर्वो भागो ददात्यर्थम्, उत्तरस्तमेव भावयेदिति अनुवदति । एवं जुहोतीति पूर्वो भागो जुहोत्यर्थम्, उत्तरस्तमेवानुवदति । तेनैकस्यां भावनायां त्रयो यजत्यादय उपाया विधीयन्ते श्रुत्या । तस्मादेतैर्यागदानहोमैर्विशिष्टाऽपूर्वस्य भावना प्रतीयते । अत उच्यते—

व्याख्या—क्या प्राप्त होता है? संहत्य =मिल कर [कार्य करते हैं] । किस लिये? अदृष्ट प्रयोजनवाले कर्मों की अल्प उपकार कल्पना न्याय्य है । [अर्थात् पृथक् कर्म मानने पर तीन अपूर्वों की कल्पना करनी होगी, मिलकर कार्य करने पर एक अपूर्व की कल्पना होगी ।] कैसे ?

जो अदृष्ट वा अश्रुत अर्थ है, वह नहीं है, ऐसा जाना जाता है । उस [अदृष्ट वा अश्रुत] के न होने पर दृष्ट होवे वा श्रुत होवे, तो विरोध नहीं होता है । विरोध होने पर कल्पनायोग्य होता है । उस (=कल्पना) से वह प्रयोजनवाला होता है । यदि विशेष न जाना जावे, तो एक की भी कल्पना नहीं होती है ।

यहां विशेष जाना जाता है कि— बहुतों (=बहुत कर्मों) से एक अपूर्व होता है । इस लिये यहां समुदाय चिकीर्षित (=चाहा गया) है । उन से अदृष्ट की कल्पना करने पर, अवयवों के समुदाय के प्रति अर्थवान् होने से, समुदाय से एक अपूर्व कल्पित होगा । समुदाय अशब्द (=शब्द से अबोधित) नहीं है, अवयव शब्दों से ही समुदाय के उक्त होने से । इसलिये यहां समुदाय ही चिकीर्षित है ।

अथवा यजेत इसका पूर्व भाग ['यज' धातु] याग को कहता है, उत्तर भाग ['त' प्रत्यय] भावना को । तथा ददाति का पूर्व भाग ['दा' धातु] दान का और उत्तर भाग ['ति' प्रत्यय] उसी भावना का अनुवाद (=अनुकथन) करता है । इसी प्रकार जुहोति का पूर्व भाग ['हु' धातु] होम को, और उत्तर भाग ['ति' प्रत्यय] उसी भावना का ही अनुवाद करता है । इस प्रकार [त-ति-ति प्रत्ययों से कही गई] एक भावना में श्रुति से याग आदि तीन उपाय कहे जाते हैं । इस कारण इन याग दान होमों से एक विशिष्ट अपूर्व की भावना जानी जाती है । इस लिये कहते

'संहत्यैकमपूर्वं साधयन्ति' इति । यद्वा—यजतिशब्देन विहितं दानं दानहोमशब्देनानूद्यते गुणसम्बन्धार्थम् । तस्मादेकमपूर्वमिति प्राप्तम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात् ॥१॥ (उ०)

प्रतिशब्दमपूर्वभेद इति । शब्दान्तरे कर्म्मभेदः कृतानुबन्धत्वात् । यजेतेत्यनेन केवलस्य यागस्य कर्त्तव्यतोच्यते । न तु जुहोतिशब्दाभिहितस्य, ददातिशब्दाऽभिहितस्य वा, शब्दान्तरत्वात् । प्रयोगवाक्यशेषभावेन हि समुदायस्य सत्तासम्बन्धो गम्यते, श्रुत्या

हैं कि—'मिल कर एक अपूर्व को सिद्ध करते हैं ।' अथवा—यजति शब्द से विहित दान का दान और होम शब्द से अनुवाद किया जाता है, गुण संबन्ध के लिये । इस कारण एक अपूर्व होता है, यह प्राप्त होता है । इस प्रकार [एक अपूर्व के] प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—यजतिशब्देन विहितं दानम्—'यजति' धातु निर्देश में श्तिप् होने से यज धातु अभिप्रेत है । यज धातु के देवपूजा संगतिकरण और दान ये तीन अर्थ हैं—यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु । इनमें दान भी एक अर्थ है । देवपूजासंगतिकरणदानेषु समस्त पद में अल्पाच्तर दान का पूर्व प्रयोग प्राप्त होने पर अन्त में प्रयोग उसके प्राधान्यद्योतन के लिये जानना चाहिये । अथवा याग का स्वरूप है—देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागः यहां त्याग का अर्थ है स्वस्वत्व (=स्वामित्व) की निवृत्ति और परस्वत्व की प्राप्ति कराना—अग्नये स्वाहा । इदमग्नये, इदं न मम । यही स्वस्वत्व निवृत्ति और परस्वत्व का आपादन दान में भी होता है । इसलिये यहां दान को 'यजति' शब्द से विहित कहा है । गुणसंबन्धार्थम्—आत्रेयाय हिरण्यं ददाति में दान का अनुवाद करके आत्रेय के सम्प्रदानत्व और हिरण्य के प्रदेयत्वरूप गुण का विधान है । और दाक्षिणानि जुहोति में दान का अनुवाद करके दाक्षिणानि=दक्षिणासम्बद्ध कर्मरूप गुण का विधान है । (द्र०—भट्ट कुमारिल) ।

शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात् ॥१॥

सूत्रार्थः—[यजति जुहोति ददाति में] (शब्दान्तरे) शब्द का अन्तर=भेद होने पर (कर्मभेदः) कर्म का भेद होता है, (कृतानुबन्धत्वात्) [भावना=प्रत्ययार्थ के धात्वर्थ के साथ] अनुबन्ध किये हुए होने से । अर्थात् भावनारूप प्रत्ययार्थ के यजति जुहोति ददाति में समान होने पर भी उसका यज हु दा धातुओं के अर्थों के साथ पृथक्-पृथक् सम्बन्ध होने से तत्तद्धात्वर्थ से विशेषित भावना का ही बोध होता है । अतः यजति आदि के शब्दान्तर होने से कर्मभेद जानना चाहिये ।

व्याख्या—प्रति शब्द अपूर्व का भेद होता है । शब्दान्तर होने पर कर्मभेद होता है [भावना का धात्वर्थ के साथ] अनुबन्ध किये हुए होने से । यजेत इस से केवल याग(=यज-धात्वर्थ) की कर्तव्यता कही जाती है । जुहोति शब्द से कही गई [होम] की, अथवा ददाति शब्द से कही गई [दान] की नहीं कही जाती है, शब्दान्तर होने से । प्रयोग वाक्य के शेषभाव से ही समुदाय का सत्ता (=भावना) के साथ सम्बन्ध जाना जाता है, श्रुति से अवयव का—यजेत ।

अवयवस्य यजेतेति । सन्निहितयोरपि वाक्येन दानहोमयोः । श्रुत्या यागस्यैव सत्तासम्बन्धो गम्यते, न दानहोमयोः । श्रुतिश्च वाक्याद् वलीयसी । तस्मान्न समुदायः शाब्दः । कल्प्यमानो हि प्रयोगवचनेन एकवाक्यतां नीत्वा कल्प्येत । शब्दान्तरञ्च यजतेर्ददातिः । तत्र यद्यपि परो भागो भावनावचनः सर्वेषु समानः, तथाप्येकैकस्य पूर्वोऽवयवोऽन्यः । अन्यश्च तेन समुदाय शब्दान्तरमन्यस्मात् समुदायात् । तत्रार्थान्तरं व्यक्तम्—दद्यादिति दानेन साधयेदिति । केवलमेव दानं करणं भावनायाः प्रतीयते, न यागहोमौ सहायावपेक्षते । तथा जुहोतीति होमसाधनां भावनामाह, न दानयागावपेक्षते । तत्रैतावच्छब्देनावगतम् दानेन केवलेन सिद्धयतीति । जुहोतीत्यपि होमेन केवलेन सिद्धयतीति, न तु 'दानेन केवलेन सिद्धयति' इति विज्ञानं निवर्त्तते । ददातिर्हि स्वेन कारकग्रामेण कृतानुबन्धो न यागं होमं वाऽनुबन्धमपेक्षते । तस्माद्भिन्नानि वाक्यानि, प्रतिशब्दपूर्वभेद इति । न च दानस्य यजतिर्जुहोतिर्वाऽनुवादः यागहोमयोरविवक्षाप्रसङ्गात् । न च दानमितरयोरनुवादः । परस्वत्वार्थत्वाद् ददातेः, इतरयोश्च त्यागार्थत्वात ।

प्रयोजनम्—पूर्वपक्षे समुदायादपूर्वम्, सिद्धान्ते तु यागस्य फलवत्त्वादितरयोर्गुणभावः ॥१॥ इत्यङ्गाऽपूर्वभेदाऽधिकरणम् ॥१॥

सन्निहित (=निकट) वर्त्तमान दान और होम का भी सम्बन्ध वाक्य से जाना जाता है। श्रुति से याग की ही सत्ता जानी जाती है, दान और होम की नहीं। और श्रुति वाक्य से बलवान् होती है। इसलिये समुदाय शाब्द (=शब्दबोधित) नहीं है। [वह समुदाय] कल्प्यमान होता हुआ ही प्रयोगवचन के द्वारा एक वाक्यभाव को प्राप्त कराके कल्पित किया जाता है। यज धातु से दा धातु शब्दान्तर है। वहां (=यजेत जुहोति ददाति में) यद्यपि परभाग भावनावचन [प्रत्यय] सब में समान है फिर भी प्रत्येक का पूर्व अवयव (=यज, हु, दा) अन्य है। इस कारण समुदाय (=यजेत जुहोति ददाति) शब्दान्तर है अन्य समुदाय से। वहां अर्थ की भिन्नता भी स्पष्ट है—दद्यात्=दान से सिद्ध करे। [दद्यात् में] केवल दान ही भावना का करण प्रतीत होता है, सहाय (=साथी) याग और होम की अपेक्षा नहीं करता है। इसी प्रकार जुहोति भी होम साधन है जिसमें, ऐसी भावना को कहता है, दान और याग की अपेक्षा नहीं करता है। इस विषय में इतना ही [ददाति] शब्द से जाना जाता है कि केवल दान से सिद्ध होता है। जुहोति भी केवल होम से सिद्ध होता है [इतना ही कहता है], 'केवल दान से सिद्ध होता है' यह ज्ञान निर्वर्तित नहीं होता है। ददाति अपने कारकसमुदाय से कृतानुबन्ध (=कृतसम्बन्ध) होने से याग वा होमरूप अनुबन्ध (=संबध) की अपेक्षा नहीं करता है। इसलिये ये भिन्न वाक्य हैं, प्रति शब्द अपूर्व का भेद है। दान का यजति वा जूहोति अनुवाद नहीं है। याग और होम की अविवक्षा प्राप्त होने से। इसी प्रकार दान भी अन्य दो [यजति जुहोति] का अनुवाद नहीं है ददातिः (=दा धातु) के पर=अन्य के स्वत्व=स्वामित्व अर्थवाला होने से, और इतर [यज और हु धातुओं] के त्याग अर्थवाला होने से।

[विचार का] प्रयोजन है—पूर्वपक्ष में समुदाय (=यजेत जुहोति ददाति) से अपूर्व होता

[समिदाद्यपूर्वभेदाऽधिकरणम् ॥२॥]

समिधो यजति.[1] तनूनपातं यजति[2] इत्येवमादिः पञ्चकृत्वोऽभ्यस्तो[3] यजतिशब्दः किमेकमपूर्वञ्चोदयति, किं प्रत्यभ्यासमपूर्वभेद इति ? शब्दान्तरे कर्मभेद उक्तः। इह स एव शब्दः पुनः पुनरुच्चार्य्यते। तस्मादेकमेवात्राऽपूर्वम्। नन्वपूर्वान्तरमविदधदनर्थको भवति।

है, और सिद्धान्त में याग ('यजेत' वाच्य) के फलवान् अर्थात् प्रधान होने से इतर [होम दान] का गुणभाव है ॥१॥

:विवरण—प्रयोगवाक्यशेषभावेन—'यह यह कार्य करना है' इस प्रकार प्रयोग=अनुष्ठान के विधायक से प्रकरण में विहित सब कर्मों की एकवाक्यता होती है। उस प्रयोगवाक्य के शेष भाव से याग-सम्बद्ध सब कर्मों के समुदाय की प्रतीति होती है, और उसी से सब कर्मोत्पत्ति-विधायक वाक्यों का फल के साथ सम्बन्ध होता है। श्रुत्या अवयवस्य यजेत—अवयवरूप सोमेन यजेत से याग की ही कर्तव्यता जानी जाती है। वाक्येन—प्रयोगवाक्य से दान-होम की भी। यागस्यैव सत्ता—याग का ही भावना से सम्बन्ध जाना जाता है—'सोमेन यागेन स्वर्गं भावयेत'। श्रुतिश्च वाक्याद् बलीयसी—द्रष्टव्य मीमांसा ३।३।१४—श्रुतिलिङ्गवाक्य० आदि सूत्र। यजतेर्ददातिः—ये यज और दा धातु से धातुनिर्देश में श्तिप्‌प्रत्ययान्त प्रयोग हैं। भाववचनः सर्वेषु समानः—यद्यपि यजेत में विधिलिङ्ग में 'ते' प्रत्यय है, और जुहोति ददाति में लेट् में तिप् प्रत्यय, फिर भी लिङर्थे लेट् (अष्टा० ३।४।७) के नियम से इनका भाववचनत्व अर्थ समान है। यहां भाववचनः से भावना को कहनेवाले=विध्यर्थ प्रत्यय का ग्रहण जानना चाहिये। यागस्य फलवत्त्वाद् इतरयोर्गुणभावः—इसका तात्पर्य यह है कि सोमेन यजेत के प्रकरण में दाक्षिणानि जुहोति, हिरण्यमात्रेयाय ददाति वचन श्रुत हैं। याग होम और दान तीनों पृथक् कर्म हैं। फिर भी याग के स्वर्गादि फलयुक्त होने से उसका प्राधान्य है। और फलयुक्त के साथ में श्रुत होम और दान फलरहित होने से गुण कर्म हैं। गुणकर्म होने से सोमयाग के अङ्ग कर्म हैं। मीमांसकों के मत में यद्यपि तीनों अपूर्व को उत्पन्न करते हैं तथापि यागोत्पन्न अपूर्व प्रधानापूर्व है, और होम दान से उत्पन्न अङ्गापूर्व को उत्पन्न करते हैं ॥१॥

व्याख्या—समिधो यजति, तनूनपातं यजति इत्यादि यजति शब्द पांच बार अभ्यस्त (=पुनः पुनः पठित) हुआ क्या एक अपूर्व को उत्पन्न करता है, अथवा क्या प्रति अभ्यास अपूर्व का भेद होता है ? शब्दान्तर होने पर [पूर्व सूत्र से] कर्म भेद कहा है। यहां (=समिधो यजति आदि में) वही [यजति] शब्द पुनः पुनः उच्चारित होता है। इस कारण यहां एक ही अपूर्व होता है। (प्रश्न) अपूर्वान्तर (=भिन्न अपूर्व) को

---

१. तै० सं० २।६।१॥ २. तै० सं० २।६।१॥

३. (१) समिधा यजति, (२) तनूनपातं यजति, (३) इडो यजति, (४) बर्हिर्यजति (५) स्वाहाकारं यजति। तै० सं० २।६।१॥

सत्यमेवाप्रयोजनो भवति । बहुकृत्वोऽपि चोच्चार्य्यमाणो नान्यार्थो भवति । यत् प्रथमे उच्चारणे गम्यते, शततमेऽपि तदेव गम्यते । तस्मात् पञ्चकृत्वोऽभ्यस्तो यजति शब्द एकमपूर्वं चोदयति । न चाभ्यासोऽनर्थको भविष्यति, तनूनपादादीर्देवता विधास्यति । तस्मादेकमपूर्वम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात्॥२॥ (उ०)

उत्पन्न न करता हुआ तो [अभ्यास] अनर्थक होता है । (उत्तर) सत्य ही है कि प्रयोजनरहित होता है । बहुत बार भी उच्चार्यमाण शब्द अन्यार्थ नहीं होता है । जो [अर्थ] प्रथम उच्चारण में जाना जाता है, सौवीं बार [उच्चारण] में भी वही अर्थ जाना जाता है । इसलिये पांच बार अभ्यस्त यजति शब्द एक अपूर्व को प्रेरित (उत्पन्न) करता है । और अभ्यास अनर्थक भी नहीं होता है, वह तनूनपात् आदि देवताओं का विधान करेगा । इसलिये एक अपूर्व होता है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—पञ्चकृत्वोऽभ्यस्तो यजतिशब्दः—(१) समिधो यजति, (२) तनूनपातं यजति, (३) इडो यजति, (४) बर्हिर्यजति, (५) स्वाहाकारं यजति ॥ सिद्धान्त पक्ष में ये पांच याग प्रयाज नाम से कहे जाते हैं । ये प्रधान होम से पूर्व होते हैं, इस लिये इनका नाम प्रयाज है । जो प्रधान याग के अनन्तर होते हैं । वे अनुयाज कहाते हैं । प्रकृतिभूत दर्शपौर्णमास में ५ प्रयाज होते हैं, और ३ अनुयाज । विकृति यागों में इनकी संख्या भिन्न-भिन्न होती है । प्रयाज याग करते समय अभिक्रामं जुहोत्यभिजित्यै (तै० सं० २।६।१) के अनुसार अध्वर्यु ने जिस स्थान पर खड़े होकर प्रयाज के लिये आश्रावण किया है, उससे आगे-आगे बढ़ते हुए अग्नि में भी पूर्व स्थान से कुछ आगे-आगे आहुति देनी होती है । इस का कारण कहा है—अभिजित्यै=जीत के लिये । क्योंकि यह संग्राम का प्रतिनिधि है, संग्राम में आगे-आगे ही बढ़ा जाता है । इसलिये इसमें आगे-आगे बढ़-कर ही आहुति देनी चाहिये । शतपथ (१।५।३।७) में याज्ञवल्क्य ने लिखा है—तदु तथा न कुर्यात् । यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्यः आश्रावयेत् तत एव नापक्रामेद्, यत्रो एव समिद्धतमं मन्येत तदाहुतीर्जुहुयात् । अर्थात् वैसा न करे । जहां ठहर कर प्रयाजों के लिये अध्वर्यु ने आश्रावण किया है, वहां से ही अपक्रमण (=पीछे हटना) न करे । और जहां अग्नि को समिद्धतम (=अत्यन्त प्रज्वलित जाने), वहीं उसकी आहुतियां देवे । इसका भाव यह है कि प्रयाजों को संग्राम का रूपक मानने पर भी यह आवश्यक नहीं है, कि आगे ही आगे बढ़े । संग्राम में अपक्रामण (=पीछे हटना) ही प्रति-षिद्ध हैं (प्रतिकूल अवस्था में पीछे भी हटना पड़ता है, यह राजनीतिज्ञों की मान्यता है) । संग्राम में भी जहां प्रचण्डता हो, वहीं प्रहार करना जय का कारण होता है, न कि आगे-आगे बढ़नामात्र ।

यजति से निर्दिष्ट यागों में आहुति-प्रदान की सामान्य प्रक्रिया हम पूर्व (भाग २ पृष्ठ ३८७ पर) विवरण में लिख चुके हैं । स्वाहाकारान्त होम में यह प्रक्रिया नहीं होती है ।

एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात् ॥२॥

सूत्रार्थः—[समिधो यजति, तनूनपातं यजति आदि में पांच वार पठित यजति में] (एकस्य)

एकस्यैवं पुनः श्रुतिः स्यात्, कर्म्मभेदं कुर्य्यादित्यर्थः। तावत्येव विधीयमाने असति कस्मिंश्चिद्विशेषे पुनः श्रुतिरनर्थिका भवेत्। ननूक्तं न शक्नोत्यर्थान्तरं विधातुमिति। उच्यते, समिधो यजति इत्यपि प्रथमोऽनुवाद एव, दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत[1] इति याग. प्राप्त एव। तत्र देवता न शक्या विधातुम्। श्रुतिप्राप्ता हि तत्र देवता। इयं वाक्यात् प्रकरणाद्वा। तयोर्विकल्पो न न्याय्यः। स एष देवतायागसम्बन्धो विधीयमानोऽक्रियमाणे यागे न शक्यः कर्तुमित्यनर्थकः स्यात्। क्रियमाणे तु शक्यते। तस्मादभ्यसितव्यो यागः। प्रत्यभ्यासञ्चादृष्टभेद इति। न च 'यत् समित्सम्बन्धेन क्रियते, तत् तनूनपात्सम्बन्धेन।' भिन्नत्वात् तयोः। अतो न विकल्पः।

प्रयोजनम्—पूर्वपक्षे सकृत् प्रयोग इति, सिद्धान्ते पुनः पुनः प्रयोग इति ॥२॥
इति समिदाद्यपूर्वभेदाधिकरणम् ॥२॥

एक 'यजति' शब्द की (एवं) इस प्रकार पुनः श्रुति (अविशेषात्) विशेष न होने पर=कर्मभेद न मानने पर (अनर्थकम्) अनर्थक (स्यात्) होवे।

व्याख्या—एक की इस प्रकार पुनः श्रुति होवे, अर्थात् कर्मभेद करे। उतना ही अर्थ [जितना प्रथम 'यजति' से कहा गया है] विधान करने पर किसी विशेष के न होने पर ['यजति' का] पुनः श्रवण अनर्थक होवे। (आक्षेप) पूर्व कहा कि पुनः श्रुति अर्थान्तर का विधान नहीं कर सकती। (समाधान) समिधो यजति में प्रथम [पठित 'यजति'] भी अनुवाद ही है, क्योंकि दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत (=दर्शपौर्णमास से यजन करे) से याग प्राप्त ही है। वहां (= दर्शपौणमासाभ्यां यजेत का) [अनुवाद होने पर समिधो यजति आदि से समिद् आदि] देवता का विधान नहीं कर सकते। क्योंकि वहां (=दर्शपौर्णमास में) [अग्नि आदि] देवता श्रुति (=यदाग्नेयो ऽष्टाकपालः आदि) से प्राप्त है। यह (=समिधो यजति) वाक्य अथवा प्रकरण से [देवता का विधान करेगा]। उन (=श्रुतिप्राप्त तथा वाक्य वा प्रकरण से विधीयमान) दोनों देवताओं का विकल्प न्याय्य नहीं है [श्रुति के बलवान् होने से]। यह देवता और याग का सम्बन्ध विधीयमान होता हुआ भी याग के न करने पर अनर्थक होवे। याग के करने पर [देवता और याग का सम्बन्ध] किया जा सकता है। इसलिये याग अभ्यास के योग्य है [अर्थात् याग का अभ्यास करना चाहिये]। और प्रति अभ्यास अदृष्ट का भेद है। 'जो [याग] समित् देवता के सम्बन्ध से किया जाता है वही तनूनपात् देवता के सम्बन्ध में किया जाता है,' यह कथन युक्त नहीं है, दोनों (=समित् और तनूनपात् देवता) के भिन्न होने से। इसलिये इन [देवताओं] का विकल्प नहीं है।

विचार का प्रयोजन है—पूर्वपक्ष में एक बार प्रयोग (=याग) होगा, सिद्धान्तपक्ष में पुनः पुनः प्रयोग होगा ॥२॥

विवरण—प्रथमोऽनुवादः—यह कथन पूर्वपक्षी के 'अभ्यास तनूनपात् आदि देवता का

---

१. द्र०—यो दर्शपौर्णमासाभ्यां यजते। ऐ० ब्रा० १।१॥ शत० ब्रा० २।४।२।११॥

[आघाराद्याग्नेयादीनामङ्गाङ्गिभावाऽधिकरणम् ॥३॥]

एवं हि समामनन्ति—यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवति[1]; तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव नौ उपांशु पौर्णमास्यां यजन्[2] इति; ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पौर्णमासे प्रायच्छत्[3]; ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम्[4]; ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्,[5] इति। तथा

विधान करेगा' कथन को अभ्युपगमवाद से मानकर है। अर्थात् जिस प्रकार पूर्वपक्षी समिधो यजति से विहित याग को उद्देश करके उत्तर वाक्यों में तनूनपाद् आदि देवताओं का विधान करने के लिये अभ्यास मानता है, उसी प्रकार समिधो यजति प्रथम वाक्य में भी 'यजति' पद दर्शपौर्णमास याग के प्राप्त होने से अनुवाद है। यागः प्राप्त एव—दर्शपौर्णमास याग विहित ही है, और उसी में समिधो यजति आदि वचन श्रुत हैं। श्रुतिप्राप्ता—दर्शपौर्णमास में अग्नि आदि देवता और पुरोडाश आदि द्रव्य का साक्षात् विधान यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति (तै० सं० २।६।३) आदि श्रुतियों से किया हुआ उपलब्ध होता है। तत्र देवता न—इससे समिधो यजति के अनुवाद होने पर समित् देवता का विधान यह वाक्य नहीं कर सकता, इस बात का उपपादन किया है। स एष देवतायागसम्बन्धः—इसका भाव यह है कि यदि समित् तनूनपात् आदि देवता और याग का सम्बन्ध करना है, तो याग के विना किये उपपन्न नहीं हो सकता है। याग न करने पर समिधो यजति आदि प्रथम वाक्य अनर्थक हो जायेगा। क्रियमाणे तु—और याग करने पर तो देवता और याग का सम्बन्ध उपपन्न हो सकता है, इसलिये जैसे समिद् देवता का याग से सम्बन्ध करने के लिये पूर्वपक्षी उसका विधान मानता है, ऐसे ही तनूनपात् आदि देवताओं का याग से सम्बन्ध जोड़ने के लिये अभ्यास करना ही होगा॥२॥

व्याख्या—इस प्रकार पढ़ते हैं—यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां च अच्युतो भवति (=जो यह आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश है, वह अमावास्या और पौर्णमासी में अच्युत धर्मवाला होता है); तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव नौ उपांशु पौर्णमास्यां यजन् (=वे अग्नि और सोम देवता बोले कि आज्य का ही हमारे लिये उपांशु पौर्णमासी में यजन करें); ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पौर्णमासे प्रायच्छत् (=उन अग्नि और सोम देवता के लिये अग्नीषोमीय एकादशकपाल पुरोडाश पौर्णमास में दिया); ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम् (=इन्द्र देवतावाला दधि अमावास्या में होता है); ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्(=इन्द्र देवतावाला दूध

---

१. तै० सं० २।६।३॥
२. अनुपलब्धमूलम्।
३. तै० सं० २।५।२॥
४. तै० सं० २।५।४॥
५. अनुपलब्धमूलम्।

आघारमाघारयति[1]; आज्यभागौ यजति[2]; स्विष्टकृते समवद्यति[3]; पत्नीसंयाजान् यजति[4]; समिष्टयजुर्जुहोति[5]। तथा य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते[6]; य एवं विद्वानमावास्यां यजते[7] इति।

अमावास्या में होता है)। तथा आघारमाघारयति (=आघार का आघारण=धारा से छोड़ना करता है); आज्यभागौ यजति(=दो आज्यभागों का यजन करता है); स्विष्टकृते समवद्यति (=स्विष्टकृत् देवता के लिये अवदान करता है); पत्नीसंयाजान् यजति (=पत्नीसंयाजों का यजन करता है); समिष्टयजुर्जुहोति (=समिष्टयजु का होम करता है)। तथा य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते (=जो इस प्रकार से जाननेवाला पौर्णमास याग करता है', य एवं विद्वान् अमावास्यां यजते(=जो इस प्रकार जाननेवाला अमावास्या याग करता है)।

विवरण—अच्युतो भवति—वैदिक ग्रन्थों में 'अच्युत' शब्द प्राय: आद्युदात्त देखा जाता है। इस स्थान पर और शतपथ में ऐसे ही गिने चुने ५-६ स्थानों पर अच्युत अन्तोदात्त मिलता है। पाश्चात्य विद्वानों ने अन्तोदात्त अच्युत शब्द में स्वर-भ्रंश माना है। यह दो हेतुओं से चिन्त्य है। १—जिन तैत्तिरीय संहिता और शतपथब्राह्मण में अन्तोदात्त अच्युत पद श्रुत है, उन में सम्प्रदाय के अविच्छेद से एक भी पाठभेद उत्पन्न नहीं हुआ। तब उक्त स्थानों में स्वरभ्रंश की कल्पना, जिन्हें हमारे सम्प्रदाय के अविच्छिन्नत्व का ज्ञान नहीं है, वे ही कर सकते हैं। २—आद्युदात्त और अन्तोदात्त अच्युत शब्द में स्वरभेद स्पष्ट करता है कि दोनों में अर्थ का भेद है। प्रथम आद्युदात्त अच्युत शब्द में न च्युत:=अच्युत:='च्युत-भिन्न' अर्थ है। नञ् समास में अष्टा० ६।२।२ से आद्युदात्त होता है। अन्तोदात्त अच्युत शब्द में नास्ति च्युतं=च्युतिर्यस्मिन् स अच्युत:=च्युतत्वधर्मरहित, इस बहुव्रीहि समास में अष्टा० ६।२।१७२ से अन्तोदात्तत्व होता है। अन्तोदात्त अच्युत पद 'आग्नेय' 'अष्टाकपाल' का विशेषण है। यद्यपि तै० सं० २।६।३ के प्रकृत उद्धरण में अच्युत पद वाक्य के अन्त में पठित है, पुनरपि वह समानलिङ्ग होने से 'आग्नेय पुरोडाश' का विशेषण ही है। शतपथ ब्राह्मण में कई स्थानों पर उभयत्राच्युत आग्नेय: पुरोडाशो भवति (द्र०—श० ब्रा० १।४।२।१६; १।५।२।२२; १।७।३।१० आदि) श्रुतवाक्य में स्पष्ट ही अच्युत: पद आग्नेय पुरोडाश का विशेषण है। तावब्रूताम्...यजन् यह वचन शाखान्तर का है, ऐसा शबर स्वामी ने आगे २।२।१० के भाष्य में कहा है। सभी श्रौतसूत्रों में आग्नेय और अग्नीषोमीय पुरोडाश के मध्य में आज्य से उपांशुयाग का विधान किया है। उपांशुयाग में अग्नीषोम विष्णु और प्रजापति आदि का निर्देश मिलता है। इसमें व्यवस्था यह है कि जो सोमयाजी नहीं है, उसके लिये विष्णुदेवताक उपांशुयाग का विधान है, और जो सोमयाजी है, उसके लिये अग्नीषोमीय का। उपांशुयाग में केवल देवतावाची पद ही उपांशु बोला जाता है—प्रधानमेवोपांशु (आप० श्रौत २।१८।३) प्रधानं

---

१. द्र०—तै० सं० २।५।११॥
२. द्र०—तै० सं० २।६।२॥ ३. द्र०—तै० सं० २।६।६॥
४. द्र०—यत्पत्नीसंयाजा इज्यन्ते। शत० ब्रा० ११।२।७।३०॥ अथ पत्नी: संयाजयन्ति। शत० ब्रा० २।६।२।४॥ ५. शत० ब्रा० १।६।२।२५॥
६. तै० सं० २।६।९॥ ७. तै० सं० २।६।९॥

तत्र सन्देहः–सर्वाण्येतानि समप्रधानानि, उत आग्नेयादीनि पयोऽन्तानि प्रधानानि, आघारादीनि आरादुपकारकाण्यङ्गानि ? तथा य एवं विद्वान् इत्येवं संयुक्तौ प्रकृतानां कर्म्मणामनुवदितारौ, अथ वा य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं विद्वानमावास्यां यजते इत्यपूर्वयोः कर्म्मणोर्विधातारौ ? तत्र इतरे गुणविधयः इति। किं प्राप्तम् ? शब्दान्तरत्वादभ्यासाच्च समप्रधानानीति प्राप्ते ब्रूमः—

देवताभिधानम् (द्र०—टीका ग्रन्थ)। पौर्णमास्यां यजन्—'पौर्णमास्याम्' निर्देश से यह उपांशु याग पूर्णिमा में ही होता है। बौधायन आदि श्रौतों में अमावास्या में भी विहित है। इस विषय में उपांशुयाजः पौर्णमास्यामेव भवति इस आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (२।१८।२३) की व्याख्या में रुद्रदत्त ने लिखा है—बौधायनादिभिरमावास्यायामपि उपांशुयाजविधानात् तन्निरासार्थः पौर्णमास्यामेवेत्येवकारः। यजन् यह लेट् लकार के प्रथम पुरुष के बहुवचन का रूप है। लिङर्थे लेट् (अष्टा ३।४.७) के अनुसार लेट् का प्रयोग विधि में होता है।

ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम्; ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्—अमावास्या में विहित ऐन्द्र दधि और पय द्रव्यरूप सान्नाय्य हवि का विधान सोमयाजी के लिये ही है। असोमयाजी के लिये आग्नेय और ऐन्द्र पुरोडाश का ही विधान है। आघारमाघारयति—आघार यह कर्म का नाम है, यह पूर्व १।४।४ के भाष्य में कहा है। दोनों आघार आहुतियां कैसे देनी चाहियें, इसका वर्णन पूर्व १।४।४ के भाष्य-व्याख्यान के विवरण (भाग १, पृष्ठ २६८) में कर चुके हैं। आज्यभागौ यजति—आज्य भाग भी तत्प्रख्यन्याय (मी० १।४।४) के अनुसार कर्म का नाम है। पत्नीसंयाजान् यजति यह भी तत्प्रख्यन्याय (मी० १।४।४) के अनुसार कर्म का नाम है।

व्याख्या—इनमें संशय है कि—[उक्त] ये सब कर्म सम-प्रधान (=बराबरी के प्रधान) हैं, अथवा आग्नेयादि [पुरोडाश] से लेकर पयोऽन्त (='ऐन्द्रं पयः' तक) प्रधान कर्म हैं, और आघार आदि कर्म आरात् (=समीपता) से [प्रधान के] उपकारक अङ्ग हैं ? तथा य एवं विद्वान् इस प्रकार संयुक्त दोनों [वाक्य] प्रकृत में उक्त कर्मों के अनुवादक हैं, अथवा य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं विद्वान् अमावास्यां यजते ये अपूर्व कर्म के विधायक हैं ? इस पक्ष में इतर (=अन्य) गुणविधियां हैं। क्या प्राप्त होता है ? शब्दान्तर होने से तथा अभ्यास होने से समप्रधान हैं। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—आरादुपकारकाणि—इसका भाव यह है किसी प्रधानकर्म के समीप पठित होने से प्रधान के उपकारक कर्म हैं। इन्हें सन्निपत्योपकारक भी कहते हैं। इस प्रकार के कर्म प्रधानकर्म के उपकारक होने से गुणकर्म होते हैं। शब्दान्तरत्वात्—अच्युतो भवति, प्रायच्छत्, आघारयति, अवद्यति, जुहोति ये विधायक शब्द एक-दूसरे से भिन्न हैं। अभ्यासात्—यजन् यजति यजते आदि में शब्द (=यज धातु) का अभ्यास है। शब्दान्तर होने से पृथक् अपूर्वोत्पादक कर्म होते हैं, यह प्रथम अधिकरण में कहा है, और अभ्यास से कर्मभेद होता है, यह द्वितीय अधिकरण में कहा है।

प्रकरणं तु पौर्णमास्यां रूपावचनात् ॥३॥ (उ०)

प्रकरणं तु पौर्णमास्याम्, प्रकृतानामाग्नेयादीनामनुवदितारौ पौर्णमास्यमावास्या-संयुक्तौ। कुतः? रूपावचनात्। 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीसंज्ञकं यागं यजते'. इति न सर्वे यागा उच्यन्ते। यः पौर्णमासीसंज्ञकः स विधीयते। न चैतदेवमवगच्छामः— कीदृशमेवंसंज्ञ-कस्य यागस्य रूपमिति? तेन न किञ्चित् प्रतिपद्येमहि। अतो ब्रूमः—यद्यपूर्वस्य विधातारौ अनर्थकाविति। अथ नु प्रकृतानामनुवदितारौ, ततः सन्निहिताः पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्ता यागा इति गम्यते रूपम्। तत्रार्थवत्ता वचनस्य। कथं पुनरेकवचनान्तो बहूनां वाचको भविष्यतीति यद्युच्यते? समुदायशब्दतयाऽवकल्पिष्यते। रूपवन्तो हि पूर्वंप्रकृता यागाः। तेषां च प्रचयशिष्टः समुदायोऽप्यस्ति। तदपेक्षोऽयमरूपशब्दः। तस्मादेकवचनान्तता न

प्रकरणं तु पौर्णमास्यां रूपावचनात् ॥३॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द अवधारण=निश्चय को कहता है। (पौर्णमास्याम्) यह पद अमावास्या का भी उपलक्षक है। और साहचर्य से **पौर्णमासीं अमावास्यां** पदघटित वाक्यों का बोधक है। अर्थ होगा—पौर्णमासी और अमावास्या पदघटित य एवं विद्वान् वाक्यों में (प्रकरणम्) प्रकृत **यदाग्नेयोऽष्टाकपालः** आदि वाक्यविहित कर्मों का अनुवाद (तु) ही है। (रूपावचनात्) याग के रूप=देवता का कथन न होने से।

व्याख्या—निश्चय ही पौर्णमासी पदघटित वाक्य में प्रकरण का अनुवाद है, प्रकृत आग्नेयादि यागों के अनुवादक हैं—पौर्णमासी और अमावस्या पद से संयुक्त [य एवं विद्वान्] वाक्य। किस हेतु से। [इन वाक्यों में] रूप (=याग के स्वरूप द्रव्य देवता) का कथन न होने से। 'इस प्रकार जो विद्वान् पौर्णमासीसंज्ञक याग को करता है', इससे सब याग नहीं कहे जाते हैं। अपितु जो पौर्णमासीसंज्ञक है, उसका विधान किया जाता है। [इस वाक्य से] हम यह नहीं जान पाते हैं कि—इस (=पौर्णमासी) संज्ञकयाग का रूप क्या है? इस कारण किसी भी अर्थ को हम नहीं जानते। इसलिये हम कहते हैं—यदि ये [य एवं विद्वान्] वाक्य अपूर्वकर्म के विधायक हैं; तो अनर्थक हैं। और यदि प्रकृत [आग्नेय आदि] के अनुवादक हैं, तो उनसे समीप पठित पौर्णमासी और अमावास्या से संयुक्त याग [कहे जाते हैं, ऐसा] होने पर यागों का रूप जाना जाता है। इस पक्ष में वचन की अर्थवत्ता होती है [अर्थात् अनुवादकरूप से वचन प्रयोजनवाला होता है]। और यदि यह कहो कि एकवचनान्त [पौर्णमासीम् और अमावास्याम्] पद बहुत यागों के वाचक कैसे होंगे? तो समुदायवाचक शब्द के रूप से कल्पना कर लेंगे [कि ये पद पौर्णमासी और अमा-वास्या से सम्बद्ध यागों के समुदाय को कहते हैं]। पूर्व प्रकृत [आग्नेय आदि] याग रूपवान् (=द्रव्य देवता से युक्त) हैं। उन यागों का प्रचय (=समूह) रूप से उक्त समुदाय भी हैं। उस [समुदाय] की अपेक्षा से यह (=पौर्णमासीम् अमावास्याम्) अरूप शब्द है। [अर्थात् बहुत कर्मों के अनुवाद के लिये बहुवचन से असम्बद्ध शब्द है]। इसलिये [पौर्णमासीम् अमावास्याम् में]

दोषः। भवति हि बहूनामेकवचनान्तः शब्दः समुदायापेक्षः। यथा—यूथं वनं कुलं परिषदिति। यदा आग्नेयादीनां समुदायवचनावेतौ, तदा दर्शपौर्णमासशब्देन एत एवाभिधीयन्ते। तत एषां फलसम्बन्धः। फलवत्सन्निधेस्तु आघारादीन्यारादुपकारकाणीति ॥३॥

विशेषदर्शनाच्च सर्वेषां समेषु ह्यप्रवृत्तिः स्यात् ॥४॥ (उ०)

एकवचनान्तता दोष नहीं है। बहुतों को कहनेवाला समुदाय की अपेक्षा से एकवचनान्त शब्द होता ही है। जैसे—यूथम्, वनम्, कुलम्, परिषद् आदि। जब ये [य एवं विद्वान् पदघटित दोनों वाक्य] आग्नेयादि समुदाय के वाचक हैं, तब [दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः[1] वाक्य में] दर्श और पौर्णमास शब्द से ये [आग्नेय आदि याग] ही कहे जाते हैं। [अर्थात् दो समुदायों की अपेक्षा से दर्शपौर्णमासाभ्याम् द्विवचन भी उपपन्न होता है।] उस दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः वाक्य] से इन आग्नेयादि यागों का [स्वर्गरूप] फल के साथ सम्बन्ध होता है। फलवान् [आग्नेयादि यागों] की सन्निधि से [फलरहित] आघारादि याग आराद् उपकारक हैं ॥३॥

विवरण—प्रकरणं तु पौर्णमास्याम्—सूत्र में पौर्णमासी शब्द प्रकरणगत अमावास्या का भी उपलक्षक है। क्योंकि सहपठित शब्दों में एक के निर्देश से अन्य सहपठित पद भी बुद्धि में उपस्थित हो जाता है। रूपावचनात्—याग का स्वरूप द्रव्यं देवता त्यागः (कात्या० श्रौत १।२।२) अर्थात् देवता के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग 'याग' कहाता है। इसमें से त्यागरूप अंश यजते पद से उक्त हो जाता है। केवल द्रव्य और देवता ही बचते हैं, जिनका य एवं विद्वान् वचनों में निर्देश नहीं है। अतः रूपावचनात् का 'द्रव्य देवतारूप यागस्वरूप का कथन न होने से' तात्पर्य है। इसीलिये कुतुहलवृत्ति (२।१।३) में लिखा है—द्रव्यदेवते यागस्य रूपम्। तस्य देवतोद्देश्यकद्रव्यत्यागात्मकत्वात्, तद् वचनस्य द्रव्यदेवताप्रापकस्याभावात् ॥३॥

विशेषदर्शनाच्च सर्वेषां समेषु ह्यप्रवृत्तिः स्यात् ॥४॥

सूत्रार्थः—(विशेषदर्शनात्) [प्रयाजादि के विषय में विकृतियागों में] विशेष=विधेयविशेष के दर्शन से (च) भी आग्नेयादि समप्रधान नहीं हैं। (सर्वेषाम्) सब आग्नेय आघार प्रयाज आदि के (समेषु) समान=समप्रधान होने पर [विकृति यागों में प्रयाज आदि की] (हि) निश्चय से (अप्रवृत्तिः) प्रवृत्ति का अभाव (स्यात्) होवे।

विशेष—कुतुहलवृत्ति आदि कुछ ग्रन्थों में 'सर्वेषाम्' के स्थान में 'पूर्वेषाम्' पाठ मिलता है। इस पाठ में भी 'पूर्वेषाम्' शब्द से पूर्व उपात्त आग्नेयादि यागों का ही ग्रहण होता है। इस कारण शाब्दिक पाठभेद होने पर भी अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

---

१. द्र०—मीमांसा शाबरभाष्य ४।४।३४ में उद्धृत वचन, तथा आप० श्रौतसूत्र ३।१४।८॥

यदि च सर्वाणि समप्रधानान्यभविष्यन्, न विकृतौ प्रयाजा अद्रक्ष्यन्त[1]। दृश्यन्ते तु—प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति[2] इति। असत्याग्नेयगुणत्वे प्रयाजस्य तन्नोपपद्यते। अतो न सर्वाणि समप्रधानानि ॥४॥

व्याख्या—यदि सभी [आग्नेय आघार प्रयाज आदि] सम-प्रधान (=एक जैसे प्रधान) होते, तो विकृति में प्रयाज यागों का दर्शन न होता। परन्तु [विकृति यागों में प्रयाज याग] देखे जाते हैं—प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति (=प्रति प्रयाज कृष्णल=सुवर्णनिर्मित गुञ्जा के परिमाण[3] के दाने का होम करता है)। प्रयाज के आग्नेय याग के प्रति गुणरूप न होने पर [विकृति याग में] प्रयाज का [जो दर्शन है वह] उपपन्न नहीं होता है। इसलिये सब [आग्नेयादि] सम-प्रधान नहीं हैं ॥४॥

विवरण—समप्रधानानि⋯प्रयाजा अद्रक्ष्यन्त—इसका भाव यह है कि प्रकृतियाग दर्शपौर्णमास में जो गुण कर्म होते हैं, उनका ही प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या इस अतिदेश से विकृतियागों में प्राप्ति होती है। क्योंकि विकृति यागों में सर्वत्र प्रधान कर्म का विधान तो होता ही है, उसे पूर्ण करने के लिये जिन सहायक गुण कर्मों की आवश्यकता होती है, वे वहां पठित नहीं होते। इसलिये उन्हें इतिकर्त्तव्या की आकांक्षा होती है। उस आकांक्षा की पूर्ति प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या अतिदेश से पूर्ण होती है। यदि पूर्व सूत्र भाष्य में निर्दिष्ट आग्नेय आदि सभी याग बराबर के प्रधान होवें, तो पूर्व अनिर्दिष्ट प्रयाजयाग भी प्रधान होगा। उसके प्रधान होने से सौर्यादि विकृति-यागों में उपस्थिति दिखाई नहीं पड़ेगी, अर्थात् उनकी उपस्थिति नहीं होगी। दृश्यन्ते तु प्रयाजे-प्रयाजे—परन्तु प्रयाजयागों की उपस्थिति सौर्यादि विकृतियागों में उपलब्ध होती है। यथा—यो ब्रह्मवर्चसकामः स्यात्, तस्मा एतं सौर्यं चरुं निर्वपेत् [तै० सं० २।३।२] (=जो ब्रह्मवर्चस् की कामनावाला होवे, उसके लिये इस सूर्यदेवताक चरु से याग करे) इस वाक्यविहित सौर्ययाग में श्रुत है—प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति इस वचन से प्रकृत सौर्ययाग में प्रति प्रयाज कृष्णल की आहुति देने का विधान है। यदि प्रयाजयाग प्रधानकर्म होवें, तो उसका दर्शन प्रकृत सौर्ययाग में उपलब्ध नहीं होना चाहिये। कृष्णलं जुहोति—'कृष्णल' यह गुञ्जा (=भाषा में रत्ती) द्रव्य का वाचक है। यह आधा काला और आधा लाल वर्ण का होता है। यह परिमाण=नाप की एक छोटी इकाई माना जाता है। आठ रत्ती=आठ गुञ्जा का एक माषा परिमाण होता है। प्रकृत सौर्ययाग में कृष्णल=गुञ्जा=रत्ती परिमाणवाले सुवर्ण के दान को घृत से चुपड़ कर प्रति-प्रयाज आहुति दी जाती है। आग्नेयगुणत्वे—यहां आग्नेय शब्द आग्नेय आदि तीन प्रधान यागों का उपलक्षक है ॥४॥

१. मुद्रितभाष्यपुस्तकेषु 'प्रयाजा दृश्यन्ताम्' इत्यपपाठः।

२. तै० २।३।२॥

३. द्र०—शतकृष्णलां निर्वपेत् (तै० सं० २।३।२) अत्राह भट्टभास्करः—शतं स्वर्णानि कृष्णलानि कृष्णलतुलितानि परिमाणमस्याः⋯तथोक्ता।

गुणस्तु श्रुतिसंयोगात् ।५।। (पू०)

नैतदस्ति—पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्तौ समुदायशब्दाविति । किन्त्वपूर्वयोः कर्म्मणोर्विधातारौ । तथा न लक्षणाशब्दो भविष्यति । ननु रूपं नास्ति ? वाक्यान्तरेण रूपमवगमिष्यामः । पौर्णमास्यामाग्नेयोऽष्टाकपालो भवतीति, यदेतत् पौर्णमासीनाम कर्म, तस्यैतद् रूपम्—अग्निर्देवता पुरोडाशो द्रव्यमिति । अत आग्नेयादिभिर्गुणो विधीयते इति ।५।।

चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्राच्चोदिते हि तदर्थत्वात्तस्य तस्योपदिश्येत ।।६।।(उ०)

गुणस्तु श्रुतिसंयोगात् ।।५।।

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है । अर्थात् य एवं विद्वान् वाक्यस्थ पौर्णमासी और अमावास्या संयुक्त समुदायशब्द नहीं हैं, अपितु अपूर्व कर्म के विधायक हैं । (गुण) गुण=द्रव्य देवता का विधान (श्रुति संयोगात्) यदाग्नेयोऽष्टाकपालः आदि श्रुति के संयोग से जाना जायेगा । अर्थात् यदाग्नेयोऽष्टाकपालः आदि श्रुति अपूर्वकर्म की विधायिका नहीं है, अपि तु गुण=द्रव्य देवता की विधायिका है ।

व्याख्या—यह [पक्ष] नहीं है कि—पौर्णमासी और अमावास्या संयुक्त समुदायशब्द हैं । किन्तु अपूर्व कर्म के विधायक हैं । ऐसा करने पर [य एवं विद्वान् वाक्यस्थ पौर्णमासी और अमावास्या शब्दसमुदाय को कहनेवाला] लक्षणाशब्द भी नहीं होगा । (आक्षेप) यह कहा था कि [याग के] रूप (=द्रव्य देवता) का निर्देश नहीं है ? (समाधान) वाक्यान्तर से रूप (=द्रव्य देवता) को जान लेंगे । पौर्णमासी में आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश होता है; से जो पौर्णमासी नाम कर्म है, उस का यह रूप है—अग्नि देवता और पुरोडाश द्रव्य है । इसलिये आग्नेयादि (=यदाग्नेयोऽष्टाकपालः आदि) से [द्रव्य देवता रूप] गुण का विधान है ।।५।।

चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्राच्चोदिते हि तदर्थत्वात्तस्य तस्योपदिश्येत ।।६।।

सूत्रार्थः—(चोदना) यदाग्नेयोऽष्टाकपालः आदि वाक्य आग्नेय याग के चोदक=विधायक (वा) ही होवें, (गुणानाम्) अग्नि देवता और पुरोडाशरूप अनेक गुणों के (युगपत्) एक साथ (शास्त्रात्) शास्त्र=शासन=विधान करने से । अर्थात् यदाग्नेयोऽष्टाकपालः आदि वाक्यों में युगपत् अनेक गुणविशिष्ट कर्म का विधान करने से । (चोदिते) य एवं विद्वान् वाक्य से विहित कर्म में (हि) ही [आग्नेयादि वाक्यविहित गुणों के विधान मानने पर आग्नेयादि गुणों के] (तदर्थत्वात्) य एवं विद्वान् वाक्यविहित कर्म के लिये होने से (तस्य-तस्य) उस-उस अग्नि अष्टाकपाल आदि गुणों का [पृथक्-पृथक्] (उपदिश्येत) उपदेश होवे । अर्थात् प्रत्येक गुण के विधान के लिये वाक्यभेद करना पड़ेगा ।

कर्म्मचोदना वा आग्नेयादयः स्युः । कुतः? गुणानां युगपच्छासनात् । एकेनैव वाक्येनात्रानेको गुणो विधातुमिष्यते भवता । न च शब्दन्तरेण चोदिते कर्मण्यनेको गुणः परस्परसम्बन्धे चाऽसति शक्यते विधातुम् । कथम् ? यदि तावत् 'पौर्णमास्यामष्टाकपालो भवति' इति सम्बन्धो विवक्षितः, न तदाऽयमर्थोऽष्टाकपालः सत्तयाऽभिसम्बद्ध्यते इति । कस्तर्हि ? अष्टाकपालः पौर्णमास्याऽभिसम्बद्ध्यते इति । तत्र तदा भवतिर्वर्त्तते । तदानीमाग्नेय इत्ययमस्यान्तिकादप्युपनिपतितो 'भवति'-सम्बन्धाभावान्नानेन सम्बन्धुमर्हति—अष्टाकपाल आग्नेयो भवतीति । 'अथाग्नेयः पौर्णमास्यां भवति' इति विवक्ष्यते, तदाग्नेयपुरोडाशयोरसम्बन्ध एव स्यात् । अथ पौर्णमास्यामष्टाकपालस्याग्नेयता विधीयते, तत्र[1] वक्तव्यम्, केन तस्यामष्टाकपालो विहित इति ? अथ तस्यामाग्नेयस्याष्टाकपालता, तथाप्येष दोषः ।

विशेष—नव्य मीमांसकों के मतानुसार य एवं विद्वान् वाक्यश्रुत यजेत=यागेन भावयेत् प्रत्ययांश रूप भावना की बार-बार आवृत्ति करके अग्नि आदि देवताओं और अष्टाकपाल आदि पुरोडाशों को कहना होगा । किससे याग को सिद्ध करे ? अग्निदेवता से सिद्ध करे; अष्टाकपाल पुरोडाश से सिद्ध करे; अग्नीषोमीय देवता से सिद्ध करे; एकादशकपाल से सिद्ध करे आदि रूप से । सकृत् उपदिष्ट भावना की पुनः पुनः आवृत्ति युक्त नहीं है [द्र०—कुतुहलवृत्ति] ।

व्याख्या—कर्म के चोदक (=कहनेवाले) ही आग्नेय आदि वाक्य होवें । किस हेतु से ? गुणों के एक साथ शासन (=उपदेश) करने से । आप यहां एक ही वाक्य से अनेक गुणों का विधान करना चाहते हैं । शब्दान्तर (=य एवं विद्वान् वाक्य) से कर्म के कह देने पर अनेक गुण और वह भी परस्पर सम्बन्ध न होने पर विधान नहीं किया जा सकता है । कैसे ? यदि 'पौर्णमासी में अष्टाकपाल पुरोडाश होता है' यह संबध विवक्षित है, तब यह अष्टाकपाल अर्थ सत्ता (='भवति' क्रिया) से सम्बद्ध नहीं होता है । [अर्थात् 'अष्टाकपाल पुरोडाश होता है' यह अर्थ नहीं जाना जाता है ।] तो कौन संबद्ध होता है ? अष्टाकपाल पौर्णमासी में सम्बद्ध होता है । तब उस [सम्बन्ध के विधान] में 'भवति' क्रिया वर्तमान होती है । उस समय आग्नेयः यह इस (=अष्टाकपालः) के समीप भी विद्यमान होता हुआ 'भवति' सम्बन्ध के अभाव से इस (=अष्टाकपालः पद) के साथ सम्बन्ध नहीं कर पाता है—'अष्टाकपाल आग्नेय होता है' [इस प्रकार] । और यदि 'आग्नेय (=अग्निदेवतावाला) पौर्णमासी में होता है' ऐसी विवक्षा करते हो, तब आग्नेय और पुरोडाश के सम्बन्ध का अभाव ही होवे । और यदि पौर्णमासी में अष्टाकपाल की आग्नेयता का विधान करते हो, तो वहां पर कहना होगा कि उस (पौर्णमासी) में किससे अष्टाकपाल का विधान हुआ है ? और यदि उस (=पौर्णमासी) में आग्नेय की अष्टाकपालता का विधान करते हो, तब भी यह दोष है [कि आग्नेय का पौर्णमासी में किससे विधान हुआ है] ।।६।।

विवरण—शक्यते विधातुम्—अन्य वाक्य से कर्मान्तर का विधान होने पर अनेक गुणों का

---

१. पदमिदं मुद्रितभाष्यपुस्तकेषु नोपलभ्यते ।

अथ पौर्णमासीत्युभाभ्यां सम्बद्धयेत, परस्परेण द्रव्यदेवतयोरसम्बन्ध एव स्यात्। अथ द्रव्यदेवते परस्परेण विशिष्टे सत्यौ पौर्णमास्या सम्बद्धयेतामित्युच्यते, आग्नेयोऽष्टाकपालो यः स पौर्णमास्यां भवतीति। तस्याऽप्रसिद्धत्वादेतदप्ययुक्तम्। अथ केनचिदग्नये सङ्कल्पितः[1] पौर्णमास्यां विधीयते, तथापि देवताया अविधानाद्रूपाभाव एव। अथाऽग्निर्देवता भविष्यतीति कश्चिद् ब्रूयात्। स वक्तव्यः-मिथश्चानर्थसम्बन्धः[2] इति। न हि आग्नेयशब्दोऽनुवादो विधिश्च भवतीति। कल्पयिष्यामो देवतामिति चेन्न। असति विधाने देवताया अभावात्। सम्बन्धिशब्दोऽयं देवतेति। स एवाग्निरष्टाकपालस्य देवता, नाज्यस्य। तस्मादवश्यमाग्नेयाष्टाकपालसम्बन्धो विधातव्यः। स एष यागो भवतीति। तेन पौर्णमासीयागस्याऽपरो यागः सम्बन्धी विधीयते, न द्रव्यं देवता वा। न च यागस्य यागाऽन्तरं रूपं भवति। अतो रूपावचनात् पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्तौ नापूर्वयोः कर्मणो-

---

युगपत कथन नहीं हो सकता है। प्रतिगुण सम्बन्ध का विधान करने के लिये वाक्यभेद होगा। कथम्—इस प्रकरण से वाक्यभेद से बचने के लिये य एवं विद्वान् वाक्य से कर्म का विधान मानने पर यदि एक-एक गुण का सम्बन्ध मानने पर, जो दोष उपस्थित होते हैं, उनका निर्देश किया है।

व्याख्या—यदि पौर्णमासी दोनों के साथ सम्बद्ध की जाये [पौर्णमास्याम् आग्नेयो भवति, पौर्णमास्याम् अष्टाकपालो भवति],तो द्रव्य (=अष्टाकपाल पुरोडाश) और देवता (=अग्नि) के परस्पर सम्बन्ध का अभाव ही होवे। और यदि द्रव्य और देवता परस्पर विशिष्ट होकर पौर्णमासी के साथ सम्बद्ध होवें ऐसा कहते हो, तो आग्नेय जो अष्टाकपाल पुरोडाश है वह पौर्णमासी में होता है। उसके अप्रसिद्ध होने से यह [कहना] भी अयुक्त है। और यदि किसी के द्वारा अग्नि के लिये संकल्पित [पुरोडाश] पौर्णमासी में कहा जाता है, उस अवस्था में भी देवता के न कहने से [याग के] रूप का अभाव ही होता है। [अर्थात् 'पौर्णमासी याग का देवता अग्नि है' यह तो कहा ही नहीं गया]। और यदि कोई कहे कि अग्नि देवता हो जायेगा। उसे कहना चाहिये कि—'परस्पर अर्थ सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता है' (मी० १।४।१५)। आग्नेय शब्द अनुवाद और विधि (=देवताविधायक) नहीं हो सकता है। यदि कहो कि देवता की कल्पना कर लेंगे, तो यह भी ठीक नहीं है। विधान के न होने पर देवता का अभाव होने से। यह देवता शब्द सम्बन्धिशब्द है। वही अग्नि अष्टाकपाल का देवता है, आज्य का नहीं। इस हेतु से आग्नेय और अष्टाकपाल के सम्बन्ध का विधान करना आवश्यक है। वह(=आग्नेय और अष्टाकपाल का सम्बन्ध होना)यह याग होता है। [अर्थात द्रव्य देवता याग का स्वरूप होने से याग का बोधक हो जाता है।] इस कारण यह (=आग्नेय पुरोडाश याग) पौर्णमासीयाग का सम्बन्धी अन्य याग विहित होता है, केवल द्रव्य वा देवता का विधान नहीं होता है। और याग का यागान्तर रूप नहीं होता है। इस कारण [य एवं विद्वान् वाक्य में याग के] रूप (=द्रव्य देवता) का कथन न होने से पौर्णमासी

---

१. णिजन्तः संकल्पितशब्दः। केनचिद् वाक्येन रुक्कामादियुक्तेन विहित इत्यर्थः, इति तन्त्रवार्तिके भट्टपादाः। २. मीमांसा १।४।१५।

विधातारौ । यत्तूक्तम्—'पौर्णमास्यमावास्याशब्दौ लक्षणया प्रकृतान् यागाननुवदितुं शक्नुतो, नाञ्जस्येनेति ।' नैष दोषः। यदा आञ्जस्येन शब्दार्थो नावकल्पते, तदा लक्षणयाऽपि कल्प्यमानः साधुर्भवति । यथा—अग्नौ तिष्ठति, अवटे तिष्ठति, अग्निसमीपे अवटसमीपे तिष्ठतीति भवति सव्यवहारः। लक्षणाऽपि हि लौकिक्येवेति ॥६॥

अमावस्या संयुक्तवाक्य अपूर्व कर्म के विधायक नहीं हैं । और जो यह कहा है—'[य एवं विद्वान् वाक्यस्थ] पौर्णमासी अमावास्या शब्द लक्षणा से प्रकृत [आग्नेयादि] यागों को कहेंगे, सरलता (=अभिधावृत्ति) से नहीं कहेंगे ।' यह दोष नहीं है । जब सरलता (=अभिधावृत्ति) से शब्दार्थ का अर्थ उपपन्न नहीं होता है, तब लक्षणा से भी कल्पित किया हुआ साधु होता है । जैसे—अग्नौ तिष्ठति (=आग में ठहरता है), अवटे तिष्ठति (गड्ढे में ठहरता है) [का] अग्नि के समीप वा गढ्डे के समीप ठहरता है, ऐसा संव्यवहार होता है । लक्षणा भी लौकिकी ही है ॥६॥

विवरण—परस्परेण विशिष्टे स्यौ—इसका भाव यह है कि जैसे **सोमेन यजेत** (तु०—तै० सं० ३।२।२) वाक्य में सोमद्रव्यविशिष्ट याग का यजेत पदगत प्रत्ययवाच्य भावना के साथ सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार यहां भी अग्नि देवता और अष्टाकपाल पुरोडाश द्रव्य परस्पर मिलकर **य एवं विद्वान् पौर्णमास्यां यजते** वाक्यविहित पौर्णमासीयाग से सम्बद्ध होंगे । जो आग्नेय अष्टाकपाल द्रव्य है, वह पौर्णमासी याग में होता है=पौर्णमासी याग से सम्बद्ध होता है । **तस्य अप्रसिद्धत्वात्**—आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश द्रव्य का कहीं विधान न होने से वह अप्रसिद्ध है । **अथ केनचिदग्नये संकल्पितः**—इसका साधारण अर्थ यह प्रतीत होता है कि—'किसी अनुष्ठाता के द्वारा संकल्पित आग्नेय अष्टाकपाल द्रव्य का पौर्णमासी में विधान किया जाता है ।' इस पर भट्ट कुमारिल का कहना है कि यह अभिप्राय युक्त नहीं है । क्योंकि इसमें अन्य के द्वारा आरब्ध कर्म के मध्य में उस यजमान द्वारा संकल्पित हवि का हरण करना है । इसलिये 'संकल्पित' शब्द णिजन्त जानना चाहिये । किसी वाक्य के द्वारा विहित द्रव्य अर्थ जानना चाहिये । यथा—**आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेद् रुक्कामः** (तै० सं० २।३।२) वाक्य द्वारा जो आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश है, उसका पौर्णमासी याग में विधान करेंगे । **देवताया अविधानात्**- अग्निदेवताविशिष्ट पुरोडाश का विधान कर देने पर भी देवता का साक्षात् विधान न होने से याग का रूप नहीं बनता । **अग्निर्देवता भविष्यतीति**—इसका तात्पर्य यह है कि आग्नेय पद अष्टाकपाल पुरोडाश के साथ सम्बद्ध होकर याग के साथ भी सम्बद्ध हो जायेगा । इसका उत्तर दिया है—**मिथश्चानर्थसम्बन्धः**—यह मीमांसा १।४।१५ का सूत्र है । वहां पर प्रसङ्ग है कि चातुर्मास्य के प्रथम वैश्वदेव पर्व में कहा है—**वैश्वदेवेन यजेत** (=वैश्वदेव से यजन करे) । इस पर विचार किया है कि क्या यह **वैश्वदेवेन** पद गुणविधि है, अथवा कर्म का नाम है । गुणविधि पक्ष में विश्वेदेव देवताओं का विधान होगा । उस अवस्था में इसी वैश्वदेव पर्व में विहित आग्नेय आदि देवताओं के साथ विकल्प होगा । इस पर सिद्धान्ती ने उत्तर दिया है कि **वैश्वदेवेन** कर्म का नाम है । विश्वेदेव देवता का विधानरूप गुणविधि नहीं है । इसी प्रसङ्ग में **मिथश्चानर्थसम्बन्धः** सूत्र है । इसका भाव यह है कि **वैश्वदेवेन यजेत** वाक्यस्थ एक बार उच्चरित **वैश्वदेवेन** शब्द आग्नेयादि यागसमूह को भी लक्षित करे, और

व्यपदेशश्च तद्वत् ॥७॥ (उ०)

उग्राणि ह वा एतानि हवींषि अमावास्यायां सम्भ्रियन्ते, आग्नेयं प्रथममैन्द्रे उत्तरे[1] इति समुच्चयं दर्शयति । आग्नेयादीनां गुणत्वे विकल्पः स्यात् । तत्राग्नेयं प्रथमम्, ऐन्द्रे उत्तरे द्वे इति व्यपदेशो नावकल्पेत । विकल्पे सम्भारपौर्वापर्य्यानुपपत्तिरिति ॥७॥

वैश्वदेव याग को उद्देश करके विश्वेदेव देवताओं का विधान करे, यह मिथः=परस्पर (अनर्थं सम्बन्धः) अर्थसम्बन्ध उपपन्न नहीं होता है। क्योंकि एक पक्ष में वैश्वदेवेन पद विधायक होगा, और दूसरे पक्ष में अनुवादक होगा । इसी प्रकार यहां भी आग्नेय शब्द अनुवाद भी होवे और विधि भी, यह दो प्रकार का सम्बन्ध उपपन्न नहीं होगा । कल्पयिष्यामो देवताम्—इसका भाव यह है कि अष्टाकपाल सम्बद्ध आग्नेय पद से ही अग्नि देवता की याग में कल्पना कर लेंगे । इसका उत्तर दिया है—सम्बन्धिशब्दोऽयम्—आग्नेय शब्द का अर्थ है—'अग्नि देवता है जिस अष्टाकपाल पुरोडाश का वह आग्नेय होता है।' द्र०—सास्य देवता (अष्टा० ४।२।२३; प्रकरण थ अग्नेर्ढक् (अष्टा० ४।२।३२) सूत्र । इसी का फलितार्थ भाष्यकार ने कहा है—अग्निरष्टाकपालस्य देवता नाज्यस्य । इस कारण पौर्णमासी याग में आग्नेय अष्टाकपाल हवि का सम्बन्ध करने पर भी देवता का विधान अवश्य करना पड़ेगा। स एव यागो भवति—जब देवता का भी विधान कर देंगे, तो देवता और आग्नेय अष्टाकपाल हवि दोनों याग का स्वरूप बन जायेंगे । इस प्रकार यदाग्नेयोऽष्टाकपालः से पौर्णमासी याग से सम्बन्ध रखनेवाला यागान्तर विहित होगा, द्रव्य वा देवता का विधान नहीं होगा । एक याग का यागान्तर का रूप न बन सकने के कारण य एवं विद्वान् वचन याग रूप=द्रव्य और देवता से युक्त न होने के कारण प्रकृत आग्नेयादि यागों के अनुवादक ही हैं ॥६॥

व्यपदेशश्च तद्वत् ॥७॥

सूत्रार्थः—(व्यपदेशः) व्यपदेश=कथन=व्यवहार (च) भी (तद्वत्) वैसा ही होता है, जिससे आग्नेयादि यागों के समुच्चय का बोध होता है ।

व्याख्या—उग्राणि ह वा एतानि हवींषि अमावास्यायां सम्भ्रियन्ते, आग्नेयं प्रथममैन्द्रे उत्तरे (=निश्चय ही ये उग्र हवियां अमावास्या कर्म में समाहृत होती हैं, जो प्रथम आग्नेय हवि है और उत्तर दो ऐन्द्र हवियां) यह वचन समुच्चय को दर्शाता है। [यदि यदाग्नेयोऽष्टाकपालः आदि वाक्यों को य एवं विद्वान् वाक्यविहित पौर्णमासी अमावस्या याग में गुण विधि मानें, तो] आग्नेय आदि हवियों के गुण होने पर [आग्नेय पुरोडाश ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पय हवियों में] विकल्प होवे। वहां (=विकल्प होने पर) आग्नेयं प्रथमम्, ऐन्द्रे उत्तरे द्वे ऐसा कथन न बने। क्योंकि विकल्प होने पर सम्भार (=हवियों) के पौर्वापर्य [जो प्रथम और उत्तर शब्दों से दर्शाया है] की उपपत्ति नहीं होगी ॥७॥

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥८॥ (उ०)

लिङ्गं च दृश्यते—चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते, त्रयोदशामावास्यायाम्[1] इति ॥८॥

इत्याघाराद्याग्नेयादीनामङ्गाङ्गिभावाऽधिकरणम् ॥३॥

विवरण—सम्भ्रियन्ते—इसका अर्थ है—संह्रियन्ते=इकट्ठी की जाती हैं। वैदिकभाषा में मं पूर्वक 'हृ' के हकार को भकार आदेश होता है—हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य (वार्तिक महा० ८।२।३५)। प्रकृत्यन्तर पक्ष में संपूर्वक भृञ् भरणे धातु को संपूर्वक हृञ् हरणे के अर्थवाली जानना चाहिये। बहुवचन-निर्देश से अमावस्या कर्म में तीन का समुच्चय बोधित होता है। **ऐन्द्रे उत्तरे**—**ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम्, ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्** वचन से विहित इन्द्र देवतावाली दधि और पयोरूप हवियां। हम पूर्व कह चुके हैं कि अमावास्या कर्म में सोमयाजी के लिये ही आग्नेय पुरोडाश के साथ ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पय: हवि का निर्देश है। असोमयाजी के लिये दधि और पय: के स्थान में पुरोडाश का विधान है ॥७॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥८॥

सूत्रार्थः—[आग्नेयादि हवियों के समुच्चय में] (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन=उपलब्ध होने से (च) भी आग्नेयादि हवियों का समुच्चय है, विकल्प नहीं है।

व्याख्या—लिङ्ग भी देखा जाता है—चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते, त्रयोदशामावास्यायाम्(=पौर्णमासयाग में चौदह आहुतियां दी जाती हैं, और अमावास्यायाग में तेरह ॥८॥

विवरण—चतुर्दश पौर्णमास्याम्—यह वचन संकर्षकाण्ड अ० २, पा० २, सूत्र ३० में इति पद के निर्देश से पठित—**समस्यवादो वा यथा चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते, त्रयोदशामावास्यायामिति**। इससे स्पष्ट है कि सूत्रकार जैमिनि[2] ने यह वचन किसी वैदिक ग्रन्थ से उद्धृत किया है। **चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयः**—५ प्रयाज, ३ अनुयाज, ३ प्रधानयाग की आहुतियां(आग्नेय पुरोडाश, अग्नीषोमीय उपांशुयाग, अग्नीषोमीय पुरोडाश), २ आज्यभाग, १ स्विष्टकृत्=१४। **त्रयोदशामावास्याम्**—पूर्ववत् ५ प्रयाज, ३ अनुयाज, २ आज्यभाग, १ स्विष्टकृत्=११। प्रधानयाग के तीन द्रव्य आग्नेय पुरोडाश, ऐन्द्र दधि, ऐन्द्र पयः होने पर भी आहुतियां दो ही होती हैं। क्योंकि ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पय: का एक देवता होने से दधि पय दोनों द्रव्यों को मिलाकर एक आहुति ही दी जाती है। इस कारण अमावस्या में दो प्रधानाहुतियां होती हैं। पूर्व की ११ मिलकर १३ संख्या होती है।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। संकर्षकाण्डस्य द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयपादस्य त्रिंशत्तमे सूत्रे इतिशब्देन वाक्यमिदमुद्ध्रियते।

२. संकर्षकाण्ड भगवान् जैमिनि का प्रवचन है, और पूर्वमीमांसा का भाग(अ० १३-१६)है। द्र०—हमारी मीमांसा-भाष्य-व्याख्या भाग १ के आरम्भ में 'शास्त्रावतार-मीमांसा' निबन्ध, पृष्ठ ७।

[उपांशुयाजापूर्वताऽधिकरणम् ॥४॥]

जामि वा एतद्यज्ञस्य क्रियते, यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ, उपांशुयाजमन्तरा यजति इति, विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, प्रजापतिरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, अग्नीषोमावुपांशु यष्टव्यावजामित्वाय[1] इति। तत्र सन्देहः—उपांशुयाजमन्तरा यजति इति किं विष्ण्वादिगुणकानां प्रकृतानां यागानां समुदायस्य वाचकः, अथ वा अपूर्वस्य यागस्येति ? तत उच्यते—

विशेष विचार—ऊपर अमावास्या की १३ आहुतियां बताई हैं। वह याज्ञिक समाचार=व्यवहार के अनुसार है। पूज्य आचार्यपाद ने भी हमें पढ़ाते समय इसी प्रकार उपपत्ति बताई थी। यह हमारे पढ़ते समय की टिप्पणी से ज्ञात होता है। यहां यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि अमावास्या में उपांशुयाज की प्रवृत्ति बौधायन आदि कतिपय सूत्रकारों के यहां मानी गई है।[2] आपस्तम्ब आदि सूत्रकार अमावास्या में उपांशुयाज नहीं मानते हैं। यही पक्ष मी० अ०१० पाद ८ के १७ वें 'उपांशुयाजस्य पौर्णमासीकर्त्तव्यताऽधिकरण' में शबर स्वामी का भी है। मीमांसा अ० १० पाद ८ के१७वें 'उपांशुयाजस्य पौर्णमासीकर्त्तव्यताऽधिकरण' के ५८वें 'तथा चान्यार्थदर्शनम्' सूत्र के भाष्य में अमावास्या में उपांशुयाज के न करने में यही चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते, त्रयोदशामावास्यायाम् वचन लिङ्गरूप से उद्धृत किया हैं। इस अवस्था में अमावास्या में उपांशुयाज के न होने पर ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पय की सह आहुति देने पर १२ आहुतियां ही बनती हैं। इस विरोध का परिहार विचारणीय है। क्या उपांशुयाज के अभावपक्ष में ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पयः की पृथक्-पृथक् आहुतियां देकर १३ संख्या की उपपत्ति की जायेगी ? ॥८॥

व्याख्या—जामि वा एतद् यज्ञस्य क्रियते, यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ, उपांशुयाजमन्तरा यजति (=आलस्यजनक ही यह यज्ञ का किया जाता है, जो अनुक्रम से दोनों पुराडाशों का यजन करता है, उपांशुयाज का [दोनों पुराडाशों के] मध्य में यजन करे), विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, प्रजापतिरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, अग्नीषोमावुपांशु यष्टव्यावजामित्वाय(=विष्णु का उपांशु यजन करना चाहिये अनालस्य के लिये, प्रजापति का उपांशु यजन करना चाहिये अनालस्य के लिये, अग्नीषोम का उपांशु यजन करना चाहिये अनालस्य के लिये)। इसमें सन्देह है—उपांशुयाजमन्तरा यजति यह क्या विष्णु आदि गुणवाले प्रकृत तीन यागों के समुदाय का वाचक है, अथवा अपूर्वयाग का वाचक है ? इसलिये कहते हैं—

---

१. इदं 'जामि वा' इत्युपक्रम्य 'अजामित्वाय' इत्यन्तमेकं वाक्यमिति वक्ष्यति उत्तरसूत्रभाष्ये (२।२।१०)भाष्यकारः। न चैतादृग् वचनमस्माभिः क्वचिदुपलब्धम्। 'जामि वा' इत्यारभ्य 'अन्तरा यजति' इत्यन्तं वचनं तैत्तिरीयसंहितायां (२।६।६) श्रूयते।

२. बोधायनादिभिरमावास्यायामपि उपांशुयाजविधानात् तन्निरासार्थः पौर्णमास्यामेवेत्येवकारः इति रुद्रदत्तः। आप० श्रौत २।१८।२४ टिप्पणी में उद्धृत(मैसूर सं०)। आनन्दाश्रम मुद्रित दर्शपौर्णमास(पृ० ३२४)में मुद्रित आपस्तम्व श्रौत भाग के अनुसार २।१६।१२ निर्देश जानना चाहिये।

पौर्णमासीवदुपांशुयाजः स्यात् ॥९॥ (पू०)

पौर्णमासीवदुपांशुयाजो भवितुमर्हति । कुतः ? नामसम्बन्धात् । नामसम्बद्धो हि विशिष्टो यागः श्रूयते—उपांशुयाजसंज्ञकः । न च द्रव्यदेवते रूपम्, प्रकृताश्चोपांशुगुणका यागा विद्यन्ते । तस्मात् समुदायशब्द इति । ननूपांशुगुणकं यागान्तरम् उपांशुत्वेन रूपेण रूपवद् विधीयते । न एवञ्जातीयकः शब्द उपांशुविशिष्टं यागं शक्नोति वक्तुम् । उपांशुयाग इति हि तस्य वक्ता । चजोः कु घिण्यतोः[1] इति कुत्वेन भवितव्यम । अव्युत्पन्नः

विवरण—जामि वा एतद्०—यह वाक्य **'उपांशुयाजमन्तरा यजत्यजामित्वाय'** इस किञ्चित् भेद से तै० सं० २।६।६ में मिलता हैं। **विष्णुरुपांशु यष्टव्यः** आदि वाक्यसमुदाय हमें उपलब्ध नहीं हुआ। भाष्यकार ने इन पूर्व-पर वाक्यसमुदायों को जिस रूप में उपस्थित किया है, और व्याख्यान किया है, तदनुसार ये सभी वाक्य एक ही स्थान से उद्धृत प्रतीत होते हैं। **जामि, अजामित्वाय**—भट्टभास्कर ने तै० सं० २।६।६ में 'जामि' का अर्थ आलस्य-जनक किया है। सायणाचार्य ने जामि=आलस्याय अर्थ लिखा है। तदनुसार **अजमित्वाय** का अर्थ अनालस्याय=आलस्य के अभाव के लिये होगा। **अन्तरा यजति**—यहां 'यजति' लेट् लकार का रूप है, न कि वर्त्तमानकालिक लट् लकार का। लेट् लकार का रूप मानने पर ही यह विधायक होता है। **लिङर्थे लेट्** (अष्टा० ३।४।७) के अनुशासन से लेट् लिङ् के विधि आदि अर्थों में विहित है।

पौर्णमासीवदुपांशुयाजः स्यात् ।।९।।

सूत्रार्थः—(पौर्णमासीवत्) य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते वाक्य में जैसे पौर्णमासी शब्द आग्नेयादि यागों के समुदाय का अनुवादक है, उसी प्रकार (उपांशुयाजः) उपांशुयाजमन्तरा यजति वाक्यविहित उपांशुयाज **विष्णुरुपांशु यष्टव्यः** आदि वाक्यों से विहित विष्ण्वादि यागों का अनुवादक (स्यात्) होवे।

व्याख्या—पौर्णमासी के समान उपांशुयाज [समुदाय का अनुवादक] होने योग्य है। किस हेतु से ? नाम का सम्बन्ध होने से। नाम से सम्बद्ध ही विशिष्ट याग सुना जाता है—उपांशुयाजसंज्ञक। [उपांशुयाजमन्तरा यजति वाक्य में] द्रव्य देवता याग का रूप नहीं है, और प्रकृत [विष्णुरुपांशु यष्टव्यः आदि वाक्यविहित] उपांशु गुणवाले याग विद्यमान हैं। इसलिये [उपांशुयाजमन्तरा यजति वाक्यस्थ उपांशु शब्द] समुदाय का बोधक शब्द है। (आक्षेप) [उपांशुयाजमन्तरा यजति' वाक्य से] उपांशुगुणवाला उपांशुत्वरूप से रूपवान् यागान्तर का विधान किया जाता है। (समाधान) [उपांशुयाज] इस प्रकार का शब्द उपांशुगुण विशिष्ट याग को नहीं कह सकता है। उस अर्थ को कहनेवाला उपांशुयाग ऐसा शब्द होगा। [उसमें] चजोः कु घिण्यतोः (अष्टा० ७।३।५२) से कुत्व होना चाहिये। और यह उपांशुयाज शब्द तो अव्युत्पन्न

---

१. अष्टा० ७।३।५२॥

पुनरुपांशुयाजशब्दः । तस्मान्न रूपवद् यागान्तरम् । अथापि नामसंयुक्तं यजतिसामान्यमेव, तथाप्यनुपदिष्टदेवताद्रव्यरूपं न यागान्तरं प्रतिपद्येमहि । नन्वेवं सति प्रकृतानामप्यवाचकः प्राप्नोति । मा भूदुपांशुयाजशब्दः, यजतिशब्दो भविष्यति । तथा सति उपांशुयाजशब्देऽप्यनुवादत्वादनाञ्जस्येऽपि न दोषः ॥९॥

चोदना वाऽप्रकृतत्वात् ॥१०॥ (उ०)

शब्द हैं । इसलिये [उपांशुत्वरूप से] रूपवान् यागान्तर का विधान नहीं है । और यदि कहो कि नामसंयुक्त यज धातु [उपांशुयाज और उपांशुयाग में] सामान्य ही हैं, तो भी अनुपदिष्ट देवता-द्रव्यरूपवाले (=अनुपदिष्ट है देवता द्रव्यरूप स्वरूप जिसका ऐसे) यागान्तर को हम नहीं जान पाते हैं । (आक्षेप) ऐसा होने पर (=उपांशुयाज से याग की प्रतीति न होने पर) प्रकृत यागों का भी वाचक प्राप्त नहीं होता है । (समाधान) उपांशुयाज शब्द वाचक न होवे, [उपांशुयाज शब्दस्य] यज धातु [प्रकृत यागों का वाचक] हो जायेगा । ऐसा होने पर उपांशुयाज शब्द में भी [यज धातु के] अनुवादक होने से अनाञ्जस्य (=मुख्यवृत्ति के अभाव) में भी दोष नहीं होगा ॥९॥

विवरण—नामसम्बद्धो हि विशिष्टो यागः—यदि यहां 'हि' पद को अस्थान में मानकर विशिष्टः के आगे सम्बद्ध करें—'नाम से सम्बद्ध विशिष्ट ही याग सुना जाता है'—तो वाक्यार्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है । **अवाचकः प्राप्नोति**—यहां अपुनर्गेया श्लोकाः (=पुनः गान न किये गये श्लोक) के समान असमर्थसमास जानना चाहिये—वाचको न प्राप्नोति ऐसा तात्पर्य है । **अनाञ्जस्येऽपि न दोषः**—इसका तात्पर्य यह है कि विधि में तो अभिधावृत्ति का आश्रयण आवश्यक है, परन्तु नामधेय=संज्ञा में तो यजधातु प्राप्त अनुवादरूप से प्रवृत्त होने पर किञ्चित् सादृश्य की प्रतीति होने पर भी विरोध नहीं होता, अर्थात् लक्षणावृत्ति से अर्थ उचित होता है (द्र०—तन्त्रवार्तिक) । **अव्युत्पन्नः उपांशुयाजशब्दः**—यह उन पाणिनीय आदि वैयाकरणों के मतानुसार कथन है, जो शब्दों को अव्युत्पन्न=रूढ़ भी मानते हैं । नैरुक्त आचार्य और वैयाकरणों में शाकटायन आचार्य सभी शब्दों को आख्यातज मानते हैं (द्र० – निरुक्त १।१२) । उनके मत में जैसे प्रयाज अनुयाज शब्दों में प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे (अष्टा० ७।३।६२) से कुत्व के अभाव का अनुशासन पाणिनि आदि वैयाकरणों ने किया है, उसी प्रकार उपांशुयाज में भी करना युक्त है ॥९॥

चोदना वाऽप्रकृतत्वात् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है । अर्थात् उपांशुयाजमन्तरा यजति समुदाय का वाचक नहीं है । (चोदना) कर्मान्तर का वाचक है । [पूर्वपक्षी ने जिन विष्णु आदि देवतावाले यागों के समुदाय का वाचक माना है उनके] (अप्रकृतत्वात्) प्रकृत=प्रकरण के न होने से । अर्थात् विष्णु आदि देवतावाले यागों का विधान ही नहीं है, तब फिर किस समुदाय का वाचक होगा ?

कर्मान्तरस्य वाचकः स्यात्—उपांशुयाजम् । कुतः? प्रकृतानां यागानामभावात् । न चेत् प्रकृता विद्यन्ते, कस्य समुदायं वक्ष्यति? ननु इदानीमेवोक्तं विष्णवादिगुणकाः प्रकृता यागा विद्यन्ते इति। न विद्यन्ते । न हि ते विधयः 'विष्णुरुपांशु यष्टव्यः' इत्येवमादयः । अर्थवादा हि ते । कथम्? अस्मिन् वाक्ये विध्यन्तरस्य भावात् । उपांशुयाजमन्तरा यजति इत्येतदेतस्मिन् वाक्ये विधीयते । यदीमेऽपि विधीयेरन्, भिद्यते तर्हि वाक्यम् । अपि च, यागस्य विष्ण्वादीनाञ्च सम्बन्धोऽत्र गम्यते वाक्ये, न च यागस्य विधानम् । ननु च उपांशुयाजमन्तरा यजति इत्यत्राप्यन्तरालसम्बन्धोऽवगम्यते । बाढ़म् । स तु विधीयते उपांशुत्वादिसम्बद्धः । एकं हीदं वाक्यमनेकं विधातुमर्हति । कथम्? जामि वा एतद् यज्ञस्य क्रियते इत्येवमुपक्रममेतद्वाक्यम्[1] अजामित्वाय इत्येवमन्तम् । तस्य मध्ये समाम्नातं विष्णवादिवाक्यम् । तेनं सम्बध्यमानं न वाक्यान्तरं भवितुमर्हति । तस्माद् विष्णुरुपांशु यष्टव्यः इत्येवमादयो न विधयः । किं तर्हि? अर्थवादाः । कः पुनरर्थवादः? आग्नेयाग्नीषोमीययोर्निरन्तरं क्रियमाणयोर्जामितादोष उक्तः । तं भिषजितुम् उपांशुयाजमन्तरा यजति इति विहितम् । कथं तेन भिषजिष्यते? तस्मिन् क्रियमाणे ज्ञायते[2] एव—यथा विष्णुर्यष्टव्यः

व्याख्या – उपांशुयाजमन्तरा यजति वाक्य कर्मान्तर का वाचक होवे । किस कारण? प्रकृत [विष्णु आदि देवतावाले] यागों के न होने से । जब प्रकृत याग हैं ही नहीं, तब किस के समुदाय को कहेगा? (आक्षेप) अभी तो कहा है कि विष्णु आदि गुणवाले प्रकृत याग हैं? (समाधान) नहीं हैं । वे विधियां नहीं हैं—विष्णुरुपांशु यष्टव्यः आदि । ये तो अर्थवाद हैं । कैसे? इस वाक्य [के विषय] में विध्यन्तर के होने से । इस (=विष्णुरुपांशु यष्टव्यः) वाक्य [के विषय] में उपांशुयाजमन्तरा यजति यह विधि कही गई है । यदि ये (=विष्णुरुपांशु यष्टव्यः आदि) भी [याग का] विधान करें, तो वाक्यभेद होवे । और भी, इस वाक्य में याग का और विष्णु आदि देवों का सम्बन्ध जाना जाता है, याग का विधान नहीं जाना जाता है । (आक्षेप) उपांशुयाजमन्तरा यजति वाक्य में भी अन्तराल (=मध्य) का सम्बन्ध जाना जाता है । (समाधान) हां । वह (=अन्तराल-सम्बन्ध) तो उपांशुत्वादि से सम्बद्ध विधान किया जाता है । यह एक ही वाक्य अनेक का विधान कर सकता है । कैसे? जामि वा एतद् यज्ञस्य क्रियते इस उपक्रमवाला यह वाक्य अजामित्वाय इस अन्तवाला है । इस वाक्य के मध्य में विष्ण्वादि वाक्य पढ़ा है । इसलिये उस [दीर्घवाक्य] के साथ सम्बन्धवाला वाक्यान्तर नहीं हो सकता है । इसलिये विष्णुरुपांशु यष्टव्यः इत्यादि विधियां (=विधिवाक्य) नहीं हैं । तो क्या हैं? अर्थवाद हैं । अर्थवाद क्या है? निरन्तर किये जा रहे आग्नेय और अग्नीषोमीय में जामितादोष कहा है । उस दोष के निवारण के लिये 'उपांशुयाज मध्य से करे' ऐसा कहा है । उस से दोष की निवृत्ति कैसे होगी? उस (=उपांशुयाज) के करने पर जाना ही जाता है—जैसे विष्णु यष्टव्य है प्रजापति वा अग्नीषोम ।

---

१. काशी मुद्रिते 'उपक्रम्य तद् वाक्यम्' इत्यपपाठः ।

२. काशी मुद्रिते 'चेति' इत्यपपाठः ।

प्रजापतिरग्नीषोमौ वेति। ततश्च व्यवधानादजामिताऽवगम्यत एव। तेनाजामितार्थवादं वक्ष्यामि, इति विष्ण्वादिसम्बन्धोऽनूद्यते। न त्वन्तरालसम्बन्धस्यान्यत् प्रयोजनमस्त्यतो विधानात्।

कथं विष्ण्वादयो यष्टव्याः, इत्येतदवगम्यते? यष्टव्यान् अयष्टव्यान् वा विष्ण्वादीनुपांशुयाजाभिष्टवाय सङ्कीर्त्तयतीति गम्यते। तत्र केचित्तावदाहुः—'प्राप्ता एवेति। कुतः? शाखान्तरे विधानादिति।' यद्यप्यप्राप्तिः, तथाप्युपांशुत्वसामान्यात् प्रजापतिर्देवता विष्णुश्चेत्यनुवादावेव। 'उपांशुधर्माणौ हि विष्णुप्रजापती। तस्माद् यत्किञ्चित् प्राजापत्यं

उस यजन से व्यवधान होने से जामितादोष का अभाव जाना ही जाता है। इस हेतु से अजामितारूप अर्थवाद को कहूंगा, इसलिये विष्णु आदि के सम्बन्ध का अनुवाद किया जाता है। अन्तराल सम्बन्ध का अन्य कोई प्रयोजन नहीं है, सिवाय इस विधान के।

विवरण—न यागस्य—विष्णुरुपांशु यष्टव्यः वाक्य में विष्णु का सम्बन्ध तो जाना जाता है, याग का विधायक शब्द न होने से याग का विधान प्रतीत नहीं होता है। अन्तरालसम्बन्धः—पूर्वपक्षी का कहना है कि उपांशुयाजमन्तरा यजति में केवल अन्तराल का सम्बन्ध ही जाना जाता है। द्रव्य और देवता का निर्देश न होने से यागरूप अर्थ विदित नहीं होता है। स तु विधीयते—यजति से याग का विधान किया जाता है, परन्तु उपांशुत्वादि धर्म से सम्बद्ध याग का विधान है। द्रव्य देवता की उपपत्ति भाष्यकार आगे दर्शायेंगे। ज्ञायत एव यथा विष्णुर्यष्टव्यः—इसका तात्पर्य यह है कि याग का विधान करने पर देवता का होना आवश्यक है। साक्षात् देवता का कथन न होने से अनियम की प्रसक्ति होने पर कुछ विष्णु आदि देवताओं की प्रधानता की प्रसिद्धि से वैचित्र्य प्रदर्शन के लिये इनका कथन किया है (द्र०—तन्त्रवार्तिक)।

व्याख्या—(आक्षेप) विष्णु आदि देवता यष्टव्य हैं, यह कैसे जाना जाता है? यहां तो यजनीय वा अयजनीय विष्णु आदि का उपांशुयाज में अभिष्टव (=स्तवन=स्तुति) के लिये संकीर्तन किया जाता है, ऐसा विदित होता है। (समाधान) इस विषय में कुछ आचार्य कहते हैं—'[विष्णु आदि देवता यष्टव्यरूप से] प्राप्त ही हैं। किस हेतु से? शाखान्तर में [उनका] विधान होने से।' [इस विषय में भाष्यकार अपना मत प्रदर्शित करते हैं—] यद्यपि [विष्णु आदि देवताओं की] प्राप्ति नहीं है, तथापि उपांशुत्व धर्मसामान्य से [प्राप्त] प्रजापति और विष्णु देवता का निर्देश अनुवाद ही है। विष्णु और प्रजापति देवता उपांशु-धर्मवाले हैं। इसलिये जो कुछ भी प्रजा-

---

१. प्रजापतेस्तूपांशुधर्मता 'अनिरुक्तो वै प्रजापतिः' (ऐ० ब्रा० ६।३०; तै० ब्रा० १।३।८; श० ब्रा० १।१।१।१३; तां० ब्रा० १८।६।८) इत्येवं बहुत्र श्रूयते। विष्णोस्तूपांशुत्वधर्मो न क्वचिदुपलब्धः। किं च अनुपदमेव भाष्यकारो'तस्माद् यत्किञ्चित् प्राजापत्यं यज्ञे क्रियते तदुपांश्वेव क्रियते' इति वक्ष्यति। मीमांसासूत्रकारोऽपि धर्माद्वा प्रजापतिः (१०।८।५१) इति सूत्रे उपांशुत्वं' प्रजापतेरेव धर्मं इति स्वीचकार। अतोऽत्र भाष्यपाठो भ्रष्टः स्यादित्यनुमीयते। तेन 'यद्यप्यप्राप्तिस्तथाप्युपांशु-

यज्ञे क्रियते, तद् उपांश्वेव क्रियते ।'इत्येवमादिसङ्कीर्त्तनान्मन्त्रसमाम्नानाच्च[२] विष्णुमप्राप्तमपि प्राप्तमिव वदेत् । अग्नीषोमयोस्तु विधायकमुदाह्रियते एव—[३]तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव नावुपांशु पौर्णमास्यां यजन् इति । तस्माद्यागान्तरम् ॥१०॥

पति देवता सम्बन्धी कर्म यज्ञ में किया जाता है, वह उपांशु ही किया जाता हैं । इस प्रकार कथन होने से और मन्त्र के समाम्नान-सामर्थ्य से अप्राप्त विष्णु को भी प्राप्त के समान ही [उक्त] विष्णुरुपांशु यष्टव्य: वाक्य कहेगा । अग्नीषोमीय का तो विधायक वाक्य उदाहृत किया ही जाता है—तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव नावुपांशु पौर्णमास्यां यजन् इति । इसलिये [यह उपांशु-याग] यागान्तर है ॥१०॥

विवरण—कथं विष्णवादयो यष्टव्या:, इत्येतदवगम्यते—हमने पूरे पाठ को पूर्वपक्षी का आक्षेप वचन माना है । भट्ट प्रभाकर ने **'कथं विष्णवादयो यष्टव्या इत्येतदवगम्यते'** भाग को आक्षेप-वचन, और **'यष्टव्यान् अयष्टव्यान्······इति गम्यते'** को समाधान-वचन मानकर व्याख्या की है । उनके अनुसार इसकी व्याख्या इस प्रकार जाननी चाहिये—**कथं विष्णवादयो यष्टव्या:**—इसका अभिप्राय यह है कि कर्म में प्राप्त देवताओं की ही स्तुति उचित है । विष्णवादि देवता तो प्राप्त ही नहीं हैं । इसका समाधान किया है—**यष्टव्यान् अयष्टव्यान् वा** । इसका भाव यह है कि स्तुति में प्रमाणान्तर-प्राप्ति की अपेक्षा नहीं होती है । प्रत्यक्ष ही विष्णवादि की स्तुति जानी जाती है । इस पर यह आक्षेप हो सकता है कि अप्राप्त देवताओं की स्तुति करने पर निरालम्बता दोष आता है । इसका समाधान यह है कि स्तुति के उत्तर काल में मुख्य वा गौणी वृत्ति से स्तुति के अवलम्बन का विचार करना चाहिये । उसी आलम्बन का कथन किया है—**तत्र केचिदाहु**.(द्रष्टव्य बृहती और पञ्जिका) ।

शाखान्तरे विधानात्—भाष्यकार ने पूर्वाचार्यों की प्रतिज्ञा मात्र उद्धृत की है । इस विषय की बोधिका श्रुति पूर्वाचार्यों ने भी सम्भवत: उद्धृत नहीं की थी । अत: भाष्यकार को यह कथन उचित प्रतीत नहीं हुआ । भट्ट कुमारिल ने भी इस प्रसङ्ग में लिखा है—'यदि शाखान्तर में विष्णु

त्वसामान्यात् प्रजापतिर्देवता इत्यनुवाद एव । उपांशुधर्मो हि प्रजापति:' इत्येवमत्र शुद्धेन पाठेन भाव्यम् । विष्णोस्तु प्राप्तिं मन्त्रसमाम्नादनुपदं भाष्यकारो वक्ष्यति । तदप्यस्य पाठस्योपोद्वलकं ज्ञेयम् ।

१. अनुपलब्धमूलम् । भाष्यकारो 'धर्माद्वा स्यात् प्रजापति:' (१०।८।५१) सूत्रस्य भाष्य उद्धरिष्यति ।

२. इममर्थं भाष्यकारो 'विष्णुर्वा स्याद्धौत्राम्नानात्' (१०।८।५३) सूत्रभाष्य एवं स्पष्टीचकार—'अमावास्यां प्रकृत्य वैष्णवं हौत्रमाम्नायते—इदं विष्णुर्विचक्रमे (ऋ० १।२२।१७); प्र तद्विष्णु स्तुवते वीर्येण (ऋ० १।१५४।२) इति । यदि विष्णुदेवत्य उपांशुयाज एवममावास्यायामाम्नानमर्थवद् भवति' इति ।

३. काशीमुद्रिते 'एतावब्रूयातामग्नी०' इत्यपपाठ: ।

आदि का विधान होता, तो सूत्रकार जैमिनि दशमाध्याय (पाद ८, अधि० १६) में **विष्णुर्वा स्याद् हौत्रसमाम्नानात** (मी० १०।८।५३) सूत्र में विष्णु के मान्त्रवर्णिकत्व का आश्रयण न करते।' किसी भी विधि की शाखान्तरों में, और वह भी अनुपलब्ध शाखाओं में कल्पना करना, धर्म के क्षेत्र में एक ऐसा कथन है जिसकी परीक्षा हो ही नहीं सकती। कोई भी व्यक्ति किसी भी कार्य के विधान की अनुपलब्ध शाखाओं में कल्पना कर सकता है। इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती का यह कथन वहुत महत्वपूर्ण है—**'जो तुम अदृष्ट शाखाओं में मूर्ति [पूजा] आदि के प्रमाण की कल्पना करोगे, तो जब कोई ऐसा पक्ष करेगा कि लुप्त शाखाओं में वर्णाश्रमधर्म व्यवस्था उलटी अर्थात् अन्त्यज और शूद्र का नाम ब्राह्मणादि और ब्राह्मणादि का नाम शूद्र अन्त्यजादि, अगमनीया गमनीया, अकर्तव्य कर्तव्य, मिथ्याभाषणादि धर्म [और] सत्यभाषणादि अधर्म आदि लिखा होगा, तो तुम उसको वही उत्तर दोगे, जो हमने दिया है'**—(सत्यार्थ-प्रकाश, एकादश समुल्लास, पृष्ठ ५४७, आ० सं० शताब्दी संस्करण, सं० १६३२)।

उपांशुधर्माणौ हि विष्णुप्रजापती—भाष्यकार ने विष्णु देवता को उपांशु धर्मवाला कहा है। परन्तु हमें उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में ऐसा कोई वचन उपलब्ध नहीं हुआ, जिससे विष्णु की उपांशुत्वधर्मता जानी जाये। भाष्यकार ने भी अगले **तस्मात् यत्किञ्चित्०** वाक्य में प्रजापति देवता के ही उपांशुत्व धर्म का प्रतिपादन किया है। इतना ही नहीं, विष्णु की प्राप्ति के लिये आगे मन्त्रसमाम्नान का निर्देश किया है। भट्ट कुमारिल ने भी तन्त्रवार्तिक में विष्णु के उपांशुधर्मत्व का उल्लेख नहीं किया है। मीमांसा १०।८ के **धर्माद्वा प्रजापति** सूत्र (५१); तथा **विष्णुर्वा स्याद् धौत्राम्नानात्** सूत्र (५३) में दोनों की पृथक् हेतुओं से उपस्थिति कही है। इन कारणों से विदित होता है कि प्रकृत भाष्यपाठ भ्रष्ट हुआ है। यहां केवल **उपांशुधर्मो हि प्रजापतिः** इतना ही पाठ होना चाहिये। प्रजापति का उपांशुधर्मत्व **अनिरुक्तो वै प्रजापतिः** (ऐ० ब्रा० ६।३०; तै० ब्रा० १।३।८; श० ब्रा० १।१।१।१३; तां० ब्रा० १८।६।८) के रूप में अनेक स्थानों पर निर्दिष्ट है। **तस्माद् यत्किञ्चित् प्राजापत्यम्०**—इस वचन से भाष्यकार ने उपांशुत्व निर्देश से प्रजापति देवता की उपस्थापना की है। भट्ट कुमारिल को यह भी इष्ट नहीं है। वे लिखते हैं—"**तस्माद् यत्किञ्चित् प्राजापत्यम्** यह भी अयुक्त है। वचनव्यक्ति (=वचन के द्वारा अभिव्यक्त अर्थ) के विपर्यास होने से। यह वचन 'जो उपांशु है, वह प्रजापति देवतावाला है' इस अर्थ को नहीं कहता। तो क्या कहता है—जो प्राजापत्य है, वह उपांशु होता है। इसलिये उपांशुधर्म से प्रजापति की प्राप्ति नहीं होती है" (तन्त्रवार्तिक)। भट्ट कुमारिल का यह कथन युक्त है। ब्राह्मणवचनों को विना प्रकरण के जाने उद्धृत कर देने से प्रायः अर्थ का अनर्थ हो जाता है। हम यहां एक वचन को उद्धृत करके इस विषय को स्पष्ट करते हैं—शतपथ (१।७।१।५) का एक वचन है—**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**। इस वचन को प्रायः बड़े-बड़े विद्वान् 'यज्ञ' शब्द के अर्थ-निर्देश के लिये प्रयोग करके कहते है कि—जो भी 'श्रेष्ठतम कर्म है वह सब यज्ञ है।' परन्तु शतपथ में यह वचन यजुः १।१ मन्त्र में प्रयुक्त **श्रेष्ठतमाय कर्मणे** की व्याख्या के लिये लिखा गया है। यजुर्वेद के उक्त **श्रेष्ठतमाय कर्मणे** से तो मानव को श्रेष्ठ ही नहीं, श्रेष्ठों में से भी चुनकर श्रेष्ठतम कर्म करने का आदेश दिया गया है। परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य ने द्रव्य-यज्ञविषयक मन्त्रव्याख्या के सन्दर्भ में

गुणोपबन्धात् ॥११॥ (उ०)

यदुच्यते—न ज्ञायते कतमोऽसावुपांशुयाजसंज्ञको याग इति। यस्यायं गुण उपबद्धः उपांशु पौर्णमास्यां यजन् इति। तस्मान्न दोषः ॥११॥

श्रेष्ठतम कर्म का अभिप्राय यज्ञ कहा है। एक प्रकार से शतपथकार ने मन्त्रस्थ विस्तृत अर्थ के वाचक श्रेष्ठतम कर्म को द्रव्यमय यज्ञ तक संकुचित कर दिया है। अतः अर्थबोधक ब्राह्मणवचनों का निर्देश करने से पूर्व प्रकरण को देखना और विचार करना अत्यावश्यक है। अन्यथा अर्थ के विपर्यय अथवा अर्थ के अनर्थ हो जाने की सम्भावना रहती है।

मन्त्रसमाम्नानाच्च—यह मन्त्र-समाम्नान किस प्रकार का है, और कौनसा मन्त्र है, जिससे विष्णु की उपस्थिति होती है, इस विषय में भाष्यकार ने यहां कुछ नहीं कहा। दशमाध्याय में एक सूत्र है—विष्णुर्वा स्याद् धौत्राम्नानाद् (१०।८।५३) इस के भाष्य में शबरस्वामी ने लिखा है—"अमावास्या का निर्देश करके हौत्रकर्म पढ़ा है—**इदं विष्णुर्विचक्रमे** (ऋ० १।२२।१७); **प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण** (ऋ० १।१५४।२)। यह पाठ तभी अर्थवान् होता है, यदि उपांशुयाज विष्णु देवतावाला होवे।" यह आम्नान किस शाखा वा ब्राह्मण का है, यह अज्ञात है। भट्ट कुमारिल ने भी इस विषय में कुछ नहीं लिखा। फिर भी सर्वशाखादर्शी भगवान् सूत्रकार ने किसी शाखा वा ब्राह्मण में ऐसा आम्नान देखा होगा। यह सूत्रवचन से अनुमेय है। **तावब्रूतामग्नीषोमा०** (२।२।३ सूत्रभाष्य के आरम्भ में उद्धृत)—भट्ट कुमारिल ने इस वचन को भी अग्नीषोम देवताओं का विधयक न मानकर पौर्णमासी काल का विधायक माना है। इस वचन में अग्नीषोम के अनुवाद को प्राप्ति में उपोद्बलक कहा है। आप० श्रौत २।१८।२३ में उपांशुयाज के विष्णु अग्नीषोम और प्रजापति तीनों देवता विकल्प से कहे हैं—**उपांशुयाजः पौर्णमास्यामेव भवति वैष्णवोऽग्नीषोमीयः प्राजापत्यो वा**। उपांशुयाज में सम्पूर्ण मन्त्र का उपांशुपाठ नहीं होता है, केवल प्रधान अर्थात् देवता नाम का ही उपांशु उच्चारण होता है—**प्रधानमेवोपांशु** (आप० श्रौत २।१८।२४) ॥१०॥

गुणोपबन्धात् ॥११॥

सूत्रार्थः—(गुणोपबन्धात्) उपांशु गुण के उपबन्ध अर्थात् निर्देश से उपांशुयाज याग का नाम है।

व्याख्या—जो यह कहते हैं कि—'उपांशुयाजसंज्ञक याग कौनसा है, यह नहीं जाना जाता है। [इसका उत्तर यह है कि] जिस याग का यह उपांशु गुण उपांशु पौर्णमास्यां यजन् वाक्य में कहा गया है। इसलिये यह दोष नहीं है ॥११॥

विशेष—कुतुहल वृत्तिकार ने व्याख्याकारों के नामनिर्देशपूर्वक सूत्र की दो व्याख्याएं लिखी हैं। पार्थसारथि के मतानुसार—"उपांशुयाज शब्द से उपांशु गुण के ही उपबन्ध=विधान =विशिष्ट विधान से वाक्यभेद नहीं है।" इस व्याख्या में पार्थसारथिकृत 'शास्त्रदीपिका' का

प्राये वचनाच्च ॥१२॥ (उ०)

प्रधानकर्मप्राये वचनं प्रधानकर्मतामुपोद्बलयति । यथा—अग्र्यप्राये लिखितं दृष्ट्वा भवेदयमग्र्य इति मतिः । तस्मान्न समुदायशब्दः इति ॥१२॥ इत्युपांशुयाजा-पूर्वताऽधिकरणम् ॥४॥

[आघाराद्यपूर्वताऽधिकरणम् ॥५॥]

आघारमाघारयति[1] इति श्रूयते । तथा इमान्यपराणि—ऊर्ध्वमाघारयति[2] सन्ततमाघार-

---

वचन—'उपांशुत्वगुणको यागोऽन्तरालोपलक्षितकाले विधीयते' उद्धृत किया है। भाष्यकार ने 'उपांशु पौर्णमास्यां यजन्' इस कालपरक वाक्य में उपांशुत्व गुण का उपबन्ध होने से उस के निमित्त से उपांशुयाज नामधय है, ऐसा कहा है ॥११॥

प्राये वचनाच्च ॥१२॥

सूत्रार्थः—(प्राये) प्रधानकर्म के प्राय=प्रक्रम में (वचनात्) उपांशुयाज के कहने से (च) भी प्रधानकर्म है ।

व्याख्या—प्रधानकर्म के प्रक्रम में [उपांशुयाज का] कहना उसकी प्रधानकर्मता को ही बढ़ावा देता है । जैसे—अग्र्य (=आगे होनेवाले=मुख्य श्रेष्ठजनों) के प्रक्रम में [किसी का नाम] लिखा देखकर 'यह अग्र्य=मुख्य=श्रेष्ठ होगा' ऐसी मति होती है । इस हेतु से [उपांशु-याज] समुदायवचन नहीं है ॥१२॥

विवरण—प्रधानकर्मप्राये—यदाग्नेयोऽष्टाकपालः से लेकर ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम् तक का प्रक्रम प्रधानकर्मों का है । उसी के अन्तर्गत तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव नावुपांशु पौर्णमास्यां यजन् वचन है । अतः इसमें श्रुत उपांशुयाज भी प्रधान है। विचार का प्रयोजन—उपांशुयाजमन्तरा यजति आदि पर जो विचार किया है, उसका प्रयोजन कुतुहल वृत्तिकार ने इस प्रकार दर्शाया है—'पूर्वपक्ष के अनुसार उपांशुयाजमन्तरा यजति को समुदाय का अनुवादक मानने पर वैष्णव प्राजापत्य और अग्नीषोमीय तीनों याग समुच्चय से अनुष्ठेय हैं। सिद्धान्तपक्ष में एक ही उपांशुयाज है। उसमें विष्णु प्रजापति और अग्नीषोम देवता का विकल्प होता है' ॥१२॥

व्याख्या—आघारमाघारयति (=आघार का आघारण करता है) यह सुना जाता है। तथा ये अन्य वचन सुने जाते हैं—ऊर्ध्वमाघारयति (=ऊर्ध्व आघारण करता है),

---

१. तै० सं० २।५।११॥ २. अनुपलब्धमूलम् ।

यति[1], ऋजुमाघारयति[2] इत्येवमादि । इदञ्च—अग्निहोत्रं जुहोति,[3] तथा दध्ना जुहोति,[4] पयसा जुहोति[5] इत्येवमादि । तत्र सन्देहः—किम् ऊर्ध्वमाघारयति, दध्ना जुहोति इत्येवमादिभिराघारा होमाश्च विहिताः, तेषाम् आघारमाघारयति, अग्निहोत्रं जुहोति इत्येतौ समुदायानुवादौ, उतैतावेवापूर्वयोराघारहोमयोर्विधाताराविति ? किं तावत् प्राप्तम् ?

आघाराग्निहोत्रमरूपत्वात् ॥१३॥ (पू०)

नापूर्वयोर्विधी इति । कुतः ? अरूपत्वात् । न ह्येतयोः पूर्वेभ्यो होमाघारेभ्यो

सन्ततमाघारयति (=सन्तत=घृत की धारा बिना टूटे आघारण करता है), ऋजुमाघारयति (=घृत की धारा सरल=अकुटिल जैसे हो वैसे आघारण करता है) इत्यादि। और यह भी—अग्निहोत्रं जुहोति (=अग्निहोत्र होम करता है), तथा दध्ना जुहोति (=दही से होम करता है), पयसा जुहोति(=दूध से होम करता है)इत्यादि। इसमें सन्देह होता है—क्या ऊर्ध्वमाघारयति [इत्यादि, और] दध्ना जुहोति इत्यादि से [क्रमशः] जो आघार और होम विहित हैं, उनके [क्रमशः] आघारमाघारयति और अग्निहोत्रं जुहोति ये समुदाय के अनुवादक हैं, अथवा ये (=आघारमाघारयति, अग्निहोत्रं जुहोति) दोनों ही अपूर्व आघार और होम के विधायक हैं ? तो क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—अग्निहोत्र और आघार कर्म की संज्ञाएं हैं, यह पूर्व (मी० १।४।४) तत्प्रख्याधिकरण में कह चुके हैं। यहां आघारमाघारयति, अग्निहोत्रं जुहोति वाक्य क्रमशः आघार और अग्निहोत्र के विधायक हैं, अथवा उत्तरवाक्यविहित कर्मों के अनुवादक हैं, यह विचार किया है। इस प्रकरण के साथ मी० १।४।४ सूत्र के भाष्य और व्याख्या का अनुशीलन भी आवश्यक है। ऊर्ध्वमाघारयति—यह वचन हमें उपलब्ध नहीं हुआ।

आघाराग्निहोत्रमरूपत्वात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(आघाराग्निहोत्रम्) आघारमाघारयति और अग्निहोत्रं जुहोति में श्रुत आघार और अग्निहोत्र के(अरूपत्वात्)रूप=द्रव्य देवता से युक्त न होने से। अतः ये क्रमशः ऊर्ध्वमाघारयति आदि विहित, और दध्ना जुहोति आदि विहित कर्म के अनुवादक हैं।

व्याख्या—[आघारमाघारयति तथा अग्निहोत्रं जुहोति]अपूर्व कर्मों की विधियां नहीं हैं। किस कारण ? अरूप होने से। इनका पूर्व उक्त होमों और आघारों से विशिष्ट रूप नहीं है,

---

१. तै० सं० २।५।११॥ २. तै० सं० २।५।११॥

३. तै० सं० १।५।६॥ ४. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—दध्नेन्द्रियकामस्य। तै० ब्रा०२।१।५॥

५. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—पयसाऽग्निहोत्रं जुहोति। काठक सं० ५।६॥ पयसा जुहुयात् पशुकामस्य। तै० ब्रा० २।१।५॥

विशिष्टं रूपमस्ति, यतः कर्मान्तरमध्यवसेयम्। अतः प्रकृतत्वात् प्रकृतानुवादौ ॥१३॥

संज्ञोपबन्धात् ॥१४॥ (पू०)

संज्ञोपबन्धश्च भवति। 'अग्निहोत्रं नाम होमं जुहोति इति, 'आघारसंज्ञकं कर्म करोति' इति संज्ञाविशिष्टावाघारहोमौ विधीयेते। न च विज्ञायेते कोऽसावाघारो नाम कर्मविशेषः, कश्चाग्निहोत्रसंज्ञक इति ? ननु विज्ञायते—आघारणमाघारः, हवनं होमः। यद्याघारणसामान्यं होमसामान्यञ्च विधीयेते, विज्ञातपूर्वौ तर्ह्याघारहोमौ। तेनानुवादौ। अथाव्युत्पन्ना उभयोरपि संज्ञा, तथापि नाघाराग्निहोत्रसामान्यमुच्येत। विशेषाश्रयत्वात् संज्ञायाः। न च स विशेषो गम्यते, इत्यपूर्वावाघारहोमविधी[1] नावकल्प्येते। अपिच, कथं क्रिया साधनशब्देनोच्येत ? ईप्सिततमं हि यत् साधनम् तद् द्वितीयान्तेनोच्यते, क्रिया तिङन्तेन। अनुवादपक्षे क्रियाणां समुदायोऽर्थान्तरम्, तदीप्सिततमं साधनं भविष्यति ॥१४॥

जिससे कर्मान्तर का निश्चय होवे। इसलिये [ऊर्ध्वमाघारयति आदि और दध्ना जुहोति आदि के] प्रकृत होने से इन प्रकृत कर्मों के अनुवादक हैं ॥१३॥

संज्ञोपबन्धात् ॥१४॥

सूत्रार्थः—[आघारमाघारयति, अग्निहोत्रं जुहोति वचनों में] (संज्ञोपबन्धात्) आघार और अग्निहोत्र संज्ञा का निर्देश होने से संज्ञाविशिष्ट आघार और अग्निहोत्र का विधान किया जाता है। [उपबन्धात्= निर्देशादिति सुबोधिनी-वृत्तिकारः]।

व्याख्या—संज्ञा का उपबन्ध (=निर्देश) भी होता है। 'अग्निहोत्र नाम के होम को करता है, आघारसंज्ञक कर्म करता है' से संज्ञाविशिष्ट आघार और होम का विधान किया जाता है। यह जाना नहीं जाता कि आघार नाम का कौनसा कर्मविशेष हैं, और कौनसा कर्मविशेष अग्निहोत्रसंज्ञक हैं ? (प्रश्न) जाना तो जाता है—आघारण आघार हैं, और हवन होम। (उत्तर) यदि आघारणसामान्य (=अग्नि में घी का क्षरण करना=छोड़ना) और होमसामान्य का विधान किया जाता है, तो आघार और होम पहले से जाने हुए हैं। इसलिये अनुवाद हैं। और यदि दोनों की ही [आघार-अग्निहोत्र] संज्ञा अव्युत्पन्न है, तो भी आघार और होम सामान्य नहीं कहे जाते हैं। संज्ञा के विशेषाश्रय होने से। और वह विशेष जाना नहीं जाता है, इसलिये अपूर्व आघार और होम की विधि सिद्ध नहीं होती हैं। और भी [आघारम्, अग्निहोत्रम्] साधन शब्द (=कारक शब्द) से क्रिया कैसे कही जायेगी ? ईप्सिततम (=अत्यन्त चाहा हुआ) ही साधन होता है, वह द्वितीयान्त शब्द से कहा जाता है, और क्रिया तिङन्त शब्द से। अनुवाद पक्ष में क्रियाओं का जो समुदाय अर्थान्तर है, वह ईप्सिततम साधन बन जायेगा ॥४१॥

---

१. '० वाघारहोमविधीनामवकल्प्येते' इति काशीपूनासंस्करणयोरपपाठः। मद्रासमुद्रिते सबृहतीपाठे शुद्धः पाठः।

अप्रकृतत्वाच्च ॥१५॥ (पू०)

न च प्रकृतमपि द्रव्यदेवतमाघारे विद्यते, येन रूपवान् स्यात् । तस्मादेतावपि समुदायशब्दाविति ॥१५॥

चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्, तत्सन्निधेर्गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥१६॥ (उ०)

विवरण—अग्निहोत्रं नाम ....आघारसंज्ञकं कर्म—यह क्रमशः अग्निहोत्रं जुहोति, आघारमाघारयति का अर्थतः अनुवाद है । ईप्सिततमं...द्वितीयान्तेन—द्रष्ट०—कर्तुरीप्सिततमं कर्म (अष्टा० १।४।४९) से कर्म संज्ञा, और कर्मणि द्वितीया (अष्टा० २।३।२) पाणिनीय नियम । कथं क्रिया साधनशब्देन—'आघारम्' और 'अग्निहोत्रम्' कर्मकारक शब्दों के क्रमशः आघारण और हवन अर्थ पर यह दोष दिया है । आघारण और हवन ये भावप्रत्ययान्त शब्द क्रिया को कहते हैं ॥१४॥

अप्रकृतत्वाच्च ॥१५॥

सूत्रार्थः—[द्रव्य और देवता के] (अप्रकृतत्वात्) प्रकृत न होने से, अर्थात् द्रव्य देवता के समीप में उपदिष्ट न होने से [याग के रूपवान् न होने से] भी आघार अग्निहोत्र शब्द समुदाय-शब्द हैं ।

व्याख्या—आघार में प्रकृत (=समीप में उपदिष्ट) द्रव्य और देवता भी नहीं है, जिस से यह रूपवान् होवे । इसलिये ये दोनों (=आघार अग्निहोत्र शब्द) भी समुदायशब्द हैं ॥१५॥

विवरण—यद्यपि तत्प्रख्याधिकरण (मी० १।४ अधि० ३, सूत्र ४) के भाष्य में भाष्यकार ने आघार और अग्निहोत्र में जो द्रव्यदेवता की उपपत्ति दर्शाई है, उसके उत्सूत्र होने से यहां के सूत्र और भाष्य के साथ उसका विरोध नहीं जानना चाहिये । भट्ट कुमारिल तथा न्यायसुधाकार ने इस विरोध का परिहार अन्य प्रकार से किया है । उसे उनके ग्रन्थों से ही जानना चाहिये ॥१५॥

चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्, तत्सन्निधेर्गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥१६॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है, अर्थात् आघारमाघारयति, अग्निहोत्रं जुहोति समुदायशब्द नहीं हैं । (चोदना) चोदना=कर्मोत्पत्ति वाक्य हैं । (शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्) उक्त वाक्यों के शब्दार्थ के प्रयोगभूत (='आघार कर्म करो' 'अग्निहोत्र करो' इस प्रकार अर्थवाले) होने से । इस कारण (तत्सन्निधेः) इन चोदना-वाक्यों की समीपता से [ऊर्ध्वमाघारयति, दध्ना जुहोति आदि में] (गुणार्थेन) गुणविधान के प्रयोजन से (पुनः श्रुतिः) [आघारयति जुहोति का] पुनः श्रवण होता है ।

नचैतदस्ति—समुदायशब्दाविति । कर्मान्तरचोदने स्याताम् । कुतः ? शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात् । आघारयति जुहोति इति होमाघारौ प्रयोक्तव्याविति शब्दार्थः । तेन कर्मान्तरे विधीयेते, इत्यवगच्छामः । आघाराग्निहोत्रशब्दौ च हवनाघारणसामान्यवाचिनौ प्रज्ञातौ । अतो नाविज्ञातार्थौ । तेन रूपवन्तौ सन्तौ विधीयेते ।

यदुक्तम्—'ऊर्ध्वमाघारयति, दध्ना जुहोति इत्येवमादिभिर्विहितत्वादनुवादौ' इति । नैतदेवम् । न ह्येते होमाघारौ विधातुं शक्नुवन्ति—ऊर्ध्वमाघारयति, दध्ना जुहोति इति च । नैतदुक्तं भवति—आघारः कर्त्तव्यः, होमः कर्त्तव्य इति । किं तर्हि ? ऊर्ध्वमाघारसम्बन्धः कर्त्तव्यः, दधिहोमसम्बन्धः कर्त्तव्य इति । तस्मादप्राप्तत्वान्नानुवादौ । ननु सम्बन्धे विहिते अर्थाद्धोमाघारौ भविष्यतः । नैतदेवम् । अस्मिन् हि सति विधानेन सम्बन्धः । तस्मान्नार्थादापद्येते होमाघारौ। अतः 'अपूर्वौ विधीयेते' इति ब्रूमः ।

नन्वाघारयति जुहोतीति होमाघारगतो व्यापारः श्रूयते, न दध्यूर्ध्वतादि-

---

व्याख्या—[आघारमाघारयति, अग्निहोत्रं जुहोति]ये समुदाय शब्द हैं, ऐसा नहीं है। कर्मान्तर के चोदक (=विधायक) होवें । किस हेतु से? शब्दार्थ के प्रयोगभूत होने से । आघारयति और जुहोति का आघार और होम कर्म करना चाहिये, ऐसा शब्दार्थ है । इस कारण कर्मान्तर का विधान किया जाता है, ऐसा हम जानते हैं । आघार और अग्निहोत्र शब्द आघारण और होम-सामान्य के वाची जाने हुए हैं । इस कारण ये अविज्ञात अर्थवाले नहीं हैं । इस हेतु से ये [आघार और अग्निहोत्र कर्म] रूपवान् होते हुए विधान किये जाते हैं ।

और जो यह कहा है—'ऊर्ध्वमाघारयति, दध्ना जुहोति इत्यादि वाक्यों से [आघार और होम के] विहित होने से अनुवाद हैं।' ऐसा नहीं है । ये ऊर्ध्वमाघारयति और दध्ना जुहोति वाक्य आघार और होम का विधान नहीं कर सकते हैं । [ऊर्ध्वमाघारयति, दध्ना जुहोति] इनसे यह अर्थ नहीं कहा जाता है कि—आघार करना चाहिये, होम करना चाहिये । तो क्या कहा जाता है ? ऊर्ध्वता और आघार का सम्बन्ध करना चाहिये, दधि और होम का सम्बन्ध करना चाहिये । इस कारण [इन वाक्यों से आघार और होम के] अप्राप्त होने से [ऊर्ध्वमाघारयति, अग्निहोत्रं जुहोति] अनुवादवाक्य नहीं हैं । (आक्षेप) [ऊर्ध्वता और दधि के] सम्बन्ध के विहित होने पर अर्थापत्ति से आघार और होम [विहित] हो जायेंगे । (समाधान) ऐसा नहीं है । इस [ऊर्ध्वमाघारयति, अग्निहोत्रं जुहोति] के विधायक होने पर ही [आघार और होम के] विधान से सम्बन्ध होगा । इसलिये आघार और होम अर्थापत्ति से प्राप्त नहीं होते हैं । इसलिये 'अपूर्व विधान किये जाते हैं' ऐसा हम कहते हैं ।

(आक्षेप) आघारयति और जुहोति यहां [क्रियापदगत लेट् लकार के प्रत्यय से धात्वर्थरूप] आघार और होमगत [भावनारूप] व्यापार सुना (=कहा) जाता है, दधि ऊर्ध्वता आदि का सम्बन्ध नहीं सुना (=कहा) जाता है । (समाधान) सत्य है [ऊर्ध्वता आदि का सम्बन्ध]

सम्बन्धः । सत्यं न श्रूयते । तत्सन्निधेर्गुणार्थेन व्यापारश्रवणमवकल्पिष्यते । ननु पदार्थान्तरगतं व्यापारं श्रुतिर्न शक्नोति वदितुम् । सत्यमेवमेतत् । स्वपदार्थगतं वक्ष्यति । तं तु स्वपदार्थं गुणशब्दो विशेक्ष्यति, स एव विशिष्टः प्रत्येष्यते इति । भवेदेतद् विशिंष्यात् स्वपदार्थं गुणशब्दः, न त्वेवं गुणतो व्यापारः प्रतीयेत । तत्र किं भविष्यति ? अव्याप्रियमाणेऽपि गुणे शब्दार्थोऽवक्लृप्तो भविष्यति । गुणवचनसन्निधिरिदानीं किमर्थः? अनर्थकस्तु । कथं पुनरनर्थको नाम वेदो भवितुमर्हति ? सत्यर्थे नानर्थकः, असति त्वर्थे किमन्यदुच्येत ? एवं तर्हि वाक्याद्भविष्यति । श्रुत्यर्थे सति न वाक्यार्थोऽवकल्प्यते । सत्यमेवमेतत् । अविवक्षिते त्ववकल्पिष्यते । कथमविवक्षा ? गुणवचनस्य अप्रमादपाठात्, स्वपदार्थस्य च शब्दन्तरेण विहितत्वात् । तस्मात् सिद्धं—गुणार्थेन दध्ना जुहोति इत्येवमादीनां पुनः श्रुतिरिति । जुहोतेरुच्चारणं चानुवादो गुणसम्बन्धार्थः । यदि जुहोतीत्यनुवादः, केनेदानी गुणो विधीयते? दधिशब्देनेति मा वोचत । नन्विदानीमेव वाक्याद् गुणव्यापारो

नहीं सुना (=कहा) जाता है । परन्तु उस (=ऊर्ध्वतादि) की सन्निधि से [ऊर्ध्वतादि] गुण के प्रयोजन से व्यापार का श्रवण जाना जायेगा । [अर्थात् 'ऊर्ध्वतागुणविशिष्ट आघार करे' ऐसा अर्थ जाना जायेगा ।] (आक्षेप) पदार्थान्तरगत [ऊर्ध्वतादि] व्यापार को [प्रत्ययरूप] श्रुति नहीं कह सकती । (समाधान) यह सत्य है, ऐसा ही है । परन्तु स्वपदार्थगत (=आघारयति पदगत धात्वर्थ आघार) को कहेगा । उस स्वपद के अर्थ (=आघार) को गुण शब्द (=ऊर्ध्वम्) विशेषित करेगा, और वही (=ऊर्ध्वतागुण) विशिष्ट [आघार प्रत्यय श्रुति से] जाना जायेगा । (पूर्वपक्षी) यह होवे कि गुणशब्द (=ऊर्ध्वम्) स्वपदार्थ (=धात्वर्थ=आघार) को विशेषित करे, परन्तु इस प्रकार गुण से कोई व्यापार नहीं जाना जावेगा । (सिद्धान्ती) इस अवस्था में क्या होगा ? (पूर्वपक्षी) गुण के व्यापृत (=सम्बद्ध) न होने पर भी शब्दार्थ (=आघारयति =आघारं कुर्यात्) समर्थ हो जायेगा । (सिद्धान्ती) इस अवस्था में (=गुण के व्यापृत न होने पर) गुणवचन (='ऊर्ध्वम्' आदि, की समीपता का क्या प्रयोजन होगा ? (पूर्वपक्षी) अनर्थक होगा । (सिद्धान्ती) वेद अनर्थक कैसे हो सकता है ? (पूर्वपक्षी) अर्थ होवे तो अनर्थक नहीं होगा, अर्थ के न होने पर और क्या कहें ? (सिद्धान्ती) अच्छा तो वाक्य [प्रमाण] से [अर्थवान्] हो जायेगा । (पूर्वपक्षी) श्रुत्यर्थ सम्भव होने पर वाक्यार्थ समर्थ नहीं होता है । (सिद्धान्ती) सत्य है, ऐसा ही है (=श्रुत्यर्थ के सम्भव होने पर वाक्यार्थ समर्थ नहीं होता है) । [श्रुत्यर्थ के] अविवक्षित होने पर तो [वाक्यार्थ] समर्थ हो जायेगा । (पूर्वपक्षी) [श्रुत्यर्थ की] अविवक्षा कैसे होगी ? (सिद्धान्ती) गुणवचन के प्रमादपाठ न होने से, और शब्दान्तर (='ऊर्ध्वम्' आदि) से स्वपदार्थ (=धात्वार्थ=आघार) के विहित होने से । इस हेतु से सिद्ध है कि दध्ना जुहोति आदि की गुण के लिये पुनः श्रुति है । और जुहोति का उच्चारण अनुवाद है [दधि] गुण के सम्बन्ध के लिये । (पूर्वपक्षी) यदि 'जुहोति' अनुवाद है, तो फिर किससे [दधि] गुण का विधान होगा ? दधि शब्द से होगा ऐसा नहीं कह सकते । (सिद्धान्ती) अभी तो कहा है कि वाक्य से गुण का व्यापार जाना जाता है । (पूर्वपक्षी) सत्य है, ऐसा ही है । ['जुहोति

गम्यते इत्युक्तम् । सत्यमेवमेतत् । अविधीयमानस्तु कुतो गम्यते ? इति प्रमाणमस्य नावगम्यते । असति प्रमाणे व्यामोहः स्यात् । एवं तर्हि विधायकौ जुहोत्याघारयतिशब्दौ । कस्य तर्ह्यनुवादः ? धात्वर्थस्येति ब्रूमः । यदि विधायकौ, पूर्वमेव विहितं स्वार्थे किमर्थं पुनरुच्चार्येते ? वाक्यार्थो यस्तं विधातुमित्यदोषः । तस्मात् कर्मान्तरचोदने ।

यदुक्तम्—'नास्त्याघारे प्रकृतद्रव्यदेवतम्' इति । किमेवं सति द्रव्यदेवतेन, यदा प्रसिद्धार्थाभिधानान्निर्ज्ञातमेवास्य रूपम् ? अपि च, चतुर्गृहीतं वा एतदभूत् तस्याघारमाघार्य

के अनुवाद होने पर विधायक प्रत्यय के भी अनुवाद होने से] अविधीयमान होता हुआ किससे जाना जाता है ? इस (=विधायक) का प्रमाण नहीं जाना जाता है । प्रमाण न होने पर व्यामोह (=मिथ्या ज्ञान) होगा । (सिद्धान्ती) अच्छा तो जुहोति आघारयति शब्द विधायक हैं । (पूर्वपक्षी) तो फिर किसका अनुवाद है ? (सिद्धान्ती) धात्वर्थ का अनुवाद है, ऐसा कहते हैं । (पूर्वपक्षी) यदि विधायक हैं, तो स्वार्थ के पूर्व ही विहित होने पर फिर किस लिये उच्चारित किये जाते हैं ? (सिद्धान्ती) [दध्ना जुहोति का] जो वाक्यार्थ है, उसको विधान करने के लिये, अतः कोई दोष नहीं हैं । इस हेतु से ये कर्मान्तर के चोदक हैं ।

विवरण – स्वपदार्थगतं वक्ष्यति – प्रकरण आघारयति जुहोति दोनों का है । अतः स्वपदार्थगत का तात्पर्य 'आघारयति' पदगत धात्वर्थ आघार, और 'जुहोति' पदगत धात्वर्थ होम दोनों से है । फिर भी हमने भाष्यव्याख्या में उपलक्षणार्थ कोष्ठों में जहां आघारयति आघार आघारं कुर्यात् का निर्देश किया है, वहां जुहोति होम होमं कुर्यात् का भी निर्देश जानना चाहिये । गुणार्थेन दध्ना जुहोति—यद्यपि यहां ऊर्ध्वमाघारयति का निर्देश भी किया जा सकता था, फिर भी आघारसम्बद्ध ऊर्ध्व ऋजु सन्तत आदि के गुणवाचक होने से अर्थप्रतीति में क्लिष्टता का अनुभव करके द्रव्यविधिपरक दध्ना जुहोति उदाहरण का निर्देश किया है । अथवा इसे ऊर्ध्वमाघारयति आदि का उपलक्षण जानना चाहिये । विधायकौ जुहोत्याघारशब्दौ—यह कहने का सिद्धान्ती का अभिप्राय यह है कि जुहोति आघारयति में दो अंश हैं । प्रत्ययांश विधायक है । कस्य तर्ह्यनुवादौ पूर्वपक्षी ने सिद्धान्ती का भाव=प्रत्ययांश विधायक है, ऐसा न समझ कर जुहोति आघारयति पूरे पदों को विधायक कहा है, ऐसा समझ कर प्रश्न किया है कि जुहोति आघारयति यदि विधायक हैं, तो अनुवाद किसका है ? धात्वर्थस्य—सिद्धान्ती ने पूर्वपक्षी के अज्ञान को लक्ष्य में रख कर कहा—धात्वर्थमात्र का अनुवाद है । यदि विधायकौ, पूर्वमेव—इसका तात्पर्य यह है कि दध्ना जुहोति ऊर्ध्वमाघारयति वाक्यगत 'जुहोति' 'आघारयति' का प्रत्ययांश विधायक है, तो उस ने तो अपनी स्वार्थविधायकता को पहले ही अग्निहोत्रं जुहोति और आघारमाघारयति में 'होमं कुर्यात्' और 'आघारं कुर्यात्' कह दिया, फिर क्यों जुहोति आघारयति का उच्चारण करते हो ? वाक्यार्थो यस्तम्—दध्ना जुहोति और ऊर्ध्वमाघारयति वाक्यों का जो अर्थ दधि और ऊर्ध्वता का विधान जाना जाता है, उसे कहने के लिये ।

व्याख्या – जो यह कहा है—'आघार में प्रकृत द्रव्य देवता नहीं है'। ऐसा (=जिस प्रकार से वाक्यार्थ की उपपत्ति की है) होने पर द्रव्य देवता का क्या प्रयोजन, जब कि प्रसिद्ध अर्थ के कथन से ही इस (=आघार) का रूप निर्ज्ञात हो जाता है ? और भी, चतुर्गृहीतं वा एतद् अभूत्

इत्याज्यमस्य द्रव्यम्, मान्त्रवर्णिको देवताविधिः—इन्द्र ऊर्ध्वोऽध्वरो दिवि स्पृशतु महतो यज्ञो यज्ञपते इन्द्रवान् स्वाहेत्याघारमाघारयति' इति। एवमसाविन्द्रवान् यद्यस्य इन्द्रो देवता। तद् यदि देवताभिधानमेतदाघारस्य, ततोऽनेनाघारः कृतो भवति। तस्मात् कर्म्मान्तरे, न समुदायशब्दाविति सिद्धम् ॥१६॥ इत्याघाराद्यपूर्वताऽधिकरणम् ॥५॥

तस्याऽऽघारमाघार्य (=यह चतुर्गृहीत आज्य था, उस से आघार के [एकदेश से] आघारण करके) इस से आज्य इस का द्रव्य है, मन्त्रवर्ण से प्राप्त देवता की विधि है—इन्द्र ऊर्ध्वोऽध्वरो दिवि स्पृशतु महतो यज्ञो यज्ञपते इन्द्रवान् स्वाहा इत्याघारमाघारयति (='हे इन्द्र ऊर्ध्व अध्वर द्युलोक का स्पर्श करे, हे यज्ञपते! तुझ महान् का इन्द्रवान् यज्ञ सुहुत होवे' से आघार का आघारण करता है)। इस प्रकार यह [आघार यज्ञ] इन्द्रवान् होता है, यदि इस का इन्द्र देवता होता है। यदि यह आघार के देवता को कहनेवाला है, तो इस से आघार सम्पन्न होता है। इसलिये ये [आघार और अग्निहोत्र] कर्मान्तर हैं, समुदायशब्द नहीं हैं, यह सिद्ध होता है ॥१६॥

विवरण—चतुर्गृहीतं वा एतद् अभूत्॰—इस वचन का मूल स्थान हमें उपलब्ध नहीं हुआ। प्रक्रिया ग्रन्थों के अनुसार इसका भाव यह है कि 'ध्रुवा' संज्ञक स्रुक् में आज्यथाली से गृहीत जो चतुर्गृहीत आज्य है, उससे एक स्रुवा भरके आघार कर्म करके ध्रुवा में कम हुए आज्य की पूर्ति के लिये आज्यस्थाली से एक स्रुवा भरके आज्यस्थाली को पूर्ण करे।[2] इन्द्र ऊर्ध्वोऽध्वरो॰—पूर्वमीमांसा १।४।४ भाष्य में भी इन्द्र ऊर्ध्वोऽध्वर इत्याघारमारमाघारयति के रूप में पठित है। (भाग १, पृष्ठ २९८)। इस पाठ में हमने 'इन्द्र' से पूर्व [इतः] अंश कोष्ठ में बढ़ाया है, और टिप्पणी में 'द्र॰—तै॰ सं॰ १।१।१२; आप॰ श्रौत॰ २।१४।१.' का निर्देश किया है, वह ठीक नहीं है। [इतः] पद के परिवर्धन, और पृष्ठ २९९ पर विवरण में इन्हें दो मन्त्रों की प्रतीकें कहना चिन्त्य है। वस्तुतः हमें यह भ्रम तै॰ सं॰ और आप॰ श्रौत के पूर्व संकेतित पाठस्थलों से हुआ था। इस कारण पृष्ठ २९९ के विवरण की [इतः] इन्द्र से लेकर—...पद त्रुटित है, तक की ढाई लाईन निष्कासनीय हैं। **मान्त्रवर्णिक**—यहां वर्ण शब्द घञन्त भावार्थक है। इसका अर्थ है—वर्णन। मन्त्रस्य वर्णः=मन्त्रवर्णः, मन्त्रवर्णेन प्राप्तः=मान्त्रवर्णिकः। प्राप्त्यर्थ में ढक् वा ठञ् का उपसंख्यान जानना चाहिये।

विशेष—यह ध्यान में रखना चाहिये कि मन्त्र के साथ वर्ण शब्द का, और ब्राह्मण के साथ वाद शब्द का प्रयोग ही शिष्टजनों से अनुमोदित है। यथा—अहिवत्तुखलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च

---

१. अनुपलब्धमूलम्। प्रथमभागे २९८तमे पृष्ठे द्वितीयस्यां टिप्पण्यां निर्दिष्टः 'द्र॰—तै॰ सं॰ १।१।१२; आप॰ श्रौत २।१४।१' एतावानंशो निष्कासनीयोऽयथार्थत्वात्।

२. अध्वर्युः—वेदेनाग्निं त्रिरुपवाज्य स्रुवेण ध्रुवाया आज्यमादाय वेदेनोपयम्याऽऽसीन उत्तरं परिधिसन्धिमन्ववहृत्य प्रजापतये इति मनसा ध्यायन् स्वाहा इत्युच्चारयन् दक्षिणाप्राञ्चमृजुं सततं ज्योतिष्मति·· ·· आप्यायतां ध्रुवा घृतेन·· यज्ञेऽस्मिन् इति स्रुवेणाऽऽज्यस्थाल्याः सकाशादाज्यमादाय ध्रुवमाप्याय्य । द्र॰—दर्शपौर्णमास (आनन्दाश्रम पूना सं॰) पृष्ठ ५३२॥

[पशुसोमापूर्वताऽधिकरणम् ॥६॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते[1] इति। तत्रेदमामनन्ति—हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः[2] इति। तथा—सोमेन यजेत[3] इति। तत्रापि—ऐन्द्रवायवं गृह्णाति, मैत्रावरुणं गृह्णाति, आश्विनं गृह्णाति[4] इत्येवमादि। तत्र संशयः—किमवद्यति-गृह्णाति-चोदितानां कर्मणामेवालभतियजती समुदायस्यानुवदितारौ, अथापूर्वयोः कर्म्मणोर्विधातारविति ? किं तावत् प्राप्तम् ?

(निरु० २।१६)। इसी प्रकार वेदकथा वा वेद की कथा प्रयोग भी चिन्त्य है। कथा ऐतिहासिक ग्रन्थों की होती है। यथा रामायण की कथा, महाभारत की कथा। वेद के साथ प्रवचन का प्रयोग ही साधु माना जाता है—वेदप्रवचन वा वेद का प्रवचन। आपकी आयु क्या है ? मेरी आयु है आदि प्रयोग भी भ्रष्ट हैं। इस अर्थ में वयः शब्द का प्रयोग होना चाहिये। उड़िया भाषा में वयः का ही प्रयोग होता है। आयु शब्द का प्रयोग प्राणि के सम्पूर्ण जीवितव्य काल के लिये ही होता है—सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः (योग २।१३)। इसी दृष्टि से शब्द प्रयोगतत्त्वज्ञों ने कहा है—एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति (महाभाष्य ६।१। ८४)। अर्थात् अच्छे प्रकार जाना हुआ, शास्त्रान्वित (=व्याकरणानुमोदित) और अच्छे प्रकार प्रयुक्त एक शब्द भी स्वर्ग में कामना को पूर्ण करनेहारा होता है ॥१६॥

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते (=जो दीक्षित=दीक्षा को प्राप्त हुआ अग्नीषोम देवतावाले पशु का आलभन करता है)। इसी विषय में यह पढ़ते हैं—हृदयस्याग्रेऽवद्यति अथ जिह्वाया अथ वक्षसः (=पहले हृदय से अवदान करते हैं, तत्पश्चात् जिह्वा से, तत्पश्चात् वक्षः से)। और पढ़ते हैं—सोमेन यजेत (=सोम से याग करे)। इस के विषय में भी यह पढ़ते हैं—ऐन्द्रवायवं गृह्णाति, मैत्रावरुणं गृह्णाति, आश्विनं गृह्णाति (=इन्द्र वायुदेवतावाले का ग्रहण करता है, मित्रावरुण देवतावाले का ग्रहण करता है, अश्वी देवतावाले का ग्रहण करता है) इत्यादि। इनके विषय में सन्देह है—क्या अवद्यति और गृह्णाति शब्दों से कहे गये कर्मों के ही समुदाय के आलभति और यजति अनुवादक हैं, अथवा अपूर्व कर्मों के विधायक हैं ? इस में क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—अग्नीषोमीयं पशुमालभते—सोमादि अध्वरों में श्रूयमाण अग्नीषोमीय पशुयाग

---

१. तै० सं० ६।१।११। २. तै० सं० ६।३।१०॥

३. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—य एवं विद्वान् सोमेन यजते ॥ तै० सं० ३।२।२॥ मी० ३।१।१३ भाष्ये इयमेव तैत्तिरीया श्रुतिः पठ्यते।

४. द्र०—शांखा० श्रौत ६।६।६-८-७॥ मै० सं० ४।५।८-९॥

श्रुत हैं। उनके विषय में हम प्रथम भाग में 'श्रौतयज्ञ-मीमांसा-प्रकरण' में (पृष्ठ १२०-१७१) विस्तार से लिख चुके हैं। उस सब का सार यह है कि पुराकाल में यज्ञों में पशुओं का साक्षात् वध नहीं होता था। पर्यग्निकरण के पश्चात् पशु का उत्सर्जन कर दिया जाता था। और यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाशः की विधि के अनुसार तत्तद् देवता के लिये पुरोडाश की आहुति देकर कर्म पूरा कर लिया जाता था। ऐसी अवस्था में हृदयस्याग्रे ऽवद्यति(=पहले हृदय से मांस का अवदान करे) आदि विधियों का उल्लेख शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों में क्यों मिलता है? इस पर संक्षेप से लिखा जाता है—

साहित्यिक ग्रन्थों में दो प्रकार के ग्रन्थ हैं—श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य। श्रव्य काव्य रामायण महाभारत आदि में युद्ध के प्रसङ्ग में विपक्षी को किस प्रकार मारा गया, इसका इतना सजीव वर्णन मिलता है कि पढ़ते हुए सारा दृश्य आंखों के आगे घूमने लगता है। परन्तु जब युद्ध का प्रसङ्ग अथवा किसी को मारने का प्रसङ्ग दृश्य काव्य=नाटक में आता है, तब उसका प्रदर्शन नहीं होता है। पटाक्षेप आदि से मृत्यु सूचित कर दी जाती है। ठीक इसी प्रकार श्रव्य काव्य स्थानीय शाखाओं ब्राह्मणग्रन्थों वा श्रौतसूत्रों में आधिवैदिक यज्ञों में कदाचित् होनेवाले द्रव्य के विनाश की अवयव-भेदन की प्रक्रिया का यथावत् वर्णन किया जाता है। परन्तु जब आधिदैविक यज्ञ के स्वरूप को समझाने के लिये अतीन्द्रिय परोक्ष घटनाओं को यज्ञशाला में नाटकवत् प्रस्तुत किया जाता है, तब आधिदैविक तत्त्व के प्रतिनिधिभूत पशु का मारण आदि प्रस्तुत नहीं किया जाता था। उत्तरकाल में इस रहस्य को भूलकर शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञीय पशु के मरण आदि का निर्देश देखकर इन्हें कर्तव्य समझकर यज्ञ में पशुहिंसा को प्रवृत्त कर दिया। इसका संकेत आयुर्वेदीय चरकसंहिता चिकित्सास्थान १९।४ में इस प्रकार मिलता है—

'आदिकाले पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां ········ क्रतुषु पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमापुः॥' इस वाक्य में पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् (=पशुओं का आलम्भन ही वेद में विहित है, ऐसा जानकर पशुओं का आलम्भन आरम्भ हुआ) यह अंश विशेष महत्त्व का है (विशेष द्रष्टव्य—'वैदिकसिद्धान्तमीमांसा' ग्रन्थ, पृष्ठ ८४-८५)।

इस पर प्रश्न हो सकता है कि आधिदैविक यज्ञ के निरूपक मन्त्रों में यह प्रकरण होवे, तो श्रव्य काव्यवत् में उनकी व्यवस्था हो सकती है। परन्तु यज्ञप्रधान शाखाओं ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में इनका विधान तभी उपपन्न हो सकता है, जब यज्ञों में पशुहिंसा की जाती हो। इसका समाधान यह है कि वेद में वर्णित आधिदैविक यज्ञों का परिज्ञान कराने के लिये ही यज्ञों की कल्पना हुई। तब यज्ञों के आधार पर ही आधिदैविक मन्त्रार्थ को समझाने की भी प्रवृत्ति हुई। इसलिये यज्ञों के व्याख्यानग्रन्थों शाखा ब्राह्मण और श्रौतसूत्रों में आधिदैविक यज्ञीय मन्त्रों का विनियोग द्रव्ययज्ञ में दर्शाना आवश्यक हो गया। इसलिये वेद शाखा ब्राह्मण श्रौतसूत्र सभी दृश्य काव्य और उसके व्याख्याग्रन्थों के अन्तर्गत आते हैं। नाटकस्थानीय तो पद्धतिग्रन्थ होते हैं, उनमें पशुहिंसा का उल्लेख नहीं करना चाहिये। परन्तु मध्यकाल में जब अज्ञानवश यज्ञों में पशुहिंसा

समुदायस्येति । कुतः ? ये इमे आलभतियजतिभ्यां कर्म्मणी विधीयेयातामिति चिन्त्येते, पूर्वमेव ते अवद्यति-गृह्णातिभ्यामवगमिते । न चावगमितोऽर्थो विधीयते। हृदयादींस्तु पशुशब्देनानुवदति, सोमशब्देन च रसम् । तस्मात् सोमेन यजेत इत्यनुवादो यजतिः । यजेत स्वर्गकामो वसन्ते वसन्ते[1] इति फलगुणसम्बन्धार्थः[2] । पशुमालभेत इति चाल-

प्रवृत्त हो गई, तो नाटकस्थानीय पद्धतिग्रन्थों में भी मारने-काटने का उल्लेख होने लगा। जैसे आजकल अनेक भारतीय नाटककार भारतीय-पद्धति का त्याग करके योरोपीय-पद्धति के अनुसार दुःखान्त नाटक रचने लग गये। यह दोष मनुष्यों का है, न कि शास्त्रों और शास्त्रकारों का।

इसके साथ ही महाभाष्यकार का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है—'शतवर्ष-साध्य सहस्रवर्ष साध्य दीर्घसत्रों को आजकल कोई नहीं करता है, फिर भी केवल ऋषि (=वेद) का सम्प्रदाय धर्म है, इसलिये याज्ञिक लोग शास्त्र से विधान करते हैं।[3] इसी प्रकार नाटकधर्मा यज्ञों में साक्षात् पशु का वध न किये जाने पर भी आधिदैविक यज्ञों के द्रव्ययज्ञ-प्रतिरूपक होने से आधिदैविक तत्त्व वा मन्त्रों के आधिदैविक अर्थों की ओर संकेत करने के लिये शाखा ब्राह्मण और श्रौतसूत्रों के प्रवक्ता उसका अनुविधान तो कहते ही हैं।

इस पर भी यदि यही आग्रह होवे कि शाखा ब्राह्मण और श्रौतसूत्रों में पशुहिंसा का विधान होने से ये कर्तव्य हैं। तो इस विषय में हम यही कहेंगे कि पशुहिंसा के वेदविरुद्ध होने से यह त्याज्य है। चाहे इसका विधान किसी ने भी क्यों न किया हो। यज्ञों में आलब्धव्य माने जाने-वाले पुरुष गौ अश्व अज और अवि की हिंसा का वेद में साक्षात् प्रतिषेध किया है (द्र०—शुक्ल यजुः १३।४२-४९, १५; तथा अथर्व १।१६।४)। विशेष 'श्रौतयज्ञमीमांसा' (भाग १) पृष्ठ १४३ पर देखें।

व्याख्या—समुदाय के वाचक हैं। किस हेतु से ? जो आलभति और यजति शब्दों से ये कर्म विधान किये जायें, ऐसा विचार करते हैं [अर्थात् 'आलभति' और 'यजति' शब्दों से इन कर्मों का विधान किया जाता है, ऐसा विचार करते हैं], वे तो पहले से ही अवद्यति और गृह्णाति शब्दों से बताये जा चुके हैं। ज्ञात अर्थ का विधान नहीं किया जाता है। [यदग्नीषोमीयं वाक्य] हृदय आदि [अङ्गों] का पशु शब्द से अनुवाद करता है, और [सोमेन यजेत वाक्य] सोम शब्द से [सोम के] रस का। इसलिये सोमेन यजेत [वाक्यस्थ] 'यजति' (= यज' धातु) अनुवाद है। यजेत स्वर्गकामः वसन्ते वसन्ते' यह [यजति] फल और [कालरूप] गुण के सम्बन्ध के लिये

१. अनुपलब्धमूलम् । सम्भवतः 'वसन्ते वसन्ते सोमेन यजेत स्वर्गकामः' इति वाक्यमेव सोमेन यजेत, यजेत स्वर्गकामः, वसन्ते वसन्ते इत्येवं त्रेधा विभज्य निर्दिष्टम् । तुलना कार्या—वसन्ते वसन्ते ज्योतिष्टोमेन यजेत । आप० श्रौत १०।२।५॥

२. काशीमुद्रिते 'यजेत स्वर्गकाम इति फलसंबन्धार्थः' इत्येव पाठः

३. अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत् । यद्यप्यप्रयुक्ताः, अवश्यं दीर्घसत्रवल्लक्षणेनानुविधेयाः । तद्यथा दीर्घसत्राणि वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि च । न चाद्यत्वे कश्चिदप्याहरति । केवलमृषिसम्प्र-दायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते ॥ महाभाष्य १।१, आ० १ ॥

भतिरग्नीषोमसम्बन्धार्थः। अपि च—दशैतानध्वर्युः प्रातःसवने ग्रहान् गृह्णाति[1] इति समुच्चयो दृश्यते। तथा—आश्विनो दशमो गृह्यते, तृतीयो हूयते[2] इति च क्रमः। यदि चापूर्वौ यागौ विधीयेते, तत्र ऐन्द्रवायवादिभिर्देवता विधीयेरन्, ता एकार्थाः सत्यो विकल्प्येरन्[3]। यथा—खादिरे बध्नाति, पालाशे बध्नाति, रोहितके बध्नाति[4] इति। तत्र क्रमसमुच्चयदर्शने नोपपद्येयाताम्। अथ पुनरस्मिन् समुदायवचने यजतौ सम्यगेतदवक्लृप्तं भवति। तस्मात् समुदायानुवादौ। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

है। और पशुमालभेत [वाक्यस्थ] आलभति अग्नीषोम [देवता] के सम्बन्ध के लिये है। और भी—दशैतान् अध्वर्युः प्रातःसवने ग्रहान् गृह्णाति (=अध्वर्यु प्रातःसवन में इन दश ग्रहों को ग्रहण करता है) से [ग्रहों का] समुच्चय देखा जाता है। और—आश्विनो दशमो गृह्यते, तृतीयो हूयते (=आश्विन ग्रह दशम वार=दशम स्थान में ग्रहण किया जाता है, और तीसरी वार होम किया जाता है) इस से क्रम [भी कहा है]। यदि [सोमेन यजेत अग्नीषोमीयं पशुम् से] अपूर्व यागों का विधान किया जाये, तो ऐन्द्रवायव आदि से देवताओं का [तथा हृदय आदि अङ्गों का विधान होवे, वे एकार्थक(=एक प्रयोजनवाले)होने से विकल्प से होवें। जैसे खादिरे बध्नाति, पालाशे बध्नाति, रोहितके बध्नाति (=खदिर के यूप में पशु को बान्धता है, पलाश के यूप में पशु को बान्धता है, बहेड़े के यूप में पशु को बान्धता है) में [पशुबंधनरूप एक प्रयोजन होने से खादिर पालाश और रोहितक का विकल्प होता है]। वहां (=विकल्प होने पर) [पूर्व कहा हुआ] क्रम और समुच्चय का दर्शन उपपन्न नहीं होगा। और फिर इस समुदायवाचक 'यजति' के होने पर [क्रम और समुच्चय] अच्छे प्रकार उपपन्न होते हैं। इसलिये ये दोनों समुदाय के वाचक हैं। ऐसा प्राप्त होने पर—

विवरण—आलभतियजतिभ्याम्—सोमेन यजेत इस में याग प्रत्यक्ष श्रुत है; परन्तु यदग्नीषोमीयं पशुमालभते में आलभन का निर्देश है याग का नहीं। केवल आलभनमात्र अर्थ पर्यवसित होने से याग के न होने पर आलभन कर्म अनर्थक होता है। जैसे—सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चस्कामः में 'निर्वपेत्' क्रिया से निर्वाप करना ही अर्थ गृहीत किया जाये, तो याग का विधान न होने से द्रव्य की निर्वापक्रिया भी व्यर्थ होती है। अतः जैसे निर्वाप की प्रयोजनवत्ता के लिये निर्वपेत् क्रिया से याग अर्थ को विवक्षित माना जाता है, उसी प्रकार आलभेत से याग का निर्देश अभिप्रेत होने से इससे भी याग कहा जाता है। अवद्यतिगृह्णातिभ्याम्—यहां भी अवदानमात्र और

---

१. द्र०—नवैते प्रातर्ग्रहा गृह्यन्ते ...... आश्विनो दशमो गृह्यते। मै० सं० ४।६।१॥

२. मै० सं० ४।६।१— अश्विनो दशमो गृह्यते ...... तृतीयो हूयते।

३. काशीमुद्रिते 'ता एकार्थाः सत्यो विकल्पेरन्' इति न पठ्यते।

४. अनुपलब्धमूलम्। भाष्ये यथायं पाठ उद्धृतस्तथा खादिरपालाशरोहितका यूपा सामान्येन विहिता इति गम्यते। ऐ० ब्रा० (२।१) तु—स्वर्गतेजोवीर्यकामानां यथासंख्यं खादिरपालाशबैल्वा यूपा विधीयन्ते।

द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः प्रकरणे ह्यनर्थको द्रव्यसंयोगो न हि तस्य गुणार्थेन ॥१७॥ (उ०)

सोमरस के ग्रहणमात्र तक अर्थ के रुक जाने पर अवदान और ग्रहण कर्म व्यर्थ न होवें, इसलिये इन का अर्थ यागपर्यन्त स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार अवद्यति गृह्णाति भी याग हैं। अतः अवद्यति गृह्णाति पदविशिष्ट वाक्यों से बोधित अनेक यागों का सोमेन यजेत, अग्नीषोमीयं पशुमालभेत वाक्यों से उसी प्रकार अनुवाद होता है, जैसे यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां च अच्युतो भवति आदि वाक्यों से विहित यागों का य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं विद्वान् अमावास्यां यजते से अनुवाद होता है (द्र०—मी० २।२।३)। हृदयादींस्तु पशुशब्देन—विना विकारावयवार्थक तद्धित-प्रत्यय के भी विकार वा अवयव अर्थ जाना जाता है (द्र०—पूर्व पृष्ठ ३९७)। इसलिये हृदयादि अवयवों का पशु शब्द से, और सोमरस का सोम शब्द से अनुवाद हो सकता है। यजेत स्वर्गकामः, वसन्ते वसन्ते—यह वसन्ते वसन्ते सोमेन यजेत स्वर्गकामः रूप वाक्य के विभाग करके 'स्वर्गकामः' के साथ 'यजेत' का सम्बन्ध फल के सम्बन्ध के लिये, और वसन्ते वसन्ते यजेत में 'वसन्ते वसन्ते' के साथ 'यजेत' का सम्बन्ध कालरूप गुणविधान के लिये है। तात्पर्य यह है कि एक ही 'यजेत' पद सोम के साथ युक्त होकर ऐन्द्र-वायवादि ग्रहविहित यागों का अनुवादक है। और वही स्वर्गकाम के साथ सम्बद्ध होकर यागेन स्वर्गं भावयेत् अर्थ द्वारा फल के साथ सम्बन्ध करता है। और वही वसन्ते वसन्ते के साथ सम्बद्ध होकर यागमुद्दिश्य वसन्तकालो विधीयते अर्थ द्वारा कालरूप गुण का सम्बन्ध करता है। पशुमालभेतेति—यहां भी यदग्नीषोमीयं पशुमालभेत वाक्यस्थ 'आलभेत' पद 'पशुमालभेत' रूप में पशु के साथ सम्बद्ध होकर हृदयाद्यवदान-विहित यागों का अनुवाद करता है, और 'अग्नीषोमीयम्' के साथ अग्नीषोमीयमालभते रूप से अग्नीषोम देवता के साथ सम्बन्ध को कहता है। दशैतानध्वर्युः प्रातःसवने ग्रहान्—१ ऐन्द्रवायव, २ मैत्रावरुण, ३ शुक्र, ४ मन्थी, ५ आग्रायण, ६-७-८ अतिग्रह (आग्नेय-ऐन्द्र-सौर्य), ९ उक्थ, १० आश्विन ये दस ग्रह क्रमशः प्रातःसवन में ग्रहण किये जाते हैं। अर्थात् इनमें सोमरस भरा जाता है। आश्विनो दशमो गृह्यते—पूर्व ग्रहणक्रम में आश्विन ग्रह दसवां है। तृतीयो हूयते—द्विदेवत्यश्चरति (कात्या० श्रौत ९।९।११) के विधान से पहले दो-दो देवतावाले ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण, और आश्विन ग्रह से क्रमशः यजन होता है। इस प्रकार यजनक्रम में आश्विन तीसरा होता है। खादिरे बध्नाति—पशुयाग में पशु को बांधने के लिये खदिर पलाश और रोहतक (=बहेड़े) के वृक्षों का विधान किया है। समबल एकप्रयोजनवाली विधियों में विकल्प होता है। यथा—व्रीहिभिर्यजेत यवैर्यजेत में व्रीहि और यव का विकल्प होता है। इसी प्रकार सोमेन यजेत को अनुवादक न मानकर विधायक मानने पर ऐन्द्रवायवं गृह्णाति आदि में भी विकल्प होगा। विकल्प होने पर पूर्व दर्शाये हुए क्रम-समुच्चय उपपन्न नहीं होंगे।

द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः……द्रव्यसंयोगो न हि तस्य गुणार्थेन ॥१७॥

सूत्रार्थः—(पशुसोमयोः) पशु और सोम से सम्बद्ध सोमेन यजेत और यदग्नीषोमीयं पशु-

अपूर्वयोः कर्मणोर्विधानचोदने पशुसोमयोः। कुतः? सोमशब्दः क्षीरिण्यां लतायां प्रसिद्धः, न रसे। आकृतिवचनो हि सोमशब्दः, न व्यक्तिवचनः। तथा शृङ्गिणि पुच्छवति लोमशे चतुष्पदि द्रव्यविशेषे पशुशब्दमाकृतिवचनमुपचरन्ति। न चैवमाकृतिकद्रव्याः प्रकृता यागा विद्यन्ते। येषामिमौ समुदायस्यानुवदितारौ भवेयाताम्। ननु पशुविकारो हृदयादिः पशुशब्देनाग्नीषोमसम्बन्धार्थमनूद्यते। नैतदेवम्। पशुरग्नीषोमीयो भवति, इत्येतावदुच्यते। नायं प्रकृतो हृदयादिः पशुरिति। तत्र यदि लौकिकस्य पशोर्ग्रहणम्, ततो मुख्यः पशुशब्दः। यदि हृदयादेः, ततो जघन्यो विकारसम्बन्धेन। तथा सोमशब्दोऽपि विकारसम्बन्धेनानुवादः स्यात्। तस्मादपूर्वे कर्म्मणी विधेयेयाताम्, नानुवादौ। अथ ऐन्द्रवायवादिषु प्रकृतेषु यागेषु लता विधीयेतेति? उच्यते, न सा शक्या वाक्येन ऐन्द्रवायवी ज्ञातुम्। श्रुत्या हि रस ऐन्द्रवायवः। तस्माद् द्रव्यसंयोगवचनः प्रकृतेषु यागेष्वपि सत्सु

मालभेत वाक्य में (द्रव्यसंयोगात्) सोम और पशु द्रव्य का संयोग होने से (चोदना) चोदक=अपूर्व कर्म के विधायक हैं। (प्रकरणे) प्रकरण में पठित हृदयस्याग्रेऽवद्यति आदि तथा ऐन्द्रवायवं गृह्णाति आदि वाक्यों से याग का विधान मानने पर उनमें द्रव्य का निर्देश होने से (द्रव्यसंयोगः) सोमेन यजेत और पशुमालभेत में सोम और पशु द्रव्य का संयोग (अनर्थकः) अनर्थक=प्रयोजनरहित (हि) ही होवे। (तस्य) उस सोम और पशु का (गुणार्थेन), दध्ना जुहोति के तुल्य गुणविधान का प्रयोजन (हि) निश्चय से (न) नहीं है। [दध्ना जुहोति के लिये देखें पिछला अधिकरण।]

व्याख्या—अपूर्व कर्मों के विधान की चोदना हैं पशुसोम-सम्बद्ध वाक्य में। किस हेतु से? सोम शब्द दुग्धवाली लता में प्रसिद्ध हैं, रस (=सोम के रस) में प्रसिद्ध नहीं है। सोम शब्द आकृति-वाचक है, व्यक्तिवाचक नहीं है। तथा सींग पूंछ लोम और चार पैरोंवाले द्रव्यविशेष में आकृतिवाचक पशुशब्द का [लौकिकजन] व्यवहार करते हैं। प्रकृत [हृदयस्याग्रे अवद्यति आदि और ऐन्द्रवायवं गृह्णाति] याग ऐसे आकृति द्रव्यवाले नहीं हैं [क्योंकि आकृति का अवदान और आलभन नहीं हो सकता है]। जिनका ये (=सोमेन यजेत, पशुमालभेत) समुदाय का अनुवाद करनेहारे होवें। (आक्षेप) पशु का विकार हृदयादि पशु शब्द से अग्नीषोम के सम्बन्ध के लिये अनुवाद किये जाते हैं। (समाधान) ऐसा नहीं है। [अग्नीषोमीयं पशुमालभेत वाक्य से] पशु अग्नीषोम देवतावाला होता है, इतना ही अर्थ जाना जाता है। यह प्रकृत हृदय आदि अवयव पशु नहीं है। [उक्त वाक्य में], यदि लौकिक पशु का ग्रहण होता है, तो पशुशब्द मुख्य (=मुख्य अर्थवाला) होता है। और यदि हृदयादि अवयव का वाचक पशुशब्द होता है, तो विकार के सम्बन्ध से नीच (=गौण) अर्थवाला होता है। तथा सोम शब्द भी विकार के सम्बन्ध से अनुवादक होवे। इसलिये [ये वाक्य] अपूर्व कर्म का विधान करेंगे अनुवाद नहीं करेंगे। (आक्षेप) और यदि प्रकृत ऐन्द्रवायु देवतावाले यागों में [सोमेन यजेत वाक्य से] लता का विधान होवे तो? (समाधान) वह [सोमलता] वाक्य से ऐन्द्रवायु देवतावाली नहीं जानी जा सकती है। श्रुति (=पुंल्लिङ्ग) 'ऐन्द्रवायवः' से रस ही इन्द्रवायु देवतावाला है। इसलिये द्रव्य-संयोग का वाचक [सोम वा पशु] प्रकृत

विधातुमनुवदितुं वा न शक्नुवन्ननर्थकः स्यात् । तस्मादपूर्वकर्म्मणी विधीयेयाताम्, न प्रकृतानामनुवादाविति ॥१७॥

एवं तावत् प्रकृतेषु सत्स्वपि नानुवादौ, इत्युक्तम् । अथेदानीं 'प्रकृता एव यागा न सन्ति' इत्युच्यते । कुतः ?

अचोदकाश्च संस्काराः ॥१८॥ (आ० नि०)

यागों के होने पर भी विधान और अनुवाद के लिये समर्थ न होता हुआ अनर्थक होवे । इसलिये ये अपूर्व कर्म का विधान करेंगे, प्रकृत यागों का अनुवाद नहीं करेंगे ॥१७॥

विवरण—अनुवदितारौ भवेयाताम्—'भवेयाताम्' प्रयोग आत्मनेपद का है, जैसे एधेत एधेयाताम् । भू धातु परस्मैपदी है । सभी मुद्रित ग्रन्थों में यही पाठ उपलब्ध होता है । अतः भवेयाताम् आत्मनेपद प्रयोग आर्षप्रयोग जानना चाहिये । यद्यपि भाष्यकार ऋषि नहीं है, पुनरपि वैदिक ग्रन्थों के सतत अभ्यास के कारण मीमांसक वैदिक जनों से वैदिक प्रयोग अनायास प्रयुक्त हो जाता है । इसीलिये वैयाकरणों में प्रसिद्धि है—**वैदिका अपभाषन्ते** (=वैदिक लोग अपशब्दों=लोक से अननुमोदितों का प्रयोग करते हैं) । आचार्यपाद ने पढ़ाते हुए **'भवेताम्'** संशोधन कराया था, परन्तु हमारी मति में सर्वत्र उपलब्ध पाठ का शोधन करना ठीक नहीं है । **विधातुमनुवदितुं वा न शक्नुवन्**—अभ्युपगमवाद से भाष्यकार कहते हैं कि हृदयस्याग्रे अवद्यति तथा ऐन्द्रवायवं गृह्णाति आदि से यागों की कल्पना करने पर भी **सोमेन यजेत स्वर्गकामः** में फल के सम्बन्ध के, और **अग्नीषोमीयं पशुमालभेत** से अग्नीषोम देवता के सम्बन्ध के विधान करने के लिये, और यजेत, आलभेत पद प्रकृतयागों के अनुवाद करने के लिये समर्थ नहीं हैं । क्योंकि **सोमेन यजेत** और **पशुमालभेत** में श्रूयमाण यजेत और आलभेत पद प्रकृत के अनुवादक होवें, तो वे स्वर्गफल के और अग्नीषोमीय देवता के विधायक नहीं हो सकते । तथा ऐन्द्रवायवं गृह्णाति में विहित सोमरस को सोम शब्द, और हृदयादि अङ्गों को पशु शब्द मुख्य वृत्ति से नहीं कह सकता है, उसके लिये गौणी वृत्ति का आश्रय लेना पड़ेगा । मुख्य वृत्ति के अपूर्व कर्म-विधायकत्व में सम्भव होने पर गौणी वृत्ति का आश्रयण करना अन्याय्य है ॥१७॥

व्याख्या—इस प्रकार प्रकृतों [=ऐन्द्रवायवं गृह्णाति आदि, तथा हृदयस्याग्रेऽवद्यति इत्यादि] के होने पर भी [सोमेन यजेत तथा अग्नीषोमीयं पशुमालभेत वचन] अनुवाद नहीं हैं, यह [पूर्वसूत्रभाष्य में] कहा है । अब 'प्रकृत [ऐन्द्रवायवादि वाक्यबोधित] याग ही नहीं हैं.' यह कहते हैं । किस हेतु से ?

अचोदकाश्च संस्काराः ॥१८॥

सूत्रार्थः—(च) और (संस्काराः) ग्रहण तथा अवदानरूप संस्कार (अचोदकाः) यागों के विधायक नहीं हैं ।

अचोदकाः संस्काराः। न चैन्द्रवायवादिभिर्यागा विधीयन्ते[1]। ऐन्द्रवायवं गृह्णाति इति इन्द्रवायुभ्यां सङ्कल्पयतीत्येतावदुक्तं भवति। तत्र यागमन्तरेण सङ्कल्पयति इत्येतन्न युज्यते, इति यागः कल्प्येत। स एवाऽऽम्नातो यागो, यस्मिन् सति सङ्कल्पोऽवकल्प्येत। तस्मान्न 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' इत्येवमादिभिर्यागा विधीयेरन्। तेन ग्रहणमुपकल्पनमात्रं दृष्टार्थम्। उपकल्प्यमाने तु देवतासङ्कीर्त्तनमदृष्टाय। अतः प्रकृतानां यागानामभावान्न समुदायशब्दो यजतिः। तथालभतिशब्द इति ॥१८॥

पशौ वृत्ता कथा, दशमे पुनरुद्भविष्यति[2]। सोम इदानीं वर्त्तते। कथं क्रमसमुच्चयाविति ?

व्याख्या—[ग्रहण तथा अवदानरूप] संस्कार [यागों के] विधायक नहीं हैं। ऐन्द्रवायवं गृह्णाति आदि वाक्यों से यागों का विधान नहीं किया जाता है। ऐन्द्रवायवं गृह्णाति से इन्द्र वायु के लिये संकल्प करता है, इतना मात्र ही कहा जाता है। वहां याग के बिना संकल्पयति (= संकल्प करता है) यह युक्त नहीं होता है, इसलिये याग की कल्पना होगी। वही [सोमेन यजेत रूप से] पठित याग है, जिसके होने पर संकल्प उपपन्न हो सकता है। इसलिये ऐन्द्रवायवं गृह्णाति इत्यादि से यागों का विधान नहीं होगा। इस हेतु से ग्रहण उपकल्पन (= संकल्प) मात्र दृष्टार्थ हैं। उपकल्प्यमान (=संकल्प्यमान) होने पर तो देवता का संकीर्तन अदृष्ट के लिये है। इसलिये प्रकृतयागों के न होने से [सोमन यजति] गत यजति शब्द [ऐन्द्रवायव आदि यागों के समुदाय को कहनेवाला] समुदाय शब्द नहीं है। इसी प्रकार आलभति (=आलभते) शब्द भी है ॥१८॥

विवरण—भाष्य के सभी मुद्रित ग्रन्थों में "तेन ग्रहणमुपकल्पनमात्र दृष्टार्थम्। उपकल्प्यमाने तु देवतासंकीर्तनमदृष्टाय। अतः" इतना भाग 'न चैन्द्रवायवादिभिर्यागा विधीयन्ते' पाठ के अनन्तर अस्थान में मिलता है। पूज्य गुरुवर्य ने पढ़ाते समय जहां जोड़ने का निर्देश किया था, उसी के अनुसार हमने व्याख्या की है। आलभतिशब्दः—'आलभति' धातु निर्देश में श्तिप्प्रत्ययान्त शब्द है ॥१८॥

व्याख्या- पशु के सम्बन्ध में कथन पूर्ण हो गया, आगे दशम अध्याय [के सातवें पाद के प्रथम अधिकरण] में पुनः उठेगा। इस समय सोम के सम्बन्ध में कथन है। क्रम और समुच्चय कैसे होंगे ?

विवरण— क्रमसमुच्चयौ—द्र०—पूर्वसूत्र-भाष्य में उद्धृत आश्विनो दशमो गृह्यते, तृतीयो हूयते वचन से क्रम, और दशैतान् अध्वर्युः प्रातःसवने ग्रहान् गृह्णाति वचन से समुच्चय जानना चाहिये।

---

१. सर्वेषु मुद्रितग्रन्थेषु इतोऽग्रे 'तेन ग्रहणमुपकल्पनमात्रं दृष्टार्थम्, उपकल्प्यमाने तु देवतासंकीर्तनमदृष्टाय। अतः' इति पाठ उपलभ्यते। स चास्थान इति कृत्वाग्रे यथास्थानं नीतः। पूज्यैः गुरुचरणैः श्री चिन्नस्वामिशास्त्रिवर्यैरध्यापनकाले पाठशोधनमिदं कारितमभूत्।

२. द्र०—अ० १०, पा० ७, अधि० १ (सूत्र १—२)।

तद्भेदात् कर्मणोऽभ्यासो द्रव्यपृथक्त्वादनर्थकं हि स्याद् भेदो द्रव्यगुणीभावात् ॥१९॥ (उ०)

इन्द्रवाय्वाद्या देवता नैवं श्रूयन्ते—इन्द्रवायुभ्यां यागो निर्वर्त्तयितव्यः, मित्रावरुणाभ्यां यागो निर्वर्त्तयितव्य इति। यद्येवमश्रोष्यन्त, यागं प्रति देवता व्यकल्पिष्यन्त। 'केवलया हि देवतया तदा यागो निर्वर्त्त्यंते' इति विहितमभविष्यत्। अथ पुनरिमा अदृष्टार्थं गृह्णातिसंस्कारं प्रति देवता विधीयन्ते, तत्रेन्द्रवायुसङ्कल्पादन्यो मित्रावरुणसङ्कल्पः। तेन गृह्णातौ तत्कृताददृष्टाददृष्टान्तरमुत्पादयति। एवमपरेष्वपि ग्रहणेषु। तस्मात् समुच्चयः।

ग्रहणञ्च नियतपरिमाणेषूर्ध्वपात्रेषु प्रादेशमात्रेषु नियतपरिमाणेषूदककलशेषु संस्कृतस्य दशमुष्टिपरिमितस्य कृत्स्नस्य सोमस्य नावकल्पते। यद्यपि चावकल्पेत, तथापि नित्यवद्विहितानां देवतानां विकल्पपक्षे तावत्प्रयोगवचनो मा बाधि, इत्यवयवग्रहणमेव

तद्भेदात् कर्मणोऽभ्यासो······ द्रव्यगुणीभावात् ॥१९॥

सूत्रार्थः—(तद्भेदात्) देवता के भेद से (कर्मणः) याग का (अभ्यासः) अभ्यास=आवृत्ति होती है, (द्रव्यपृथक्त्वात्) ग्रहसंज्ञक पात्रों में गृहीत सोमरस द्रव्य के पृथक्-पृथक् होने से संस्कार का भेद है। (द्रव्यगुणीभावात्) द्रव्य के प्रति ग्रहण के गुणभूत=अङ्ग होने से (भेदः) संस्कार का भेद=अभ्यास होता है। (हि) यतः एकवार ग्रहण करके याग करने पर (अनर्थकम्) आश्विनो दशमो गृह्यते इत्यादि क्रमविधि अनर्थक (स्यात्) होवे। (सुबोधिनी वत्यनुसार सूत्रार्थ है)।

व्याख्या—इन्द्रवायु आदि देवता इस प्रकार श्रुत नहीं हैं कि—इन्द्रवायु के लिये याग करो, मित्रावरुण के लिये याग करो। यदि इस प्रकार [इन्द्रवायु आदि देवता] सुन जाते, तो याग के प्रति देवता विकल्पित होते। 'अकेली देवता से ही तब याग उपपन्न होता है' ऐसा विहित होता। और यदि ये देवता अदृष्ट के लिये ग्रहणरूप संस्कार के प्रति विहित होते हैं, तो उस अवस्था में इन्द्रवायु के संकल्प से मित्रावरुणसंकल्प अन्य होता है। इस कारण ग्रहण में इन्द्रवायु के संकल्प से उत्पन्न अदृष्ट से [मित्रावरुणसंकल्प] अदृष्टान्तर को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार अन्य ग्रहणों में भी [तत्तद् देवता-संकल्प अदृष्टान्तर को उत्पन्न करता है]। इसलिये समुच्चय होता है।

विवरण देवता व्यकल्पिष्यन्त—इन्द्रवायु के लिये याग करो, मित्रावरुण के लिये याग करो, ऐसा कहने पर याग के प्रति देवता का विकल्प होता, अर्थात् किसी एक देवता से याग के उपपन्न होने से यागों का समुच्चय न होता।

व्याख्या—नियत-परिमाणवाले [ग्रहसंज्ञक] प्रादेशमात्र (=१० अङ्गुल) परिमाणवाले ऊर्ध्व-पात्रों में, नियतपरिमाणवाले उदककलशों में संस्कृत दश मुष्टि परिमित पूरे सोम का ग्रहण सम्भव नहीं है। और यदि सम्भव भी हो, फिर भी नित्य के समान विहित देवताओं के विकल्पपक्ष में प्रयोग-

न्याय्यम् । कृत्स्नग्रहणे हि तदेवेन्द्रवायुभ्यां सङ्कल्पितम्, तदेव मित्रावरुणाभ्यामिति नावकल्पेत। तस्मात् कल्पनभेदात् पृथगवस्थितः सोमो नानादेवतत्वादेव नैक्येन शक्यः कर्तुम्। न चासति देवतायागे देवताभ्यः शक्यते सङ्कल्पयितुम्। तस्मादवश्यं यथासङ्कल्पिता देवता यष्टव्याः। तासु चेज्यमानासु ज्योतिष्टोमेन यजेत[1] इति श्रुतो यागो निर्वृत्त एव भवति। न देवतान्तरमाकाङ्क्षति। कृत्स्नेन च दशमुष्टिना सोमेन यागः श्रुतः। सोऽसति अभ्यासे नावकल्पत इति। अर्थात् स गुणो भविष्यति, इत्यभ्यसितव्यो यागः। न ह्यनभ्यस्तः सर्वाभिर्देवताभिः सर्वेण च सोमेन सम्पन्नो भविष्यति। तस्मिँश्चाभ्यस्यमाने क्रमसमुच्चयौ युक्तावेव भवतः। तस्मात्तयोर्दर्शनं युज्यते एवेति ॥ १९ ॥

वचन की बाधा न होवे, इस दृष्टि से अवयवग्रहण ही न्याय्य है। सम्पूर्ण के ग्रहण होने पर वही सोम रस इन्द्रवायु के लिये सकल्पित होवे, और वही मित्रावरुण देवता के लिये संकल्पित होवे, ऐसा नहीं हो सकेगा। इस कारण संकल्पभेद से पृथक्-पृथक् [ग्रहपात्रों में] रखा हुआ सोम अनेक देवतावाला होने से ही ऐक्य भाव से स्वीकार करने योग्य नहीं है। और देवता के लिये याग न होने पर देवताओं के लिये संकल्पित भी नहीं हो सकता है। इसलिये यथासंकल्पित देवताओं का यजन अवश्य करना चाहिये। और उन देवताओं के इज्यमान (=जिनके लिये यज्ञ किया जा रहा है) होने पर ज्योतिष्टोमेन यजेत से श्रुत याग सम्पन्न होता ही है। वह देवतान्तर की अपेक्षा नहीं करता। और पूरे दश मुट्ठी परिमाणवाले सोम से याग श्रुत है। वह याग [पूरे सोम से] विना अभ्यास के समर्थ नहीं होता है। अर्थात् [समुच्चय होने पर] वह (=अभ्यास) गुण हो जायेगा, इसलिये याग अभ्यसनीय हैं। बिना अभ्यास किया हुआ याग सब देवताओं से और पूरे सोम से सम्पन्न नहीं होगा। और उसके अभ्यास करने पर क्रम और समुच्चय युक्त ही होते हैं। इसलिये उन दोनों का दर्शन युक्त ही होता है ॥१९॥

विवरण--**नियतपरिमाणेषूर्ध्वपात्रेषु प्रादेशमात्रेषु**—यह कथन सोमयाग में सोमरस की आहुति देने के साधनभूत ग्रहसंज्ञक पात्रों के लिये है। ग्रहपात्र ऊखल के आकार के मध्य में संकुचित होते हैं। इनका ऊर्ध्व भाग नियत परिमाण में खोदा हुआ होता है। इनमें लगभग एक-एक छटांक सोमरस भरा जा सकता है। इनकी ऊंचाई प्रादेशमात्र होती है। अंगूठे और तर्जनी (=अंगूठें के पास की) अङ्गुली को फैलाने पर जो परिमाण होता है, उसे प्रादेश कहा जाता है। यह १० अङ्गुल होता है। **नियतपरिमाणेषूदककलशेषु**—ऐसे उदककलश, जिनका सोमरस के साथ सम्बन्ध होता है, कई होते हैं। यथा द्रोणकलश पूतभृत् एकधन आधवनीय। यहां बहुवचन होने से सब का ग्रहण हो सकता है, तथापि द्रोणकलश का ग्रहण यहां अभिप्रेत है। **दशमुष्टिपरिमितस्य**—एक बिलात परिमाण के सोमखण्डों की दस मूठी सोम का सोमयाग में ग्रहण होता है। सोम का रस निकालने के लिये कूटे हुए सोम में नियत परिमाण में जल मिलाया जाता है। **यद्यपि चावकल्पेत**—

---

१. द्र०—वसन्ते वसन्ते ज्योतिष्टोमेन यजेत।। आप० श्रौत १०।२।१।।

संस्कारस्तु न भिद्येत परार्थत्वात्, द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥२०॥ (आ० नि०)

—यह कथन अभ्युपगमवाद से है, अर्थात् मान भी लें कि दश मुष्टि सोम के संस्कृत रस का ग्रहण हो सकता है। इस असम्भव पक्ष को दोषान्तर-निदर्शन के लिये स्वीकार किया है। इस पक्ष में सम्पूर्ण सोमरस इन्द्रवायु आदि देवताओं के लिये है, यह संकल्प होगा। **नित्यवद् विहितानाम्**—नित्य के समान, अर्थात् नित्यरूप से विहित। **विकल्पपक्षे प्रयोगवचनो मा बाधि**—'यह कर्म कर्त्तव्य है' 'यह कर्म कर्त्तव्य है' इसका बोधकवचन प्रयोगवचन कहाता है। उस से **ऐन्द्रवायवं गृह्णाति** आदि वाक्यों में विहित सभी देवताओं के प्रति संकल्पित सोमरस का देवता के विकल्पपक्ष में (द्र०—**यागं प्रति देवता व्यकल्पयिष्यन्त**) किसी एक देवता से याग के सम्पन्न होने पर अन्य देवताओं की बाधा होगी। **अवयवग्रहणमेव**—इसका तात्पर्य यह है कि कृत्स्न सोमरस को इन्द्रवायु आदि देवताओं के प्रति संकल्पित करने पर जो विकल्पपक्ष में अन्य देवताओं की बाधा कही है वह बाधा न आवे, इसलिये अवयवग्रहण=एक एक ग्रह में भरे जानेवाले सोमरस को तत्तद् देवता के लिये संकल्पित करना ही उचित है। **कृत्स्नग्रहणे हि**—इस वाक्य से कृत्स्न सोमरस को इन्द्रवायु आदि देवताओं के प्रति संकल्प करने में दोष दर्शाया है। **न चासति देवतायागे**—यदि तत्तद् देवता के लिये याग न किया जाये, तो तत्तद् देवता के लिये जो सोमरस का संकल्प किया है—'यह इन्द्रवायु के लिये है, यह मित्रावरुण के लिये है' इत्यादि संकल्प उपपन्न नहीं होगा। क्योंकि उस सोमरस से उन देवताओं के लिये याग तो होगा ही नहीं। पूर्वपक्ष में एकदेवताक सोमरस से ही सोमयाग के सम्पन्न हो जाने पर देवताओं का विकल्प होगा। **ज्योतिष्टोमेन यजेत**—यद्यपि १७वें सूत्र की उत्थानिका के भाष्य में **सोमेन यजेत** वाक्य उद्धृत किया है, तथापि यहां उद्धृत **ज्योतिष्टोमेन यजेत** वाक्य के समानार्थक होने से निर्देश किया है। इसका भी वही अर्थ है, जो **सोमेन यजेत** का है। ज्योति (=सोम) के लिये स्तोम=स्तुति जिस में की जाती है, वह ज्योतिष्टोम कहाता है। इसी अभिप्राय का वचन है—**वसन्ते वसन्ते ज्योतिष्टोमं यजेत** (आप० श्रौत १०।२।५)। **न देवतान्तरमाकाङ्क्षति**—**सोमेन यजेत** अथवा **ज्योतिष्टोमेन यजेत** वाक्य को सोमयाग का विधायक मानने पर उक्त वाक्य में किसी देवता का निर्देश न होने से यह देवता की आकाङ्क्षा रखता है। उस आकाङ्क्षा की पूर्ति प्रकरण में पठित **ऐन्द्रवायवं गृह्णाति, मैत्रावरुणं गृह्णाति** आदि वाक्यस्थ इन्द्रवायु मित्रावरुण आदि देवताओं के निर्देश से हो जाती है। अतः उसे देवतान्तर की अपेक्षा नहीं रहती है।॥१९॥

संस्कारस्तु न भिद्येत परार्थत्वात्, द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥२०॥

सूत्रार्थः—(संस्कारः) **खादिरे बध्नाति, पालाशे बध्नाति** आदि में पशु-बन्धनरूप संस्कार (तु) तो (न) नहीं (भिद्येत) भिन्न होवे, (द्रव्यस्य) यूपरूप द्रव्य के (परार्थत्वात्) परार्थ=बन्धनरूप प्रयोजन के लिये होने से। (गुणभूतत्वात्) यूप के सोमयाग के प्रति गुणभूत=अङ्गरूप होने से पशुबन्धनरूप संस्कार का खादिर आदि यूपों में अभ्यास नहीं होगा।

यदप्युच्यते—'यथा खादिरे बध्नाति, पालाशे बध्नाति इति खादिरादयः संस्कारे विकल्पन्ते, तद्वद्देवता विकल्पयिष्यन्ते इति।' तच्च नैवं युक्तम्। तत्र संस्कारमभिनिर्वर्त्तयितुं खादिरादयः श्रूयन्ते। यदि च इन्द्रवाय्वाद्या अपि ग्रहदेवता यागमभिनिर्वर्त्तयितुं श्रूयेरन्, ततोऽत्रापि विकल्पः स्यात्। न त्वेता यागे श्रुताः, तस्मात् समुच्चीयेरन् ॥२०॥ इति पशुसोमापूर्वताऽधिकरणम् ॥६॥

[संख्याकृतकर्मभेदाऽधिकरणम् ॥७॥]

अस्ति वाजपेयः—वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत[1] इति। तत्र प्राजापत्याः पशवः—सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते, सप्तदशो वै प्रजापतिः, प्रजापतेराप्त्यै, श्यामास्तूपरा एकरूपा भवन्ति, एवमेव हि प्रजापतिः समृद्धय[2]। तत्र संदिह्यते - किं सप्तदशैतानि कर्माणि, अथ सप्तदशपशुगुणकमेकं कर्मेति ? किं तावत् प्राप्तम् ? एकं कर्मेति। कुतः ? प्रजापतये

व्याख्या—और जो [आपने] कहा है—'जैसे खादिरे बध्नाति, पालाशे बध्नाति में खादिरादि संस्कार कर्म में विकल्पित होते हैं, उसी प्रकार [इन्द्रवायु आदि] देवताओं का भी विकल्प होगा'। वह (=देवताविकल्प) इस प्रकार युक्त नहीं है। वहां (=खादिरे बध्नाति आदि में) संस्कार (=पशुबन्धन) को सिद्ध करने के लिये खादिरादि यूप श्रुत हैं [वह पशुबन्धनरूप संस्कार पालाशादि यूपों में से किसी में भी किया हुआ सिद्ध हो जाता है]। और यदि इन्द्रवायु आदि ग्रहों के देवता भी यागकर्म की सिद्धि के लिये सुनाई पड़ें, तो उस से यहां (=इन्द्रवायु आदि ग्रह-देवताओं में) भी विकल्प होवे। ये देवता याग में (=याग के प्रति) श्रुत नहीं हैं [ग्रहग्रहण के प्रति श्रुत हैं], इसलिये इन का समुच्चय होगा ॥२०॥

व्याख्या—वाजपेय याग है—वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत (=वाजपेय से स्वाराज्य (=परतन्त्रता के अभाव) की कामनावाला यजन करे)। उसमें प्राजापत्य पशु श्रुत हैं—सप्तदश प्राजापत्यान् पशून् आलभते (सत्रह प्रजापतिदेवतावाले पशुओं का आलभन करे), सप्तदशो वै प्रजापतिः, प्रजापतेराप्त्यै (=प्रजापति सप्तदश अवयववाला है, प्रजापति की आप्ति=प्राप्ति के लिये), श्यामास्तूपरा एकरूपा भवन्ति (=काले वर्णवाले शृङ्गरहित एकरूप (=आकृति) वाले [१७ पशु] होते हैं. एवमेव हि प्रजापतिः समृद्ध्यै (=इस प्रकार का प्रजापति ही समृद्धि के लिये होता है)। उसमें सन्देह होता है—क्या ये सप्तदश कर्मान्तर हैं [अर्थात् सप्तदश याग हैं], अथवा सप्तदश पशुसमूहवाला एक कर्म है? इसमें क्या प्राप्त है ?-एक कर्म है। किस हेतु से ? प्रजापति देवता के लिये सत्रह पशु संकल्पित किये जाते हैं।

---

१. द्र०—य एवं विद्वान् वाजपेयेन यजते, गच्छति स्वाराज्यम्। तै० ब्रा० १।३।२॥
२. द्र०—तै० ब्रा० १।३।४॥ अत्र 'वै' 'तूपराः' पदे न स्तः।

सप्तदश पशवः सङ्कल्प्यन्ते। किमेकं यागमभिनिर्वर्त्तयितुम्, उत बहून्? इति संशये एकमिति न्याय्यम्। यो हि बहून् यागान् कल्पयति, कल्पयत्यसावेकम्। तत्रैकस्मिन्नेव परिक्लृप्ते सप्तदशानामेव पशूनां परिकल्पनमुपपन्नं भवति। केन च द्वितीयादीन् यागानवकल्पयेम? एवमल्पीयस्यदृष्टानुमानप्रसङ्गकल्पना भवति। तस्मादेको यागः सप्तदशभिः पशुभिर्निर्वर्त्यते। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

पृथक्त्वनिवेशात् संख्यया कर्मभेदः स्यात् ॥२१॥ (उ०)

संख्यया कर्मभेदो भवेत्। पृथक्त्वे पशूनां सति सप्तदश संख्या निविशेत। तच्च पशूनां पृथक्त्व बहूषु यागेष्ववकल्पते, नैकस्मिन्। कथम्? 'एकादशभिरवदानैरसौ यागो

क्या एक याग को करने के लिये, अथवा बहुत यागों को करने के लिये? ऐसा संशय होने पर एक याग को करने के लिये यह न्याय्य है। जो बहुत यागों को करता है, वह एक याग को करता ही है। यहां एक याग के ही पूर्ण हो जाने पर सप्तदश ही पशुओं का परिकल्पन(=संस्कार) उपपन्न हो जाता है। तब किस हेतु से हम दूसरे आदि यागों की कल्पना करें? इस प्रकार(=एक याग पक्ष में) अल्प अनुमान प्रसङ्ग की कल्पना होती है। इसलिये सप्तदश पशुओं से एक याग किया जाता है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—'सप्तदश प्राजापत्य पशुयाग' के सम्बन्ध में प्रकृत सूत्र के भाष्य के अन्त में लिखा जायेगा।

पृथक्त्वनिवेशात् संख्यया कर्मभेदः स्यात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—संख्या का (पृथक्त्वनिवेशात्) पृथक्ता में निविष्ट होना=वर्त्तमान रहना धर्म होने से (संख्यया) संख्या के द्वारा (कर्मभेदः) कर्म का भेद (स्यात्) होवे।

विशेष—याग के उत्पत्ति-वाक्य(=विधायक वाक्य) में प्रयुक्त संख्या ही कर्म की भेदिका होती है, अन्य नहीं। यथा—सप्तदश प्राजापत्यान् पशून् आलभते इस पशुयाग-विधायक वाक्य में श्रुत सप्तदश (=सत्रह) संख्या सप्तदश पशुयागों की विधायिका है। परन्तु चातुर्मास्य याग में श्रुत एकादश प्रयाजान् यजते वाक्य में श्रूयमाण एकादश संख्या कर्म की भेदिका नहीं है। क्योंकि प्रयाजों का विधान प्रकृतियाग में किया है। वे प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या न्याय से चातुर्मास्य में उपस्थित हो जाते हैं। अतः एकदश प्रयाजान् यजते वाक्यश्रुत एकादश संख्या उत्पन्न शिष्ट(=उत्पन्न हुए के कथनरूप) प्रयाजों में ही सम्बद्ध होगी, कर्मान्तर की विधायिका नहीं होगी।

व्याख्या—संख्या से कर्म का भेद होवे। पशुओं की पृथक्ता होने पर सप्तदश संख्या वर्त्तमान होवे। और वह पशुओं की पृथक्ता बहुत याग होने पर ही सम्भव है, एक याग में सम्भव नहीं है। किस हेतु से? 'एकादश अवदानों से यह पशुयाग सिद्ध करना चाहिये' इस प्रकार[प्रकृति के समान

निर्वर्त्तयितव्यः' इत्येवं चोदकः प्रतिदिशति । तानि चैकस्मादेव पशोरवाप्यन्ते । तत्र द्वितीयादेरालम्भो नावदानसम्पादनाय भवितुमर्हति । एकमालभ्यमानमन्वालभ्येरन्न-दृष्टार्थायापरे । तथा सत्यतदर्थत्वान्न ते प्राजापत्याः भवेयुः । तत्र 'प्राजापत्यान्' इति श्रवणमुपरुद्धयेत । तेनैकस्मिन् पशौ पृथक्त्वे निवेशिनी सप्तदश संख्या नावकल्प्येत । बहुषु यागेषु बहुभिरेवावदानगणैः प्रयोजनम् । तेन सप्तदशभ्यो यागेभ्यः सप्तदश पशू-नुपाददीरन् । तत्र संख्यासामञ्जस्यं भविष्यति । तस्मात् सप्तदश यागाः ।

विकृति करनी चाहिये' यह] विधायक वाक्य निर्देश करता है । और वे [अवदान] एक ही पशु से प्राप्त किये जाते हैं । उस अवस्था में (=एक पशु से ही एकादश अवदान प्राप्त हो जाने पर) द्वितीय आदि पशु का आलम्भन अवदान के सम्पादन (=प्राप्ति) के लिये नहीं हो सकता है । इस कारण एक आलम्यमान पशु के पश्चात् अन्य पशु अदृष्ट के लिये ही आलब्ध होवें । ऐसा होने पर उनके अतदर्थ (=याग के लिये न) होने से वे प्रजापति-देवतावाले नहीं होंगे [क्योंकि प्रजापति देवता को उद्देश करके उनके आलम्भन से याग नहीं किया गया] । वहां प्रजापत्यान् यह बहुत्व-श्रवण बाधित होवे । इसलिये पृथक्ता में रहनेवाली सप्तदश संख्या एक पशु में उपपन्न नहीं होवे । बहुत यागों में बहुत से ही अवदान-समुदायों (=प्रति पशु एकादश अवदानों का समुदाय) से प्रयोजन है । इस हेतु से सप्तदश यागों के लिये सप्तदश पशुओं का ग्रहण होवे । वहां (=इस पक्ष में) सप्तदश संख्या का सामञ्जस्य उपपन्न हो जायेगा । इसलिये सप्तदश याग हैं ।

विवरण—पृथक्त्वे पशूनां सति—इसका भाव यह है कि द्वितीयादि संख्या का प्रयोग वहीं होता है, जहां द्रव्यादि का भेद होता है । क्योंकि संख्या भेद में ही रहती है । **एकादशभिरवदानैः**— १. हृदय, २. जिह्वा, ३. वक्षः (छाती), ४. यकृत् (=जिगर), ५-६. वृक्क (=दोनों ओर के गुर्दों के पिण्ड), ७. बायें बाहू का मूल, ८-९. दोनों पार्श्व (=पसली के भाग), १०. दाहिनी श्रोणि (=कटि=कमर), ११. गुदा का तीसरा भाग । **चोदकः प्रतिनिर्दिशति—'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या'** (=प्रकृति के समान विकृति करनी चाहिये) यह अतिदेश वाक्य । सब पशुयागों की प्रकृति अग्नीषोमीय पशुयाग है । क्योंकि वेद की सभी शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों में सोम-यागस्थ अग्नीषोमीय पशुयाग के प्रकरण में ही समस्त पशुयागसम्बन्धी कर्मों का विधान किया है । [श्रौतसूत्रकारों ने पशुयागसम्बन्धी सब धर्मों का विधान निरूढ पशुबन्ध याग में किया है । अग्नी-षोमीय पशुयाग में उन धर्मों का अतिदेशमात्र किया है । अतः श्रौतसूत्रकारों के मत में निरूढ पशुबन्ध अन्य पशुयागों की प्रकृति है ।] **एकस्मादेव पशोः**—अग्नीषोमीय पशुयाग पूर्वनिर्दिष्ट एकादश अवदानों से सम्पन्न किया जाता है । उसी प्रकार प्राजापत्य पशुयाग भी एक पशु से ही सम्पन्न हो जायेगा । **अदृष्टार्थायापरे**—सप्तदश प्राजापत्यान् आलभते वाक्य से प्राप्त द्वितीय आदि पशुओं का याग के लिये आलम्भन न होकर अदृष्टमात्र के लिये आलम्भन किया जायेगा । **न ते प्राजापत्याः**—अदृष्ट के लिये आलब्ध पशुओं का उनके द्वारा याग न होने पर प्रजापति देवता के साथ सम्बन्ध नहीं होगा ।

नन्वेकस्मिन्नपि यागे सप्तदशभिरवदानगणैर्यक्ष्यते, वचनात्। नैतदेवम्। पशुषु हि सा संख्या श्रूयते, नावदानगणेषु। अवदानानि हवींषि यागसाधनानि, न पश्वाकृतिः। सा ह्यवदानप्रकृतिद्रव्यं विशिषन्ती प्रकृतौ प्रधानस्योपकृतवती, इति विकृतावप्यवदान-प्रकृतिद्रव्यं विशिषन्ती प्रधानस्योपकरिष्यति। तत्र च पशोः सप्तदशसंख्या विकारिका, नाव-दानगणस्य। तस्मादेकस्मै अवदानगणायैकः पशुरालब्धव्यः प्राप्नोति। तत्र सप्तदशसंख्या नोपपद्यते। एवमेवावकल्पिष्यते—यदि शृङ्गाभिप्राया वर्णाभिप्राया रूपाभिप्राया वा अभविष्यन्, सप्तदशपशवः श्वेतः कृष्णो रोहित इत्येवमादयः, तेषामन्यतमो गृह्यते इति। अथवा—तूपराः शृङ्गिण एकशृङ्गा इत्येवमादयः, तेषामन्यतम इति। ते हि श्यामास्तूपरा एकरूपाः श्रूयन्ते। तदेषु बहुषु यागेषु उपपद्यते, नैकस्मिन्। तस्मात् सप्तदश यागा इति।

प्रयोजनम्—एकस्मिन् नष्टे दुष्टे कृत्स्नः पशुगण आवर्त्तेत। एकमालभ्यमानमन्वाल-भेरन् पूर्वपक्षे अदृष्टार्थम्। सिद्धान्ते एक एव पशुरावर्त्तेत। न हि कर्म्मभेदे पशुः पश्वन्तर-माकाङ्क्षतीति ॥२१॥ इति संख्याकृतकर्मभेदाऽधिकरणम् ॥७॥

व्याख्या—(आक्षेप)एक याग में भी सत्रह अवदान-समुदायों से यजन करेंगे, वचन-सामर्थ्य से। (समाधान)ऐसा नहीं हो सकता है। वह सप्तदश संख्या पशुओं में ही श्रुत है, अवदान-समु-दायों में नहीं। अवदान हवियां याग के साधन हैं, पशु की आकृति नहीं हैं। वह[पशु की आकृति] अवदान के प्रकृतिभूत द्रव्य को विशेषित करती हुई प्रकृति (=अग्नीषोमीय याग) में प्रधान की उपकारिका हुई थी, इसलिये विकृति में भी अवदान के प्रकृतिभूत द्रव्य को विशेषित करती हुई प्रधान (=याग) का उपकार करेगी। वहां (=विकृतियाग में) पशु की सप्तदश संख्या विकारिका (=प्रकृतिगत एक संख्या को विकृतियाग में सत्रह रूप में बदलनेवाली) है, अवदान-समुदाय की विकारिका नहीं है। इसलिये एक अवदानसमूह के लिये एक पशु का आलम्भ प्राप्त होता है। वहां सप्तदश संख्या उपपन्न नहीं होती है। इसी प्रकार से कल्पना करेंगे—यदि शृङ्ग के अभिप्रायवाली, वर्ण के अभिप्रायवाली, अथवा रूप=आकृति के अभिप्रायवाली [सप्तदश संख्यायें] होवें, तो सप्तदश श्वेत कृष्ण लाल इत्यादि प्रकार के जो पशु हैं, उनमें से कोई एक गृहीत होवे। अथवा—तूपर(=शृङ्गरहित) और सींगोंवाले, एक सींगवाले इत्यादि प्रकार के जो पशु हैं, उनमें से कोई एक गृहीत होवे। वे [सप्तदश पशु] निश्चय ही श्यामवर्ण शृङ्गरहित एकरूप(=आकृति)वाले सुने गये हैं। वह इन बहुत यागों में उपपन्न होता है, एक याग में नहीं। इसलिये सत्रह याग हैं।

विचार का प्रयोजन—पूर्वपक्ष में[=अवदानगण से यागपक्ष में] एक [हवि] के नष्ट वा दूषित होने पर सम्पूर्ण पशुगण [का आलम्भन] आवर्तित होगा। और [एक पशु से यागपक्ष में] एक पशु के आलम्भन के पश्चात् अन्य पशुओं का अदृष्ट के लिये आलम्भन होगा। सिद्धान्तपक्ष में [एक-एक पशु से अलग-अलग १७ याग मानने पर एक हवि के नष्ट वा भ्रष्ट होने पर] एक पशु का ही पुनः आवर्तन होगा [अर्थात् पुनः आलम्भन होगा]। क्योंकि कर्मभेदपक्ष में एक पशु पश्वन्तर की आकाङ्क्षा नहीं करता है ॥२१॥

विवरण—सप्तदशभिरवदानगणैः—प्रकृतियाग में जैसे एक पशु के हृदय आदि के एक-एक के अवदान से याग किया जाता है, उसी प्रकार सप्तदश पशु होने पर सभी पशुओं के हृदय आदि के १७-१७ अवदानसमूहों से याग होगा। **सा ह्यवदानप्रकृतिद्रव्यम्**—अग्नीषोमीय पशुमालभेत इससे प्रकृतियाग में पशु-आकृति ने यागीय हृदयादि अवदान द्रव्य को विशेषित किया था, अर्थात् पशु के हृदयादि अङ्गों के अवदान से यजन करे, यह तात्पर्य जाना गया था। उसी प्रकार सप्तदश पशुरूप विकृतियाग में भी पश्वाकृति अवदान के प्रकृतिभूत द्रव्य को ही विशेषित करती हुई प्रधान=याग का उपकार करेगी। **एवमेवावकल्पिष्यते**—इसका भाव यह है कि यदि शृङ्ग, श्वेतादिरूप, अजादि आकृति के साथ सप्तदश संख्या का सम्बन्ध हो सकता है, तो इनमें से एक के ग्रहण से याग हो सकेगा ॥२१॥

विशेष—प्रकृत सूत्र में इतना ही कहा है कि 'संख्या से कर्मभेद होता है।' इसमें किसी उदाहरण विशेष का निर्देश नहीं किया है। भाष्यकार ने जिन सप्तदश प्राजापत्य पशुयागों का निर्देश किया है, वे मूलतः आधिदैविक हैं। प्रजापति महद् अण्ड का नाम है—**प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्। नाहरासीन्न रात्रिः। सोऽस्मिन्नन्धे तमसि प्रासर्पत्** (ताण्ड्य ब्रा० १६।१।१)। यही महद् अण्ड परिपक्व अवस्था में हिरण्यवत् चमकने से हिरण्याण्ड कहा जाता है—**तासु तप्यमानासु हिरण्यमाण्डं संबभूव। तदिदं......यावत्संवत्सरस्य वेला तावत्पर्यप्लवत्। ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। स प्रजापतिः** (शत० ११।१।६।१-२)। इसी प्रजापति से सप्तदश लोक उत्पन्न होते हैं (ये हमारे सौरमण्डल के सप्तदश ग्रहोपग्रह कौनसे है, यह हमें अभी ज्ञात नहीं हुआ)। अतः ये प्राजापत्य कहाते हैं। जनक और जन्य के अभेदोपचार के कारण ये प्रजापति से उत्पन्न लोक भी प्रजापति कहे जाते हैं। अतएव वैदिक ग्रन्थों में **सप्तदशो वै प्रजापतिः** कहा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण १।३।४ में सप्तदश प्राजापत्य पशुयागों का उल्लेख करते हुए कहा है—**श्यामा एकरूपा भवन्ति। एवमिव हि प्रजापतिः समृध्यै।** इसकी व्याख्या में सायणाचार्य ने आधिदैविक व्याख्यान इस प्रकार किया है—

'प्रजापतिशब्देनात्रेश्वरस्य हिरण्यगर्भशरीराद्यभिव्यक्तेः प्रागवस्था विवक्ष्यते। सा चावस्था श्यामेव भवति। तम आसीत् तमसा गूढमिति श्रुतेः। जगद्रूपस्य नानात्वस्यानुत्पत्तेरेकरूपत्वम्।'

अर्थात् प्रजापति शब्द से ईश्वर की हिरण्यगर्भ शरीर आदि की अभिव्यक्ति से प्रागवस्था विवक्षित है। वह अवस्था श्याम वर्ण के समान ही होती है। सर्ग के पूर्व 'तम ही था, और तम से छिपा हुआ था' इस श्रुति के प्रमाण से। जगद्रूप नानावस्था की अनुत्पत्ति के कारण एकरूप ही था।

आधिदैविक व्याख्यान करते हुए भी सायण पर नवीन वेदान्त का प्रभाव लक्षित होता है। अस्तु, इस उद्धरण को उद्धृत करने का हमारा इतना ही प्रयोजन है कि सप्तदश प्राजापत्य पशु मूलतः आधिदैविक तत्त्व हैं, यह सायण को भी अभिप्रेत था।

इसी के आगे तै० ब्रा० (१।३।४) में लिखा है—'**मरुतो यज्ञमजिघांसन् प्रजापतेः**।' अर्थात् मरुतों ने प्रजापति के यज्ञ को हिंसित किया। यह वचन भी प्रकृत प्रजापति के आधिदैविक स्वरूप का ही बोधक है।

[संज्ञाकृतकर्मभेदाऽधिकरणम् ॥८॥]

अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरथैष सर्वज्योतिः । एतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत[1] **इति ।**

वस्तुतः तैत्तिरीय ब्राह्मण के इस प्रकरण में आधिदैविक और आधियाज्ञिक तत्त्वों का मिश्रण है । यह बात विशेष रूप से ज्ञेय है ।

सम्पूर्ण विषय का निष्कृष्ट अभिप्राय यह है कि—प्रजापति (=महद् अण्ड) में निर्मीयमाण ग्रहोपग्रह जब पूर्णतया बन जाते हैं, तब मरुतों की शक्ति से उस यज्ञरूप महद् अण्ड का भेदन होता है । उससे ग्रहोपग्रह आकाश में निकल पड़ते हैं । उस समय सूर्य के प्रकाशवान् न होने से सभी १७ ग्रहोपग्रह श्यामवर्णवत् प्रतीत होते हैं । सब एकरूप गोलपिण्डाकार होते हैं । इन १७ प्राजापत्य ग्रहोपग्रहरूप पशुओं का कालान्तर में आलभन होता है । जिससे ये अपने-अपने स्वरूप को प्राप्त होते हैं । इसी दैवीमाया को समझाने के उपायरूप ये सप्तदश प्राजापत्य पशुयाग हैं ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में आगे कहा है—पर्यग्निकृतानुत्सृजन्ति (=पर्यग्निकरण के पश्चात् इन्हें छोड़ देते हैं) । सायणाचार्य ने इनसे होम मानते हुए लिखा है—तदानीं नालभेत=उस समय न मारे, कुछ काल पश्चात् इन्हें मारना होगा । पर उत्सृजन्ति पद का यह अर्थ अन्यत्र श्रुत नहीं है । देखिये—

> **कपिञ्जलादीन् उत्सृजन्ति पर्यग्निकृतान् ।** कात्या० श्रौत २०।६।६॥
> **कपिञ्जलादिवद् उत्सृजन्ति ब्राह्मणादीन् ।** कात्या० श्रौत २१।१।१२॥
> **पर्यग्निकृते पत्नीवतमुत्सृजन्ति ।** कात्या० श्रौत ८।६।१-५॥

इसी प्रकार के वचन अन्य श्रौतसूत्रों में भी तत्तत्प्रकरण में पाये जाते हैं । यहां सर्वत्र उत्सृजन्ति का अर्थ बन्धन से मुक्त कर देना ही है । वैसे ही तै० ब्रा० के उक्त वचन में भी होना चाहिये । सम्भवतः आगे पठित मारुत्यः प्रचर्य एतान् संज्ञपयेत् वचन देखकर ही उत्सृजन्ति का अर्थ तदानीं नालभेत किया हो । अस्तु, कुछ भी हो, सप्तदश प्राजापत्य पशुयाग मूलतः आधिदैविक हैं, यह स्पष्ट है ॥२१॥

व्याख्या—अथैष ज्योतिः, अथैष विश्वज्योतिः, अथैष सर्वज्योतिः । एतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत (=यह ज्योतिः है, यह विश्वज्योतिः हैं, और यह सर्वज्योतिः है । इस सहस्र

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—अथैष ज्योतिः । ताण्ड्य ब्रा० १६।८।१॥ अथैष विश्वज्योतिः । ताण्ड्य ब्रा० १६।१०।१॥ अथैष सर्वज्योतिः ॥ ताण्ड्य ब्रा० १६।९।१॥ काशीमुद्रिते भाष्यपुस्तके 'एतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत' इत्यंशो न पठ्यते ।

अत्र सन्देहः—किमेभिर्नामधेयैः प्रकृतं ज्योतिष्टोमं सङ्कीर्त्य तत्र सहस्रदक्षिणादिर्गुणो विधीयते, अथवा वक्ष्यमाणविशेषाणि कर्मान्तराण्युपदिश्यन्ते इति ? किं प्राप्तम् ? प्रकरणानुग्रहात् प्रकृतस्य गुणविधानमिति । ननु वाक्यसामर्थ्याज्ज्योतिरादीनामेते गुणा विधायिष्यन्ते । नैष दोषः । ज्योतिष्टोमस्यैवैतानि वाचकानि । ज्योतिरिति ज्योतिष्टोमस्य प्रतीकमुपादीयते । विश्वज्योतिरिति त्रिवृदादीन्यस्य ज्योतींषि[1] वाक्यशेषसङ्कीर्त्तितानि । तानि सर्वाण्यस्य । तेनाऽसौ विश्वज्योतिः सर्वज्योतिश्च ज्योतिष्टोमः, इत्येवं प्राप्तम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात् ।।२२।। (उ०)

संज्ञा हि तिस्रो भेदिकास्तेषां ज्योतिराद्याः । उत्पत्तिवाक्ये ह्येताः श्रूयन्ते ।

[गायों के] दक्षिणावाले यज्ञ से यजन करे) । इनमें सन्देह है—क्या इन (=ज्योतिः, विश्वज्योतिः, सर्वज्योतिः) नामों से प्रकृत ज्योतिष्टोम का कथन करके वहां सहस्रदक्षिण आदि गुण का विधान किया जाता है, अथवा वक्ष्यमाण विशेषणवाले कर्मान्तर उपदिष्ट हैं ? क्या प्राप्त होता है ? प्रकरण के अनुग्रह से प्रकृत [ज्योतिष्टोम] का गुणविधान है । (आक्षेप) वाक्य-सामर्थ्य से ज्योतिः आदि के इन [सहस्रदक्षिण] गुणों का विधान करेंगे । (समाधान) यह दोष नहीं है । ये [ज्योतिः आदि] ज्योतिष्टोम के ही वाचक हैं । 'ज्योतिः' से ज्योतिष्टोम की प्रतीक का ग्रहण किया जाता है । 'विश्वज्योतिः' 'सर्वज्योतिः' में वाक्यशेष से संकीर्तित त्रिवृत आदि [स्तोम] इसकी ज्योतियां हैं । वे [त्रिवृत् आदि ज्योतियां] सब इसकी हैं । इस हेतु से वह 'विश्वज्योतिः' और 'सर्वज्योतिः' ज्योतिष्टोम हैं, ऐसा प्राप्त होता है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—त्रिवृतादीन्यस्य ज्योतींषि वाक्यशेषसंकीर्त्तितानि—तै० ब्रा० १।५।११ में इस प्रकार पढ़ा है—तदाहुः कतमानि तानि ज्योतींषि, य एतस्य स्तोमाः । त्रिवृत् पञ्चदश सप्तदश एकविंशः । एतानि वाव तानि ज्योतींषि, य एतस्य स्तोमाः । अर्थात् पूछते हैं—वे ज्योतियां कौनसी हैं, जो इसके स्तोम हैं । त्रिवृत् पञ्चदश सप्तदश एकविंश । ये ही वे ज्योतियां हैं, जो इसके स्तोम हैं । त्रिवृत् स्तोम आदि के विषय में पूर्व (भाग १) पृष्ठ ३४२-३४३ पर देखें ।

संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात् ।।२२।।

सूत्रार्थः—(उत्पत्तिसंयोगात्) उत्पत्ति-वाक्य के संयोग से=उत्पत्ति-वाक्य में श्रुत होने से (संज्ञा) संज्ञा (च) भी कर्म की भेदक होती है ।

व्याख्या—उनकी 'ज्योतिः' आदि तीनों ही संज्ञाएं [कर्म का] भेद करनेवाली हैं । ये [ज्योति आदि संज्ञाएं] उत्पत्तिवाक्य (=कर्मविधायक वाक्य) में सुनी जाती हैं । ये इन संज्ञाओं

---

१. द्र०—त्रिवृत् पञ्चदश सप्तदश एकविंशः । एतानि वाव तानि ज्योतींषि, एतस्य स्तोमाः ।। तै० ब्रा० १।५।११।।

[1]नासामिमाः पुनः श्रुतयः। तस्माद् 'अथैष ज्योतिः इत्यपूर्वस्य कर्मणो विधायकं वाक्यम्। अनुवादे हि सति अप्रवृत्तिविशेषकरमनर्थकं स्यात् । प्रकृतस्य च गुणविधाने विकल्पो भवेत् । तत्र पक्षे बाधः। न च ज्योतिरादयो ज्योतिष्टोमस्य वदितारः। समुदायान्तराणि ह्येतानि। न चावयवेन समानेन समुदायान्तरं तदर्थमेव भवति। यथा शालाशब्दो गृह-वचनः। तत्र न [2]शालाशब्दसामान्यान्मालाशब्दादयोऽपि गृहवचना भवन्ति।

यत्तु ज्योतिष्टोमस्य ज्योतिरिति प्रतीकमुपादीयते इति। प्रकरणसामर्थ्याद्धि तत्र ज्योतिष्टोमशब्देन परोक्षेणैकवाक्यता भवेत्। सा प्रत्यक्षं ज्योतिः-शब्देन सहैकवाक्यतां बाधेत। न चैतन्न्याय्यम् । वाक्यं हि प्रकरणाद् बलीयः। अथ पुनरयं द्योतनार्थत्वाद्वा

के पुनः श्रवण नहीं हैं, अर्थात् प्रथम निर्देश हैं। इसलिये अथैष ज्योतिः यह अपूर्व कर्म का विधायक वाक्य है। [ज्योतिष्टोम का] अनुवाद होने पर प्रवृत्तिविशेष का करानेवाला न होने से अनर्थक होवे। और प्रकृत [ज्योतिष्टोम] के [सहस्रदक्षिणारूप] गुण के विधान में [ज्योतिष्टोम की कही हुई १०१२ एक सहस्र बारह रूप दक्षिणा के साथ] विकल्प होवे। वहां (=विकल्प होने पर) पक्ष में [१०१२ दक्षिणा का] बाध होवे। और भी, 'ज्योतिः' आदि शब्द ज्योतिष्टोम को कहनेवाले भी नहीं हैं। ये निश्चय ही [स्वतन्त्र] समुदायान्तर हैं। और [ज्योतिष्टोम और ज्योतिः विश्वज्योतिः तथा सर्वज्योतिः में ज्योतिःरूप] अवयव की समानता से समुदायान्तर उसी अर्थवाला नहीं होता है। जैसे गृहवाची शालाशब्द है। इसमें 'ला' शब्द की समानता से माला आदिशब्द भी गृह के वाचक नहीं होते हैं।

विवरण—गुणविधाने विकल्पो भवेत्—प्रकृत ज्योतिष्टोम की तस्य द्वादशसहस्रं दक्षिणा (ताण्ड्य ब्रा० १६।१।११; आप० श्रौत १३।५।१) वचन से द्वादश उत्तर एक सहस्र (१०१२) गौवें दक्षिणा कहीं हैं। यदि अथैष ज्योतिः आदि वाक्य से ज्योतिष्टोम का ही कथन करके १००० सहस्र-दक्षिणारूप गुण का विधान माना जाये, तो पूर्वोक्त १०१२ गौरूप दक्षिणा के साथ १००० दक्षिणा का विकल्प होगा। विकल्प होने पर पक्षान्तर में =१००० दक्षिणा होने पर १०१२ दक्षिणा का बाध होगा।

व्याख्या—और जो कहा कि ज्योतिः शब्द ज्योतिष्टोम की ही प्रतीक का ग्रहण है [वह ठीक नहीं है]। प्रकरण के सामर्थ्य से ही वहां परोक्ष ज्योतिष्टोम शब्द के साथ [सहस्रदक्षिणा की] एकवाक्यता होवे। वह एकवाक्यता ज्योतिः शब्द के साथ जो प्रत्यक्ष एकवाक्यता है, उसे बाधेगी। यह [बाध] न्याय्य नहीं है। वाक्य निश्चय ही प्रकरण से बलवान् है। और यह [ज्योतिः शब्द]

---

१. 'तासामिमाः' इति काशी मुद्रितेऽपपाठः।

२. सर्वत्र 'शालाशब्द' इति पाठ उपलभ्यते, स चाशुद्धः। उभयोः शालामालाशब्दयो लाशब्द-स्यैव सामान्यात्।

ज्योतिष्मत्त्वाद्वा कर्मान्तरे वर्त्स्यति । यश्च त्रिवृदादीनि ज्योतींषि तेषां साकल्यवचनो विश्वज्योतिः सर्वज्योतिरिति चेन्नेति ब्रूमः। न हि त्रिवृदादिषु ज्योतिःशब्दः प्रसिद्धः। एवं ब्रुवन् प्रसिद्धिं बाधेत। यत्तु वाक्यशेषाज्ज्योतिःशब्दस्त्रिवृदादिवचन इति। तस्मिन्नेव वाक्ये स तत्र प्रयुक्तः, इति गम्यते प्रमाणान्तरेण, न शब्देन। यत्र तु तत्प्रमाणान्तरं नास्ति, न तत्र वर्त्तितुमर्हति। यथा सिंहो देवदत्त इति सिंहशब्दो देवदत्तवचनः प्रमाणान्तरेण। न तु सिंहमालभेतेति यत्र[1]। तत्र तु तत् प्रमाणान्तरं नास्ति। तस्मान्न विश्वज्योतिः सर्वज्योतिरिति च ज्योतिष्टोमस्य वदितारौ। न चेज्ज्योतिष्टोम उच्यते, सर्वाणि कर्मान्तराणि ॥२२॥ इति संज्ञाकृतकर्मभेदाऽधिकरणम् ॥८॥

द्योतन अर्थवाला होने से अथवा ज्योतिष्मत्त्व (=प्रकाशकत्व) से कर्मान्तर में वर्तमान होगा। और यदि कहो कि त्रिवृत् आदि जो ज्योतियां हैं उनके साकल्य (=कृत्स्नता) को कहनेवाला विश्वज्योति और सर्वज्योति शब्द हैं, तो नहीं है ऐसा हम कहते हैं। त्रिवृत् आदि में ज्योतिः शब्द प्रसिद्ध नहीं है। ऐसा (=अप्रसिद्ध अर्थ को) कहता हुआ [पुरुष] प्रसिद्धि को बाधेगा। और जो कहा कि वाक्यशेष से ज्योतिःशब्द त्रिवृत् आदि को कहनेवाला है। वह [त्रिवृत् आदि का कहनेवाला ज्योतिःशब्द] उसी वाक्य में वहां (=त्रिवृत् आदि में) प्रयुक्त है, ऐसा प्रमाणान्तर (=अनुपपन्नता आदि) से जाना जाता है, शब्द से नहीं। और जहां वह [अनुपपन्नता आदि] प्रमाणान्तर नहीं है, वहां वह उस [लाक्षणिक] अर्थ में प्रवृत्त नहीं हो सकता है। जैसे सिंहो देवदत्तः में सिंह शब्द देवदत्त को कहनेवाला है, यह प्रमाणान्तर (=देवदत्त में सिंहत्व सम्भव न होने) से जाना जाता है। जहां सिंहमालभेत (=सिंह का आलभन करे) [कहा जाये, वहां तो सिंह शब्द देवदत्त को कहनेवाला] नहीं होता है। क्योंकि वहां वह [असम्भवता आदि] प्रमाणान्तर नहीं है। इसलिये विश्वज्योतिः सर्वज्योतिः ये भी ज्योतिष्टोम को कहनेवाले नहीं हैं। जब [ज्योतिः विश्वज्योतिः सर्वज्योतिः से] ज्योतिष्टोम नहीं कहा जाता है, तो ये सब कर्मान्तर हैं ॥२२॥

विवरण—प्रतीकमुपादीयते—इसका भाव यह है कि अथैष ज्योतिः में प्रयुक्त ज्योति शब्द ज्योतिष्टोम का अवयव नहीं है। जैसे कण्वरथन्तर सामसंज्ञा का अवयव रथन्तर-साम नहीं होता है। और जो कहीं पर ज्योतिष्टोम के लिये वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत् में ज्योतिः शब्द का प्रयोग है, वह प्रमाणान्तर होने से गौण है। अथैष ज्योतिः में ऐसा प्रमाणान्तर न होने से ज्योतिः शब्द ज्योतिष्टोम का वाचक नहीं है। तस्मिन्नेव वाक्ये सः—अर्थात् जो वाक्यशेष में त्रिवृत् आदि स्तोमों में ज्योतिः शब्द का प्रयोग है, वह भी उसी वाक्य में सामानाधिकरण्य से औपचारिक जानना चाहिये ॥२२॥

—:०:—

---

१. 'न तु यत्र सिंहमालभेतेति' इत्यन्वयः।

[देवताभेदकृतकर्मभेदाऽधिकरणम् ॥९॥]

चातुर्मास्येषु वैश्वदेवे समामनन्ति—तप्ते पयसि दध्यानयति, सा वैश्वदेव्यामिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम्[1] इति। तत्र सन्दिह्यते—किमामिक्षागुणके कर्मणि वाजिनं गुणविधिः, उत तस्माद् वाजिनगुणककर्मान्तरमिति? किं प्राप्तम्? गुणविधिरिति। कुतः? वाजेनान्नेन आमिक्षया वाजिनो विश्वेदेवाः, ताननूद्य वाजिनम् विधीयते। तेनोभयं वैश्वदेवम् आमिक्षा वाजिनं च। तस्मिन्नेव च कर्मणि वाजिनगुणविधिः। यथा—अग्निहोत्रं जुहोति[2] इत्युक्ते दध्ना जुहोति[3], पयसा जुहोति[4] इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

गुणश्चापूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात् ॥२३॥ (उ०)

व्याख्या—चातुर्मास्य यज्ञ के वैश्वदेव पर्व में पढ़ते हैं—तप्ते पयसि दध्यानयति, सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम् (=गरम दूध में दही डालते हैं, [उससे दूध फटकर जो घनाभाग पृथक् होता है] वह वैश्वदेवी आमिक्षा होती है, और वाजिन् देवों के लिये वाजिन=जलरूप भाग होता है)। इसके विषय में सन्देह होता है—क्या आमिक्षा गुणवाले कर्म में वाजिन-रूप गुण की विधि है, अथवा उससे वाजिनगुणवाला कर्मान्तर है। क्या प्राप्त होता है? गुण की विधि है। किस हेतु से? वाजरूप अन्न (=अदनीय=दांतों से चबाकर खाने योग्य) आमिक्षा से वाजिन् जो विश्वेदेव उनका अनुवाद करके वाजिन का विधान किया जाता है। इसलिये दोनों(= आमिक्षा और वाजिन) विश्वेदेव देवतावाले हैं। इसलिये उसी(=आमिक्षा गुणवाले)कर्म में वाजिन द्रव्यरूप गुण की विधि है। जैसे—अग्निहोत्रं जुहोति विहित कर्म में दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति से दधिरूप और दूधरूप गुण का विधान होता है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—वाजिनो विश्वेदेवाः—वाजिभ्यो वाजिनम् में वाजिभ्यः शब्द से वाजम् अन्नम् आमिक्षारूपं द्रव्यमेषां ते विश्वेदेवाः, तेभ्यः (वाज=अन्न आमिक्षारूप द्रव्य जिनका है, अर्थ के अनुसार वाजिन् शब्द से) विश्वेदेवों का ग्रहण जानना चाहिये। इस प्रकार पूर्वोक्त विश्वेदेवों का ही वाजिभ्यः से अनुवाद करके वाजिन द्रव्यरूप गुण की विधि कही है।

गुणश्चापूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात् ॥२३॥

सूत्रार्थः—(अपूर्वसंयोगे) अपूर्व संयोग में अर्थात् अपूर्व कर्म के विधान होने पर (गुणः) देवतारूप गुण (च) भी भेदक होता है। (वाक्ययोः) दोनों सा वैश्वदेवी आमिक्षा और वाजिभ्यो वाजिनम्: वाक्यों के (समत्वात्) समान होने से, अर्थात् दोनों में=वैश्वदेवी शब्द में तद्धित प्रत्यय से, और वाजिभ्यः में चतुर्थी विभक्ति से समानरूप से देवतारूप गुण का विधान होने से।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. तै० सं० १।५।९॥
३. द्र०—दध्नेन्द्रियकामस्य। तै० सं० २।१।५॥ ४. अनुपलब्धमूलम्।

गुणश्चाप्रकृतेन देवताभिधानेन सम्बध्यमानः कर्मान्तरं विदध्यात्। समे हि तदैते वाक्ये भवतः। उभे अपि अपूर्वयोर्यागयोर्विधातृणी। कथं पुनरपूर्वदेवताभिधानम्? यदेदानीमेवोक्तम्—विश्वेषां देवानामनुवादो वाजिभ्य इति। तदुच्यते। इह विश्वेषां देवानां देवतात्वं क्वचिच्छ्रुत्या, क्वचिद् वाक्येन। तद्धितनिर्देशे श्रुत्या, चतुर्थीनिर्देशे वाक्येन। यत्र श्रुत्या देवतात्वं, तत्रामिक्षया सहैकवाक्यत्वम्। यत्र चतुर्थी, तत्र वाजिनेन। तत्रैषामेकत्र श्रुत्या देवतात्वम्। वाक्येन द्रव्यविशेषसम्बन्धः। एकत्रोभयमपि वाक्येन। तदिह देवतात्वं प्रति श्रुतिवाक्ययोर्विरोधः। 'विरोधे च श्रुतिर्बलीयसी' इत्यामिक्षावाक्ये देवतात्वं विश्वेषां देवानाम्, न वाजिनवाक्ये इत्यध्यवसीयते। तेनावगम्यते—अप्रकृतेन देवतापदेनास्य सम्बन्ध इति। तस्मात् कर्म्मान्तरमिति ॥२३॥

व्याख्या—अप्राकृत देवता के कथन से सम्बध्यमान गुण भी कर्मान्तर का विधान करेगा। तब ये समान ही वाक्य होते हैं। दोनों ही वाक्य अपूर्व याग के विधाता होते हैं। (आक्षेप) देवता का अपूर्व विधान कैसे है? जब कि अभी कहा था कि—विश्वेदेवों का अनुवाद है वाजिभ्यः में। (समाधान) उसे कहते हैं। यहां [पूर्वपक्ष में] विश्वेदेवों का देवतात्व कहीं श्रुति से, और कहीं वाक्य से होता है। तद्धितनिर्देश [वैश्वदेवी] में [साऽस्य देवता (अष्टा० ४।२।२३) से विहित अण् प्रत्ययरूप] श्रुति से, और [वाजिभ्यो वाजिनम् में] चतुर्थी-निर्देश में वाक्य से होता है। जहां श्रुति से देवतात्व कहा जाता है, वहां आमिक्षा के साथ उस [देवता] की एकवाक्यता होती है। और जहां चतुर्थी-निर्देश है, वहां वाक्य से देवता की वाजिन के साथ एकवाक्यता होती है। वहां (=दोनों में से) एक में [तद्धितप्रत्ययरूप] श्रुति से देवतात्व कहा जाता है। और वाक्य से द्रव्यविशेष [आमिक्षा] के साथ सम्बन्ध होता है। एक में [देवता का कथन, और द्रव्यविशेष वाजिन का सम्बन्ध] दोनों ही वाक्यों से कहे जाते हैं। वह यहां देवतात्व के प्रति श्रुति और वाक्य का विरोध है। 'विरोध में श्रुति बलवती होती है' (द्र०—मी० ३।३।१४) इससे आमिक्षा वाक्य में विश्वेदेवों का देवतात्व है, वाजिनवाक्य में नहीं होता है, यह जाना जाता है। इससे जाना जाता है—इस [वाजिन द्रव्य] का अप्रकृत (=अपूर्व) देवतापद के साथ सम्बन्ध है। इसलिये [वाजिभ्यो वाजिनम् विहित कर्म वैश्वदेवी आमिक्षा विहित कर्म से] भिन्न कर्म है ॥२३॥

विवरण—श्रुत्या देवतात्वम्—साऽस्य देवता (अष्टा० ४।२।२३) से 'विश्वेदेव देवता हैं इसके' इस अर्थ में उत्पन्न अण् प्रत्ययरूप श्रुति से विश्वेदेवों का देवतात्व कहा जाता है। श्रुत्या देवतात्वम्, वाक्येन द्रव्यविशेषसंबन्धः—यद्यपि देवता अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय से वह द्रव्य भी कहा जाता है जिस की वह देवता होती है। परन्तु उस द्रव्य का अस्य अस्याः के साथ सामान्य सबन्ध ही गम्यमान होता है, वह अस्य अस्याः वाच्य विशेष आमिक्षा आदि अर्थ गम्यमान नहीं होता है। अतः विशेषार्थ की आकाङ्क्षा की निवृत्ति के लिये समीप उच्चरित आमिक्षा का सम्बन्ध वाक्य से होता है। एकत्रोभयमपि वाक्येन—वाजिभ्यो वाजिनम् में 'वाजिभ्यः' चतुर्थी-निर्देश से इतना जाना जाता है कि वाजिन् के लिये कुछ दिया जाता है। 'वाजिनम्' कर्म से यह किसी का ईप्सिततम है, इतना जाना जाता है। अतः यहां उस वाजिन् का देवतात्व और वाजिन का द्रव्य सम्बन्ध दोनों वाक्य से होतेहैं।

अथ यदुपवर्णितं यथा—'अग्निहोत्रं जुहोति'[1] इत्युक्ते 'दध्ना जुहोति'[2] इत्येवमादयो गुणविधय इति। तत्रोच्यते—

अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत ॥२४॥ (उ०)

युक्तं यत् तत्र गुणविधानम्। न तत्राप्रकृतेन केनचिद् गुणेन सम्बन्धः। प्रकृतेन त्वस्ति यागेन। तस्मादनुपवर्णनमेतत् ॥२४॥ इति देवताभेदकृतकर्मभेदाऽधिकरणम् ॥६॥

अथवा यहां इस प्रकार से समझें—पूर्वपक्षी ने वाजिभ्यः में 'वाज' शब्द से मत्वर्थ 'इनि' प्रत्यय द्वारा 'वाज रूप अन्न है जिसका' अर्थ करके वाजिन् का सम्बध विश्वेदेवों के साथ जोड़कर वाजिभ्यो वाजिनम् का अर्थ 'वाजिन् विश्वेदेवों के लिये वाजिन द्रव्य है' अर्थ दर्शाया था। उसमें वाजिभ्यः का विश्वेदेवों के साथ सम्बन्ध विशेषण-विशेष्यरूप वाक्य से ही जाना जायेगा। और वाजिन द्रव्य का वाजिन् देवों के साथ सम्बन्ध भी वाक्य से ही होगा। इस प्रकार आमिक्षा के साथ विश्वदेवों का देवता सम्बन्ध अण् प्रत्ययरूप श्रुति से होता है, और वाजिन का विश्वदेवों के साथ वाक्य से। श्रुति और वाक्य के विरोध में श्रुति बलवती होती है। अतः विश्वदेवों के साथ आमिक्षा का ही सम्बन्ध होगा, वाजिन का नहीं होगा। तस्मात् कर्मान्तरम्—वाजिन का विश्वेदेवों के साथ सम्बन्ध नहीं है, इतना जान लेने पर स्ववाक्योपस्थित चतुर्थी से निर्दिष्ट वाजिनों का ही देवतात्व जाना जायेगा, और वाजिन उसका द्रव्य होगा। द्रव्य और देवता ही याग का स्वरूप होता है। अतः यह कर्मान्तर होगा ॥२३॥

व्याख्या—और जो यह कहा है कि—अग्निहोत्रं जुहोति ऐसा कहने पर दध्ना जुहोति इत्यादि गुणविधियां होती हैं। उस विषय में कहते हैं -

अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत ॥२४॥

सूत्रार्थः—(अगुणे) गुणरहित (कर्मशब्दे) कर्मविधायक शब्द अग्निहोत्रं जुहोति में (तु) तो (तत्र) उसके समीप में पठित दध्ना जुहोति आदि वाक्यों में (गुणः) गुण [का विधान] (प्रतीयेत) जाने। अर्थात् जिस कर्मोत्पत्ति वाक्य में किसी द्रव्य वा देवतारूप गुण का विधान न होवे, वहां तत्समीप पठित वाक्य में गुण का विधान जाना जाता है।

व्याख्या—वहां पर (=दध्ना जुहोति आदि में) गुण का विधान युक्त है। वहां (=कर्मोत्पत्तिवाक्य अग्निहोत्रं जुहोति में) किसी अप्रकृत (=अपूर्व) गुण के साथ सम्बन्ध श्रुत नहीं है। वहां तो प्रकृत याग [विधायक वाजिभ्यो वाजिनम् वाक्य] से [देवता-द्रव्यरूप गुण का कथन] वर्त्तमान है। इसलिये [दध्ना जुहोति आदि दृष्टान्त] कथनीय नहीं है ॥२४॥

---

१. तै० सं० १।५।६॥ २. द्र०—दध्नेन्द्रियकामस्य। तै० सं० २।१।५॥

[द्रव्यविशेषानुक्तिकृतकर्मैक्याऽधिकरणम् ॥१०॥

अथवा अधिकरणान्तरम्। दध्ना जुहोति[1] इत्येवमादीनि कर्मान्तराणि विकल्पपरिजिहीर्षयाऽत्रकल्प्यन्ते।

अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत ॥२४॥ (आ० नि०)

तदेव तु कर्म जुहोतीति शब्दादवगम्यते। न कर्मान्तरम्। तस्मात् तत्रैव गुणविधिः। वचनाद्विकल्पश्चेति सिद्धम् ॥२४॥ इति द्रव्यविशेषानुक्तिकृतकर्मैक्याऽधिकरणम् ॥१०॥

[दध्यादिद्रव्यसफलत्वाऽधिकरणम् ॥११॥]

अग्निहोत्रं प्रकृत्य समामनन्ति—दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्[1] इत्येवमादि। तत्र संशयः—किमग्निहोत्रहोमाद्धोमान्तरं दध्यादिहोमः, उत दध्यादेर्गुणात् फलमिति? किं प्राप्तम्? होमान्तरमिति। कुतः?

व्याख्या—अथवा अधिकरणान्तर है। दध्ना जुहोति इत्यादि विकल्प के परित्याग की इच्छा से कर्मान्तर समर्थित होते हैं।

विवरण—पूर्वपक्षी का कहना है कि यदि दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति वाक्यों से अग्निहोत्रं जुहोति वाक्यबोधित कर्म में दधि और पयःरूप गुण का विधान माना जाये, तो 'दही से होम करे' अथवा 'दूध से होम करे' ऐसा विकल्प प्राप्त होता है। उस विकल्प के परित्याग की इच्छा से दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति में कर्मान्तर मानना चाहिये।

अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत ॥२४॥

सूत्रार्थः—पूर्ववत्।

व्याख्या—[दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति में] जुहोति शब्द से वही [अग्निहोत्रं जुहोति विहित] कर्म जाना जाता है। यह [दध्ना जुहोति आदि] कर्मान्तर नहीं हैं। इसलिये वहीं (अग्निहोत्र होम में दध्यादिरूप) गुणविधि है। और [दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति] वचनसामर्थ्य से विकल्प होता है, यह सिद्ध होता है ॥२४॥

व्याख्या—अग्निहोत्र को कहकर पढ़ते हैं—दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात् (दही से इन्द्रिय की कामनावाले के लिये होम करे) इत्यादि। इसमें संशय है—क्या अग्निहोत्रहोम से दध्यादिहोम होमान्तर है, अथवा दधि आदि गुण से [इन्द्रियरूप] फल का कथन है? क्या प्राप्त होता है? होमान्तर है यह। किस हेतु से?

---

१. द्र०—दध्नेन्द्रियकामस्य। तै० ब्रा० २।१।५॥

फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात् फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥२५॥ (पू०)

फलमिह श्रूयते । तच्च कर्मणो न्याय्यम् । किम् ? दृष्टं हि कर्मणः फलं कृष्यादितो व्रीह्यादि । नेति ब्रूमः । न ह्येतद् दृष्टेनानेन सिद्धयति । यदि दर्शनं हेतुः फलज्ञाने, कृष्यादौ पदार्थे तद्दर्शनं, न होमे । अथ कृषौ दृष्टमन्यत्रापि भवति, द्रव्यादपि प्रसज्ज्यते । अथ कृषिसदृशाद् भवतीत्युच्यते । कृषिसदृशो होमः क्रियात्वाद्, न द्रव्यम् । असदृशं हि तदिति । होमोऽप्यसदृशः । मन्त्रदेवतादिसाधनत्वाद्धोमस्य, लाङ्गलादिसाधनत्वाच्च कृषेः । त्यागात्मकत्वाद्धोमस्य, पाटनात्मकत्वाच्च कृषेः । अथ किञ्चित् सादृश्यं गृह्यते, द्रव्यस्यापि सदनित्यम्[1] इत्येवमादि किञ्चित् सादृश्यमस्ति । अथ द्रव्यादन्यत् सदृशतरमस्तीति कृत्वा न द्रव्यं सदृशमित्युच्यते । होमादप्यन्यत् कृषेः सदृशतरमस्ति दृष्टार्थं-

---

फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात् फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(फलश्रुतेः) [दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात् में इन्द्रियरूप] फल के श्रवण होने से (तु) तो (कर्म) अपूर्व कर्मान्तर (स्यात्) होवे, (फलस्य) फल के (कर्मयोगित्वात्) कर्म का योगी=सम्बन्धी होने से । अर्थात् दधिहोम से इन्द्रियरूप फल के होने से ।

व्याख्या—यहां ['दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' वाक्य में इन्द्रियरूप] फल सुना जाता है । वह कर्म का न्याय्य है । क्या ? कर्म का फल देखा गया है, [जैसे] कृषि आदि से व्रीहि आदि । नहीं है, ऐसा हम कहते हैं । यह [दधिहोम से इन्द्रियरूप फल] इस दृष्ट [कृषिकर्म] से सिद्ध नहीं होता है । यदि फल के ज्ञान में दर्शन (=फलदर्शन) हेतु होवे, तो कृषि आदि पदार्थ के विषय में वह दर्शन है, होम में नहीं है । और यदि यह कहो कि कृषि के विषय में फल का दर्शन अन्यत्र (=होम में) भी होता है, तो ['दध्ना' कहने से] द्रव्य से भी फल प्राप्त होता है । और यदि यह कहो कि कृषिसदृश से होता है । होम कृषिसदृश है क्रियारूप होने से, द्रव्य नहीं है । वह (=द्रव्य) [कृषि के] असदृश है । होम भी सदृश नहीं है । होम के मन्त्र और देवता आदि साधनवाला होने से, और कृषि के हल आदि साधनवाला होने से । त्यागात्मक होम के होने से, और कृषि के पाटनात्मक (=हल से भूमि को खोदनारूपवाला) होने से । और यदि कहो कि कुछ सादृश्य ग्रहण किया जाता है, तो द्रव्य का भी [क्रिया के साथ] सत् (=विद्यमान) होना, अनित्य होना इत्यादि कुछ सादृश्य है [अर्थात् द्रव्य और कर्म दोनों सत् और अनित्य धर्मवाले हैं] । और यदि यह कहते हो कि द्रव्य से अन्य (=कर्म) सदृशतर है, इसलिये द्रव्य सदृश नहीं है । तो होम से भी अन्य कृषि का सदृशतर दृष्टार्थ कर्म है, इसलिये होम भी सदृश नहीं है । [अर्थात् कृषि दृष्ट फलवाला है, इसलिये उसका सदृशतर दृष्टार्थक कर्म ही होगा, होम

---

१. द्र०—सदनित्यं द्रव्यवत् कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः ॥ वैशेषिक दर्शन १।१।८॥

मिति कृत्वा होमोऽप्यसदृशः स्यात्। न चैतत्सिद्धम् यत् क्वचिद् दृश्यते, तदन्यस्मिन् सदृशमात्रे अदृष्टमपि भवितुमर्हति इति। यद्धि यस्य कारणभूतं दृष्टं सिद्धे, तच्चेत् साध्येऽपि कारणभूतमित्यवगम्यते, भवति तत्तस्य साधकम्। यन्न ज्ञायते कारणभूतमिति, न तत् सदृशमपि साधकम्। तस्मात् सदृशमपि साधकमसाधकं वेति परीक्षितव्यमिति।

अथ यत् कर्म तत् फलवद् दृष्टम्। होमोऽपि कर्म्म, तेनापि फलवता भवितव्यमिति। उपरते कर्मणि द्रव्याणां तत्संयोगानाञ्च द्रव्यान्तरं फलं दृष्टम्, इति द्रव्यमपि फलवत् स्यात्। अपि च, कृषेर्नादृष्टमिति, तत्सादृश्याद्धोमादपि नादृष्टं भवेत्। कृषिसादृश्याद्वा व्रीहिरेव भवेद्, नेन्द्रियम्। तस्मान्नैवञ्जातीयकेष्वेतद् भवति दृष्टाददृष्टसिद्धिरिति। कथं तर्हि होमान्न्याय्यं फलमिति? उच्यते—शब्देनावगम्यते तत्फलम्। यतः फलमिति शब्द आह, ततो न्याय्यम्। 'होमाच्च फलम्' इति श्रुत्या शब्देन गम्यते, दध्नः फलमिति वाक्येन। श्रुतिश्च वाक्याद् बलीयसी। तस्माद् होमात् फलमिति न्याय्यम्। दध्नः फलमिति चान्याय्यम्।

अपि च, दधि उभयमसमर्थं कर्त्तुं फलं साधयितुं होमञ्च। ननु कम्बलनिर्णेजन-

---

नहीं होगा, क्योंकि होम अदृष्टार्थक है।] और यह सिद्ध नहीं है कि जो कहीं देखा जाता है, वह अन्य तत्सदृशमात्र में अदृष्ट होता हुआ भी हो सकता है। सिद्ध [पदार्थ] में जो जिस का कारणभूत देखा गया है, वह यदि साध्य में भी कारणभूत है, ऐसा जाना जाता है, तो वह उसका साधक होता है। और जो कारणभूत ज्ञात नहीं होता है, वह सदृश [होता हुआ] भी साधक नहीं होता है। इसलिये सदृश भी साधक है अथवा असाधक है, यह परीक्षणीय है।

और यदि कहो कि जो कर्म (=क्रिया) है, वह फलवान् देखा गया है। होम भी कर्म है, उसे भी फलवान् होना चाहिये। कर्म के उपरत (=समाप्त) हो जाने पर द्रव्यों का वा द्रव्यों के संयोगों का द्रव्यान्तर फल देखा गया है, इसलिये द्रव्य भी फलवान् होवे। और भी, कृषि का अदृष्ट फल नहीं है, इसलिये उसके सादृश्य से होम से भी अदृष्ट फल नहीं होना चाहिये। अथवा कृषि के सादृश्य से [होम से भी] व्रीहि ही होवे, इन्द्रिय न होवे। इसलिये इस प्रकार के कर्मों में यह नहीं होता है कि दृष्ट से अदृष्ट की सिद्धि होवे। तो फिर होम से फल न्याय्य कैसे है? कहते हैं—वह [इन्द्रियरूप] फल शब्द से जाना जाता है। यतः शब्द कहता है कि [इन्द्रिय] फल होता है, इसलिये होम से फल न्याय्य है। 'होम से फल होता है' यह श्रुति से[1] जाना जाता है', 'दही से फल होता है' यह वाक्य से जाना जाता है। श्रुति वाक्य से बलवती होती है। इसलिये 'होम से फल होता है' यह न्याय्य है। और 'दही से फल होता है' यह अन्याय्य है।

और भी, दही [इन्द्रियरूप] फल और होम दोनों को सिद्ध करने में असमर्थ है। (आक्षेप)

---

१. 'जुहुयात्' पदोच्चरित विधिलिङ् श्रुति से। जुहुयात् इन्द्रियकामस्य=इन्द्रियकामो होमेनेन्द्रियं फलं भावयेत्, अर्थात् इन्द्रिय की कामनावाला होम से इन्द्रिय को प्राप्त करे।

वदेतद् भविष्यति । निर्णेजनं हि उभयं करोति—कम्बलशुद्धि, पादयोश्च निर्मलताम् । न ब्रूमः एकस्योभयं प्रयोजनमभिनिष्पादयितुं सामर्थ्यं नास्तीति । किं तर्हि ? फले गुणभूतं दधि होमे च, इत्येकं वाक्यं वदितुमसमर्थमिति । यदि फलं दध्ना कुर्यादिति ब्रूयाद्, न दध्ना होममिति । अथ दध्ना होमं साधयेदिति ब्रूयात्, न फलमिति । उभयवचने भिद्येत वाक्यम् । अभिन्नञ्चेदमुपलभ्यते । तस्मान्न गुणात् फलमिति । अग्निहोत्रहोमाद्दधिहोमः कर्मान्तरमिति ॥२५॥

अतुल्यत्वात्तु वाक्ययोर्गुणे तस्य प्रतीयेत ॥२६॥ (उ०)

तुशब्दात् पक्षो विपरिवर्त्तते । न कर्मान्तरम्, किन्तु गुणात् फलमिति । कथम् ? अतुल्ये ह्येते वाक्ये । अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम[1] इत्यत्र कर्मसमभिव्याहृतं फलं—स्वर्ग-

---

कम्बल के धोने के समान यह होगा । [कम्बल को पैरों से मथकर धोया जाता है, अतः कम्बल का] धोना दोनों कार्य करता है—कम्बल की शुद्धि और पैरों की निर्मलता । [इसी प्रकार दही फल और होम दोनों का सिद्ध करेगा ।] [समाधान] हम यह नहीं कहते हैं कि एक का दो प्रयोजनों को सम्पादन करने में सामर्थ्य नहीं है । तो क्या कहते हैं ? दही फल में और होम में गुणभूत है, इससे [दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्] एक वाक्य दोनों अर्थों को कहने में असमर्थ है । यदि फल को दही से सिद्ध करे [दध्ना इन्द्रियं भावयेत्] ऐसा कहे, तो दही से होम नहीं कहा जायेगा [—दध्ना होमं कुर्यात्] । और यदि दही से होम सिद्ध करे [दध्ना होमं साधयेत्] ऐसा कहे, तो फल को नहीं कहेगा [अर्थात् दध्ना इन्द्रियकामस्य और जुहुयात् के साथ एक साथ संबन्ध नहीं होगा] । दोनों (=दध्ना इन्द्रियं भावयेत्, दध्ना होमं भावयेत्) अर्थों को कहने में वाक्य भेद होगा । यह (=दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्) अभिन्न (=एक) वाक्य है । इस लिये [अग्निहोत्र कर्म में दहीरूप] गुण से फल होता है, यह ठीक नहीं है । अग्निहोत्रहोम से दधिहोम पृथक् कर्म है । [पृथक् कर्म होने पर अनेक गुणों का एक साथ कथन स्वीकार किया जाता है । अर्थ होगा—इन्द्रियकामः दधिहोमेन इन्द्रियरूपं फलं भावयेत्] ॥२५॥

अतुल्यत्वात्तु वाक्ययोर्गुणे तस्य प्रतीयेत ॥२६॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है । दधि होम कर्मान्तर है, यह नहीं है । (वाक्ययोः) अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः और दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात् दोनों वाक्यों के (अतुल्यत्वात्) तुल्य=समान न होने से (तस्य) उस=दधि होम का (गुणे) इन्द्रियरूप गुण में फल सम्बन्ध (प्रतीयेत) जाने ।

व्याख्या—'तु' शब्द से पक्ष का विपरिवर्तन होता है । कर्मान्तर नहीं है, किन्तु [दधि] गुण से फल होता है । किस हेतु से? ये दोनों वाक्य असमान हैं । अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः इसमें कर्म के साथ [फल का] कथन किया है—स्वर्ग की कामनावाला होम से [स्वर्गरूप] फल

---

१. मैत्रा० आर० ६।३७॥

कामो होमेन कुर्यादिति । दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्[1] इति गुणसमभिव्याहृतम् । न ह्यत्र 'होम इन्द्रियाय कर्त्तव्यः' इति प्रतीयते । किं तर्हि? दध्ना होम इन्द्रियकामस्येति । होमस्य दधिसम्बन्ध इन्द्रियाय, न होमस्योत्पत्तिः । य इन्द्रियकामः स्यात, स दध्ना होमं कुर्यामिति । कतमोऽत्र शब्दः पुरुषप्रयत्नस्य वक्तेति ? जुहुयादिति ब्रूमः ।

ननु श्रुत्या होमसम्बद्धमेष पुरुषप्रयत्नं वदति, वाक्येन दधिसम्बन्धम् । न च वाक्यं श्रुतिमपबाधितुमर्हति । न च युगपदुभयसम्बन्धो न विरुद्धचते । वाक्यं हि तथा भिद्येतेति । अत्रोच्यते—ये भवदीयं पक्षमाश्रयेरन्,ते श्रुतिमपबाधेरंस्तराम् । अस्मदीये तु पुनः पक्षे जुहुयादितिधात्वर्थः केवलोऽपबाधितो भवति । युष्मदीये तु कृत्स्न एव दध्नेति शब्दः । तं च 'अप्रमाद्यन्तः समामनन्ति' इति गम्यते । न चैतत्प्रमत्तगीतमित्युक्तम्—तुल्यं हि साम्प्रदायिककम्[2] इति । तस्मान्न कर्मसमभिव्याहृतं फलम् । गुणसमभिव्याहृते तु न कश्चित् प्रमादपाठः । अवश्यं हि जुहुयादिति दधीन्द्रियकामयोः सम्बन्धविधानार्थं वक्तव्यं भवति ।

को सिद्ध करे । दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात् इस में गुण के साथ [फल का] कथन किया है । यहां 'इन्द्रियरूप फल के लिये होम करे' ऐसा अर्थ प्रतीत नहीं होता है । तो क्या प्रतीत होता है ? दही से होम होता है इन्द्रिय की कामनावाले का । होम का दही के साथ संबन्ध इन्द्रिय के लिये है [इतना मात्र जाना जाता है], होम की उत्पत्ति (='होम करे') नहीं जानी जाती है । जो इन्द्रिय की कामनावाला होवे, वह दही से होम करे । (आक्षेप) यहां कौनसा शब्द पुरुष के प्रयत्न (=कुर्यात्) को कहता है ? (समाधान) 'जुहुयात्' शब्द [पुरुष प्रयत्न को कहता है] ऐसा हम कहते हैं ।

(आक्षेप) यह [जुहुयात में लिङ् लकार] श्रुति से होमसम्बद्ध पुरुष के प्रयत्न को कहता है [—होमेन कुर्यात्], और वाक्य से दही के सम्बन्ध को [—दध्ना फलं भावयेत्] । और वाक्य श्रुति को बाधित करने में समर्थ नहीं है । और दोनों का [=दही और होम का पुरुष-प्रयत्न के साथ] एक साथ सम्बन्ध विरुद्ध नहीं होता है. ऐसी बात नहीं है । क्यों कि वैसा (=दोनों का सम्बन्ध) करने पर वाक्यभेद होता है । (समाधान) इस विषय में कहते हैं—जो आप के [कर्मान्तर] पक्ष का आश्रयण करें, वे श्रुति का अत्यन्त बाध करेंगे । हमारे पक्ष में तो जुहुयात् का धात्वर्थ ही केवल अपबाधित होता है । [लिङ्-प्रत्ययार्थ भावयेत् बाधित नहीं होता है, 'दध्ना इन्द्रियं भावयेत्' अर्थ जाना जाता है ।] आपके पक्ष में तो सम्पूर्ण दध्ना [प्रकृतिप्रत्ययरूप कृत्स्न] शब्द बाधित होता है । [अर्थात् आपके मत में इन्द्रियकामः होमेन इन्द्रियं भावयेत इतना ही अर्थ जाना जाता है, दधि का सम्बन्ध नहीं होता है ।] और 'उस [दध्ना पद] को प्रमाद न करते हुए [वैदिक लोग] पढ़ते हैं' ऐसा जाना जाता है । यह [दध्ना पद] प्रमत्तगीत (=प्रमादी पुरुष से पठित) नहीं है, ऐसा कह चुके हैं—तुल्यं हि साम्प्रदायिकम् (मी० १।२।८) । इसलिये कर्म के साथ कहा हुआ फल नहीं है । [दधि] गुण के साथ कथन होने पर कोई प्रमाद-पाठ नहीं होता है । अवश्य ही दही और इन्द्रियकाम के सम्बन्ध के विधान करने के लिये जुहुयात्

---

१. द्र०—दध्नेन्द्रियकामस्य । तै० ब्रा० २।१।५।। २. मी० १।२।८।।

ननूच्यमानेऽपि न केवलः करोत्यर्थोऽवगम्यते । केवलेन[1] च नः प्रयोजनम्, स च होमसम्बद्धः । तस्मादसमञ्जसमिति । नेति ब्रूमः । होमसम्बद्धोऽप्यसौ करोत्यर्थ एव, केवलं त्वस्य होमसम्बन्धे विशेषः । न तु करोत्यर्थतां बाधते । इन्द्रियकामस्य होमसम्बद्धं प्रयत्नं दधिसम्बद्धं कुर्यादिति ।

नन्वेवं सति स एव दोषः—होमसमभिव्याहृतं फलमिति । उच्यते, जुहुयादिति-शब्दस्यैतत्सामर्थ्यं यद्धोमविशिष्टं प्रयत्नमाह । न त्वत्र होमः साधनत्वेन विधीयते । साध्यत्वेन विशिष्टस्तु प्रयत्नो वाक्येन दध्याश्रितोऽवगम्यते । अत एव च वृत्तिकारेणोक्तम्—'होममाश्रितो गुणः फलं साधयिष्यति' इति । यथा राजपुरुषो राजानमाश्रितो राजकर्म करोतीति । तस्माद्दध्नः फलम्—य इन्द्रियकामः स दध्ना कुर्यादिन्द्रियमिति । कथमिति ? अनयाऽग्निहोत्रेतिकर्त्तव्यतयेति । कुत एतत् ? फलसाधनस्य दध्नः इतिकर्त्तव्यताऽऽकाङ्क्षत्वात् । अस्याश्च इतिकर्त्तव्यतायाः सन्निधानाच्चोदनालिङ्गस्य च जुहोत्यर्थस्य दर्शनात् । यस्मादेव चाऽयं जुहोत्यर्थोऽनुवादः, तस्मादविधायकः । न चान्यद्धोमस्य विधा-

---

पद कथनीय होता है । (आक्षेप) [जुहुयात् पद के] कथित होने पर भी [उससे] केवल 'करोति' का अर्थ (=भावयेत्=सिद्ध करे) नहीं जाना जाता है । हमारा केवल [करोति-अर्थ] से प्रयोजन है, और वह होम से सम्बद्ध है । इसलिये यह [कथन] ठीक नहीं है । (समाधान) नहीं, ऐसा हम कहते हैं । होम से सम्बद्ध भी वह 'करोति' का अर्थ ही [जाता जाता है], केवल इसका होम से सम्बन्ध विशेष है । वह 'करोति' के अर्थ को नहीं बाधता है । इन्द्रिय की कामनावाले के होमसंबद्ध प्रयत्न को दधि से सम्बद्ध करे [यह अर्थ जाना जाता है] ।

(आक्षेप) ऐसा मानने पर वही दोष होगा कि—होम के साथ कहा हुआ (=होमसाध्य) फल है । (समाधान) 'जुहुयात्' शब्द का यह सामर्थ्य है कि वह होमसंबद्ध प्रयत्न को कहता है । यहां होम का साधनरूप (='होमेन फलं साधयेत्' रूप) से विधान नहीं किया जाता है । साध्यरूप से विशिष्ट प्रयत्न वाक्य के द्वारा दधि के आश्रित जाना जाता है [अर्थात् 'फलं भावयेत्' रूप विशिष्ट प्रयत्न दधि के आश्रित है, ऐसा विदित होता है ।] इसीलिये वृत्तिकार [उपवर्ष] ने कहा है—'होमाश्रित गुण फल को सिद्ध करेगा ।' जैसे राजपुरुष राजा के आश्रित हुआ राजा के कर्म करता है । इसलिये दही से फल होता है—जो इन्द्रिय की कामनावाला है, वह दही से इन्द्रियफलरूप को सिद्ध करे । कैसे करे ? जो यह अग्निहोत्र की इतिकर्तव्यता (=अग्निहोत्र में यह करना है, ऐसा जो कथन है उस) से । यह कैसे ? फल के साधनरूप दही की इतिकर्तव्यता की आकांक्षा है [अर्थात् दही से फल कैसे सिद्ध किया जाये, इसकी अपेक्षा होती है] । इस [आकाङ्क्ष्यमाण] इतिकर्तव्यता के समीप में होने से चोदनालिङ्ग [अग्निहोत्रं जुहुयात् में] जुहोति=होम रूप अर्थ के दर्शन से [निराकाङ्क्षता होती है] । जिस कारण यह (=दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात् वाक्यस्थ) जुहोति का अर्थ अनुवादरूप है, इसलिये यह (=जुहुयात्) पद विधायक

---

१. 'केवले न वचः प्रयोजनम्' इति सार्वत्रिकोऽपपाठः ।

यकं नास्तीति। तस्मान्न कर्मान्तरम्। तस्माद्दध्नः फलमिति। अथवा दधिशब्दस्य विवक्षितार्थत्वाद्दधिहोमसम्बन्धोऽयं वाक्येन विधीयते। तेन दध्नो होमेन सम्बध्यमानात् फलं भविष्यतीति ॥२६॥ इति दध्यादिद्रव्यसफलत्वाऽधिकरणम् ॥११॥

[वारवन्तीयादीनां कर्मान्तराऽधिकरणम् ॥१२॥]

त्रिवृदग्निष्टुदग्निष्टोमस्तस्य वायव्यास्वेकविंशम् अग्निष्टोमसाम कृत्वा ब्रह्मवर्चसकामो यजेत इति। एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोमसाम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेत[1] इति। अत्रायमर्थः सांशयिकः—

नहीं हैं। और अन्य (='जुहुयात्' से भिन्न) कोई पद होम का विधायक नहीं हैं। इसलिये यह (दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात् वचनबोधित कर्म) [अग्निहोत्र से] कर्मान्तर नहीं है। इसलिये दही से ही फल होता है। [अर्थात् अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः से विहित जो होम है, उसी में दधि गुण के सन्निवेश से इन्द्रियरूप फल प्राप्त होता है।] अथवा दधि शब्द के विवक्षित अर्थवाला (= प्रमादपाठ न) होने से दधि और होम का सम्बन्ध वाक्य से कहा जाता है। इस कारण 'दही के होम के साथ सम्बद्ध होने से फल होगा' यह जाना जाता है ॥२६॥

व्याख्या—त्रिवृदग्निष्टुद् अग्निष्टोमः, तस्य वायव्यास्वेकविंशम् अग्निष्टोमसाम कृत्वा ब्रह्मवर्चसकामो यजेत (= त्रिवृत् स्तोमवाला अग्निष्टोम=अग्निष्टोम सामवाला अग्निष्टुत् नाम का कर्म है। उसकी वायुदेवतावाली ऋचाओं में एकविंश अग्निष्टोम साम करके ब्रह्मवर्चस की कामनावाला यजन करे)। एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयम् अग्निष्टोमसाम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेत (=इस [अग्निष्टोम] की ही रेवतीसंज्ञक ऋचाओं में वारवन्तीय अग्निष्टोम साम करके पशुकामनावाला इससे यजन करे)। यहां यह अर्थ संशयवाला है—

विवरण—हम पूर्व (भाग १, पृष्ठ ३४१-३४३) में लिख चुके हैं कि साम की उत्पत्ति वा दर्शन सामवेद के पूर्वार्चिक में पढ़े मन्त्रों में होता है। अतः ये योनि-ऋक् कहाती हैं। एकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रियम् नियम के अनुसार एक साम का तीन ऋचाओं पर गान होता है। जिन तीन

---

१. द्र०—त्रिवृदग्निष्टुद् अग्निष्टोमः, तस्य वायव्यास्वग्निष्टोम साम। ब्रह्मवर्चसकामो यजेत। ताण्ड्य ब्रा० १७।६।१-२॥

२. द्र०—एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयम् अग्निष्टोमसाम कृत्वा पशुकामो यजेत। ताण्ड्य ब्रा० १७।७।१॥

ऋचाओं पर गान होता है, उनका पाठ उत्तरार्चिक में किया है। इनमें प्रथम ऋचा वही होती है, जो पूर्वार्चिक में योनि ऋक् के रूप में पढ़ी गई है। कहीं-कहीं पर उत्तरार्चिक में तीन ऋचाओं के स्थान में दो ऋचाएं, और तीन से अधिक ऋचाएं भी पठित हैं। वहां दो को तीन अथवा अधिकों को तीन ऋचा कैसे बनाया है, इसका व्याख्यान हम आगे नवम अध्याय में करेंगे। पूर्व पृष्ठ ३४२-३४३ पर कतिपय स्तोमों के नाद और उनकी विष्टुतियों का वर्णन कर चुके हैं।

सोमयाग की सात संस्थाएं हैं। उनके नाम हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय और आप्तोर्याम। अग्निष्टोमसंज्ञक सोमयाग की समाप्ति अग्निष्टोम स्तोत्र (साम) से होती है। इसी प्रकार उक्थ्य आदि नाम भी उन-उन नामवाले स्तोत्रों से सोमयाग की समाप्ति होने से उक्थ्यादि संज्ञाएं होती हैं।

अग्निष्टोम का अर्थ है—अग्निः स्तूयतेऽनेन=जिससे अग्नि की स्तुति की जाये, वह स्तोत्र =साम अग्निष्टोम कहाता है। परन्तु यह शाब्दिक अर्थ है। इसका पारिभाषिक अर्थ है—यज्ञाय-ज्ञीयमग्निष्टोम साम (निदानसूत्र ३।१०; पृष्ठ ५७, पं. १३)। इस का शब्दार्थ है—यज्ञायज्ञीय साम अग्निष्टोम कहाता है। यज्ञायज्ञीय शब्द का अर्थ है—यज्ञायज्ञशब्द है जिस साम में। इस अर्थ में यज्ञायज्ञ शब्द से मतौ छः सूक्तसाम्नोः (अष्टा० ५।२।५९) से छ (=प्रत्यय) होकर यज्ञायज्ञीय शब्द बनता है। सामवेद पूर्वार्चिक प्र०१, अर्ध प्र० १, दशती ४, मन्त्र १ इस प्रकार है—यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे(मं० सं० ३५)। इस ऋचा में उत्पन्न वा दृष्ट साम में 'यज्ञायज्ञा' शब्द होने से यज्ञायज्ञीय कहाता है। इस मन्त्र में दृष्ट चार साम ग्रामे गेय (वेय गान) ग्रन्थ में संग्रहीत हैं। उनमें प्रथम दो उपहव, तीसरा औष्टीगव, और चौथा यज्ञायज्ञीय कहाता है। (द्र०—ग्रामे गेय-आरण्यगेय साम, स्वाध्याय-मण्डल, पारडी, पृष्ठ ९)। सामगानों की तुलना वर्तमान संगीत के पक्के रागों से की जा सकती है।

अग्निष्टोम-संस्थाक छः अग्निष्टुत् याग ताण्ड्य ब्रा० अ० १७, खण्ड ५-६ में विहित हैं। इनमें आद्य दो (खण्ड ५) त्रिवृत् अग्निष्टोम हैं। प्रकृत शाबर भाष्य में उद्धृत प्रथम वचन तृतीय अग्निष्टुत् का विधायक है (द्र०—ताण्ड्य ब्रा० १७।६)। प्रथम दो में अग्निष्टोम स्तोत्र त्रिवृत् होता है (द्र०—त्रिवृत् का स्वरूप भाग १, पृष्ठ ३४२)। तृतीय अग्निष्टुत् में अग्निष्टोम साम का गान यज्ञायज्ञा वो अग्नय आदि मन्त्रद्वय (द्र०—साम सं० उत्तरार्चिक प्र० १, अर्ध प्र० १, त्रिक २०); मन्त्र सं० ५३ ५४; ऊह गान, काशी हि० वि० संस्करण, पृष्ठ १६) के स्थान पर वायव्यासु= वायु देवतावाली उप त्वा जामयो गिरा० यस्य त्रिधात्ववृतं ०पदं देवस्य मीढुषो० (उत्तरार्चिक प्र०७, अर्ध प्र०२, त्रिक १४) ऋचाओं में त्रिवृत् स्तोम के स्थान में इक्कीस स्तोमवाला अग्निष्टोम =यज्ञायज्ञीय साम का गान करना होता है। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि भाष्यकार ने जो वचन उद्धृत किया है, उसमें एकविंशं पद पठित है। उस से एकविंश स्तोम विवक्षित है। इसी वचन से मिलता हुआ ताण्ड्य ब्राह्मण (१७।६।१-२) का वचन हमने टिप्पणी (पृष्ठ ५०६ टि० १) में उद्धृत किया है, उसमें एकविंशं पद नहीं है। इतना ही नहीं, अग्नेस्तेजो वै त्रिवृत् ब्रह्मवर्चसम् वाक्य से जाना जाता है कि ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार त्रिवृत् स्तोम ही होता है।

किं तस्यैवाग्निष्टुतोऽग्निष्टोमस्य गुणाद् वारवन्तीयात् पशवः फलम्, एतेन यजेत इत्यनुवादः ? अथ किम् एतेन यजेत इति कर्मान्तरमिति ? किं प्राप्तम् ? न कर्मान्तरम्, गुणात् फलमिति । कुतः ? एतेन यजेत इति विदितस्यैतद्वचनम्, नाऽविदितस्य । अतो न विध्यन्तरम् । 'पशुकाम एवं यजेत' इत्युच्यते, न यजेत इति । कथम् कृत्वा ? वारवन्तीयं कृत्वेति । अपि च 'एतस्यैव' इति विस्पष्टम् अकर्मान्तरवचनम् । तस्माद् 'गुणात् फलम्' इत्येवं प्राप्तम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

समेषु कर्मयुक्तं स्यात् ॥२७॥ (उ०)

एतस्यैव रेवतीषु—यह चौथे अग्निष्टुत् अग्निष्टोम याग का विधायक वचन है(द्र०—ताण्ड्य ब्रा० १७।७)इसमें रेवतीषु = रेवतीर्नः साधत्वावान्०आ यद् दुवः० ऋचाओं (साम उत्तरा० प्र० ४, अर्ध प्र० १, त्रिक १४) वारवन्तीय साम को अग्निष्टोम साम बनाकर यजन करे । रेवतीषु में 'रेवती' शब्द रेवतीर्नः ऋचा का प्रतीक है । उससे बहुवचन का निर्देश आदि अर्थ के बोधन के लिये है—रेवती प्रतीक आदिवाली ऋचाएं । पाणिनीय सप्तमी शौण्डैः (अष्टा० २।१।३९) में शौण्डैः में बहुवचन शौण्डादि शब्दों (=शौण्डादिगणपठित शब्दों) के ग्रहण के लिये है । वारवन्तीयं साम—'वारवन्त शब्द है जिस साम में' इस अर्थ में पूर्वनिर्दिष्ट मतौ सूक्तसाम्नोः (अष्टा०५।२।५९) सूत्र से छ(=ईय) प्रत्यय होता है । वारवन्त शब्दवाली ऋचा है—अश्वं न त्वा वारवन्तम् (साम पूर्वार्चिक प्र०१, अर्ध प्र० १, दशति २, मन्त्र १७) । इस योनिभूत ऋचा में उत्पन्न साम वारवन्तीय कहाता है । वारवन्तीय साम के तीन भेद हैं (द्र०—ग्रामे गेय गान, पारड़ी संस्क०, पृष्ठ ५) । उत्तरार्चिक प्र० ८, अर्ध प्र० १, त्रिक ७ में गेय वारवन्तीय साम पूर्व संकेतित त्रिविध वारवन्तीय सामों में से तीसरे प्रकार का मिलता है(द्र०—ऊहगान, काशी. हि० वि० वि० संस्क० पृष्ठ ३८४) । इस वारवन्तीय साम को उत्तरार्चिक (प्र० ४, अर्ध प्र०१, त्रिक, १४) पूर्वोक्त रेवती ऋचाओं पर ही गाया है (द्र०—ऊहगान, काशी हि० वि० वि० संस्क०, पृष्ठ १२२-१२४) ।

व्याख्या—क्या उसी अग्निष्टोम संस्थान्त अग्निष्टुत् का वारवन्तीय सामरूप गुण से पशुरूप फल होता है, और एतेन यजेत (=इससे यजन करे) यह [अग्निष्टुत् अग्निष्टोम का] अनुवाद है? अथवा क्या एतेन यजेत से कर्मान्तर का निर्देश है ? क्या प्राप्त होता है ? कर्मान्तर नहीं है, [वारवन्तीय सामरूप]गुण से[पशु]फल होता है । कैसे? एतेन यजेत यह विदित का ही कथन है, अविदित का नहीं [क्योंकि एतेन सर्वनाम पूर्वविहित कर्म का ही परामर्शक है] । इसलिये [एतेन यजेत यह] विध्यन्तर नहीं है । [उक्त वचन में] 'पशु की कामनावाला इस प्रकार यजन करे' ऐसा कहता है, 'यजन करे' ऐसा नहीं कहता है । कैसे करके [यजन करे] ? वारवन्तीय साम करके । और भी,[वाक्य के आरम्भ में]एतस्यैव यह विस्पष्ट अकर्मान्तर को कहनेवाला वचन है । इसलिये 'गुण से फल होता है' ऐसा प्राप्त होता है । ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—

समेषु कर्मयुक्तं स्यात् ॥२७॥

सूत्रार्थ—(समेषु) इस प्रकार के समान (=भिन्न) वाक्यों में (कर्मयुक्तम्) कर्म से युक्त फल (स्यात्) होवे, अर्थात् कर्मान्तर होवे ।

समेष्वेवञ्जातीयकेषु भिन्नवाक्येषु कर्मयुक्तं फलं भवेत्—एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयं कृत्वा इति। न ह्येतस्य रेवत्यः सन्ति, यास्वस्य वारवन्तीयं भवेत्। तत्र रेवत्यो भवन्ति, तासु च वारवन्तीयं विधीयेतेति वाक्यं भिद्येत। अथोच्येत—'अस्यापूर्वा[1] रेवतीरुपादाय तासु च वारवन्तीयं कृत्वा एतेन यजेतेत्यनुवदति इति। तथाऽग्निष्टोमसामेति नावकल्प्येत। अथाग्निष्टोमसामकार्ये भवतीत्युच्यते[2]। 'एतस्यैव' इत्येतदविवक्षितं स्यात्। उभयस्मिन् विवक्ष्यमाणे भिद्येत वाक्यम्। तस्मात् कर्मान्तरम्।

व्याख्या—इस प्रकार के समान स्वरूपवाले भिन्न वाक्यों में कर्म से युक्त फल होवे [अर्थात् कर्मान्तर से पशु फल होवे]—एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयं कृत्वा में। इस (=पूर्व अग्निष्टुत् अग्निष्टोम कर्म) की रेवती ऋचाएं नहीं हैं, जिनमें वारवन्तीय साम [का गान] होवे। उस अवस्था में रेवती ऋचाएं होती हैं, और उनमें वारवन्तीय साम का विधान किया जाये, तो वाक्यभेद होगा [—अग्निष्टुतोऽग्निष्टोमस्य रेवत्यो भवन्ति' एक वाक्य होगा, और 'तासु =रेवतीषु वारवन्तीयं साम गायेत्' दूसरा वाक्य बनेगा]। और यदि कहो कि—'इसकी अपूर्व रेवती ऋचाओं को ग्रहण करके और उनमें वारवन्तीय साम [का गान] करके एतेन यजेत (=इससे यजन करे) ऐसा अनुकथन करता है। तो [ऐसा अभिप्राय ग्रहण करने पर] अग्निष्टोम साम नहीं बनेगा [अर्थात् अग्निष्टोम साम उपपन्न नहीं होगा]। और यदि कहो कि—अग्निष्टोम साम के कार्य में [रेवती ऋचाओं में वारवन्तीय साम] होता है। इस अवस्था में एतस्यैव अंश अविवक्षित हो जायेगा। दोनों (=एतस्य=अग्निष्टुत् अग्निष्टोम करे, और अग्निष्टोम साम के कार्य में वारवन्तीय साम का विधान) की विवक्षा करने पर वाक्यभेद होगा। इसलिये कर्मान्तर है।

विवरण—कर्मयुक्तं फलं भवेत्—एतस्यैव ; कृत्वेति नह्येतस्य रेवत्यः सन्ति इस भाष्यपाठ में एतस्यैव···कृत्वेति अंश को पूर्वान्वयी मानकर हमने व्याख्यान किया है। अतः नह्यस्य रेवत्यः सन्ति का सम्बन्ध जोड़ने के लिये अध्याहार करना होगा—'आनन्तर्य से एतस्यैव से अग्निष्टुत् अग्निष्टोम का सम्बन्ध प्रतीत होता है। तथापि ऐसा अर्थग्रहण करने पर, इस अग्निष्टुत् अग्निष्टोम की रेवती ऋचाएं ही नहीं हैं। इस प्रकार वाक्यार्थ जानना चाहिये' (द्र०—तन्त्रवार्तिक)। बृहती व्याख्या के अनुसार एतस्यैव···कृत्वेति को उत्तरान्वयी नह्यस्य रेवत्यः के साथ संबद्ध प्रतीत होता है। इस अन्वय में अर्थ होगा—एतस्यैव से अग्निष्टुत् अग्निष्टोम याग का निर्देश होने पर यह दोष उपस्थित होगा कि इस याग की रेवती ऋचाएं ही नहीं हैं। बृहती के अनुसार व्याख्या करने पर समेष्वेवञ्जातीयकेषु वाक्य से किस वाक्य में कर्मयुक्त फल का विधान किया जा रहा है, उसका निर्देश न होने से अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। उस अवस्था में समेष्वेवञ्जातीयकेषु वाक्य का तात्पर्य

---

१. 'अस्य पूर्वा०' इति काशीपूना-संस्करणयोरपपाठः। बृहतीसंवलिते मद्राससंस्करणे शुद्ध पाठ उपलभ्यते।

२. 'भवतीत्युच्येत' इति युक्ततरः पाठः स्यात्।

अथ कर्मान्तरे कथमवाक्यभेदः? 'रेवतीषु ऋक्षु वारवन्तीयं साम कृत्वा पशुकामो यजेत' इत्यपूर्वो यागः सर्वैर्विशेषणैर्विशिष्टो विधीयते। तेन एकार्थत्वं विभागे च साकाङ्क्षत्वम्' इत्येकवाक्यत्वम्[1] उपपद्यते। नन्वर्थभेदो, यागश्चैवं ह्यपूर्वः कर्त्तव्यः, रेवतीषु वारवन्तीयम् अपूर्वमिति। नेति ब्रूमः। निर्वृत्तवारवन्तीयरेवतीगुणको यागो विधीयते, न वारवन्तीयनिर्वृत्तिः। अर्थाद् रेवतीषु वारवन्तीयमभिनिर्वर्त्स्यति। शक्यते च तन्निर्वर्त्तयि-

---

यह लेना होगा कि—त्रिवृदग्निष्टुत्……ब्रह्मवर्चसकामो यजेत और एतस्यैव रेवतीषु……पशुकामो ह्येतेन यजेत सदृश समानरूप के भिन्न वाक्यों में कर्मयुक्त फल होता है। अर्थात् पूर्ववाक्य ब्रह्मवर्चस फल के लिये वायुदेवताक ऋचाओं में एकविंश अग्निष्टोम साम की कल्पना करके त्रिवृत्-अग्निष्टुद् अग्निष्टोम का विधान करता है। और दूसरा वाक्य पशुफल के लिये रेवती ऋचाओं में वारवन्तीय अग्निष्टोम साम की कल्पना करके कर्मविशेष का विधान करता है। इस प्रकार तन्त्रवार्तिक और बृहती दोनों के व्याख्यान उपपन्न हो जाते हैं। भाष्यकार को यहां क्या अभिप्रेत है, इसके विषय में देवा एव ज्ञातुमर्हन्ति कहना ही उपयुक्त होगा।

अस्यापूर्वा रेवतीरुपादाय—अस्य से अग्निष्टुत् अग्निष्टोम का परामर्श है। अभिप्राय यह है कि अग्निष्टुत् अग्निष्टोम में रेवती ऋचाओं का निर्देश न होने पर भी वचन-सामर्थ्य से अपूर्व रेवती ऋचाओं को ग्रहण करके उनमें वारवन्तीय साम का गान करके एतेन इस अग्निष्टुत् अग्निष्टोम से यजन करे। इसमें एतेन यजेत पूर्व अग्निष्टुत् अग्निष्टोम का अनुवाद है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है—एतम् अग्निष्टुतम् अग्निष्टोमम् उद्दिश्य रेवत्य ऋचः तासु च वारवन्तीयं साम कृत्वा पशुफलं भावयेत् =उक्त अग्निष्टुत् अग्निष्टोम याग को उद्देश करके रेवती ऋचाओं और उनमें वारवन्तीय साम करके पशुओं को सिद्ध (=प्राप्त) करे। तथाग्निष्टोमसामेति नावकल्प्येत—उक्त अर्थ में वारवन्तीयमग्निष्टोमसाम कृत्वा में पठित अग्निष्टोम साम का सम्बन्ध नहीं होता है, अर्थात् वह वारवन्तीय अग्निष्टोम साम नहीं होता है।

व्याख्या—(आक्षेप) अच्छा तो कर्मान्तर मानने में वाक्यभेद कैसे नहीं होगा? (समाधान) 'रेवती ऋचाओं में [अग्निष्टोम साम के कार्य में] वारवन्तीय साम को करके पशुकामनावाला यजन करे'। इस प्रकार सब विशेषणों से विशिष्ट अपूर्व याग का विधान किया जाता है। इससे 'एकार्थता और [उसके] विभाग करने पर साकाङ्क्षता' होने से एकवाक्यत्व उपपन्न होता है। (आक्षेप) इस प्रकार भी वाक्यभेद होता है, और याग भी अपूर्व करना चाहिये, और रेवती ऋचाओं में वारवन्तीय साम भी अपूर्व करना चाहिये। (समाधान) [वाक्यभेद] नहीं है, ऐसा हम कहते हैं। निष्पन्न वारवन्तीय और रेवती गुणवाले सम्पन्न याग का विधान किया जाता है, केवल वारवन्तीय साम की निर्वृत्ति (=निष्पन्नता) नहीं कही जाती है। अर्थापत्ति सामर्थ्य से रेवती ऋचाओं में वारवन्तीय साम निष्पन्न हो जायेगा। और वह [रेवती ऋचाओं में]

---

१. द्र०—अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्यात्। मी० २।१।४६॥

तुम्। उच्यते—रेवतीनां वारवन्तीयस्य च सम्बन्धो न विहितः स्यात्। तत्र च रेवतीष्वन्यान्यपि सामानि भवेयुः। वारवन्तीयं चान्यास्वपि ऋक्षु। नैष दोषः। कृत्वेत्यभिनिर्वृत्तः सम्बन्धो यागायोच्यते। तेन सम्बन्धो गम्यते। द्वावप्येतावर्थौ कृत्वेत्येष शब्दः शक्नोति वदितुम्—अभिनिर्वृत्तिं पूर्वकालतां च। यथा शोणमानयेति रक्तगुणसम्बद्धोऽश्वः शब्देनैवानयतो विधीयते इति। न वाक्यभेदो भवति। एवमत्रापि द्रष्टव्यम्।

निष्पन्न किया जा सकता है, अर्थात् गाया जा सकता है।(आक्षेप) [ऐसा विधान करने पर] रेवती ऋचाओं का और वारवन्तीय साम का संबन्ध विहित नहीं होगा। उस अवस्था में रेवती ऋचाओं में अन्य साम भी प्राप्त होंगे। और वारवन्तीय साम अन्य ऋचाओं में भी गेय होगा।(समाधान) यह दोष नहीं है। 'कृत्वा' शब्द से [रेवती ऋचाओं में वारवन्तीय साम का] निष्पन्न हुआ सम्बन्ध याग के लिये कहा जाता है। इससे [रेवती ऋचाओं और वारवन्तीय साम का] सम्बन्ध जाना जाता है। इन दोनों ही [रेवती ऋचाओं में वारवन्तीय साम की] अभिनिर्वृत्ति (=निष्पन्नता) और पूर्वकालता अर्थों को 'कृत्वा' यह शब्द कह सकता है। जैसे शोणम् आनय (=शोण को लाओ) शब्द के द्वारा ही रक्तगुणसंबद्ध अश्व लानेवाले के प्रति विहित होता है। वाक्यभेद नहीं होता है। इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये।

विवरण—कथमवाक्यभेदः—आक्षेप करनेवाले का भाव यह है कि कर्मान्तर का विधान करने पर भी तो अपूर्व रेवती ऋचाओं के उपादान, और उनमें अग्निष्टोम साम के कार्य में वारवन्तीय साम का विधानरूप दो का विधान करने पर वाक्यभेद होगा ही। **सर्वैर्विशेषणैर्विशिष्टः**—समाधाता का भाव यह है कि अपूर्व यागविधि में अनेक विशेषणों से विशिष्ट कथन होने से वाक्यभेद नहीं होता है। जहां किसी पूर्व वचन से विहित याग का अनुवाद करके अन्य वचन से एक से अधिक गुणों का विधान किया जाता है, वहां वाक्यभेद होता है। जैसे अग्निहोत्रं जुहुयात् से विहित अग्निहोत्र का अनुवाद करके दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात् वाक्य में होम को उद्देश करके दधि गुण का विधान करें, तो इन्द्रियफल का सम्बन्ध नहीं होगा। और यदि इन्द्रियफल का विधान करें, तो दधि का सम्बन्ध नहीं होगा। और यदि जुहुयात् के साथ दोनों का सम्बन्ध जोड़ें, तो दध्ना जुहुयात् और इन्द्रियकामो जुहुयात् (=इन्द्रियरूपं फलं भावयेत्) दो वाक्य होंगे (द्र०—मी २।२।२५ सूत्रभाष्य का अन्तिम सन्दर्भ)। **एकार्थत्वं विभागे च साकाङ्क्षत्वम्**—भगवान् जैमिनि ने अर्थैकत्वादेकं वाक्यम् साकाङ्क्षम् चेद् विभागे स्यात् (मी० २।१।४६) सूत्र द्वारा एकवाक्य का जो लक्षण दर्शाया है, उसकी ओर यह संकेत है।

अर्थात्—अर्थात् अर्थापत्ति से। जब निष्पन्न वारवन्तीय साम और रेवतीगुणवाले याग का कथन किया गया, तो अर्थापत्ति से ही यह बात जानी जाती है कि रेवती ऋचाओं और वारवन्तीय साम का परस्पर सम्बन्ध है। ऋचा और साम का सम्बन्ध आश्रयाश्रयीभावरूप ही है—ऋच्यध्यूढं साम गीयते (=ऋचाओं पर साम गाया जाता है)। **उच्यते**—आक्षेप्ता सिद्धान्ती के कथन

नन्वेवमपि बहवोऽर्थाः—रेवत्यः, वारवन्तीयं, तत्सम्बन्धः, यागः, पशुकामश्चेति । नैष दोषः । बहवः श्रूयन्ते, एकोऽत्र विधीयते यागो विशिष्टः । ननु रेवत्योऽपि विधीयन्ते, वारवन्तीयमपि । यदि न विधीयेरन्, नैव तद्विशिष्टो यागः प्रतीयेत । न ह्यविधाय विशेषणं शक्यते विशिष्टो विधातुम् । तस्माद् बहुषु विधीयमानेषु नैकार्थ्यम् । अत्रोच्यते—अर्थ इति प्रयोजनमभिधीयते[1] । यावन्ति पदान्येकं प्रयोजनमभिनिर्वर्त्तयन्ति, तावन्त्येकं वाक्यम् । न चात्र बहूनि प्रयोजनानि । न ह्यत्रानेकस्याभिप्रेतस्यानेकं पदं विधायकमस्ति । रेवतीष्विति नैतत्केवलं रेवतीनां विधायकम् । रेवतीषु वारवन्तीयमित्यत्रापि पदद्वये वारवन्तीयशब्दो द्वितीयान्तः । नास्मात् सम्बन्धोऽभिप्रेतो गम्यते । प्रातिपदिकार्थेऽ-

---

को यथावत् न समझकर आक्षेप करता है—तत्र रेवतीषु इति । द्वावप्यर्थौ कृत्वेत्येष शब्दः—कृत्वा शब्द में दो अंश हैं—'कृ' धातु और 'क्त्वा' प्रत्यय । अतः रेवतीषु वारवन्तीयं साम कृत्वा कहने से रेवती ऋचाओं में वारवन्तीय साम की निष्पत्ति 'कृ' धातु से कही गई । और पूर्वकालता को क्त्वा प्रत्यय ने कहा—समानकर्तृकयोः पूर्वकाले [क्त्वा] (अष्टा० ३।४।२१) । शोणमानय—शोण का अर्थ लाल रंग है । परन्तु यह केवल लाल रंगवाले अश्व के लिये ही प्रयुक्त होता है । महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है—समाने रक्ते वर्णे गौर्लोहित इति भवति, अश्वः शोणः; समाने च काले वर्णे गौः कृष्ण इति भवति, अश्वो हेम इति; समाने च शुक्ले वर्णे गौः श्वेत इति भवति, अश्वः कर्क इति (महा० १।२।६८-७१; २।२।२९) । इस प्रकार शोण शब्द के कहने से रक्त वर्ण के साथ अश्व का भी स्वतः बोध हो जाता है । न वाक्यभेदो भवति—यह नहीं कहना पड़ता—शोणम् आनय, अश्वं चानय (=लाल रंगवाले को लाओ, और अश्व को लाओ) ।

व्याख्या—(आक्षेप) इस प्रकार भी तो बहुत अर्थ [विधीयमान होते] हैं—रेवती ऋचाएं, वारवन्तीय साम, उन [दोनों] का सम्बन्ध, याग और पशुकाम । [इन बहुत अर्थों के विधीयमान होने पर वाक्यभेद होगा ।] (समाधान) यह दोष नहीं है । बहुत अर्थ सुने जाते हैं, परन्तु यहां एक[सब विशेषणों से] विशिष्ट याग का ही विधान किया जाता है । (आक्षेप) रेवती ऋचाओं का भी विधान किया जाता है, और [उनमें] वारवन्तीय साम का भी । यदि [इनका] विधान न करें, तो उन से विशिष्ट याग प्रतीत ही न होवे । विशेषणों का बिना विधान किये विशिष्ट का विधान नहीं किया जा सकता है । इसलिये बहुतों के विधीयमान होने से एकार्थकता नहीं है । (समाधान) इस विषय में कहते हैं—[अर्थैकत्वाद् एकं वाक्यम् (मी० २।१।४६) सूत्र में] अर्थ शब्द से प्रयोजन कहा जाता है । जितने पद एक प्रयोजन को सिद्ध करते हैं, उतने पद एक वाक्य कहाते हैं । प्रकृत में बहुत प्रयोजन नहीं है । यहां अनेक अभिप्रेत प्रयोजनों के अनेक पद विधायक नहीं हैं । रेवतीषु पद केवल रेवती ऋचाओं का विधायक नहीं है । रेवतीषु वारवन्तीयम् (=रेवती ऋचाओं में वारवन्तीय सोम को) यहां भी दोनों पदों में वारवन्तीयम् शब्द द्वितीया विभक्त्यन्त है । इस[द्वितीयान्त वारवन्तीय] शब्द से सम्बन्ध अभिप्रेत है, ऐसा नहीं जाना

---

१. 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्' (मी०२।१।४६) इत्यस्मिन् सूत्रे इति शेषः ।

स्य व्यतिरेकात् । कृत्वेत्यपि करोतिर्न सम्बन्धमात्रे पर्य्यवसितः, परप्रयोजनसम्बन्धमाह । एवं विशिष्टस्तु यजतिर्न परार्थः । तदेकमेषां पदार्थानां प्रयोजनम् । तस्मादेकवाक्यत्वम् । गुणे पुनः फले प्रकल्प्यमाने अग्निष्टोमसाम्नः कार्ये वारवन्तीयम्, एतस्य च यदग्निष्टोम-साम, इति वाक्यभेदः स्यात् ।

जाता है । प्रातिपदिक अर्थ में इस[द्वितीया विभक्ति के अर्थ]के पृथक् होने से(विवरण द्रष्टव्य) । कृत्वा में भी करोतिः (='कृ' धातु) सम्बन्धमात्र (=सम्बन्ध-विधानमात्र) में समाप्त नहीं होती है, [क्त्वान्त होने से] अन्य [यजेत पदस्थ यागरूप] प्रयोजन के संबन्ध को भी कहती है । इस प्रकार [सब विशेषणों से]विशिष्ट तो यजतिः (=यज धातु) परार्थ नहीं है [बोधित याग को कहनेवाली है] । इसलिये इन पदार्थों का [याग को विधान करनारूप] एक प्रयोजन है । इसलिये यहां एकवाक्यत्व है । गुण के निमित्त से फल की कल्पना करने पर अग्निष्टोमसाम के कार्य में वारवन्तीय का विधान करना होगा, और इस [अग्निष्टुत् अग्निष्टोम का] जो अग्निष्टोम-साम है, इस प्रकार वाक्यभेद होगा । [अर्थात् एतस्य(=इस अग्निष्टुत् अग्निष्टोम क्रतु का)यत् अग्निष्टोमसाम वर्तते (=जो अग्निष्टोम साम है), तस्याग्निष्टोमसाम्नः कार्ये (=उस अग्निष्टोम सामसम्बन्धी कार्य में) वारवन्तीयं कृत्वा (=वारवन्तीय सोम गाकर)पशुकाम-फलं भावयेत् (=पशुकामरूप फल की सिद्ध करे) इस प्रकार वाक्यभेद होगा ।

विवरण— प्रातिपदिकार्थेऽस्य व्यतिरेकात्—वारवन्तीयम् द्वितीयान्त शब्द में द्वितीया विभक्ति का जो कर्म अर्थ है, वह प्रातिपदिकार्थ से भिन्न है । यदि प्रातिपदिकार्थमात्र विवक्षित होता तो वार-वन्तीयम् प्रथमान्त होता । प्रथमान्त होने पर रेवतीषु वारवन्तीयं साम भवति वाक्यार्थ होने पर रेवती ऋचाओं और वारवन्तीय साम का सम्बन्ध हो सकता था । यदि कहो कि सामवाचक वार-वन्तीय शब्द के नपुंसकलिङ्ग होने से प्रथमा और द्वितीया विभक्ति में समान ही रूप होगा । ऐसी अवस्था में इसे प्रथमान्त क्यों न माना जाये ? इसका उत्तर यह है कि वारवन्तीयं कृत्वा में कृत्वा पद का प्रयोग वारवन्तीयं द्वितीयान्त ही है, यह इसका बोधक है । प्रथमान्त के साथ कृत्वा शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता है । करोतिर्न सम्बन्धमात्रे—इस वाक्य का भाव यह है कि कृत्वा पदगत कृञ् धातु रेवतीषु वारवन्तीयं करोति इस सम्बन्धमात्र के बोध में समाप्त नहीं होती है । क्योंकि यहां पूर्वकाल को कहनेवाला क्त्वा प्रत्यय भी प्रयुक्त है । परप्रयोजनसंबन्धमाह —यह क्त्वाप्रत्यय पूर्वक्रिया और उत्तरक्रिया के सम्बन्ध को कहता है । भुक्त्वा देवदत्तो ग्रामं गतः वाक्य में भुक्त्वा पदस्थ क्त्वा प्रत्यय जैसे पूर्वकालिक भोजनक्रिया और उत्तरकालिक गमनक्रिया दोनों के सम्बन्ध को बोधित करता है, उसी प्रकार रेवतीषु वारवन्तीयं कृत्वा यजेत(=रेवती ऋचाओं में वारवन्तीय साम को गाकर यजन करे) में रेवती ऋचाओं और वारवन्तीय साम के सम्बन्ध को कहता हुआ 'यजन करे' को भी सम्बद्ध करता है । यजतिर्न परार्थः—इसका भाव यह है कि सब विशेषणों से विशिष्ट याग अग्निष्टुत् अग्निष्टोमं यागमुद्दिश्य रूप पर=अनुवादरूप प्रयोजन के लिये नहीं है, अपि तु याग के विधान के लिये है ।

अथोच्येत—'रेवत्यादिसर्वविशेषणविशिष्टो याग एतस्याग्निष्टुतो विधीयेत।' तथापि पशुकामसम्बन्धाद् भिद्येत वाक्यम्। अथैवमुच्येत—'रेवतीषु कृतेन वारवन्तीयेन पशुकामो यजेत'इति। नैवं शक्यम्। ऋगन्तरप्रगाणाद्विशेषहानाद्वैगुण्यं स्यात्। नन्विदानोमेवोक्तम्—'शक्यते हि रेवतीषु वारवन्तीयं कर्त्तुम्' इति। सति वचने शक्यम्। असति वचने न वारवन्तीयग्रहणेन गृह्यन्ते। वचनं तर्हि भविष्यति—पशुकामो रेवतीषु वारवन्तीयमभिनिर्वर्त्तयेत्। ततो यजेतेति यजतिरनुवादः। यदि वचनं रेवतीषु वारवन्तीयसम्बन्धस्य, सिद्धं कर्मान्तरम्, नाग्निष्टुतो गुणविधिः। ननु ततो यजेतेति यागानुवादाद् यागेनास्याङ्गप्रयोजनसम्बन्धो भविष्यति। नैवं शक्यम्। यागं प्रत्यङ्गभावे विधीयमाने पशुकामं प्रत्यसम्बन्धः। उभयसम्बन्धे वाक्यं भिद्येत। अथ यागसम्बन्धोऽनुवादः, प्रकरणेन चाङ्गता, नेदमुपपन्नम्। प्रकरणाद्धि वाक्यं बलवत्तरम्। तस्मात् कर्मान्तरम्। यागगुणकं

व्याख्या—और यदि यह कहो कि—'रेवत्यादि सब विशेषणों से विशिष्ट याग इस अग्निष्टुत् का विधान किया जाये'। तब भी पशुकाम के सम्बन्ध से वाक्यभेद होवे। [अर्थात् सर्व-विशेषण-विशिष्ट अग्निष्टुत् याग विधायक वाक्य से भिन्न पशुकामो यजेत यह दूसरा वाक्य मानना पड़ेगा।] और यदि इस प्रकार कहो कि—'रेवती ऋचाओं में किये गये (=गाये गये) वारवन्तीय साम से पशुकामनावाला यजन करे'। यह भी नहीं बन सकता। [वारवन्तीय साम की योनिभूत अश्वं न त्वा वारवन्तम् ऋक्, और उसकी सहचरी स घा नः, तथा स नो दूरात् ऋचाओं में गेय वारवन्तीय साम(द्र०—ऊहगान, काशी वि० वि० संस्क० पृष्ठ ३८४)को] ऋगन्तर [रेवती ऋचाओं] में गान करने [और अपनी] विशेष ऋचाओं के परित्याग से वैगुण्य होगा। (आक्षेप) अभी तो आपने कहा था—'रेवती ऋचाओं में वारवन्तीय साम किया (=गाया) जा सकता है'। (समाधान) [यदि रेवती ऋचाओं में वारवन्तीय गान का विधायक] वचन होवे, तो हो सकता है। [रेवती ऋचाओं के विधायक] वचन के न होने पर वारवन्तीय के ग्रहण से [रेवती ऋचाएं] गृहीत नहीं होती। (आक्षेप) अच्छा तो [रेवती ऋचाओं का विधायक] वचन हो जायेगा—पशु की कामनावाला रेवती ऋचाओं में वारवन्तीय साम को सम्पादित करे। तदनन्तर 'यजेत' में यजतिः (=यज धातु) अनुवाद होगा। (समाधान) यदि रेवती ऋचाओं में वारवन्तीय साम के सम्बन्ध का विधायक वचन है, तो कर्मान्तर सिद्ध है, अग्निष्टुत् की गुणविधि नहीं होगी। (आक्षेप) तब तो अनन्तर यजेत से याग का अनुवाद होने से याग के साथ इसका (=रवती ऋचाओं में गेय वारवन्तीय का) अङ्ग रूप से सम्बन्ध हो जायेगा। (समाधान) ऐसा नहीं कर सकते। [रेवती ऋचाओं में गेय वारवन्तीय साम का] याग के प्रति अङ्गरूप से विधान करने पर [रेवती ऋचाओं में गेय वारवन्तीय साम का] पशुकाम के साथ संबन्ध नहीं होगा। दोनों के साथ संबन्ध करने पर वाक्यभेद होगा ['अग्निष्टुतं यागमुद्दिश्य रेवतीषु वारवन्तीयं कुर्यात्' एक वाक्य होगा, और पशुकामो यागेन पशुरूपं फलं भावयेत् दूसरा वाक्य बनेगा]। और यदि याग का सम्बन्ध [यजेत से] अनुवादरूप है, और वारवन्तीय साम की अग्निष्टुत् याग के प्रति अङ्गता प्रकरण से है, [ऐसा कहो तो] यह उपपन्न नहीं होता है। प्रकरण से वाक्य बलवान् होता है। इसलिये [वाक्यप्रमाण से] कर्मान्तर है। याग के गुणवाला रेवती ऋचाओं में

वा रैवतीषु वारवन्तीयम्, तद्गुणको वा यागः। तत्र यागपशुकामयोः सम्बन्धस्य विधात्रीं यजतेरुपरितनीं विभक्तिमुपलभामहे लिङम्[1]। न तु रेवतीवारवन्तीयसम्बन्धस्य विधायकं साक्षात् किञ्चिदुपलभ्यते। तस्मात् सर्वविशेषणविशिष्टो यागः पशुकामस्य विधीयते, इति सिद्धम्।

अथ पुनर्विशिष्टे यागे विधीयमाने तद् रेवतीषु वारवन्तीयं कथमग्निष्टोमसाम भवतीति? उच्यते, वचनादग्निष्टोमसाम्नः कार्ये भविष्यतीति। किमिव हि वचनं न कुर्यात्? नास्ति वचनस्यातिभारः। अथ यदुक्तम्—'एतस्यैवेति अनन्तरापेक्षं वचनम्'[2] इति। तत्राप्यविरोधादेतद्धर्मकस्येति लक्षणाशब्दो भविष्यति। तस्मान्न गुणात् फलम्। कर्मान्तरमेवंधर्मकमिति। सिद्धं समन्वेवञ्जातीयकेषु कर्मयुक्तं फलमिति ॥२७॥ इति वारवन्तीयादीनां कर्मान्तरताऽधिकरणम् ॥१२॥

वारवन्तीय साम होवे, अथवा उस (=रेवती ऋचाओं में वारवन्तीय साम) गुणवाला याग होवे। इस विषय में याग और पशुकाम के सम्बन्ध की विधायिका आगे पठित यजेत लिङ् विभक्ति को हम उपलब्ध करते हैं। रेवती ऋचाओं और वारवन्तीय साम के सम्बन्ध का विधायक कोई पद साक्षात् उपलब्ध नहीं होता है। इसलिये सब विशेषणों से विशिष्ट याग पशुकामनावाले के लिये विधान किया जाता है, यह सिद्ध होता है।

(आक्षेप) अच्छा तो विशिष्ट याग के विधीयमान होने पर वह रेवती ऋचाओं में गीयमान वारवन्तीयसाम अग्निष्टोमसाम कैसे होता है? (समाधान) वचनसामर्थ्य से अग्निष्टोमसाम के कार्य में (=अग्निष्टोम स्थानीय) [रेवती ऋचाओं में गेय वारवन्तीयसाम] होगा। वचन क्या नहीं करेगा? वचन के प्रति कोई अतिभार नहीं है। और जो यह कहा है (द्र०—पृष्ठ ५०८) कि—'एतस्यैव यह वचन अनन्तर (=समीप में पठित याग) की अपेक्षा से है।' उस विषय में भी विरोध न होने से इस [सर्वविशेषणविशिष्ट] धर्मवाले याग के लिये लाक्षणिक शब्द हो जायेगा। इसलिये गुण से फल नहीं होता है। और इस धर्मवाला कर्मान्तर है। समानरूप के इस प्रकार के वाक्यों में कर्मयुक्त फल होता है, यह सिद्ध हो जाता है ॥२७॥

विवरण—कथमग्निष्टोमसाम भवति - का तात्पर्य यह है कि वारवन्तीयसामयुक्त कर्मान्तर होने पर उसका अग्निष्टोम विशेषण उपपन्न नहीं होगा। अग्निष्टोमसाम्नः कार्ये—अग्निष्टोमसंस्थाक सोमयाग में अग्निष्टोमसाम से कर्म का समापन होता है, यह हम पूर्व (पृष्ठ ५०७) कह चुके हैं। अतः जैसे अग्निष्टोमसंस्था में अग्निष्टोमसाम कर्म का समापक है, उसी प्रकार प्रकृत कर्म में अग्निष्टोम साम की जगह वारवन्तीय साम कर्म का समापक होता है।

---

१. लिङ्गमिति सार्वत्रिकोऽपपाठः। उपरिनिर्दिष्ट आचार्यचरणैः संशोधितः पाठः। 'लिङः' इति तु वयं प्रतीमः 'विभक्तिं लिङः' इत्यर्थस्य स्पष्टतायै। विभक्तिसंज्ञा तिप्तस्झिप्रभृतीनां भवति (द्र०—'विभक्तिश्च' अष्टा० १।४।१०४), न लिङः।

२. द्र०—एतेन यजेत इति विदितस्यैवैतद् वचनम्, नाविदितस्य। पृष्ठ ५०८।

[सौभरनिधनयोः कामैक्याऽधिकरणम् ॥१३॥]

यो वृष्टिकामो योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः स सौभरेण स्तुवीत, सर्वे वै कामाः सौभरे[1] इति समाम्नाय ततः समामनन्ति–हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात्, ऊर्गित्यन्नाद्यकामाय, ऊ इति स्वर्गकामाय[2] इति। तत्र विचार्यते–किं सौभरं वृष्टेर्निमित्तम्? हीषित्येतदपरं वृष्टेर्निमत्तम्? अथ सौभरमेव वृष्टेर्निमित्तम्? यदा तद् वृष्टेर्निमित्तं, तदा हीषिति सौभरस्य

एतस्यैवेति अनन्तरापेक्षम्—यह पूर्वपक्षी के आरम्भ में उक्त अपि च एतस्यैवेति विस्पष्टम् अकर्मान्तरवचनम् (द्र०—पृष्ठ ५०८) वचन का अर्थतः अनुवाद है। इसके उत्तर में [एतस्य] लक्षणाशब्दो भविष्यति कहकर एतस्य की अनन्तरापेक्षकता का प्रत्याख्यान किया है। आगे मी० २।३।२६ सूत्र के भाष्य में सिद्धान्तपक्ष में कहता है—सन्निहितस्य प्रतिनिर्देशक एष [एतया] शब्दः। इस विरोध का, और लोकप्रसिद्ध सर्वनामशब्दों की पूर्वपरामर्षता के परित्याग का कारण यह है कि कर्मान्तिर के सिद्ध हो जाने पर एतस्यैव वचन को पूर्वपरामर्षक नहीं मान सकते हैं। इसलिये यह उत्तर सर्वविशेषणविशिष्ट विहित याग को ही लक्षणा=गौणरूप से कहेगा। एतद्धर्मकम्—यहां एतद्धर्म से रेवती ऋचाओं में वारवन्तीय साम का गान और अग्निष्टोमसाम के स्थान में वारवन्तीय साम का प्रयोगरूप धर्म अभिप्रेत है॥२७॥

व्याख्या—यो वृष्टिकामो योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः स सौभरेण स्तुवीत, सर्वे कामाः सौभरे (=जो वृष्टि की कामनावाला है, जो अन्नाद्य की कामनावाला है, और जो स्वर्ग की कामनावाला है, वह सौभर साम से स्तुति करे। सब काम=इच्छाएं सौभरसाम में हैं, अर्थात् सौभर साम के करने से पूर्ण होती हैं) ऐसा पढ़ कर पश्चात् पढ़ते हैं—हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात्, ऊर्ग् इत्यन्नाद्यकामाय, ऊ इति स्वर्गकामाय (=वृष्टि की कामनावाले के लिये [सौभर साम की] समाप्ति 'हीष्' शब्द से करे, अन्नाद्य की कामनावाले के लिये [सौभर की] समाप्ति 'ऊर्क्' शब्द से करे, और स्वर्ग की कामनावाले के लिये [सौभर की] समाप्ति 'ऊ' शब्द से करे)। इसमें विचार किया जाता है—क्या सौभरसाम वृष्टि का निमित्त है? और 'हीष्' यह अन्य वृष्टि का निमित्त है [अर्थात् वृष्टि के सौभरसाम और हीष् शब्द दो निमित्त हैं]? अथवा सौभरसाम ही वृष्टि का निमित्त है? जब वह [=सौभरसाम] वृष्टि का निमित्त होता है, तब 'हीष्' शब्द से सौभर साम को समाप्त करना चाहिये। इसी प्रकार ऊर्गिति अन्नाद्यकामस्य में [सौभर

---

१. द्र०—यो वृष्टिकामः स्याद् योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः स सौभरेण स्तुवीत। हीषिति··· स्वर्गकामाय। सर्वे वै कामाः सौभरम्। ताण्ड्य ब्रा० ८।८।१८-२०॥

२. द्र०—हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यादूर्गित्यन्नाद्य कामायो इति स्वर्गकामाय। सर्वे वै कामाः सौभरम्। ताण्ड्य ब्रा० ८।८।१९-२०॥

निधनं कर्त्तव्यमिति । एवम् ऊर्गित्यन्नाद्यकामस्य, ऊ इति स्वर्गकामस्य च तुल्यो विचारः ।

कथं निधनादपरं फलम्? कथं वा निधनव्यवस्थार्थं श्रवणमिति? यद्येवमभिसम्बन्धः क्रियते—हीषिति वृष्टिकामाय कुर्यादिति । ततो निधनादपरं फलम् । अथैवमभिसम्बन्धः—

अन्नाद्य का निमित्त है, और 'ऊर्क्' शब्द अन्नाद्य का दूसरा निमित्त है । अथवा जब सौभर साम अन्नाद्य का निमित्त होता है, तब 'ऊर्क्' शब्द से सौभर साम को समाप्त करना चाहिये], और ऊ इति स्वर्गकामस्य च में [सौभर स्वर्ग का निमित्त है, और 'ऊ' शब्द स्वर्ग का दूसरा निमित्त है । अथवा जब सौभर साम स्वर्ग का निमित्त होता है, तब 'ऊ' शब्द से सौभर साम को समाप्त करना चाहिये] तुल्य विचार जानना चाहिये ।

विवरण—सौभरेण स्तुवीत—ताण्ड्य ब्राह्मण ८।८।१० ज्योतिष्टोम की षोडशी संस्था के अवान्तर प्रकरण में उक्थ्य स्तोत्र में सौभर ब्रह्मसाम कहा है । ब्रह्मसाम ब्राह्मणाच्छंसी ऋत्विक् से गेय होता है । प्रत्येक साम के प्रस्ताव उद्गीथ प्रतिहार उपद्रव और निधन पांच भक्तियां (=अवयव) होते हैं । इनके विषय में आगे यथाप्रकरण लिखा जायेगा । निधन का अर्थ है समाप्ति । निधन के द्योतनार्थ जो शब्द प्रयुक्त किया जाता हैं, वह निधन-भक्ति कहाता है । तदनन्तर (तां० ब्रा० ८।८।११-१२) अतिरात्र संस्था के अवान्तर प्रकरण में बृहत्सामा रथन्तरसामा दोनों अतिरात्रों में उक्थ्य स्तोत्र में सौभर ब्रह्मसाम कहा है । तदनन्तर (तां० ब्रा० ८।८।१३-१८) काम्य सौभरसाम का विधान किया है—यो वृष्टिकामः स्याद् यो··· सौभरेण स्तुवीत ।

सौभरेण स्तुवीत—सौभरसाम की योनि ऋक् वयमु त्वामपूर्व्यम् (सा० पू० प्र० ५, अर्ध प्र० १, द० २, मं० १०)। इस ऋचा का ऋषि सौभरि है । दृष्टं साम (अष्टा० ४।२।७) के नियम से सौभरि ऋषि ने वयमु त्वाम् ऋचा में जिस साम का दर्शन किया, वह साम सौभर नाम से प्रसिद्ध हुआ । सौभरसाम का स्वरूप द्र०—ग्रामेगेय साम, पारडी संस्क० पृष्ठ ११३ । यज्ञ में गेय सौभरसाम द्र० ऊहगान, काशी वि० वि० संस्क०, पृष्ठ १८। सर्वे वै कामा सौभरे इति समाम्नाय—भाष्यकार के इस निर्देश से विदित होता है कि भाष्यकार ने जिस ब्राह्मण ग्रन्थ से यह पाठ उद्धृत किया है, उसमें यह यो वृष्टिकामः · सौभरेण स्तुवीत वाक्य के अनन्तर पठित था । ताण्ड्य ब्रा० ८।८।१८-२० का पाठ इस प्रकार है—यो वृष्टिकामः स्याद् योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः सौभरेण स्तुवीत । हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्याद् ऊर्गित्यन्नाद्यकामायो इति स्वर्गकामाय । सर्वे वै कामा सौभरम् । ताण्ड्य पाठ का भी अभिप्राय वही है जो भाष्यकारोद्धृत पाठ का है । केवल पाठ में स्वल्प अन्तर है । अन्नाद्यकामः=अन्नभक्षण की कामनावाला ।

व्याख्या—(आक्षेप) ['हीष्' आदि शब्द से साम के] निधन (=समाप्त करने) से दूसरा फल कैसे होगा ? और कैसे ['हीष्' आदि शब्दों का] निधन की व्यवस्था के लिये श्रवण होगा ? (समाधान) यदि इस प्रकार सम्बन्ध किया जाता है—हीष् इति वृष्टिकामाय कुर्यात् (='हीष्' ऐसा वृष्टि की कामनावाले के लिये करे) । तब निधन से दूसरा फल होगा । और यदि इस प्रकार सम्बन्ध किया जाता है—हीष् इति निधनं कुर्यात् (='हीष्' ऐसा निधन करे), तब

हीषिति निधनं कुर्यादिति, तदा निधनव्यवस्थाऽर्थं श्रवणम् । तदा वृष्टिकामायेति सौभर-विशषणं क्रियते, न हीषा सम्बन्धः । किं तावत् प्राप्तम् ?

सौभरे पुरुषश्रुतेर्निधने कामसंयोगः ॥२८॥ (पू०)

सौभरे निधने अपरः कामो विधीयते इति । कुतः ? 'पुरुषश्रुतेः' । पुरुषप्रयत्नस्यात्र श्रवणं भवति—कुर्यादिति । तद् वृष्टिाकामस्य हीषश्च सम्बन्धे कर्त्तव्ये वक्तव्यं भवति, न तु सौभरनिधनसम्बन्धे । तत्र हि 'साङ्गं सौभरं कुर्याद्' इति प्रयोगवचनसामर्थ्यादेव सिद्धम् । तस्मात् 'कुर्यात्'इति पुरुषप्रयत्नवचनादवगच्छामः—यतरस्मिन् पक्षे पुरुषप्रयत्न-वचनमर्थवत्, ततरोऽयं पक्ष इति । तत्राऽस्मिन पक्षे अर्थवत् । निधनादपरं फलमिति । तस्मात् सौभरे एकः कामः, भेदेन निधनादपि द्वितीयः काम इति ।

निधन की व्यवस्था के लिये श्रवण होगा। तब (=हीषिति निधनं कुर्यात् सम्बन्धपक्ष में) वृष्टिकामाय पद को सौभर का विशेषण बनाया जाता हैं, 'हीष्' के साथ सम्बन्ध नहीं किया जाता है। तो [दोनों पक्षों में] क्या प्राप्त होता है ?

सौभरे पुरुषश्रुतेर्निधने कामसंयोगः ॥२८॥

सूत्रार्थः—(सौभरे) सौभरसाम विषयक (निधने) निधन के विषय में (पुरुषश्रुतेः) 'कुर्यात्' रूप पुरुष प्रयत्न के श्रवण होने से [निधन में] (कामसंयोगः) फलसम्बन्धी कामना का संयोग होता है, अर्थात् सौभरसाम से एक फल, और निधन से दूसरा फल होता है।

व्याख्या—सौभर साम के निधन के विषय में दूसरे काम(=फल)का विधान किया जाता है। किस हेतु से ?'पुरुष[प्रयत्न के]श्रवण होने से'। पुरुष प्रयत्न का यहां श्रवण होता है – कुर्यात्(=करे)। उस(पुरुषप्रयत्न)को वृष्टि की कामनावाले के साथ 'हीष्' का सम्बन्ध करने पर कहना पड़ता है, सौभरसाम और निधन के सम्बन्ध में नहीं कहना पडता है। क्योंकि वहां (इस पक्ष में)'सौभर साम को साङ्ग करे' यह प्रयोगवचन के सामर्थ्य से ही सिद्ध है। इसलिये 'कुर्यात्' इस पुरुष प्रयत्न के कथन से हम यह जानते हैं कि—जिस पक्ष में पुरुषप्रयत्न का कथन अर्थवान् होवे, वही पक्ष [न्याय्य] है। इस (=वृष्टिकाम और 'हीष् के सम्बन्ध) पक्ष में ['कुर्यात्' पुरुषप्रयत्न] अर्थवान् है। अतः ['हीष्' आदि] निधन से दूसरा फल होता हैं। इसलिये सौभरसाम के विषय में एक काम हैं, और भिन्न-भिन्न रूप से निधन से दूसरा काम होता है। [अर्थात् सौभरसाम के प्रयोग से वृष्टि आदि कोई एक फल प्राप्त होता है। और उसी सौभरसाम की 'हीष्' आदि शब्दों से समाप्ति करने पर दूसरा फल प्राप्त होता हैं। इस प्रकार दो फल होते हैं।]

विवरण—सम्बन्धे कर्त्तव्ये वक्तव्यं भवति—इसका भाव यह है कि—हीष् इति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात् वाक्य में वृष्टिकामाय हीष् इति निधनं कुर्यात् (=वृष्टि की कामनावाले के लिये 'हीष्' ऐसा निधन करे) सम्बन्ध कहने में 'कुर्यात्' रूप पुरुषप्रयत्न को अवश्य कहना पड़ता है।

अथवा वृष्टिकामायेति पुरुषश्रुतिः—वृष्टिं यः कामयते, स पुरुषो वृष्टिकामशब्देनोच्यते । तदस्मिन् पक्षे श्रुतिर्विनियोक्त्री । इतरस्मिन् पक्षे पुनर्वृष्टिकामशब्देन पुरुषवचनेन सता सौभरं लक्ष्येत । तथा लक्षणाशब्दः स्यात् । श्रुतिलक्षणाविषये च श्रुतिर्न्याय्या, न लक्षणा । तस्मात् पश्यामो निधने द्वितीयः काम इति । एवञ्च फलभूयस्त्वं भविष्यति । तस्मान्निधने अपरः कामः ॥२८॥

यतः वाक्य में 'कुर्यात्' पढ़ा हुआ है, इसलिये अलग से कहना पड़ता है, यह भाव नहीं है । अपितु वृषिकाम और हीष् का सम्बन्ध प्रकट करने के लिये 'कुर्यात्' का उच्चारण अर्थवान् है । दूसरे (= वृष्टिकाम सौभर का विशेषण) पक्ष में 'कुर्यात्' पद व्यर्थ होता है। क्योंकि 'वृष्टिकाम के लिये सौभरसाम का विधान' कर देने पर **प्रयोगवचनसामर्थ्यादेव सिद्धम्**—प्रयोगवचन-सामर्थ्य से पूर्वनिर्दिष्ट—प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतीहार, उपद्रव और निधनरूप जो पांच भाग हैं, उनसे युक्त साम का गान होने पर निधन स्वतः प्राप्त है । अतः इस पक्ष में निधन की स्वतः प्राप्ति हो जाने पर **निधनं कुर्यात्** (=समाप्ति करे) ऐसा विधान करने की आवश्यकता नहीं होती है । केवल **हीष् इति निधनम्** इतना ही कहना पर्याप्त है । क्योंकि **वृष्टिकामाय सौभरे हीष् इति निधनम्** वाक्य आपने आप में पूर्ण है । यद्यपि इस वाक्य में क्रिया साक्षात् पठित नहीं है, फिर भी **अस्ति भवति** आदि क्रियासामान्य की प्रतीति स्वतः हो जाने से—'वृष्टि कामनावाले के लिये सौभरसाम में हीष् निधन होता है' पूर्ण वाक्य समझा जाता है ।

व्याख्या—अथवा 'वृष्टिकामाय' में पुरुष का श्रवण है—जो वृष्टि की कामना करता है, वह पुरुष वृष्टिकाम शब्द से कहा जाता है । इसलिये इस (=निधन से दूसरा फल होता है) पक्ष में श्रुति ही विनियोजिका है [अर्थात् वृष्टि की कामनावाला 'हीष्' से निधन करे] । दूसरे पक्ष में पुरुषवाचक वृष्टिकाम शब्द से सौभर लक्षित होगा । उस प्रकार [वृष्टिकाम] लक्षणा शब्द (= गौण शब्द) होगा । श्रुति और लक्षणा के विषय में श्रुति न्याय्य है, लक्षणा न्याय्य नहीं है । इस लिये हम देखते हैं कि निधन [भेद] में दूसरा फल होता है । इस प्रकार [दो फल होने से] फल की अधिकता होगी । अतः ['हीष्' आदि के भेद से सौभरसाम के] निधन में दूसरा फल होता है ॥२८॥

विवरण—**अथवा वृष्टिकामायेति**—पूर्व व्याख्यान में कुर्यात् पद को पुरुषप्रयत्न श्रुति के रूप में प्रस्तुत किया था । इस व्याख्यान में वृष्टि की कामनावाले पुरुष का जो निर्देश है, उसे ही पुरुषश्रुति के रूप में प्रस्तुत किया है। **श्रुतिर्विनियोक्त्री**—इस पक्ष में हीष् आदि निधनों के विनियोग में वृष्टिकाम अन्नाद्यकाम स्वर्गकाम आदि साक्षात् पुरुषश्रुति प्रमाण है । **इतरस्मिन्**··· — **सौभरं लक्ष्येत**—इतर पक्ष (=निधन-व्यवस्था पक्ष) में हीषिति निधनं कुर्यात् ऐसा सम्बन्ध होगा। इस अवस्था में वृष्टिकामाय पद सौभर का विशेषण होगा—वृष्टिकामाय सौभराय हीषिति निधनं कुर्यात् । यह दोष पूर्व (पृष्ठ ५१८, पं० १) में उपस्थित किया था, उसे ही उपस्थित किया है । **सौभरं लक्ष्येत** का भी वही पूर्वोक्त तात्पर्य है ॥२८॥

सर्वस्योक्तकामत्वात् तस्मिन् कामश्रुतिः स्यान्निधनार्था पुनः श्रुतिः ॥२९॥ (उ०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । न चैतदस्ति यदुक्तम्—निधने अपर काम इति । नैवं सम्बन्धः क्रियते—वृष्टिकामाय हीषिति कुर्यादिति । कथं तर्हि ? 'हीषिति निधनं सौभरस्य' इति । कथम् ? हीषो वृष्टिकामसम्बन्धे क्रियमाणे निधनं कुर्यादिति सम्बन्धो न कृतः स्यात् । तत्र हीषिति निधनमिति नावकल्प्येत । तत्रोभयसम्बन्धे वाक्यभेदः । तत्र निधनशब्दः प्रमादसमाम्नात इति गम्यते । नचैवञ्चातीयकः प्रमादसमाम्नात इत्युक्तम् ।[1] तस्मान्न हीषो वृष्टिकामेन सम्बन्धः । तेन न निधनादपरं फलम् ।

सर्वस्योक्तकामत्वात् तस्मिन् कामश्रुतिः स्यान्निधनार्था पुनः श्रुतिः ॥२९॥

सूत्रार्थः—(वा) पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् 'हीष्' आदि निधनों से दूसरा फल नहीं होता है। (सर्वस्य) प्रस्ताव से लेकर निधन पर्यन्त सम्पूर्ण सौभरसाम का (उक्त-कामत्वात्) उक्त वृष्टि अन्नाद्य और स्वर्गकामनावाला होने से (पुनः श्रुतिः) यो वृष्टिकामः आदि की पुनः श्रुति (निधनार्था) निधन की व्यवस्था के लिये होवे ।

विशेष—प्रत्येक गान के प्रस्ताव उद्गीथ प्रतीहार उपद्रव और निधन ५ अवयव होते हैं। इस कारण प्रस्ताव से लेकर निधनपर्यन्त पूरा सौभरसाम का यो वृष्टिकामो योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः स सौभरेण स्तुवीत वाक्य से वृष्टि अन्नाद्य और स्वर्गकाम के लिये विधान होने से सौभर-साम के ही ये सब फल हैं। हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात् इत्यादि में वृष्टिकाम आदि का पुनः श्रवण सौभरसाम को उपलक्षित करके निधन के नियम के लिये है। अर्थात् वृष्टिकाम सौभर में 'हीष्' से ही निधन करे, अन्नाद्यकाम सौभर में 'ऊर्क्' से और स्वर्गकाम सौभर में 'ऊ' से ।

व्याख्या—वा शब्द पक्ष को हटाता है। यह नहीं है जो कहा है कि—निधन में दूसरा फल होता है। इस प्रकार सम्बन्ध नहीं करते हैं—वृष्टि की कामना के लिये हीष् ऐसा करे। तो कैसे सम्बन्ध करते हैं—'हीष् यह सौभर का निधन है'। कैसे? हीष् का वृष्टिकाम के साथ सम्बन्ध करने पर 'निधनं कुर्यात्' का सम्बन्ध नहीं किया जायेगा। उस अवस्था में हीष् यह निधन भी नहीं बनेगा। वहां दोनों (=वृष्टिकामाय हीषिति कुर्यात्, तथा तां च वृष्टि निधनेन कुर्यात्)के सम्बन्ध में वाक्यभेद होगा। और उस अवस्था में निधन शब्द प्रमाद से पढ़ा हुआ जाना जाता है। इस प्रकार का (सम्प्रदाय की अविच्छिन्नता से प्राप्त) पाठ प्रमाद-समाम्नात नहीं है, यह कह चुके हैं। इसलिये हीष् का वृष्टिकाम के साथ सम्बन्ध नहीं है। इस कारण निधन से दूसरा फल नहीं होता है।

---

१. द्र०—मी० १।२।८॥

अथ हीषो निधनसम्बन्धे कथम् अवाक्यभेद इति? उच्यते, वृष्टिकामाय सौभरमस्त्येव। सौभरस्य 'निधनं समाप्तिरस्त्येव। तत्र 'हीषिति कुर्यात्' इत्येष एवार्थो विधीयते। तस्माद् अवाक्यभेद इति। अतो निधनव्यवस्थेति गम्यते। एवमेव ऊर्गिति, ऊ इति च वेदितव्यम्। सर्वस्य सौभरस्य ऊर्ग्वृष्टिस्वर्गकामत्वाच्छक्यते कामवचनैः सौभरं लक्षयितुम्। किमर्थं लक्ष्यते इति? निधनार्था पुनः श्रुतिः निधनव्यवस्थां करिष्यतीत्यर्थः ॥२६॥ इति सौभरनिधनयोः कामैक्याऽधिकरणम् ॥१३॥

इति श्रीभट्टशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

विवरण—वाक्यभेदः—भट्ट कुमारिल ने लिखा है—हीषा वृष्टिं कुर्यात्, तां च निधनभूतेनेति वाक्यभेदः। अर्थात् 'हीष् से वृष्टि करें', और 'उस वृष्टि को निधनभूत हीष् से करे' इस प्रकार दो वाक्य होने से वाक्यभेद होता है। तत्र निधनशब्दः—वाक्यभेद से बचने के लिये यदि वृष्टिकामाय हीष् इति कुर्यात् कहते हैं, तो निधन शब्द व्यर्थ होता है, अर्थात् प्रमादपठित पाठ बनता है। इत्युक्तम्—यह बात तुल्यं च साम्प्रदायिकम् (मी० १।२।८) सूत्र में कही है।

व्याख्या—(आक्षेप) अच्छा तो हीष् का निधन के साथ सम्बन्ध करने पर वाक्यभेद कैसे नहीं होगा? (समाधान) वृष्टिकाम के लिये सौभर विहित ही है। और सौभर का निधन समापन भी प्राप्त ही है। वहां केवल 'हीष् ऐसा करे' इसी अर्थ का विधान किया जाता है। इस कारण वाक्यभेद नहीं होता है। इस (=हीष् इति कुर्यात् विधान) से निधन की व्यवस्था जानी जाती है। इसी प्रकार 'ऊक्' और 'ऊ' के विषय में भी जानना चाहिये। सौभर के सब=ऊर्क् वृष्टि और स्वर्ग की कामनावाला होने से कामवचनों (=वृष्टिकामाय, ऊर्क्कामाय. स्वर्गकामाय) से सौभर को लक्षित किया जा सकता है। किस लिये [कामशब्दों से सौभर को] लक्षित किया जाता है? निधन के लिये पुनः श्रुति निधन की व्यवस्था करेगी, यह प्रयोजन है ॥२६॥

विवरण—वृष्टिकामाय सौभरमस्त्येव—'वृष्टिकामाय' उपलक्षण है—अन्नाद्यकामाय और स्वर्गकामाय का। अतः अभिप्राय है कि वृष्टि अन्नाद्य और स्वर्ग तीनों कामनाओं की सिद्धि के लिये सौभरसाम विहित ही है। द्रष्टव्य—यो वृष्टिकामः स्याद् योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः स सौभरेण स्तुवीत [तां० ब्रा० ८।८।१८ वचन]। सौभरस्य निधनं समाप्तिरस्त्येव—इसके दो अभिप्राय हैं। प्रथम—आरम्भ किये सौभरसाम का समापन होगा ही। तथा साङ्गेन सौभरेण स्तुवीत इस प्रयोगवचन-सामर्थ्य से प्रस्ताव उद्गीथ प्रतीहार उपद्रव और निधन पांचों सामभक्तियों के साथ सौभर का प्रयोग होने से किसी न किसी शब्द से निधन प्राप्त ही है। दूसरा—भट्ट कुमारिल

---

१. काशीमुद्रिते 'निधनं सौभरप्राप्तिरस्त्येव' इत्यपपाठः। पूनामुद्रिते 'निधनं प्राप्तिरस्त्येव' इत्यप्यपपाठः। अत्र 'निधनप्राप्तिरस्त्येव' इति युक्तः पाठो ज्ञेयः। बृहतीव्याख्यासंवलिते मद्राससंस्करणेऽपि 'नियतप्राप्तिरस्त्येव' इति भ्रष्टतरः पाठः। अस्माभिस्तु गुरुचरणैर्बोधितः पाठ स्वीकृतः। तस्य युक्ततरत्वात्।

आदि मीमांसकों ने लिखा है कि शाखान्तरों में सौभरसाम के साथ हीष् आदि अनेक निधन शब्द पठित हैं। उनसे हीष् आदि निधनों की प्राप्ति है ही। इस प्रकार दोनों पक्षों में वृष्टि आदि कामना के लिये सौभरसाम का विधान पूर्व उद्धृत वाक्य से हो ही जाता है, और निधन की प्राप्ति साङ्गेन सौभरेण स्तुवीत वाक्य से हो जाती है। केवल इतना विधान करना शेष रहता है कि किस शब्द से निधन करे। अतः हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात् वाक्य में केवल हीष् इति कुर्यात् अंश ही विधान के योग्य रहता है। इसलिये भाष्यकार ने कहा है—हीष् इति कुर्याद् एष एवार्थो विधीयते। और यदि शाखान्तरों से हीष् आदि शब्दों की प्राप्ति मानें, तो सभी कामनावाले सौभरों में सभी शब्द प्राप्त होंगे। उस अवस्था में वृष्टिकामाय हीष् कुर्यात्, अन्नाद्यकामाय ऊर्क्, स्वर्गकामाय ऊ ही करे। इससे निधनकी व्यवस्था इस वाक्य से जानी जाती है। इस अर्थ में वृष्टिकामाय का अर्थ है—'वृष्टिकामनावाले सौभरसाम के लिये'। इस अर्थ में वृष्टिकाम शब्द लक्षणा से वृष्टिकामनावाले सौभर को लक्षित करता है। और इसी कारण द्वितीय वाक्य में वृष्टिकामाय आदि पदों की पुनः श्रुति व्यवस्था के लिये कहा है—निधनार्था पुनः श्रुतिर्निधनव्यवस्थां करिष्यति।

भट्ट कुमारिल ने इस सूत्र के भाष्य की व्याख्या के अनन्तर भाष्य का प्रत्याख्यान करके सूत्र की अन्य प्रकार से व्याख्या की है। उसे 'तन्त्रवार्तिक' में ही देखना चाहिये। विस्तरभिया यहां हम उसका निर्देश नहीं करते हैं ॥२९॥

—:०:—

द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः

[ग्रहाग्रताया ज्योतिष्टोमाऽङ्गताऽधिकरणम् ॥१॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमः—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत[1] इति। तं प्रकृत्य श्रूयते—यदि रथन्तरसामा सोमः स्याद् ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात्, यदि बृहत्सामा शुक्राग्रान्, यदि जगत्सामा आग्रयणाग्रान्[2] इति। तत्र सन्दिह्यते—किं ग्रहाग्रताविशेषो ज्योतिष्टोमस्य विधीयते, उत कर्मान्तरस्य रथन्तरसाम्नो बृहत्साम्नश्चेति ? [कथम् ?] यदि रथन्तरसामग्रहणेन बृहत्सामग्रहणेन च ज्योतिष्टोमोऽभिधीयते, ततस्तस्य ग्रहाग्रताविशेषः। अथ नाऽभिधीयते, ततः कर्मान्तरस्य इति। किं तावत् प्राप्तम् ? प्रकरणाज्ज्योतिष्टोमस्य। इति प्राप्ते उच्यते—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम[का विधान] है ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत (=स्वर्ग की कामनावाला ज्योतिष्टोम से यजन करे)। इस ज्योतिष्टोम का आरम्भ करके सुना जाता है—यदि रथन्तरसामा सोमः स्याद् ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात्, यदि बृहत्सामा शुक्राग्रान्, यदि जगत्सामा आग्रायणाग्रान् (=यदि रथन्तरसामवाला ज्योतिष्टोम होवे तो इन्द्रवायु देवतावाला ग्रह अग्र=प्रथम है जिनमें, ऐसे ग्रहों का ग्रहण करे, अर्थात् इन्द्रवायु देवतावाले ग्रह में प्रथम सोम रस का ग्रहण करे, यदि बृहत्सामवाला ज्योतिष्टोम होवे तो शुक्र देवतावाला ग्रह अग्र है जिनमें, ऐसे ग्रहों का ग्रहण करे, यदि जगत्सामवाला ज्योतिष्टोम होवे तो आग्रयण देवतावाला ग्रह अग्र है जिनमें, ऐसे ग्रहों का ग्रहण करे)। इस विषय में सन्देह होता है कि—क्या [ऐन्द्रवायवादि] ज्योतिष्टोम क्रतु के ग्रहों की अग्रताविशेष का विधान किया जाता है, अथवा [ज्योतिष्टोम से] रथन्तरसामवाले और बृहत्सामवाले भिन्न कर्म का विधान है ? [कैसे?] यदि रथन्तरसामा के ग्रहण से और बृहत्सामा के ग्रहण से (=रथन्तरसामा और बृहत्सामा शब्द से) ज्योतिष्टोम का कथन किया जाता है, तो उस (=ज्योतिष्टोम) की ग्रहाग्रताविशेष का विधान होगा। और यदि [रथन्तरसामा तथा बृहत्सामा शब्द से ज्योतिष्टोम] का कथन नहीं होता है, तो कर्मान्तर का विधान होगा। इस विषय में क्या प्राप्त है? प्रकरण से ज्योतिष्टोम का [रथन्तर सामा और बृहत्सामा शब्द से]कथन है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—ज्योतिष्टोम क्रतु में रथन्तरं भवति (ताण्ड्य ब्रा० १०।४।६); बृहद् भवति वचनों से रथन्तर साम और बृहत्साम साध्य पृष्ठसंज्ञक स्तोत्रों का विधान किया है। आप० श्रौत १२।

---

१. द्र०—स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत। आप० श्रौत १०।२।१॥

२. आप० श्रौत १२।१४।१॥

गुणस्तु क्रतुसंयोगात् कर्मान्तरं प्रयोजयेत् संयोगस्याशेषभूतत्वात् ॥१॥ (पू०)

१४।१ की वृत्ति में रुद्रदत्त ने लिखा है—जिस यजमान के होता के 'पृष्ठ' स्तोत्र में रथन्तर साम होवे, वह ऐन्द्रवायव ग्रह का आदि में ग्रहण करे, जिसका बृहत् साम होता के 'पृष्ठ' स्तोत्र में होवे, वह शुक्र ग्रह का। एक कार्य में दोनों का विधान होने से इनका विकल्प होता है। इसी विकल्प के कारण रथन्तर साम और बृहत्साम ज्योतिष्टोम के विशेषण होते हैं। रथन्तर साम अभि त्वा शूर (साम पू० प्र० ३, अर्ध प्र० १, द० ५, मं० १) योनिभूत ऋचा में उत्पन्न है।[1] योनिभूत ऋक् तथा अन्य दो ऋचाओं में गेय रूप ऊहयगान (दशरात्रपर्व) के आरम्भ में देखें (काशी वि० वि० संस्क० पृष्ठ ६०९)। बृहत्साम त्वामिद्धि हवामहे (साम पू० प्र० ३, अर्धप्र० १, द० ५, मं० २) योनिभूत ऋचा में उत्पन्न है।[2] योनिभूत ऋक् तथा अन्य दो ऋचाओं में गेय रूप ऊह्यगान (दशरात्र पर्व) में देखें (काशी० वि० वि० संस्क० पृष्ठ ६१०)। जगत्साम ज्योतिर्यज्ञस्य पवते आदि जगतीछन्दस्क तृच (साम, उ० प्र० ४, अर्ध प्र० १, तृच् १) में गीत है (द्र०—ऊहगान, काशी वि० वि० संस्क० पृष्ठ ५९४)। प्रकृत विचार में यदि जगत्सामा आग्रयणाग्रान् वाक्य प्रसंग से पढ़ा गया है। क्योंकि रथन्तर और बृहत्साम के समान ज्योतिष्टोम में जगत्साम का साक्षात् विधान नहीं है। 'यदि जगत्सामा' वाक्य से विकृतिरूप क्रत्वन्तर का विधान है, यह आगे जगत्साम्नि सामाभवात् सूत्र (१०।५।५८) से कहा है। अतः प्रकृत में रथन्तरसामा और बृहत्सामा पद घटित वाक्यों पर ही विचार किया गया है। ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान्—ज्योतिष्टोम में काष्ठनिर्मित ग्रह-संज्ञक १० पात्र होते हैं। ये संख्या में १० होते हैं। इन्द्रवायु आदि भिन्न-भिन्न देवताओं के निमित्त से इनके नाम भी भिन्न-भिन्न हैं। (द्र० १० ग्रहों के नाम, भाग २, पृष्ठ ४८१ तथा आकार प्रकार भाग २, पृष्ठ ४८६) में देखें। १० ग्रहों के ग्रहण में क्रम अवश्य ही होगा (सामान्य क्रम भाग २, पृष्ठ ४८१ पर देखें)। प्रकृत वचनों में सामविशेष के भेद से प्रथम गृह्यमाण ग्रह का निर्देश किया है। 'ऐन्द्रवायवाग्रान्' पद में बहुव्रीहि समास है—ऐन्द्रवायवो [ग्रहो]ऽग्रं येषु ते ऐन्द्रवायवाग्राः, तादृशान् ग्रहान्। किं ग्रहाग्रताविशेषः—आदि से जो विचार किया है, उसका प्रमुख आधार रथन्तरसामा और बृहत्सामा पद हैं। यदि रथन्तरसामा और बृहत्सामा शब्दों में बहुव्रीहि समास होवे—रथन्तरं साम यस्मिन् [ज्योतिष्टोमे, स रथन्तरसामा ज्योतिष्टोमः], बृहत्साम यस्मिन् स बृहत्सामा तब ये पद ज्योतिष्टोम के विशेषण होंगे। और यदि इन पदों से ज्योतिष्टोम का कथन न होवे, तो ये कर्मान्तर के नाम होंगे।

गुणस्तु क्रतुसंयोगात् कर्मान्तरं प्रयोजयेत् संयोगस्याशेषभूतत्वात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(गुणस्तु) तु पक्ष की निवृत्ति के लिये है। ऐन्द्रवायवाग्रता शुक्राग्रता ज्योतिष्टोम

१. द्र०—'अभि त्वा शूर नोनुम इत्यभीति रथन्तरस्य रूपम्। ताण्ड्य ब्रा० ११।४।१॥

२. त्वामिद्धि हवामह इति त्वामिति बृहतो रूपम्। ताण्ड्य ब्रा० ११।९।१॥

गुणस्तु क्रतुसंयोगादिति तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति—नैतदस्ति ज्योतिष्टोमस्य इति। कुतः? क्रतुसंयोगात्। कथं तर्हि? कर्मान्तरस्य इति। ननु ज्योतिष्टोमक्रतोरेवैष एवञ्जातीयको वादः—रथन्तरसामा बृहत्सामा इति? नेति ब्रूमः। यदि न कृत्स्नक्रतुसंयोगो भवेत्, ज्योतिष्टोमस्य वादः। कृत्स्नक्रतुसंयोगस्त्वेषः। कथं कृत्स्नक्रतुसंयोगो भवति

का गुण नहीं है। अग्रता गुण के (क्रतुसंयोगात्) क्रतु के साथ संयोग होने से (कर्मान्तरं प्रयोजयेत्) कर्मान्तर को प्रयोजित करे। [रथन्तरसाम और बृहत्साम का] (संयोगस्य) क्रतुसंयोग के (अशेषभूतत्वात्) सम्पूर्णरूप से होने से। अर्थात् रथन्तरसामा बृहत्सामा शब्द से वही क्रतु कहा जाता है, जिस का और कोई साम न होवे।

अन्यार्थ—[रथन्तरसाम, बृहत्साम] (तु) तो (गुणः) गुण विशेषण होवे। 'रथन्तर वा बृहत् साम है जिसका' इस अर्थ द्वारा (क्रतुसंयोगात्) क्रतु के साथ संयोग होने से। आगे पूर्ववत्।

विशेष—प्रथम अर्थ भाष्य के अनुसार है। दूसरा अर्थ अन्य व्याख्याकारों के मतानुसार दर्शाया है। इस सूत्र के पूर्वपक्ष का होने से, तथा इससे पूर्व किसी पक्ष का सूत्र से निर्देश न होने से 'तु' शब्द पक्ष की व्यावृत्ति के लिये सम्भव नहीं है।

दूसरे सूत्रार्थ को इस प्रकार समझना चाहिये—रथन्तरसाम और बृहत्साम शब्द गुण=गौण=विशेषणरूप हैं। क्योंकि 'रथन्तरसाम अथवा बृहत् साम है जिसका' इस बहुव्रीहि समास से इसका वाच्य क्रतु होता है। इस प्रकार ये शब्द क्रतु के विशेषण होने से गुणभूत हैं। इसी अर्थ का क्रतुसंयोगात् शब्द से कहा है। ज्योतिष्टोम में भी रथन्तर और बृहत्साम होते हैं। वहां भी क्रतु का संयोग है ही। अतः यह प्रकृत ज्योतिष्टोम का विशेषण भी बन सकता है। इसलिये कहा है—संयोगस्याशेषभूतत्वात्। ज्योतिष्टोम में त्रिवृत् आदि अनेक साम (=स्तोत्र) हैं (द्र०—भाग २, पृष्ठ ४०४ विवरण)। अतः उसमें रथन्तर अथवा बृहत् साम का कृत्स्न संयोग नहीं है। विशेषण सदा भेदक होता है। अतः ज्योतिष्टोम में अन्य सामों के होने से रथन्तरसामा बृहत्सामा भेदक=विशेषण उपपन्न नहीं होता है। कर्मान्तरपक्ष में जहां केवल रथन्तर साम और बृहत्साम ही होवें, उसका ये विशेषण हो सकते हैं। इस कारण रथन्तरसाम बृहत्साम का जिस क्रतु के साथ अशेष संयोग है, उसके बोधक ये शब्द हैं।

व्याख्या— गुणस्तु क्रतुसंयोगात् में तु शब्द पक्ष को निवृत्त करता है—[रथन्तरसामा बृहत्सामा शब्द] ज्योतिष्टोम के अभिधायक नहीं हैं। कैसे? क्रतु के साथ संयोग होने से। तो कैसे हैं? कर्मान्तर के अभिधायक हैं। (आक्षेप) यह रथन्तरसामा बृहत्सामा इस प्रकार का वाद (=कथन) ज्योतिष्टोम क्रतु का ही होता है? (समाधान) नहीं, ऐसा हम कहते हैं। यदि रथन्तर और बृहत्साम का सम्बन्ध] पूरे क्रतु के साथ न होवे, तो ज्योतिष्टोम का कथन हो सकता है। यह [रथन्तरसामा और बृहत्सामा] पूरे क्रतु के साथ संयोगवाला है [अर्थात् ज्योतिष्टोम में तो बहुत से साम हैं। रथन्तरसामा बृहत्सामा शब्द से यह जाना जाता है कि जिस पूरे क्रतु के साथ इनका सम्बन्ध है, वह विशेष क्रतु अभिप्रेत है]। [रथन्तरसामा और बृहत्सामा शब्द] कैसे कृत्स्न क्रतु के साथ संयोगवाला होता है, अथवा कैसे कृत्स्नक्रतु के

कथं वा न कृत्स्नक्रतुसंयोग इति ? यदि रथन्तरसत्ता वा बृहत्सत्ता वा निमित्तं ग्रहाग्रहताविशेषस्य, ततो न कृत्स्नक्रतुसंयोगः। रथन्तरं बृहद्वा यदि सामास्ति, तत ऐन्द्रवायवाग्रता शुक्राग्रता चेति, ततो ज्योतिष्टोमस्य गुणविधिः। अथ रथन्तरसामसत्ता बृहत्सामसत्ता वा न निमित्तम्, ततः कृत्स्नक्रतुसंयोगः।

'यदि रथन्तरसामा' इति कोऽर्थः ? अयमर्थः—'यदि रथन्तरसाम' अस्य विशेषणं क्रतोरिति। कुत एतत्? समासपदसामर्थ्यात्। समर्थानां हि पदानां समासो भवति। सामर्थ्यञ्च भवति विशेषणविशेष्यभावे। असाधारणं च भवति विशेषणम्। तत्रायमर्थः—'यदि रथन्तरमेव साम, बृहदेव वा, नान्यदिति।' ज्योतिष्टोमस्य च बहूनि सामानि गायत्रादीनि। तस्मान्न ज्योतिष्टोमस्य वाचकावेतौ शब्दाविति। तेन यद्यपि प्रकरणाज्ज्योतिष्टोमस्य गुणविधिरिति गम्यते, तथापि तद् बाधित्वा वाक्येन रथन्तरसाम्नो बृहत्साम्नश्च भवितुमर्हति।

साथ संयोगवाला नहीं होता है ? यदि रथन्तरसाम का होना अथवा बृहत्साम का होना ग्रहाग्रताविशेष का निमित्त होवे, तो कृत्स्न क्रतुसंयोग न होवे। 'रथन्तर अथवा बृहत्साम यदि है, तो ऐन्द्रवायव ग्रह का अग्र ग्रहण वा शुक्र ग्रह का अग्र ग्रहण होवे', तब तो ज्योतिष्टोम की गुणविधि होवे। और रथन्तरसाम की सत्ता अथवा बृहत्साम की सत्ता [ग्रहाग्रता विशेष में] निमित्त नहीं है, तब [रथन्तर साम और बृहत्साम का] कृत्स्नक्रतु के साथ संयोग होवे।

'यदि रथन्तरसामा' इस शब्द का क्या अर्थ है ? इसका यह अर्थ है—'यदि रथन्तरसामा' यह इस क्रतु का विशेषण है। यह कैसे ? समास पद (=समस्त पद) के सामर्थ्य से। समर्थ पदों का ही समास होता है। सामर्थ्य विशेषण विशेष्यभाव में होता है। और विशेषण असाधारण होता है। इस स्थिति में—'यदि रथन्तर ही साम है, बृहत् ही साम है, अन्य साम न होवे।' ज्योतिष्टोम के तो गायत्र आदि बहुत से साम हैं। इसलिये ये (=रथन्तरसामा और बृहत्सामा) शब्द ज्योतिष्टोम के वाचक नहीं हैं। इस कारण यद्यपि प्रकरण से [ग्रहाग्रताविशेष] गुणविधि है ऐसा जाना जाता है, फिर भी उसको बाधकर वाक्य से रथन्तरसाम क्रतु की और बृहत्साम क्रतु की [गुणविधि] होने योग्य है।

विवरण—समासपदसामर्थ्यात्—रथन्तरसामा बृहत्सामा ये बहुव्रीहि समास के पद हैं—रथन्तरं साम यस्य=रथन्तरसामा क्रतुः, बृहत् साम यस्य=बृहत्सामा क्रतुः। समर्थानां हि पदानाम्—समास समर्थ पदों (=मिलकर अर्थ को कहनेवाले पदों) का होता है। पाणिनि का सूत्र है—समर्थः पदविधिः (अष्टा० २।१।१)=पदसम्बन्धी कार्य समर्थ पदों को होता है। जैसे—राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः। यहां राज्ञः और पुरुषः पद स्वस्वामीभाव को कहने में समर्थ हैं। जहां पदों में परस्पर सामर्थ्य नहीं होता है, वहां समास नहीं होता है। यथा—भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्य यहां राज्ञः का सम्बन्ध भार्या के साथ और पुरुषः का सम्बन्ध देवदत्त के साथ है। इसलिये राज्ञः पुरुषः ये दोनों पद यहां परस्पर स्वस्वामीभाव को प्रकट करने में असमर्थ हैं। अतः इनका परस्पर

ननु यथा ज्योतिष्टोमो न रथन्तरसामा, एवमन्योऽपि न रथन्तरसामा कश्चिदस्ति। उच्यते, कर्मान्तरं रथन्तरसामकं कल्पयिष्यत्येतद् वाक्यम्—यदि रथन्तरसामा

समास नहीं होता है। बहूनि सामानि गायत्रादीनि—ताण्ड्य ब्रा० ८।५।३ में पाठ है—गायत्रं भवति। इससे गायत्र साम का विधान है। इसी प्रकरण के प्रथम खण्ड में इस समास की प्र सोमासो मदच्युत: (साम पू० प्र० ५, अर्ध प्र० २, द० १४, मं० १) योनि ऋक् दर्शाई है। ज्योतिष्टोम में अनेक साम प्रयुक्त होते हैं।

विशेष—पूर्वनिर्दिष्ट समर्थः पदविधिः सूत्र के सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखने योग्य है। महाभाष्यकार ने इसे परिभाषासूत्र माना है।[1] परिभाषासूत्रों का कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण शब्दानुशासन होता है।[2] 'परिभाषा' शब्द का अर्थ है—परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते (सब ओर=जहां सूत्र पढ़ा है, उससे पूर्व और परे व्यापृत होनेवाली भाषा=कथा=कथन 'परिभाषा' कहाती है)। परन्तु सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजि दीक्षित ने जैसे आगे-पीछे के परिभाषासूत्र परिभाषा-प्रकरण में पढ़े हैं, उसी प्रकार इसे परिभाषा-प्रकरण में न पढ़कर समास-प्रकरण में पढ़ा है। इस कारण यह अधिकारसूत्र बन जाता है, और इसकी प्रवृत्ति केवल समासप्रकरण तक सीमित हो जाती है। सिद्धान्तकौमुदी के माध्यम से पाणिनीय व्याकरण पढ़नेवालों की यही बुद्धि दृढ़मूल हो जाती है कि यह सूत्र समासप्रकरण में ही प्रवृत्त होता है। अत: जब वे महाभाष्य पढ़ते हैं, तब उन्हें आश्चर्य होता है कि समासप्रकरण के सूत्र को भाष्यकार परिभाषासूत्र कैसे कहते हैं? प्रक्रियाग्रन्थों के आश्रय से पाणिनीय व्याकरण पढ़नेवालों को जहां सूत्र और उससे चतुर्गुणा पञ्चगुणा वृत्ति को भी रटना पड़ता है, वहां शास्त्रीय दृष्टि से भी अनेक कठिनाइयों के साथ मिथ्या ज्ञान भी घर कर लेता है। एकशेष प्रकरण को द्वन्द्वसमास के प्रकरण में पढ़ने से प्रत्येक सिद्धान्तकौमुदी पढ़नेवाला एकशेष को द्वन्द्वसमास का एक भेद मानता है। इसीलिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा है—'जितना बोध इन (=अष्टाध्यायी-महाभाष्य) के पढ़ने से तीन वर्ष में होता है, उतना बोध कुग्रन्थ अर्थात् सारस्वत चन्द्रिका कौमुदी मनोरमादि के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता (द्र०—सत्यार्थ-प्रकाश, आ० स० शताब्दी सं० २, पृष्ठ ११४; रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण)। प्रक्रियाग्रन्थ से पाणिनीय व्याकरण के पढ़ने में क्या दोष हैं, और शास्त्रकार द्वारा प्रोक्त अष्टाध्यायी सूत्रपाठ के क्रम से अध्ययन करने में क्या लाभ हैं, इसके विचार के लिये हमारे 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' का सोलहवां अध्याय (भाग १, पृष्ठ ५२१-५२४, सं० २०३० पर) देखें।

व्याख्या—(आक्षेप) जैसे ज्योतिष्टोम [केवल] रथन्तर सामवाला नहीं है, उसी प्रकार अन्य भी कोई क्रतु [केवल] रथन्तर सामवाला नहीं है। (समाधान) यह वाक्य [केवल] रथन्तरसामवाले क्रतु की कल्पना कर लेगा—यदि रथन्तरसामा सोमः स्यादिति। (आक्षेप)

---

१. तत्रैकार्थीभावः सामर्थ्यं परिभाषा च। महा० २।१।१ के आरम्भ में।

२. परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति (=प्रकाशयति) प्रदीपवत्। तद्यथा प्रदीपः सुप्रज्वलित एकदेशस्थः सर्वं वेश्माभिज्वलयति।

सोमः स्याद् इति। ननु नास्त्यत्र विधायकः शब्दः। उच्यते, अस्ति य एषः 'स्याद्' इति। आह—नैष विधातुं शक्नोति। 'यदि' शब्दसम्बन्धाद् विद्यमानस्य निमित्तार्थेन एवञ्जातीयकः शब्दो भवति, न विधानार्थेन इति। अत्र ब्रूमः—यदेतत् सयदिकं वाक्यम्—यदि रथन्तरसामा सोमः स्याद् इति, अत्रावान्तरवाक्यमस्ति—रथन्तरसामा सोमः स्याद् इति। यदवान्तरवाक्यं तस्यान्योऽर्थोऽन्यश्च सयदिकस्य। सयदिको न शक्नोति विधातुम्, यद् अवान्तरवाक्यम् तद्विधास्यति। न च रथन्तरसाम्नो बृहत्साम्नो वा भावो निमित्तत्वेन श्रूयमाणोऽप्यर्थवान् भवति। तस्मादविवक्षितो यदिसम्बन्धः। तस्मिंश्चाविवक्षिते पदद्वयमिदम्—रथन्तरसामा सोमः स्याद् इति शक्नोति रथन्तरसामानं क्रतुं विधातुम्, यदीत्यनर्थकम्।

अथ वा यदि 'रोचेत' इत्यध्याहारः। अथ वा यथैतद् भवति—'पयसा षाष्टिकं भुञ्जीत, यदि शालिं भुञ्जीत तत्र दध्युपसिञ्चेदिति।' एवञ्जातीयकेन वाक्येन शालिभोजनम् विहितं भवति। एवमत्रापि विहितं द्रष्टव्यम्—यदि रथन्तरसामा सोमः स्याद् ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयाद् इति। कथं पुनः शालिभोजनं तेन वाक्येन विहितं भवति इति? उच्यते, व्यत्यासेन सम्बन्धः कल्प्येत—यदि दध्युपसेचनमिच्छेच्छालिं भुञ्जीत इति।

यहां (=इस वाक्य में) कोई [क्रतु का] विधायक शब्द नहीं है। (समाधान) यह जो है—स्यादिति। (आक्षेप) यह विधान नहीं कर सकता है। 'यदि' शब्द के सम्बन्ध से विद्यमान पदार्थ के निमित्त के लिये इस प्रकार का (=स्यात्) शब्द होता है, विधान के लिये नहीं होता है। (समाधान) इस विषय में कहते हैं—यह जो 'यदि' सहित वाक्य है—यदि रथन्तरसामा सोमः स्यादिति, इसमें अवान्तर वाक्य है—रथन्तरसामा सोमः स्यादिति। जो यह अवान्तर वाक्य है उसका अन्य अर्थ है और 'यदि' सहित का अन्य है। 'यदि' सहित वाक्य विधान नहीं कर सकता है तो जो अवान्तर वाक्य [रथन्तरसामा सोमः स्यात्] है, वह विधान करेगा। और रथन्तर साम वा बृहत्साम की सत्ता निमित्तरूप से श्रूयमाण होती हुई भी अर्थवती नहीं होती है। इसलिये 'यदि' का सम्बन्ध अविवक्षित है। उस (=यदि) के अविवक्षित होने पर दो पद रथन्तरसामा सोमः स्यात् यह रथन्तरसामवाले क्रतु को विधान कर सकता है, 'यदि' यह अनर्थक है।

अथवा 'रोचेत' क्रिया का अध्याहार होगा [—यदि रोचेत=यदि रुचि होवे, तो रथन्तरसामवाले क्रतु को करे]। अथवा जैसे यह होता है—'दूध से साठीसंज्ञक चावलों को खावे, यदि शालि (उत्तम कोटि का चावल) खावे, तो उसमें दधि का सेचन करे' इस प्रकार के वाक्य से शालि का भोजन विहित होता है। इसी प्रकार यहां भी क्रतु का विधान किया है, ऐसा जानना चाहिये—'यदि रथन्तरसामा सोमः स्याद् ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात्।(आक्षेप) उस (=यदि शालिं भुञ्जीत तत्र दध्युपसिञ्चेत्) वाक्य से शालि का भोजन कैसे विहित होता है? (समाधान) व्यत्यास (=वाक्य के विपर्यास) से सम्बन्ध कल्पित होगा—यदि दध्युपसेचनमिच्छेत् शालिं भुञ्जीत=यदि दही डालना चाहे, तो शालि खाये।

ननु न खल्विच्छतेः परां लिङ्विभक्तिमुपलभामहे, सिञ्चतेर्हि तां परां समामनन्ति इति । सिञ्चतेः खलु सा परा समुच्चरन्ती कमेरर्थं गमयति । कामप्रवेदने हि तां मन्यामहे¹ इति । एवमिहापि 'यद्यैन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात्' इति ग्रहीतुमिच्छेदित्यर्थः । ततो रथन्तरसामानम् क्रतुं कुर्याद् इति । नन्वेवं सतीच्छामात्रं भवेत्, न ग्रहाग्रताविशेषविधानम् । उच्यते, यथास्मिँल्लौकिके वाक्ये—'यदि दध्युपसेचनमिच्छेच्छालिं भुञ्जीत' इति दध्युपसेचनसङ्कीर्त्तनाद् 'दध्युपसिक्तं शालिं भुञ्जीत' इति तेनैकवाक्यत्वाद् गम्यते, एवमत्रापि ग्रहाग्रताविशेषसङ्कीर्त्तनात् तेनैकवाक्यत्वाद् ग्रहाग्रताविशिष्टो रथन्तरसामा गम्यते ।

विवरण—षाष्टिकम्—साठ दिन में पकनेवाला धान। षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते(अष्टा० ५।१।९०)सूत्र से षष्टिक शब्द निष्पन्न होता है। षष्टिकमेव षाष्टिकम्, स्वार्थ में अण् प्रत्यय(द्र०—प्रज्ञादिभ्यश्च [अष्टा० ५।४।३८] प्रज्ञ एव प्राज्ञः) । इसी का अपभ्रंश लोक में साठी है । आयुर्वेद में साठी के चावलों को सब चावलों में श्रेष्ठ कहा है । और इसका दूध के साथ सेवन बलवर्धक बताया है । शालिं भुञ्जीत—शालि सामन्यतया व्रीहि(=धान)का वाचक है, परन्तु कोषकारों ने उत्तम वासमतीसदृश धान के लिये इसका प्रयोग दर्शाया है । शालि=सतुष धान खाया नहीं जाता है, इसलिये शालि का विकारभूत चावल अर्थ जानना चाहिये । दध्युपसिञ्चेत् से भी यही विवक्षा विदित होती है ।

व्याख्या—(आक्षेप) [यदि शालिं भुञ्जीत, तत्र दध्युपसिञ्चेत्] वाक्य में इच्छति (=इष धातु) से परे लिङ् विभक्ति को हम उपलब्ध नहीं करते हैं, सिञ्चति (=षिच धातु)से परे उसको पढ़ते हैं [—सिञ्चेत्] । (समाधान) सिञ्चति से परे उच्चरित हुई वह [लिङ् विभक्ति] कम धातु के अर्थ [कामना=इच्छा] को बोधित करती है । कामप्रवेदन(=इच्छा को प्रकट करना) अर्थ में ही उसको मानते हैं । इसी प्रकार यहां भी—यदि ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात्='ग्रहण करना चाहे' यह अर्थ है । तब रथन्तरसामवाले क्रतु को करे । (आक्षेप)इस प्रकार होने पर इच्छामात्र[प्रतीत]होवे, ग्रहाग्रतविशेष का विधान न होवे ।(समाधान) जैसे यदि दध्युपसेचनमिच्छेत्, शालिं भुञ्जीत इस लौकिक वाक्य में दही ऊपर से डालने के कथन से 'दधिसिञ्चित शालि खावे' यह अभिप्राय उसके साथ एकवाक्यता से जाना जाता है, इसी प्रकार यहां भी ग्रहाग्रताविशेष के कथन से उसके साथ एकवाक्यता होने से ग्रहाग्रताविशेष रथन्तरसामवाला क्रतु जाना जाता है ।

विवरण—कामप्रवेदने हि तां मन्यामहे—पाणिनि ने कामना को प्रकट करने के लिये लिङ् लकार का विधान किया है—कामप्रवेदनेऽकच्चिति (अष्टा० ३।३।१५३) । यथा—कामो मे भुञ्जीत भवान्=मेरी इच्छा है कि आप भोजन करें ।

---

१. द्र०—कामप्रवेदनेऽकच्चिति । अष्टा० ३।३।१५३॥

अथवाऽत्र हेतुहेतुमतोर्लिङ्।[1] रथन्तरसामा सोम ऐन्द्रवायवाग्राणां ग्रहाणां हेतुः कर्त्तव्य इति। तस्मात् कृत्स्नक्रतुसंयोगाद् गुणः कर्मान्तरं प्रयोजयेत्। एवं कृत्स्न-क्रतुसंयोगोऽर्थवान् भविष्यति। अपि च, पूर्वेण निमित्तेन भवितव्यं, परेण नैमित्तिकेन। कथम्? सति हि निमित्ते नैमित्तिकं भवितुमर्हति, न असति। यच्च भविष्यत् तद् न सत्। भविष्यच्च रथन्तरसाम[2]। तत् कथं पूर्वकालस्य ग्रहाग्रताविशेषस्य निमित्तं भविष्यति इति? अपि च, निःसन्दिग्धं जगत्सामा कर्मान्तरम। तत्सामान्यादितरदपि कर्मान्तरमिति गम्यते। तस्मान्न ज्योतिष्टोमस्य गुणविधानमिति ॥१॥

व्याख्या—अथवा—यहां हेतु और हेतुमान् के कहने में लिङ् विभक्ति है। रथन्तरसामवाले सोम को ऐन्द्रवायव अग्रवाले ग्रहों का हेतु करना चाहिये। उससे पूरे क्रतु के साथ [रथन्तरसाम का] संयोग होने से गुण कर्मान्तर को प्रयोजित करेगा। इस प्रकार [रथन्तरसाम का] कृत्स्न क्रतु के साथ संयोग अर्थवान् होगा। और भी, पहिले निमित्त को होना चाहिये, पीछे नैमित्तिक को। कैसे? निमित्त के होने पर ही नैमित्तिक को होना युक्त है, विना निमित्त के नहीं होना चाहिये। और जो भविष्यत् (भविष्यत्काल में होनेवाला) है. वह वर्तमान नहीं होता है। रथन्तरसाम भविष्यत् है। तो वह पूर्वकाल के ग्रहाग्रता विशेष का निमित्त कैसे होगा? और भी. जगत्सामा निस्सन्दिग्ध कर्मान्तर है। इसलिये उसके सामान्य से इतर (=रथन्तरसामा और बृहत्सामा) भी कर्मान्तर जाने जाते हैं। इसलिये ज्योतिष्टोम का गुणविधान नहीं है ॥१॥

विवरण—हेतुहेतुमतोर्लिङ्—यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र है (द्र०—३।४।१५६)। अपि च पूर्वेण निमित्तेन—इससे रथन्तरसामा वा बृहत्सामा को ज्योतिष्टोम का विशेषण न हो सकने में हेतु दिया है। यच्च भविष्यत्—ग्रहों का ग्रहण प्रातःसवन में होता है, उस समय ग्रहाग्रता का हेतुरूप रथन्तरसाम और बृहत्साम विद्यमान नहीं हैं। इन सामों की उपस्थिति माध्यन्दिन सवन में होती है। ग्रहं वा गृहीत्वा चमसानुन्नीय स्तोत्रमुपाकुर्यात् (मी० ४ ४।४० सूत्र के भाष्य में उद्धृत) इस वचन में गृहीत्वा उन्नीय पौर्वकालिक प्रयोग से पहले ग्रहों का ग्रहण, तत्पश्चात् चमसों का उन्नयन (=सोमरस से पूर्ण करना), और तत्पश्चात् साम का प्रयोग होता है, ऐसा जाना जाता है। जगत्सामा कर्मान्तरम्—आप० श्रौत १२।१४।१ की वृत्ति में रुद्रदत्त ने लिखा है—तस्य तु प्रकृतावसंभवात् विकृत्यर्थं उपदेशः, अर्थात् जगत्सामा आग्रायणाग्रान् का प्रकृति ज्योतिष्टोम में असंभव होने से विकृति के लिये [अग्रतासादृश्य से] उपदेश किया है। यही बात भाष्यकार अगले सिद्धान्तसूत्र के भाष्य में कहेंगे।

भट्ट कुमारिल ने प्रकृतभाष्य की व्याख्या में भाष्यकार द्वारा विचारित विषय को संक्षेप से क्रमशः इस प्रकार दर्शाया है—

---

१. अष्टा० ३।३।१५६॥

२. द्र०—'ग्रहं वा गृहीत्वा चमसान्नुन्नीय स्तोत्रमुपाकुर्यात्' मी० ४।४।४० भाष्य उद्धृतं वचनम्।

एकस्य तु लिङ्गभेदात् प्रयोजनार्थमुच्येतैकत्वं गुणवाक्यत्वात् ॥२॥ (उ०)

तुशब्दात् पक्षोऽन्यथा भवति । नैतदस्ति यदुक्तम्—ऋत्वन्तरमिति । कथं तर्हि ? ज्योतिष्टोमस्यैव ग्रहाग्रताविशेष इति । कुतः ? प्रकरणसामर्थ्यात् । नन्वेतदुक्तम्—'वाक्यसामर्थ्यात् ऋत्वन्तरस्य रथन्तरसाम्नो बृहत्साम्नश्चेति' । परिहृतमेतत्—ज्योतिष्टोम एव रथन्तरसामा बृहत्सामा चेति । पुनर्दूषितम्—अनेकसामत्वाज्ज्योतिष्टोमस्य विशेषणं

यदिशब्दपरित्यागो रूढ्यध्याहारकल्पना ।
व्यवधानेन सम्बन्धो हेतुहेतुमतोर्लिङ् ॥

अर्थात्—(१) यदि शब्द का परित्याग, (२) रूढ़ार्थ का ग्रहण, (३) 'रोचेत' अध्याहार की कल्पना, (४) व्यवधान से सम्बन्ध (वाक्य को आगे-पीछे करके सम्बन्ध), (५) हेतुहेतुमद्भाव में लिङ् (=स्यात्) मानना ।

आगे यहा है—'यहां जो विचार किया है, वह अगले अवेष्टि अधिकरण (=अवेष्टेः ऋत्वन्तरताऽधिकरण) में उपयोग में आवेगा । इस कारण यहां विस्तार से विचार किया है ॥१॥

एकस्य तु लिङ्गभेदात् प्रयोजनार्थमुच्येतैकत्वं गुणवाक्यत्वात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है । अर्थात् रथन्तरसामा आदि कर्मान्तर नहीं हैं । (एकस्य) एक प्रकृति ज्योतिष्टोम का ही (लिङ्गभेदात्) [रथन्तरसाम और बृहत्साम के] निमित्तभेद से (प्रयोजनार्थम्) [ग्रहाग्रताविशेष-विधानरूप] प्रयोजन के लिये उच्येत) [यदि रथन्तरसामा आदि वाक्य] जाना जाये । (गुणवाक्यात्) ग्रहाग्रताविशेष गुण के विधायक वाक्य होने से (एकत्वम्) कर्म का एकत्व है ।

विशेष—ज्योतिष्टोम के माध्यन्दिनसवन-सम्बन्धी पृष्ठसंज्ञक स्तोत्र में रथन्तर और बृहत्साम का विकल्प से विधान किया है । उनके प्रयोगभेद को लिङ्ग=निमित्त बनाकर यदि रथन्तरसामा आदि वाक्यों से ग्रहाग्रताविशेषगुण का ज्योतिष्टोम में विधान किया है । अतः यह रथन्तरसामा वाक्य गुणवाक्य है ।

व्याख्या—तु शब्द से पक्ष बदलता है । यह नहीं है, जो कहा है कि—[रथन्तरसामा बृहत्सामा] ऋत्वन्तर हैं । तो कैसे हैं ? ज्योतिष्टोम के ही ग्रहाग्रताविशेष हैं । किस हेतु से ? प्रकरण के सामर्थ्य से । (आक्षेप) जो यह कहा था 'वाक्य के सामर्थ्य से रथन्तरसाम और बृहत्साम नामवाले ऋत्वन्तर के वाचक हैं' । (समाधान) इसका परिहार कर दिया है—ज्योतिष्टोम कर्म ही रथन्तरसामवाला और बृहत्सामवाला है । (आक्षेप) इस पर फिर दोष दिया था—ज्योतिष्टोम के अनेक सामवाला होने से [उसका] रथन्तरसाम और बृहत्साम से विशेषण

रथन्तरेण बृहता वा न प्रकल्पते इति। तदुच्यते—प्रकल्पते विशेषणम्, बृहद्रथन्तरयोर्वैकल्पिकत्वात्। भवति स प्रयोगः, यत्र रथन्तरं नास्ति। भवति च स प्रयोगो विद्यमानरथन्तरसामकः। तदेतद् रथन्तरं सत्तयैवासाधारणत्वाद् विशेषकम्। तस्माज्ज्योतिष्टोम एव रथन्तरसामा बृहत्सामा चेति।

अथ यदुक्तम्—'पूर्वेण निमित्तेन भवितव्यमुत्तरेण नैमित्तिकेन' इति। नैतत् नियोगतः। भवति हि भविष्यदपि निमित्तम्। यथा—वर्षिष्यति इति कृषिगृहकर्मानुष्ठानम्। अपि च,तद् दृष्टम्, इदञ्च वाचनिकं निमित्तम्। तद् यथावचनं भवितुमर्हति। 'स्याद् इति चेयं लिङ् त्रिष्वपि कालेषु भवति। तस्माद् भविष्यदपि निमित्तम्। यत्तु—'जगत्सामेति कर्मान्तरम्, तत्सामान्याद् रथन्तरसामापि कर्मान्तरम्' इति। जगत्साम असम्भवात् कर्मान्तरं सम्भवति। रथन्तरसाम्नो बृहत्साम्नश्च ज्योतिष्टोमस्याभिधानम्। तस्मान्न कर्मान्तरम् इति ॥२॥ इति ग्रहाग्रताया ज्योतिष्टोमाऽङ्गताधिकरणम् ॥१॥

उपपन्न नहीं होता है। (समाधान) इस विषय में कहते हैं—विशेषण उपपन्न होता है, बृहत् और रथन्तरसामों के वैकल्पिक होने से। [ज्योतिष्टोम का] वह प्रयोग होता है, जहां रथन्तरसाम नहीं है। और वह प्रयोग भी होता है, जो विद्यमान-रथन्तरसामवाला है (=जिसमें रथन्तरसाम होता है)। इसलिये यह रथन्तरसाम अपनी सत्ता से ही असाधारण होने से [ज्योतिष्टोम का] विशेषक होता है। इस हेतु से ज्योतिष्टोम ही रथन्तरसामा और बृहत्सामा है।

और जो यह कहा है कि—'पहले निमित्त को होना चाहिये, पीछे नैमित्तिक को'। ऐसा नियम से नहीं होता है। भविष्यत् भी निमित्त होता है [पूर्व नैमित्तिक कार्य का]। जैसे— वर्षा होगी यह जानकर खेती और गृहकर्म का अनुष्ठान किया जाता है। और भी, वह दृष्ट निमित्त है, और यह वाचनिक (=वचन द्वारा बोधित) निमित्त है। इसलिये जैसा वचन है उसके अनुसार होना योग्य है। और 'स्यात्' यह लिङ् तीनों ही कालों में होता है। इसलिये भविष्यत् [साम] भी निमित्त है। और जो कहा— जगत्सामा कर्मान्तर है, उसकी समानता से रथन्तरसामवाला भी कर्मान्तर है।' [इसका समाधान यह है कि—] जगत्साम का [ज्योतिष्टोम में] सम्भव न होने से कर्मान्तर हो सकता है। [रथन्तरसामा और बृहत्सामा शब्दों से] रथन्तरसामवाले और बृहत्सामवाले ज्योतिष्टोम का कथन हो सकता है। इसलिये [रथन्तरसामा और बृहत्सामा] कर्मान्तर नहीं हैं ॥२॥

विवरण- कृषिगृहकर्मानुष्ठानम्--कृषक यह जानकर कि वर्षा होगी, खेती का कार्य= हल जोतकर क्षेत्र को तैयार करता है, और जीर्ण घरवाले भविष्यत् वर्षा को ध्यान में रखकर गृहकार्य=घर की मरम्मत आदि, अथवा गृहस्थजन वर्षाकाल की असुविधा को जानकर गृहसम्बन्धी भोज्य पदार्थों का संग्रह आदि कार्य करते हैं। तद् दृष्टम्—कृषि और गृहकर्म का अनुष्ठान दृष्टप्रयोजनवाला है। इदं वाचनिकम्—भावी रथन्तर और बृहत्साम को निमित्त बनाकर पूर्वकालिक ग्रहाग्रताविशेष का विधानरूप कार्य वाचनिक है। दृष्ट प्रयोजन से भी वाचनिक विधान

[अवेष्टेः ऋत्वन्तरताऽधिकरणम् ॥३॥]

अस्ति राजसूयः—राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत[1] इति । तं प्रकृत्यामनन्ति अवेष्टिं नामेष्टिम् आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा[2] इत्येवमादि । तां प्रकृत्य विधीयते—यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाहुतिमाहुतिं हुत्वाऽभिघारयेत्, यदि राजन्य ऐन्द्रं, यदि वैश्यो वैश्वदेवम्[3] इति ।

अधिक प्रामाणिक जानना चाहिये, यह इसका अभिप्राय है । असम्भवात् कर्मान्तरम्—इस विषय में पूर्वसूत्र के विवरण में लिख चुके हैं (द्र०—पृष्ठ ५२४) । कर्मान्तरत्व के विषय में भट्ट कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में लिखा है—'जगत्सामा भी अपूर्वकर्म (=यागान्तर) नहीं है। अपितु अप्रकृत विषुवत् के निमित्त से यदि जगत्सामा शुक्राग्रान् का ग्रहण है' । इस पर पूनामुद्रित शाबरभाष्य (भाग २) के पृष्ठ ५७८ पर सम्पादक ने जो टिप्पणी दी है, उसका भाव यह है—'३६१ सुत्या (अभिषव) रूप गवामयन कर्म में १८० सुत्यात्मक पूर्व भाग और १८० सुत्यात्मक अपर भाग होता है, इनके मध्य में विषुवत् नाम का एक दिन है । इसदिन पृष्ठसंज्ञक स्तोत्र में जगती छन्दस्का विभ्राट् बृहत् पिबतु (साम, अरण्य, द० ५, मं०२) ऋचा में महादिवाकीर्त्य साम उत्पन्न है । अत: उसी की जगत्सामत्व से शुक्राग्रता जाननी चाहिये' । महा दिवाकीर्त्य साम 'विभ्राट् बृहत् पिबतु', 'बिभ्राट् बृहत् सुभृतम्', 'इदं श्रेष्ठं ज्योतिषाम्' इस तृच (साम, उ०, प्र० ६, तृच ५, मं० १।२।३) में गेय है (द्र०—उह्यगान, काशी वि० वि० संस्क० पृष्ठ ६३४) ॥२॥

व्याख्या- राजसूय क्रतु है—राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत (=स्वाराज्य की कामनावाला राजा राजसूय से यजन करे) । उसको आरम्भ करके अवेष्टि नाम की इष्टि को पढ़ते हैं—आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा (=अग्निदेवतावाला आठ कपालों में संस्कृत पुरोडाश, हिरण्य दक्षिणा) इत्यादि । उस अवेष्टि नाम की इष्टि को आरम्भ करके विधान करते है—यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधाय आहुतिमाहुतिं हुत्वाऽभिघारयेत्, यदि राजन्य ऐन्द्रम्, यदि वैश्यो वैश्वदेवम् (=यदि ब्राह्मण यजन करे तो बार्हस्पत्य चरु को मध्य में रखकर प्रत्येक आहुति देने के पश्चात् उसका आघारण करे यदि राजन्य यजन करे, तो ऐन्द्र पुरोडाश को मध्य में रखकर····, यदि वैश्य यजन करे तो वैश्वदेव चरु को मध्य में रखकर ···) ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—राजा स्वर्गकामो राजसूयेन यजेत । आप० श्रौत १८।८।१॥

२. अनुपलब्धमूलम् । सुबोधिन्यां वृत्तौ सकल: पाठ एवमुद्ध्रियते—आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति हिरण्यं दक्षिणा, ऐन्द्रमेकादशकपालमृषभो दक्षिणा, वैश्वदेवं चरुं पिशङ्गी पष्ठौही दक्षिणा, मैत्रावरुणीमामिक्षां वशा दक्षिणा, बार्हस्पत्यं चरुं शितिपृष्ठो दक्षिणेति ।

३. आप० श्रौत ८।२१।११; मं० संहितायां (४।४।६) तु पौर्वापर्यभेदेनोपलभ्यते ।

तत्र सन्दिह्यते—किं ब्राह्मणादीनां प्राप्तानां निमित्तार्थेन श्रवणम्, उत ब्राह्मणादीनामयं यागो विधीयते इति ? कथं निमित्तार्थता भवेत्, कथं वा यागविधानमिति ?

विवरण—स्वाराज्यकामो यजेत - स्वाराज्य कामनावाले राजा के राजसूय का विधायक वाक्य हमें नहीं मिला। आप० श्रौत १८।८।१ में **राजा स्वर्गकामो राजसूये।** यजेत विधायक वाक्य है। **आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा**—इस प्रकार का वाक्य भी उपलब्ध नहीं हुआ। आप० श्रौत १८।२१।९ में **आग्नेयमष्टाकपालमिति** पञ्च इतना ही वचन है। अवेष्टि में आग्नेय ऐन्द्र वैश्वदेव मैत्रावरुण और बार्हस्पत्य ५ याग हैं। कात्या० श्रौत १५।९।२ में आग्नेय [अष्टाकपाल], ऐन्द्र [एकादशकपाल], वैश्वदेव चरु, मैत्रावरुणी पयस्या, बार्हस्पत्य चरु रूप पांच हवियों का निर्देश किया है। और ५वें सूत्र में आग्नेय की हिरण्य, ऐन्द्र की ऋषभ, सौम्य की बभ्रु, वैश्वदेव की पृषत्, पयस्या (=मैत्रावरुणी) वशा, और बार्हस्पत्य की शितिपृष्ठ दक्षिणा कही है। **यदि ब्राह्मणो यजेत**—यह वचन आप० श्रौत १८।२१।११ में मिलता है। मैं० सं० ४।४।९ में पौर्वापर्यभेद से देखा जाता हैं। **मध्ये निधायाहुतिमाहुतिं हुत्वा**—आग्नेय आदि ५ यागों और हवियों के वेदि में रखने का क्रम ब्राह्मणादि वर्णभेद से भिन्न-भिन्न है। इन हवियों को किस क्रम से रखना और होम करना चाहिये, इसका निर्देश कात्या० श्रौत १५।९।३ के अनुसार—ब्राह्मण की आग्नेय हवि को पहले पूर्व में रखे, तदनन्तर ऐन्द्र हवि को दक्षिण में, वैश्वदेव हवि को पश्चिम में, मैत्रावरुण हवि को उत्तर में, और बार्हस्पत्य हवि को मध्य में। शेष राजन्य और वैश्य की हवियों का क्रम—राजन्य की आग्नेय हवि को पूर्व में, वैश्वदेव हवि को दक्षिण में, मैत्रावरुण हवि को पश्चिम में, बार्हस्पत्य हवि को उत्तर में, और ऐन्द्र हवि को मध्य में; वैश्य की आग्नेय हवि को पूर्व में, ऐन्द्र हवि को दक्षिण में, मैत्रावरुण हवि को पश्चिम में, बार्हस्पत्य को उत्तर में, और वैश्वदेव को मध्य में। हवि की आहुति देने का क्रम और प्रकार इस प्रकार है—ब्राह्मण राजन्य और वैश्य की हवियों को वेदि में जिस क्रम से रखा है, उसी क्रम से उनकी आहुति देनी है। प्रत्येक हवि के ग्रहण का यह प्रकार है—पहले जुहू में १ स्रुव घृत भरकर डाले यह उपस्तरण कहाता है। तदनन्तर हवि से अंगुष्ठ पर्वमात्र दो भाग लेकर जुहू में रखे। तत्पश्चात् एक स्रुव घृत लेकर हवि के ऊपर डाले। इसे अपिधान वा अभिघारण कहते हैं। इस प्रकार एक आहुति में चार अवदान (भाग) होते हैं—**चतुरवत्तं जुहोति** यह सामान्य नियम है। **आहुतिमाहुतिं हुत्वा अभिघारयेत्**—हवि के ब्राह्मणादि के आसादन (स्थापन) क्रम से प्रत्येक हवि की आहुति देकर जुहू में जो शेष घृत बचा रहता है, उससे मध्य में रखी गई हवि का आघारण (=घृत को हवि पर छोड़ना) किया जाता है। इस प्रकार मध्यस्थित हवि का चार वार आघारण होता है। अन्त में मध्यस्थ पांचवीं हवि की आहुति दी जाती है।

व्याख्या—वहां (=यदि ब्राह्मणो यजेत० वाक्य में) सन्देह होता है कि क्या [राजसूय अन्तर्गत अवेष्टि याग में] प्राप्त ब्राह्मण आदि वर्णों का [हविविशेष के मध्य में रखने के] निमित्तरूप से श्रवण है, अथवा ब्राह्मणादि के लिये इस [अवेष्टिसंज्ञक] याग का विधान है ? [ब्राह्मणादि का] निमित्तार्थ श्रवण कैसे होवे, अथवा याग का विधान कैसे होवे ? यदि राजा शब्द

यदि राजशब्दो ब्राह्मणादिष्वपि केनचित् प्रकारेण, ततो निमित्तार्थता। अथ क्षत्रिय एव, ततः प्रापकाण्येवञ्जातीयकानि श्रवणानि। किं तावत् प्राप्तम्? निमित्तार्थतेति।

तत एवं तावदुपवर्ण्यते—यौगिको राजशब्द इति। राज्यं यस्य कर्म स राजा। किं पुना राजकर्म? जनपदपुरपरिरक्षणे ततश्चोद्धरणे राज्यशब्दमार्य्यावर्त्तनिवासिनः प्रयुञ्जन्ते। राज्ञः कर्म राज्यमिति चाभियुक्ता उपदिशन्ति। तेन मन्यामहे—यस्यैतत् कर्म स राजेति। यथा—ये उदमेघं नाम कञ्चित् पुरुषं नावेदिषुः, तस्य तु पुत्रम् औदमेघिरित्येवं विदुः, शक्नयुस्ते यस्तस्य पिता स उदमेघ इति कल्पयितुम्। उदमेघपुत्रस्यैवं समभिव्याहारो भवतीति। एवं राज्ययोगाद् राजशब्द इति विज्ञायते।

ब्राह्मणादि में भी किसी प्रकार से [वर्तमान होता] है, तो [ब्राह्मणादि की] निमित्तार्थता होगी। और यदि [राजा शब्द] क्षत्रिय में ही [वर्तमान होता है], तब [उक्त वाक्य ब्राह्मणादि के लिये] इस प्रकार के वचन [याग के] प्रापक (=विधायक) होंगे। क्या प्राप्त होता है? [ब्राह्मणादि की] निमित्तार्थता प्राप्त होती है।

इस कारण पहले इस प्रकार वर्णन अथवा विचार किया जाता है—राजा शब्द यौगिक है। राज्य जिसका कर्म है वह राजा होता है। राजकर्म क्या है? जनपद (=देश) और पुर (=नगर ग्राम आदि) के रक्षण, और उनसे कर लेने में राज्य शब्द का आर्यावर्तवासी प्रयोग करते हैं। राजा का कर्म राज्य है, ऐसा प्रामाणिक जन (=वैयाकरण) उपदेश करते हैं। इससे हम मानते हैं कि जिसका यह (=जनपद और पुर का रक्षण और (उनसे कर लेना) कर्म है, वह राजा होता है। जैसे—जो लोग उदमेघ नामवाले पुरुष को नहीं जानते, परन्तु उसके पुत्र को औदमेघि रूप से जानते हैं, वे यह कल्पना कर सकते हैं कि जो उस (=औदमेघि) का पिता है, वह उदमेघ है। [औदमेघि] ऐसा व्यवहार उदमेघ के पुत्र का ही होता है। इसी प्रकार राज्य के योग से राजा शब्द जाना जाता है।

विवरण—**राज्यं कर्म यस्य स राजा**—यद्यपि व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से राज्ञः कर्म राज्यम् (=राजा का कर्म राज्य) अर्थ उपपन्न होता है। तथापि पुरोहितादिगण (अष्टा० ५।१।१२८) में राजन् शब्द के पठित होने से यक् प्रत्यय होकर अन् भाग का लोप होता है। इससे राज्य और राजा का स्व-स्वामी सम्बन्ध विदित होता है। जहां भी स्वस्वामी सम्बन्ध विदित होता है, वहां स्वामी से स्व और स्व से स्वामी विशेषित होते ही हैं। यथा देवदत्तस्य क्षेत्रम् यहाँ दोनों अभिप्राय व्यक्त होते हैं—देवदत्त का स्व क्षेत्र है, और क्षेत्र का स्वामी देवदत्त है। इसी दृष्टि से यहां राज्यं कर्म यस्य स राजा सम्बन्ध दर्शाया है। **आर्यावर्तवासिनः**—आर्यावर्त की सीमा कालभेद से भिन्न-भिन्न रही है। मनुस्मृति २।२२ में पूर्व पश्चिम समुद्र और विन्ध्याचल तथा हिमालय पर्वतों के मध्य-भाग को आर्यावर्त्त कहा है। महाभाष्य २।४।१० तथा ६।३।१०८ में पश्चिम में आदर्श पर्वत और पूर्व में कालक वन, तथा उत्तर में हिमालय और दक्षिण में पारियात्र पर्वत (=विन्ध्याचल का भाग)

ननु जनपदपुरपरिक्षणवृत्तिमनुपजीवत्यपि क्षत्रिये राजशब्दम् आन्ध्राः प्रयुञ्जते

के मध्यभाग को आर्यावर्त्त कहा है (विशेष द्रष्टव्य —महाभाष्य २।४।१०, पृष्ठ ३६८ में हमारा विवरण)। मनुस्मृति का लक्षण बहुत प्राचीन उस काल का है, जब दक्षिण सिन्ध प्रान्त और बंगाल प्रान्त समुद्र से आप्लावित था। महाभाष्य का लक्षण उस काल का है, जब सम्पूर्ण भारत में मानव जाति बस गई थी। परन्तु आर्यावर्त्त की सीमा से बाहर के प्रान्त म्लेच्छ देश कहाते थे। मनुस्मृति के १०।४३-४४ श्लोकों से विदित होता है कि पौण्ड्र चौण्ड्र (चोल) द्रविड आदि क्षत्रिय जातियां थीं, कालान्तर में ये म्लेच्छभाव को प्राप्त हुईं। हमारे विचार में मनुस्मृति का यह प्रकरण सम्भवत: उसके चतुर्थ प्रवचनकाल अर्थात् महाभारत काल का है। वर्त्तमान काल की भारत की सीमा को दृष्टि में रखकर, तथा सर्वत्र आर्यों के निवास[1] को देखकर, अथवा मनुस्मृति के १०।४३-४४ को ध्यान में रखकर मनुस्मृति २।२२ के श्लोक के तयोरेवान्तरं गिर्योः भाग का अर्थ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'हिमालय की मध्य रेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर रामेश्वरपर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं' किया हैं' (द्र०—सत्यार्थप्रकाश, समु० ४, पृष्ठ ३५१, आर्यसमाज शताब्दी सं० आवृत्ति २)। स्वामी दयानन्द ने पूर्व पश्चिम पर्वतश्रेणी और सह्याद्रि पर्वत को विन्ध्याचल का हीभाग माना है।

उदमेघं·········पुरुषं नावेदिषुः—उदमेघ के पुत्र के लिये व्याकरणशास्त्र के नियम अत इञ् (४।१।९५) से इञ् प्रत्यय होकर औदमेघि प्रयोग निष्पन्न होता है। जैसे दशरथ का पुत्र दाशरथि राम। इस नियम के परिप्रेक्ष्य में औदमेघि के पिता के साक्षात् नाम को न जाननेवाले भी पिता का नाम उदमेघ होगा यह जान लेते हैं। प्राचीन वाङ्मय में अपत्यप्रत्ययान्त शब्दों के प्रयोग से अनेक ऐसे ऐतिहासिक व्यक्तियों का ज्ञान हो जाता है, जिनका उल्लेख प्राचीन वाङ्मय में कहीं नहीं मिलता। इसी प्रकार समान नामवाले अनेक व्यक्तियों के नामों के साथ अपत्यप्रत्ययान्त विशेषणों के योग से इतिहास के परिज्ञान में बड़ी सहायता मिलती है। अपत्यप्रत्ययान्त शब्द सदा विशेषणरूप में ही प्रयुक्त होते हैं। इसीलिये गृह्यसूत्रों में तद्धितान्त नामकरण का निषेध किया है—न ताद्धितम् (पार० गृ० १।१७।३)। क्योंकि तद्धितान्त नाम से पिता के नाम में मिथ्या भ्रम हो जाता है। हमारे एक गुरुभाई का नाम उनके पिता ने याज्ञवल्क्य रख दिया। याज्ञवल्क्य का अर्थ है—यज्ञवल्क्य का पुत्र। परन्तु उनका नाम सर्वथा भिन्न था।

व्याख्या—(आक्षेप) जनपद और पुर की परिरक्षण-वृत्ति से न जीनेवाले भी क्षत्रिय में

१. हूणों और मुसलमान मतानुयायियों के निरन्तर हमले और त्रास के कारण उत्तर भारत के सहस्रों ब्राह्मण परिवार वेदादिशास्त्रों की रक्षा के लिये दक्षिण भारत में जाकर बस गये थे। आज भी दक्षिण में कश्मीरियों के समान जो अनेक गौर वर्ण ब्राह्मण मिलते हैं, वे सम्भवत: कश्मीर से गये होंगे। महाभारत के समय तैत्तिरीय आदि कृष्णयजुर्वेद की शाखाओं का प्रचार कुरु पाञ्चाल आदि देशों में था। यह इन शाखाओं के अन्त:साक्ष्य से विदित होता है। अब इनका प्रचार दक्षिण में ही है।

प्रयोक्तारः। न ब्रूमः—न प्रयुञ्जते इति। किं तर्हि—कर्मविशेषनिमित्तत्वाद् राजशब्दस्य, तद्योगादपि राजशब्दो भवतीत्येतदुपपादयामः। प्रयुञ्जते च तद्युक्ते राजशब्दमक्षत्रियेऽपि। तदस्मिन्नुपपन्ने प्रकरणवशाद् यदिशब्दसमभिव्याहाराच्च राजसूयस्यैव गुणविधानं भविष्यति, न ब्राह्मणस्य वैश्यस्य च कर्मान्तरं विधायिष्यति इति।

अथवा असार्वलौकिकस्य प्रयोगस्य सार्वलौकिकेन प्रयोगेण विरुद्ध्यमानस्य अप्रामाण्यं स्यात्। अभ्युपगच्छन्ति हि ते जनपदिनः सार्वभौमं प्रयोगम्। अपिच, अविप्रगीता लौकिका अर्था विप्रगीतेभ्यः प्रत्ययिततरा भवन्ति। तथा आर्यावर्त्तनिवासिनां शब्दार्थोपायेष्वभियुक्तानामभिव्याहरतां कर्माणि चानुतिष्ठताम् अन्त्यजनपदवासिभ्यो म्लेच्छेभ्यः समीचीनतर आचारो भवति। तस्माद् यौगिको राजशब्दः। निमित्तार्थानि श्रवणानि, राजसूयस्य गुणविधिः, न कर्मान्तरमिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

राज शब्द का आन्ध्र देशस्थ प्रयोक्ता प्रयोग करते हैं। (समाधान) हम यह नहीं कहते कि [आन्ध्र निवासी] प्रयोग नहीं करते। तो क्या कहते हो ? राजाशब्द के [जनपद-पुर-परिरक्षणरूप] कर्म-विशेष के निमित्तवाला होने से, उस [कर्मविशेष] के योग से भी राजा शब्द [व्यवहृत] होता है, इतना कहते हैं। और उस [कर्मविशेष] के योग से अक्षत्रिय में भी राजा शब्द का प्रयोग करते हैं। इस [राजा शब्द] के उपपन्न होने पर प्रकरण के वश से और यदि शब्द के प्रयोग से राजसूय कर्म के ही गुण का विधान होगा, ब्राह्मण और वैश्य के कर्मान्तर का विधान नहीं करेगा।

अथवा सार्वलौकिक प्रयोग से विरुद्ध होनेवाले एकदेश (=आन्ध्र) में प्रयुक्त होनेवाले प्रयोग का अप्रामाण्य होगा। और वे=आन्ध्रदेशवासी भी सार्वभौम प्रयोग को स्वीकार करते हैं। और भी, अविप्रगीत (=अनवच्छिन्न परम्परा से प्राप्त) लौकिक अर्थ विप्रगीत (विच्छिन्न परम्परावाले) अर्थों से अधिक प्रामाणिक होते हैं। तथा शब्द उनके अर्थ और उनके सम्बन्धज्ञान के उपायों में निरन्तर लगे हुए [शब्दों के परम्परा से] व्यवहार करनेवाले, तथा कर्मों में स्थित (=लगे हुए) आर्यावर्त के निवासियों का आचार (=व्यवहार) अन्त्य (=निन्दित अथवा आर्यावर्त की सीमा के) देशवासी म्लेच्छों के आचार (=व्यवहार) से श्रेष्ठतर होता है। इसलिये राजा शब्द यौगिक है। [यदि ब्राह्मणो यजेत आदि] श्रवण (=वचन) निमित्तार्थ हैं, [बार्हस्पत्यं मध्ये निधाय आदि] राजसूय की गुणविधि है, कर्मान्तर नहीं है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—आर्यावर्तनिवासिनां······समीचीनतर आचारो भवति—शबर स्वामी ने आन्ध्र-प्रदेशवासियों के लिये यहां जो कुछ लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि शबर स्वामी का वह काल है, जब आन्ध्र आदि प्रदेश म्लेच्छदेश समझे जाते थे। आचार्य शंकर के समय यह स्थिति बदल गई थी। आचार्य शंकर स्वयं आन्ध्र से सुदूर दक्षिण के निवासी थे। आधुनिक ऐतिहासिक शबर स्वामी का जो काल मानते हैं, उस समय दक्षिण के आन्ध्र कर्नाटक केरल तमिलनाडु आदि प्रान्तों में आर्यावर्तीय द्विज भारी मात्रा में जाकर बस गये थे। यह भी सम्भव है कि शबर स्वामी ने यह

अवेष्टौ यज्ञसंयोगात् क्रतुप्रधानमुच्यते ॥३॥ (उ०)

अवेष्टौ तु खलु क्रतुप्रधानं ब्राह्मणादिश्रवणं ब्राह्मणादीनामवेष्टियागं विधातुम्, न निमित्तार्थम्। कुतः? अप्राप्तत्वाद् ब्राह्मणवैश्ययोः। कथमप्राप्तिः? क्षत्रियस्य राजसूयविधानात्—'राजा राजसूयेन यजेत' इति। ननूक्तम्—'यौगिको राजशब्दः' इति। एतदप्ययुक्तम्, यतो जातिवचन इति। ननूभयाभिधाने 'यदि' शब्दसम्बन्धात् प्रकरणाच्च न कर्मान्तरविधानं न्याय्यमित्युक्तम्। अत्रोच्यते—नोभयाभिधानमवकल्पते। कुतः? यदि तावज्जातिशब्दो राजेति, ततस्तत्कर्मत्वाज्जनपदपरिपालने राज्यशब्दो भविष्यति।

वात प्राचीन भाष्यपरम्परा के अनुरूप लिखी हो। अथवा इन प्रान्तों की स्थानीय जनभाषा के आधार पर लिखी हो। कुछ भी होवे, सम्प्रति तो यह स्थिति सर्वथा उलट गई है। आर्यावर्त (उत्तरभारत) में वेद का पठन-पाठन और वैदिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान प्रायः समाप्त हो चुका है। यदि वेद का अनवच्छिन्न परम्परा से अध्ययन, और वैदिक यागों का अनुष्ठान कहीं होता है, वो आन्ध्र कर्नाटक केरल तमिलनाडु आदि म्लेच्छशब्द-व्यवहृत जनपदों में ही विद्यमान है।

अवेष्टौ यज्ञसंयोगात् क्रतुप्रधानमुच्यते ॥३॥

सूत्रार्थः—[राजसूय क्रतु की अङ्गभूत] (अवेष्टौ) अवेष्टिसंज्ञक इष्टि में [यज्ञसंयोगात्] [राजा राजसूयेन यजेत वाक्य से राजा=क्षत्रिय का ही] यज्ञ के साथ संयोग होने से, अर्थात् अधिकार होने से [यदि ब्राह्मणो यजेत आदि वाक्य में ब्राह्मणादि का श्रवण] (क्रतुप्रधानम्) क्रतु की प्रधानतावाला है। इसलिये कर्मान्तर (उच्यते) कहा जाता है।

विशेष—पूर्व अधिकरण न्याय से यदि ब्राह्मणो यजेत वाक्य से गुणविधि प्राप्त होती है। उसका राजा राजसूयेन यजेत वचन से राजसूय के अङ्गभूत अवेष्टिसंज्ञक कर्म में भी राजा का ही अधिकार है, ब्राह्मण और वैश्य का नहीं है। अतः यहां यदि ब्राह्मणो यजेत से ब्राह्मणादि के लिये अवेष्टि नामक कर्मान्तर की विधि जाननी चाहिये, न कि गुणविधि।

व्याख्या—अवेष्टि में तो निश्चय ही क्रतुप्रधान (=क्रतु है प्रधान जिसमें ऐसा) ब्राह्मणादि का श्रवण ब्राह्मणादि के अवेष्टियाग के विधान के लिये है, निमित्तार्थ श्रवण नहीं है। किस हेतु से? ब्राह्मण और वैश्य को अप्राप्त होने से। अप्राप्ति कैसे है? राजा राजसूयेन यजेत से क्षत्रिय के लिये ही राजसूय का विधान होने से। (आक्षेप) अभी कहा है—राजा शब्द यौगिक है। (समाधान) यह भी अयुक्त है, यतः [राजा शब्द] जातिवाचक है। (आक्षेप) [राजा शब्द से] दोनों (=राज्य करनेवाले और क्षत्रिय) का कथन होने पर 'यदि' शब्द के सम्बन्ध से, और प्रकरण से कर्मान्तर का विधान न्याय्य नहीं है, ऐसा कहा है। (समाधान) इस विषय में कहते हैं—दोनों का कथन उपपन्न नहीं होता है। किस हेतु से? यदि राजा शब्द जातिवाचक है, तो उसके कर्म से जनपद के परिपालन में राज्य शब्द होगा। उससे आर्यावर्त निवासियों का [क्षत्रिय के लिये]

तेनार्य्यावर्त्तनिवासिनां प्रयोगो न विरोत्स्यते । अथ यदि राज्यशब्दः परिपालने नित्यसम्बद्धो भविष्यति, ततस्तस्य कर्त्तेति राजशब्दः क्षत्रियजातौ तन्निमित्तो भविष्यति । तत्रान्ध्राणां प्रयोगो न विरोत्स्यते । तस्मान्न प्रयोगदर्शनादुभावपि राजराज्यशब्दौ जातिपरिपालनाभ्यां नित्यसम्बद्धावित्यभ्युपगन्तव्यम् । को नु खलु निर्णयः? राजजातीयस्य कर्म इति । अतः परिपालनं राज्यशब्देनोच्यते । एवं हि स्मरन्तोऽभियुक्ताः 'तस्य कर्म' इति ष्यञ्प्रत्ययं विदधति । न तु तस्य कर्त्तेति प्रत्ययलोपं वा प्रातिपदिकप्रत्यापत्तिं वा समामनन्ति । तस्माद् राज्ञः कर्म राज्यम्, न राज्यस्य कर्त्ता राजा ।

प्रयोग विरुद्ध नहीं होगा । और यदि राज्य शब्द परिपालन अर्थ में नित्य संबद्ध होगा, तो उस (=राज्य=जनपद परिपालन) के कर्ता में राजशब्द क्षत्रियजाति में उसी (=जनपद परिपालन) निमित्तवाला होगा । उस अवस्था में आन्ध्रनिवासियों का प्रयोग विरुद्ध नहीं होगा । इसलिये प्रयोग के दर्शन से दोनों राजा और राज्य शब्द जाति और [जनपद के] परिपालन से नित्य सम्बद्ध नहीं हैं, ऐसा जानना चाहिये । तो यहां क्या निर्णय है ? राजा-जैसे का [राज्य=जनपद परिपालन] कर्म है । इसलिये [जनपद का] परिपालन राज्य शब्द से कहा जाता है । इसी प्रकार [के अर्थ को] स्मरण करते हुए अभियुक्त (=प्रामाणिक पुरुष=वैयाकरण) 'उसका कर्म' इस अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय का विधान करते हैं । न कि उस (=राज्य) का कर्ता इस अर्थ में [ष्यञ्] प्रत्यय के लोप को, अथवा प्रातिपदिक (=राजन्) की प्रत्यापत्ति (=वापसी) को कहते हैं । इसलिये राजा का कर्म राज्य है, राज्य का कर्ता राजा नहीं है ।

विवरण—राजजातीयस्य कर्म—प्रकारवचने जातीयर् (अष्टा० ५।३।६९) से जातीयर् प्रत्यय हुआ है । राजप्रकार=जनपद परिपालन जैसे कर्मकरने करनेवाला । **ष्यञ्प्रत्ययं विदधति**—पाणिनि ने राजन् शब्द पुरोहितादिगण (५।१।१२७) में पढ़ा है । उससे पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् (५।१।१२७) से यक् प्रत्यय होता है । यक्प्रत्ययान्त राज्य शब्द कितः (६।१।१६५) नियम से अन्तोदात्त होता है । वैदिक ग्रन्थों में राज्य शब्द अन्तोदात्त (ऋ० सं, मै० सं०, काठक सं०, तै० सं०, शौ० सं० में), आद्युदात्त (शौ० सं० में) और अन्त्यस्वरित (शौ० सं० में) रूप से तीन प्रकार का मिलता है । एक ही शौनकसंहिता में तीनों प्रकार का राज्य शब्द उपलब्ध है (इसका कारण विचारणीय है) । आद्युदात्त 'राज्य' शब्द में शबरस्वामी निर्दिष्ट ष्यञ् प्रत्यय मानना युक्त है । ष्यञ् के ञित् होने से ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९७) से आद्युदात्त स्वर होता है । ष्यञ् प्रत्यय ब्राह्मणादि को आकृतिगण मान कर होगा । तित् स्वरितम् (६।१।१८५) से अन्तस्वरितत्व के लिये 'यत्' प्रत्यय का उपसंख्यान करना पड़ेगा । स्वरभेद से अर्थभेद होता है, यह स्वरशास्त्रज्ञ वैदिकों का सिद्धन्त है । आद्युदात्त राज्य शब्द में राजन् का अर्थ प्रधान है, अन्तोदात्त में राजन् का कर्म प्रधान है । क्या इस स्वरभेद से यह तात्पर्य निकाला जा सकता है कि जहां राजा की सत्ता प्रधान हो कर्म गौण हो, वह राजतन्त्र राज्य आद्युदात्त होगा । जहां जनपद परिपालन कर्म की प्रधानता हो, राजत्व गौण हो, वह गणतन्त्र राज्य अन्तोदात्त होगा । जहां राजत्व और जनपद-परिपालन दोनों

ननु यो यो जनपदपुरपरिरक्षणं करोति, तं तु लोको राजशब्देन अभिवदति। उच्यते, योगाल्लोकः प्रयुङ्क्ते। परिपालने राजशब्दः प्रसिद्ध इति। स तु परिपालने राज्यशब्दो राजयोगादित्यस्माभिरुक्तम्। तस्माद् राजशब्दः प्रसिद्धेर्मूलम्। तद्योगाद राज्यशब्दः। तद्योगादपि ब्राह्मणवैश्ययो राजशब्दः प्रयुज्यते। न त्वेवं स्मरन्ति—'राज्य-

---

में समानत्व होते हुए भी परिपालन कर्म कुछ प्रधान होवे, ऐसा जनपद-परिपालन के लिये समर्पित राजत्वयुक्त अन्तस्वरित होगा। तीनों ही प्रकार का शासन लोक में देखा जाता है। अतः तीनों अर्थ स्वरभेद से उपपन्न हो सकते हैं। सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वर्तमान में एकमात्र शौनक संहिता ही ऐसी है, जिसमें तीनों स्वर उपलब्ध होते हैं। शौनक सहिता के पाठ मध्यकाल में परम्परा के विच्छिन्न होने से उतने प्रामाणिक नहीं हैं, जितने ऋग्वेद शुक्लयजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद के हैं। इनकी अध्ययन-परम्परा का उच्छेद न होने से इनमें एक भी पाठभेद उपलब्ध नहीं होता है। ऐसी दशा में यह विचारणीय हो जाता है कि क्या शौनक संहिता में उपलब्ध तीनों स्वर प्रामाणिक हैं ? इसकी परीक्षा तत्तत्प्रकरणों का अत्यन्त गहराई से अनुसन्धान करने पर ही हो सकती है। **प्रत्ययलोपम्**—'राज्यस्य कर्ता राजा' इस अर्थ में **राज्यस्य कर्तरि प्रत्ययलोपः** इस प्रकार प्रत्ययभाग के लोप का वैयाकरण विधान नहीं करते। **प्रातिपदिकप्रत्यापत्तिं वा**—यहां भी **राज्यस्य कर्तरि प्रातिपदिकप्रत्यापत्तिम्** (=राज्य प्रकृति-प्रत्यय समुदाय में 'कर्ता' अर्थ में प्रातिपदिक पुनः लौट आता है) ऐसा नहीं कहते। वस्तुतः शबर स्वामी ने राज्य शब्द को राजन् शब्द से निष्पन्न मानकर प्रत्ययलोप अथवा प्रातिपदिक-प्रत्याप्रत्ति का निर्देश किया है। यदि राजृ (=राज) धातु से राजते प्रकाशते अनेन (=जिससे प्रकाशित=सम्मानित होता है) इस अर्थ में कृदन्त प्रत्यय से राज्य शब्द निष्पन्न हो, तो राजा (=राजन्) शब्द की निष्पत्ति के लिये राज्यस्य कर्ता अर्थ में तद्धित अन् प्रत्यय करके कृत प्रत्यय के यकार का लोप, 'सूर्य'—सौरी वलाका, तिष्य—तैषम् ग्रहः के समान कहा जा सकता है। इस प्रकार राज्ञः कर्म राज्यम्, राज्यस्य कर्ता राजा व्युत्पत्तियों को ध्यान में रखने पर आर्यावर्तवासी और आन्ध्र दोनों के प्रयोग उपपन्न हो सकते हैं। पाणिनीय व्याकरण में अनेक ऐसे शब्द हैं, जो कृदन्त भी हैं और तद्धितान्त भी। यथा दण्ड्यः—दण्ड्यते यः स दण्ड्यः, दण्डम् अर्हति वा दण्ड्यः। वध्यः—हन्यते इति वध्यः, वधमर्हति वा वध्यः (द्रष्टव्य—हनो वा वध च, तद्धितो वा वार्तिक, महाभाष्य ३।१।९७)। पूर्व निर्दिष्ट शौनक संहिता में प्रयुक्त राज्य-शब्द सम्बन्धी त्रिविध स्वरों पर कृदन्त और तद्धितान्तभेद से भी विचार आवश्यक है।

व्याख्या—(आक्षेप) 'जो-जो जनपद और नगर का परिरक्षण कर्म करता है, उसको लोक राजशब्द से कहता है। (समाधान) सम्बन्ध से लोक प्रयोग करता है। परिपालन कर्म में राज्य शब्द प्रसिद्ध है। उस परिपालन कर्म में राज्य शब्द राजा के सम्बन्ध से [प्रयुक्त होता] है, यह हम यह चुके हैं। इसलिये [परिपालन कर्म से] राजा शब्द प्रसिद्धि का कारण है। उसके योग से राज्य शब्द प्रसिद्धि का कारण है। उस (=राज्य) के योग से ब्राह्मण और वैश्य में भी ही राजा शब्द प्रयुक्त होता है। [अभियुक्त जन] 'राज्य के योग से राजा होता है'—ऐसा स्मरण नहीं

योगाद् राजा' इति । यत्तूक्तम्—अनुमानाद् राज्यस्य कर्ता यः स राजा, यथा औदमेधः पिता उदमेघ इति । उच्यते—अनुमानात् प्रयोगो बलवान् । राज्यस्य कर्त्तारं राजा इत्यनुमिमीमहे, क्षत्रिये तु प्रत्यक्षं प्रयुञ्जानान् उपलभामहे । तथा योगमप्यनुमिमीमहे — राज्यस्य कर्त्ता राजेति । राज्ञः कर्म राज्यमिति तु स्मरन्ति । अनुमिमानाश्च स्मृतिमनुमिमते स्म । स्मरन्तस्तु प्रत्यक्षमुपलभन्ते । तेन तत्र स्मृतिर्बलीयसीति । आह—यो यो राज्यं करोति, तत्र राजशब्दं प्रयुञ्जते । न यद् राज्ञः कर्म तद्राज्यमिति । तेन मन्यामहे—राज्ययोगो राजशब्दप्रवृत्तौ निमित्तम्, न तु राजयोगो राज्यशब्दप्रवृत्ताविति । न ब्रूमः—प्रयोगाद् वय राजयोगं राज्यशब्दप्रवृत्तौ निमित्तमवगच्छाम इति । कथं तर्हि ? स्मरणात् । प्रयोगाच्च स्मृतिर्बलीयसी । प्रयोगाद्धि स्मृतिरनुमीयेत ।

अपिच, राज्ययोगस्य निमित्तता व्यभिचरति । जनपदपरिपालनमकुर्वंत्यपि राजेत्यान्ध्रा वदन्तीत्युक्तम् । ननु राजयोगाद् राज्यमित्येतदपि व्यभिचरति । न हि राज्ञः स्पन्दितं निमिषितञ्च सर्वं राज्यमित्युच्यते । यदि वयं प्रयोगान्निमित्तभावं ब्रूयाम, तत एवमुपालभ्येमहि । स्मृत्या तु वयं निमित्तभावं ब्रूमः । तेन यद् यद् राजजातीयस्य कर्म्म

करते । और जो कहा है कि—अनुमान से [जाना जाता है कि] राज्य का जो कर्ता वह राजा होता है, जैसे औदमेधि का पिता उदमेघ जाना जाता है । इस विषय में कहते हैं—अनुमान से प्रयोग बलवान् होता है । 'राज्य का कर्ता राजा' ऐसा हम अनुमान करते हैं, परन्तु क्षत्रिय में तो प्रत्यक्ष प्रयुक्त हुए [राजाशब्द] को उपलब्ध करते हैं । और 'राज्य का कर्ता राजा' उस सम्बन्ध का भी अनुमान करते हैं । राजा का कर्म राज्य है, ऐसा अभियुक्त स्मरण करते हैं । और [पूर्व पक्ष में] अनुमान से स्मृति का अनुमान करते हैं । [दूसरी ओर 'राजा का कर्म राज्य है'] ऐसा स्मरण करते हुए प्रत्यक्ष देखते हैं । इसलिये इस विषय में [अनुमान-परम्परा से] स्मृति बलवान् होती है । (आक्षेप) [लोग] जो-जो राज्य करता है, उसके विषय में राजा शब्द का प्रयोग करते हैं । जो राजा का कर्म हैं, उसमें राज्य का प्रयोग नहीं करते हैं । इससे हम मानते हैं कि—राजा शब्द की प्रवृत्ति में राज्य का सम्बन्ध निमित्त है, न कि राज्य शब्द की प्रवृत्ति में राजा का योग । (समाधान) हम ऐसा नहीं कहते हैं कि—प्रयोग से हम राज्य शब्द की प्रवृत्ति में राजा के सम्बन्ध को निमित्त जानते हैं । तो कैसे ? [अभियुक्तों के] स्मरण से । प्रयोग से स्मृति बलवान् होती है । [तुम्हारे पक्ष में] प्रयोग से स्मृत्ति का अनुमान किया जायेगा ।

और भी, [राजा शब्द] राज्य-सम्बन्ध की निमित्तता को व्यभिचरित करता है [अर्थात् उस को छोड़कर भी प्रयुक्त होता हुआ देखा जाता है] । जनपद का परिपालन न करते हुए भी राजा का आन्ध्रवासी प्रयोग करते हैं, यह हम कह चुके हैं । (आक्षेप) राजा के सम्बन्ध से राज्य होता है, यह भी तो व्यभिचरित है । राजा की चेष्टा पलक झपकना आदि सब कर्म राज्य नहीं कहाता है । (समाधान) यदि हम प्रयोग से निमित्तभाव कहें, तब हम इस प्रकार उपालब्ध होवें । हम तो स्मृति से [राज्य में राजा का] निमित्त भाव कहते हैं । इस कारण राजजातीय का जो-जो कर्म

जात्या विशेष्यते तद् राज्यम्, इत्यभ्युपगच्छामः। यत्तूक्तम्—'आन्ध्रा अपि राज्ययोगाद् राजानमभ्युपगच्छन्ति' इति। परिहृतमेतत्—प्रयोगो दुर्बलः स्मृतेरिति। यदुक्तम् - आर्य्यावर्त्तनिवासिनः प्रमाणमितरेभ्य आचारेभ्यः इति। 'तुल्यः शब्दप्रयोग आचारेषु' इत्युक्तम्'। तस्माज्जातिनिमित्तो राजशब्दः। एवञ्चेद्, यज्ञसंयोगात् क्षत्रियस्य राजसूयेन, यागविधिरवेष्टिरिति ॥३॥ इत्यवेष्टेः क्रत्वन्तरताऽधिकरणम् ॥२॥

जाति से विशेष्य होता है वह राज्य कहाता है, ऐसा हम स्वीकार करते हैं। और जो यह कहा है कि—'आन्ध्रवासी भी राज्य के संबन्ध से राजा को स्वीकार करते हैं।' इसका परिहार हमने कर दिया—प्रयोग स्मृति से दुर्बल होता है। और जो यह कहा—आर्यावर्तनिवासियों का आचार(=व्यवहार) अन्य जनों के आचारों की अपेक्षा प्रमाण है। [इस विषय में] 'दोनों के आचार-व्यवहारों में शब्दप्रयोग तुल्य है' यह कह चुके हैं। इसलिये जातिनिमित्तक राजशब्द है। और जब ऐसा है, तो क्षत्रिय का राजसूययज्ञ से संयोग होने से [यदि ब्राह्मणो यजेत से ब्राह्मण और वैश्य की] अवेष्टि याग की विधि है।३॥

विवरण—आह—यो यो राज्यं करोति—इसका भाव यह है कि अन्वय और व्यतिरेक से वाच्यवाचक सम्बन्ध जाना जाता है। पतञ्जलि ने भी अर्थवत्० (१।२।४५) सूत्र के भाष्य में अन्वय और व्यतिरेक से प्रकृतिप्रत्यय के अर्थ-सम्बन्ध का ज्ञान इस प्रकार कराया है—"अन्वय और व्यतिरेक से [प्रातिपदिक की अर्थवत्ता] सिद्ध है। अन्वय और व्यतिरेक क्या हैं? व्यवहार में वृक्षः ऐसा कहने पर कोई शब्द सुना जाता है—अकारान्त वृक्ष शब्द और सकारमात्र प्रत्यय। अर्थ भी कुछ जाना जाता है—मूल स्कन्ध (तना) फल पत्तों से युक्त और एकत्व। वृक्षौ ऐसा कहने पर [बुद्धि में] कोई शब्द नष्ट (=निवृत्त) होता, कोई उत्पन्न होता है, और कोई अन्वयी (=पूर्ववत् वर्तमान) रहता है। सकार प्रत्यय नष्ट होता है, औकार उत्पन्न होता है, और अकारान्त वृक्ष शब्द अन्वयी रहता है। इसी प्रकार अर्थ भी कोई नष्ट होता है, कोई उत्पन्न होता है, और कोई अन्वयी रहता है। एकत्व अर्थ नष्ट होता है, द्वित्व अर्थ उत्पन्न होता है। और मूल-स्कन्ध-फल-पत्रवाला अर्थ अन्वयी रहता है। इससे हम मानते हैं कि जो शब्द नष्ट होता है, उसका वह अर्थ है जो अर्थ नष्ट होता है। जो शब्द उत्पन्न होता है, उसका वह अर्थ है जो अर्थ उत्पन्न होता है। और जो शब्द अन्वयी है, उसका वह अर्थ है जो अर्थ अन्वयी रहता है।" इसी प्रकार यहां भी जो-जो राज्य करता है, वह वह राजा कहाता है, यह अन्वय है। और जहां-जहां राजा शब्द का व्यवहार होता है, उस-उस का राज्यकर्म नहीं देखा जाता है। यथा आन्ध्रों में जनपद और नगर रक्षण को न करता हुआ भी राजा कहाता है। इसलिये स्मरण (=स्मृति) का उपन्यास अयुक्त है।

न ब्रूमः प्रयोगाद् वयम्—सिद्धान्ती के इस वाक्य का भाव यह है कि यह सत्य है कि अर्थज्ञान में प्रयोग ही निमित्त होता है। अतः प्रयोग-सामर्थ्य से हम राजा शब्द के योग को राज्य में

---

१. द्र०—मी० १।३। अधि० ५-६; सूत्र ९-१०॥

[अग्न्याधानस्य विधेयताऽधिकरणम् ॥३॥]

इदं समामनन्ति—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः[1] इति । तत्र सन्दिह्यते—किं ब्राह्मणादिश्रवणं निमित्तार्थम्—ब्राह्मणादय आदधाना वसन्तादिष्वाद-

---

निमित्त नहीं कहते हैं । स्मरणात्—इसका भाव यह है कि स्मरण (=व्याकरणरूप स्मृति) की यद्यपि शब्दों के साधुत्व असाधुत्व के कथन में ही प्रवृत्ति है, पुनरपि अन्वाख्यान में राज्ञः कर्म राज्यम् रूप निमित्तदर्शन से राज्य शब्द में राजा शब्द का योग अर्थापत्ति से जाना जाता है, यह हम कहते हैं । प्रयोगाच्च स्मृतिर्बलीयसी, प्रयोगाद्धि स्मृतिरनुमीयते—इसका भाव यह है कि प्रयोग की अपेक्षा साक्षात् स्मृति बलवान् होती है । क्योंकि प्रयोग की प्रामाणिकता के लिये प्रयोग-सामर्थ्य से स्मृति का अनुमान किया जाता है । यह विषय सामान्यश्रुति-कल्पनाधिकरण (=होलाकाधिकरण) में पूर्व (मी० अ० १, पाद ३, अधि० ८, सूत्र १५-२३ में) कह चुके हैं (वहां देशाचार से स्मृति की कल्पना, और स्मृति से श्रुति की कल्पना का निर्देश किया है) । अपि च, राजयोगस्य—इसका भाव यह है कि यदि राज्य का राजा शब्द में नित्य निमित्तता का बोधक प्रयोग होता, तब भी प्रयोग की प्रामाणिकता हो सकती थी । परन्तु आन्ध्रों का जनपद परिपालन कर्म न करनेवाले में भी राजा शब्द का प्रयोग राज्य में राजा शब्द की निमित्तता को व्यभिचरित करता है । स्मृत्या तु वयं निमित्तभावं ब्रूमः—का भाव यह है कि स्मृति राज्ञः कर्म राज्यम् कहती है । असाधारण कर्म ही निमित्त होता है । स्पन्दित निमिषित ये सभी प्राणियों के साधारण कर्म हैं । इस लिये साधारण कर्म निमित्त नहीं हो सकते हैं । लोक में भी धूम को देखकर वह्नि का 'यहां वह्नि है' ऐसा अनुमान किया जाता है । यहां भी धूममात्रदर्शन से वह्नि के अस्तित्व में निमित्त नहीं होता है, क्योंकि घास फूस के जलने से जो धूम उत्पन्न होता है, वह घासफूस की अग्नि के शान्त हो जाने पर भी स्थानान्तर में उपलब्ध होता है । अतः संतत उठती हुई धूमरेखा को वह्नि के अस्तित्व ज्ञान में निमित्त माना जाता है । तुल्यः शब्दप्रयोग आचारेष्वित्युक्तम्—यह बात शास्त्रप्रसिद्धार्थ-प्रामाण्याधिकरण, और म्लेच्छप्रसिद्धार्थप्रामाण्याधिकरण (पिकनेमाधिकरण (मी० १।३, अ० ५-६, सूत्र ६-१० में कही है ॥३॥

व्याख्या—यह पढ़ते हैं—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः (=वसन्त में ब्राह्मण अग्नियों=गार्हपत्य आहवनीय और दक्षिणाग्नि का आधान करे, ग्रीष्म में राजन्य=क्षत्रिय, और शरद् में वैश्य) । इस विषय में सन्देह होता है—क्या [उक्त वाक्यों में] ब्राह्मणादि का श्रवण निमित्त के लिये है—ब्राह्मणादि आधान करते हुए वसन्त आदि में आधान

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत । ...... ग्रीष्मे राजन्य आदधीत । ......शरदि वैश्य आदधीत । तै० ब्रा० १।१।२॥ इह पूनासंस्करणे 'वसन्ता' इत्यपपाठः । 'वसन्ते' पाठान्तरस्य निर्देशात्, ग्रीष्मशरदोः सप्तम्यन्तश्रवणाच्च ।

धीरग्निति, उत ब्राह्मणादीनामाधानं विधीयते इति ? कथं निमित्तार्थता स्यात्, कथञ्चाऽऽधानविधानमिति ? यदि ब्राह्मणो वसन्ते इति पदद्वयं परस्परसम्बद्धम्, ततो निमित्तार्थं श्रवणम्। अथ ब्राह्मण आदधीत इति, आधानविधानं ब्राह्मणस्य। एवं राजन्यादिष्वपि। किं तावत् प्राप्तम् ? निमित्तार्थं श्रवणमिति। कुतः ? निमित्तसरूपा एते शब्दाः। किं निमित्तसारूप्यम् ? ब्राह्मणदीनां वसन्तादिभिः समुच्चारणम्। तच्चाविदितं वेद्यते इति।

ननु ब्राह्मणादीनामादधतिनाप्यस्ति समुच्चारणम्। बाढमस्ति समुच्चारणम्। न त्वमीषाम् आधानसम्बन्धो न विदितः। केन प्राप्तो विदित इति ? कामश्रुतिभिः। काः कामश्रुतयः ? अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः[1], दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत[2] इत्येवमादयः। कथमाभिः श्रुतिभिराधानं प्राप्तमिति ? उच्यते सामर्थ्यात्। यथाग्निहोत्रमभिनिर्वर्त्यते तथा कुर्य्यात्, यथा दर्शपूर्णमासावभिनिर्वर्त्येते तथा कुर्यात्। न च गार्हपत्याहवनीयान्वाहार्य्यपचनादिभ्यो विनैतानि कर्माणि सिद्ध्यन्ति। समामनन्ति हि— यदाहवनीये

करें, अथवा ब्राह्मण आदि के आधान का [उक्त वाक्यों में] विधान किया जाता है ? निमित्तार्थता कैसे होगी, और कैसे आधान का विधान होगा? यदि ब्राह्मणो वसन्ते ये दो पद परस्पर में सम्बद्ध होवें, तो निमित्तार्थ श्रवण होगा। और यदि ब्राह्मण आदधीत ये दो पद [परस्पर संबद्ध] होवें, तो ब्राह्मण के आधान का विधान होगा। इसी प्रकार राजन्य आदि में भी जानना चाहिये। तो क्या प्राप्त होता है ? [ब्राह्मणादि का] निमित्तार्थ श्रवण है। कैसे ? निमित्त जैसे ये (=ब्राह्मणो वसन्ते) शब्द हैं। निमित्त का सारूप्य क्या है ? ब्राह्मणादि का वसन्त आदि के साथ सहोच्चारण। वह [सहोच्चारण] अविदित अर्थ का बोध कराता है।

(आक्षेप) ब्राह्मणादि पद का आदधाति के साथ भी सहोच्चारण है [इससे ब्राह्मणादि के आधान का विधान जाना जाता है]। सत्य है, [ब्राह्मणादि का आदधाति के साथ] सहोच्चारण है। परन्तु इन (=ब्राह्मणादि) का आधान-संबन्ध विदित नहीं है, ऐसा नहीं है [अर्थात् आधान-सम्बन्ध विदित है। किस से प्राप्त [आधान] विदित है ? कामश्रुतियों से। कामश्रुतियां कौनसी हैं ? अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः (=स्वर्ग की कामनावाला अग्निहोत्र होम करे), दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत (=स्वर्ग की कामनावाला दर्श और पूर्णमास यागों से यजन करे) इत्यादि। इन श्रुतियों से आधान कैसे प्राप्त है? सामर्थ्य से। [अग्निहोत्रं जुहुयात् का अर्थ है—] जैसे अग्निहोत्र सम्पन्न होवे वैसे करे, [दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत=] जसे दर्श और पूर्णमास याग सम्पन्न होवें वैसे करे। गार्हपत्य आहवनीय और अन्वाहार्यपचन (=दक्षिणाग्नि) आदि के विना ये कर्म सिद्ध नहीं होते है। कहा भी है— यदाहवनीये जुहोति, तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो

---

१. मैत्रा० आर० ६।३७॥ मी० ४।४।४ सूत्रभाष्यस्योत्थानिकायाम् अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः इति पठ्यते। तत्र 'जुहोति' इति लिङर्थे लेट्।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासौ। आप० श्रौत ३।१४।८॥

जुहोति, तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति[1] इत्येवमादि । तेन सामर्थ्यादितदुक्तं भवति—आहवनीयादि कर्त्तव्यमिति । तच्चाधानेन विना न सिद्धयति, इत्याधानमपि कर्त्तव्यमित्यवगम्यते । तत् केन कर्त्तव्यम् ? यस्य कामश्रुतयः । ताश्चाविशेषण ब्राह्मणादीनाम् । तस्मादमीषामाधानसम्बन्धो विदित इति । अपिच, उभाभ्यां ब्राह्मणादीनां सम्बन्धे विधीयमाने वाक्यं भिद्येत । न हि तदानीमेकोऽर्थो विधीयते । अतो निमित्तार्थाः श्रुतयः, इत्येवं प्राप्तम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

आधानेऽसर्वशेषत्वात् ॥४॥ (सि०)

आधानेऽसर्वशेषत्वात् प्रापकाण्याधानस्यैतानि श्रवणानि । कुतः? 'सर्वकर्मणां शेष-

---

भवति(=जो आहवनीय अग्नि में होम करता है, उससे वह इसका भले प्रकार इष्ट और प्रीत=तृप्त होता है) इत्यादि । इस वचन के सामर्थ्य से यह उक्त होता है कि—आहवनीय आदि अग्नि कर्तव्य (=साध्य) हैं । [वे अग्नियां] आधान के विना सिद्ध नहीं होती हैं, इस कारण आधान भी करना चाहिये । वह आधान किसे करना चाहिये ? जिसकी कामश्रुतियां हैं । और वे कामश्रुतियां (=अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः, दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः) सामान्यरूप से ब्राह्मणादि सभी की हैं । इस हेतु से इन ब्राह्मणादि का आधान-सम्बन्ध जाना जाता है । [आधान-सम्बन्ध के विदित होने पर कौन किस ऋतु में आधान करे, इतना ही अविदित अर्थ कथनीय होता है ।] और भी, दोनों (=वसन्तादि ऋतु और 'आदधीत') के साथ ब्राह्मणादि के सम्बन्ध का विधान करने पर वाक्यभेद होता है । क्योंकि उस समय (=ब्राह्मणो वसन्ते, ब्राह्मण आदधीत से) एक अर्थ का विधान नहीं होता है । इसलिये निमित्त के लिये (=वसन्त निमित्त होने पर ब्राह्मण आधान करे) श्रुतियां हैं, ऐसा प्राप्त होता है । इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं—

आधानेऽसर्वशेषत्वात् ॥४॥

सूत्रार्थः—(आधाने) आधान के विषय में श्रुत वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत इत्यादि वाक्य आधान के प्रापक हैं ।[a] (असर्वशेषत्वात्) आधान के सर्व कर्मों के प्रति शेष न होने से ।

विशेष—यदाहवनीये जुहोति वचन से अग्नियों के सर्वकर्मों के प्रति शेषभाव की प्रतीति होने से अग्नियां तो प्राप्त हो जाती हैं, परन्तु आधान प्राप्त नहीं होता है । क्योंकि आधान सब कर्मों का शेष है, ऐसा किसी श्रुति वा लिङ्ग से नहीं जाना जाता है । अग्नियों की प्राप्ति क्रय भिक्षा आदि अनेक उपायों से हो सकती है । उसके लिये आधान आवश्यक नहीं है । अतः आधान विषयक श्रुतियां आधानकर्म की प्रापिका हैं ।

व्याख्या—सर्वशेष न होने से आधान के विषय में श्रुत ये (=वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निनाऽऽदधीत आदि) श्रवण आधान के प्रापक हैं । किस हेतु से ? 'आधान सब कर्मों का शेषभूत है'

---

१. द्र०—तै० ब्रा० १।१।१०—यदाहवनीये जुह्वति तेन सोऽस्याभीष्टः ।

भूतमाधानम्' इति न श्रुतिलिङ्गादीनामन्यतमेन उच्यते। किं तर्हि? अग्नीनां सर्वशेषत्वात्, तच्छेषत्वाच्च आधानस्य? किमतः? यद्येवम् अग्नयः कामश्रुतिभिः प्राप्नुवन्ति, नाधानमिति। नन्वग्नीनामभ्युपाय आधानमिति। उच्यते, नैतेषामर्जने आधानमेवैकोऽभ्युपायः। किं तर्हि? यथान्येषां द्रव्याणामुत्पादने क्रयणादयश्चाभ्युपायाः, एवमग्नीनामपीति। न नियोगत उत्पादनमेव। तेन पक्षे आधानं प्राप्नोति, पक्षे न। यतरस्मिन् पक्षे अप्राप्तिः, ततरः पक्ष उत्पत्तिं प्रयोजयिष्यति ब्राह्मणादीनामाधानस्य। ब्राह्मण आत्मार्थमादधीतेति। यदा एतद्वचनम्, तदा आत्मार्थमेवाहिता आहवनीयादयो भवन्ति, नान्यथा। एवञ्च सति न कृत्रिमेण याचितेन वा कर्माण्यग्निहोत्रादीन्यनुष्ठातव्यानि इति गम्यते। तेन अकृत्रिम एव केवलोऽग्निस्तेषां साधक इति निश्चीयते। कथञ्चात्मार्थता आधानस्य गम्यते इति? कर्त्रभिप्राये हि[1] क्रियाफले आदधीतेत्येतदात्मनेपदं सम्भवति।[2] असत्यस्मिन् वचने कामश्रुतिपरिग्रहे नाधानस्यात्मार्थता भवेत्।

ऐसा श्रुति-लिङ्ग आदि किसी प्रमाण से नहीं कहा जाता है। तो क्या कहा जाता है? अग्नियों के सब कर्मों का शेष होने से, और आधान के उन अग्नियों का शेष होने से। इससे क्या सिद्ध होता है? यदि इस प्रकार कामश्रुतियों से अग्नियां प्राप्त होती हैं, तो आधान प्राप्त नहीं होता है। (आक्षेप) आधान अग्नियों की प्राप्ति का उपाय है [अतः अग्नियों की प्राप्ति से आधान की प्राप्ति हो जायेगी]। (समाधान) इन अग्नियों के अर्जन (=प्राप्ति) में एक आधान ही तो उपाय नहीं है। तो अन्य क्या हैं? जैसे अन्य द्रव्यों के उत्पादन (=प्राप्ति) में खरीदना आदि अनेक उपाय हैं, इसी प्रकार अग्नियों की प्राप्ति के भी अनेक उपाय हैं। उनको [आधान द्वारा] उत्पन्न (=प्राप्त) करना ही नियमतः उपाय नहीं है। इस कारण [अग्नियों की प्राप्ति में] आधान पक्ष में प्राप्त होता है, अन्य पक्ष में नहीं प्राप्त होता है। जिस पक्ष में आधान प्राप्त नहीं होता है, वह पक्ष ब्राह्मणादि को आधान के लिये प्रयोजित करेगा। ब्राह्मण अपने लिये आधान करे। जब यह वचन होता है, तब आधान की गईं आवहनीयादि अग्नियां अपने लिये ही होती हैं, अन्य प्रकार से [अपने लिये] नहीं होती हैं। इस प्रकार [अग्नियों के आत्मार्थ ही आधान] होने पर कृत्रिम (=खरीदी गई) अथवा मांगी गई अग्नि से अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये, यह जाना जाता है। इसलिये उन [अग्निहोत्रादि कर्मों] का साधक केवल अकृत्रिम अग्नि ही है, ऐसा निश्चय किया जाता है। आधान की आत्मार्थता कैसे जानी जाती है? आदधीत यह आत्मनेपद कर्तृगामी क्रियाफल होने पर ही संभव होता है। इस (=वसन्ते ब्राह्मणो० आदि) वचन के न होने पर कामश्रुतियों से [आधान के] ग्रहण करने पर आधान की आत्मार्थता नहीं होगी।

---

१. द्र०—स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (अष्टा० १।३।७२) इति पाणिनीयो नियमः।

२. 'भवति' इति साध्वित्याचार्यचरणाः। 'सम्भवति' पाठे 'हि' शब्द एवार्थको ज्ञेयः—आदधीतेत्येतदात्मनेपदं कर्त्रभिप्राये क्रियाफल एव संभवति।

अपि च, सतीषु एतास्वाधानश्रुतिषु न कामश्रुतयः शक्नुवन्त्यपरामाधानश्रुतिं कल्पयितुम्। यथाप्राप्तस्याधानस्य पुनःश्रुतय एता भवेयुः। असतीष्वेतास्वाधानश्रुतिमपरिगृह्णन्तः 'कामश्रुतयोऽशक्यानग्निहोत्रादीन् वदन्ति' इति परिगृह्णीयुराधानश्रुतिम्। सतीष्वेतासु येषामाधानमुक्तम्, तान् अधिकृत्य उत्तरकालाः कामश्रुतयो भवन्ति, इति गम्यते।

विवरण—असर्वशेषत्वात्—इसकी व्याख्या सूत्रार्थ और उसके विशेष में देखें। पक्षे आधानं प्राप्नोति—कामश्रुतियों से कर्म की सिद्धि के लिये अग्नियों की प्राप्ति तो हो जायेगी, परन्तु अग्नियों की प्राप्ति में एकमात्र आधान के ही निमित्त न होने से, और द्रव्यान्तरवत् क्रय आदि से प्राप्ति सम्भव न होने से, अग्नियों की सिद्धि में आधान साधन पक्ष में (=कदाचित् क्रयादि सम्भव न होने पर) प्राप्त होता है। पक्षे न—क्रयादि से अग्नियों की प्राप्ति सम्भव होने पर आधान प्राप्त नहीं होता है। कृत्रिमेण—स्वप्रयत्न से उत्पादित वस्तु आत्मीय होती है, अन्य साधन से प्राप्त कृत्रिम। ऋ० ७।४।७ के परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णः मन्त्र में अन्यजात शेष (धन वा अपत्य) की निन्दा, और पित्र्य धन वा आत्मज अपत्य की प्रशंसा की गई है (द्र०—निरुक्त ३।२)। अकृत्रिम एव—स्वयं आधान किया ही। कर्त्रभिप्राये 'हि' क्रियाफले—हि शब्द यहां 'एव' अर्थ में है—'आदधीत इत्यात्मनेपदं कर्त्रभिप्राये क्रियाफले एव सम्भवति' इत्यर्थः। आत्मनेपदं सम्भवति—द्र०—स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (अष्टा० १।३।७२) नियम।

व्याख्या—और भी, इन आधान-श्रुतियों के होने पर कामश्रुतियां अन्य आधान-श्रुति की कल्पना नहीं कर सकती हैं। यथाप्राप्त आधान की ये पुनःश्रुतियां होवें। इनके न होने पर आधान-श्रुतियों को ग्रहण न करते हुए 'कामश्रुतियां अशक्य अग्निहोत्रादि को कहती हैं' ऐसा कह आधान-श्रुतियों को ग्रहण करेंगे। और इन आधानश्रुतियों के होने पर जिनका आधान कहा है, उनको अधिकृत करके उत्तरकाल की कामश्रुतियां होती हैं, ऐसा जाना जाता है।

विवरण—सतीषु एतासु—पहले कामश्रुतियों से अग्नियों की प्राप्ति मानने पर, क्रयादि साधनों में आधान के भी अन्यतम साधन स्वीकार करने के पक्ष में आधान प्राप्त होता है। अतः जिस पक्ष में आधान प्राप्त नहीं होता, उस पक्ष में ब्राह्मणादि के आधान को वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत आदि श्रुतियां प्रयोजक होंगी, यह कहा है। अब सतीषु एतासु वाक्य से आधान की पाक्षिकी प्राप्ति का भी निराकरण करते हैं। यथाप्राप्तस्याधानस्य—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत से यथाप्राप्त आधान की ये कामश्रुतियां पुनःश्रुतियां होंगी। असतीष्वेतास्वाधानश्रुतिषु—इसका भाव यह है कि यदि ये आधानश्रुतियां न होवें, तो आधान के विना अग्निहोत्रादि के अनुष्ठान के अशक्य होने से अग्निहोत्रादि कर्म की विधियां अनर्थक होती हैं। ऐसा मानकर कामश्रुतियां स्व कर्म की सिद्धि के लिये आधानश्रुतियों का परिग्रहण करेंगी। सतीष्वेतासु—इसका भाव यह है कि इन आधानश्रुतियों से जिनके प्रति आधान कहा है, उन्हीं के लिये कामश्रुतियां प्रयोजक होंगी।

अत्राह—अस्ति केवलस्याधानस्य विधायिका श्रुतिः—एवं सपत्नं भ्रातृव्यमवर्ति सहते, य एवं विद्वानग्निमाधत्ते[1] इति । तया प्राप्तस्य निमित्तार्थानि ब्राह्मणादीनां श्रवणानि भविष्यन्ति । उच्यते, सम्भारविधानार्था पुनः श्रुतिरेषा । नेति ब्रूमः । भिन्नं हीदं वाक्यं सम्भारविधानवाक्यात् । अन्यो ह्यर्थ आधत्ते इति, अन्यः अप उपसृजति[2] इति । एकार्थविधाने ह्येकं वाक्यं भवति, भिन्नौ चेमावर्थौ । तस्मादत्र वाक्यभेद इति । उच्यते, वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत इत्यस्यां श्रुतौ सत्यां पुनः श्रुतिः केवलस्याधानस्याविधायिका । अपामुपसर्ज्जनं तु विधीयते । तदेकस्मिन्नर्थे विधीयमाने नानेकार्थं भवति । नन्वाधानस्यैतद्विधानम्, गुणार्था सा पुनः श्रुतिः । नेति ब्रूमः । सा ब्राह्मणादिसम्बद्धा प्रथमा श्रुतिः, इयं केवला पुनःश्रुतिः । कुतः ? सा हि शब्देन विदधाति । तत्र लिङमुच्चरन्तीं पश्यामः । इयं 'प्रशस्तमाधानम्' इत्याह । ततः प्रशस्ततामाधानस्यानुमन्यामहे । एवञ्च

व्याख्या—(आक्षेप) इस विषय में कहते हैं- केवल आधान की विधायिका श्रुति है—एवं सपत्नं भ्रातृव्यमवर्ति सहते, य एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते (=इस प्रकार सपत्न शत्रु अवाच्य को सहता है, जो विद्वान् इस प्रकार अग्नि का आधान करता है) । इस श्रुति से प्राप्त [आधान]के निमित्त के लिये ब्राह्मणादि के श्रवण(=श्रुतियां)होवेंगे । (समाधान) यह सम्भार (=आधानसम्बन्धी पदार्थ) के विधान के लिये [आधान]की यह पुनःश्रुति है । (आक्षेप) ऐसा नहीं है । [आधानविधायक] वाक्य सम्भारविधायक वाक्य से भिन्न ही है । आधत्ते (=आधान करता है) यह अर्थ अन्य है, और अप उपसृजति (=वेदि में जल का सेचन करता है) अन्य वाक्य है । एक अर्थ के कहने में एक वाक्य होता है, ये दोनों (आधान और जलसेचन) अर्थ भिन्न-भिन्न हैं । इसलिये यहां वाक्यभेद [भिन्न वाक्य] है [भिन्न वाक्य होने से य एवं विद्वानग्निमाधत्ते आधान का विधायक है] । (समाधान) वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत इस श्रुति के विद्यमान होने पर केवल आधान की विधायिका [य एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते] पुनः-श्रुति नहीं है । अपों का उपसर्जन तो विधान किया जाता है । इस एक(=अपाम् उपसर्जनम्) के विधीयमान होने पर अनेकार्थ नहीं होता है । (आक्षेप) यह (=य एवं विद्वानग्निमाधत्ते श्रुति से) आधान का विधान होवे, और वह (=वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत) गुण के विधान के लिये पुनःश्रुति होवे । (समाधान) ऐसा नहीं है, यह हम कहते हैं । वह ब्राह्मणादि से सम्बद्ध (वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत) प्रथम (=मुख्य=विधायिका) श्रुति है, यह केवल [अग्नि के आधान को कहनेवाली (य एवं विद्वानग्निमाधत्ते, पुनःश्रुति है । किस हेतु से? वह (=वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत श्रुति) शब्द से [आधान का] विधान करती है । उस श्रुति में लिङ् [विभक्ति] को उच्चरित होते हुए देखते (=सुनते) हैं । और यह (=य एवं विद्वान् अग्नि-माधत्ते श्रुति) 'आधान प्रशस्त (=श्रेष्ठ) है' ऐसा कहती है । उससे आधान की श्रेष्ठता का

---

१. मै० सं० १।६।३।। सर्वेषु मुद्रितग्रन्थेषु 'भ्रातृव्यमवर्ति' इत्यपपाठः । अवर्तिम्=अवाच्य-मिति स्वामिदयानन्दसरस्वती (द्र०— ऋग्भाष्य १।११८।३) ।

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—'अप उपसृज्याग्निमाधत्ते' । मं० सं० १।६।३

वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत इत्येषा विधायिका श्रुतिः, इति ब्रूमहे। नैतत् प्रशंसावचनमस्मत्पक्षं बाधते। शक्यते ह्यन्येन विहितमन्येन प्रशस्तमिति वदितुम। यदि त्वेतद् विधायकमित्युच्येत, ततोऽस्मत्पक्षं विरुद्धयेत। कथम्? अज्ञातस्य ज्ञापनं विधानमेतत्। यदि प्रशंसावचनेन अपूर्वं विज्ञाप्येत, तदा लिङा नापूर्वं ज्ञापितं भवेत्। तत्रापूर्वंज्ञापनवचनः शब्द उपरुद्धयेत। न तु लिङा विहिते प्रशंसावचनमुपरुद्धयते। विहितेऽपि हि वाक्यान्तरेण प्रशंसावचनमवकल्पते। अपि च, यल्लिङा विधानं तच्छ्रुत्या। वाक्येन तु प्रशंसा गम्यते। श्रुतिश्च वाक्याद् बलीयसी।

अनुमान करेंगे। इस प्रकार वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत यह विधायिका श्रुति है, ऐसा हम कहते हैं। और यह प्रशंसावचन (=य एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते) हमारे पक्ष को नहीं बाधता है। अन्य वचन से विहित [आधान] को अन्य वचन से 'श्रेष्ठ हैं' ऐसा कह सकते हैं। और यदि इस(=य एवं विद्वानग्निमाधत्ते) को विधायक वचन कहें, तब तो हमारा पक्ष विरुद्ध(=बाधित) होवे। कैसे? अज्ञात विषय का ज्ञापन करना, यह विधान होता है। यदि प्रशंसावचन (=य एव विद्वानग्निमाधत्ते) से अपूर्व [आधानरूप अर्थ] विज्ञापित होवे (=जाना जाये), तो लिङ् (=आदधीत) से अपूर्व अर्थ ज्ञापित न होवे। उस अवस्था में अपूर्व अर्थ को कहनेवाला [आदधीत] शब्द बाधित होवे [अर्थात् अपूर्व अर्थ का विधान न जाना जाये]। लिङ् से [अपूर्व आधान रूप अर्थ के] विहित होने पर प्रशंसावचन बाधित नहीं होता। वाक्यान्तर से [आधान का] विधान होने पर भी प्रशंसावचन उपपन्न होता है। और भी, जो लिङ् [आदधीत] से विधान है, वह श्रुति से है। [य एवं विद्वान्] वाक्य से तो प्रशंसा जानी जाती हैं [उस प्रशंसा से आधान की कल्पना करते हैं]। श्रुति वाक्य से बलवान् होती है।

विवरण—सपत्नं भ्रातृव्यमर्वतिम्—सपत्न और भ्रातृव्य शब्द प्रायः पर्याय हैं। पाणिनि ने व्यन् सपत्ने (अष्टा० ४।१।१४५) से सपत्न अर्थ गम्यमान होने पर 'भ्रातृ' शब्द से अपत्य अर्थ में 'व्यन्' प्रत्यय कहा है, और भ्रातुर्व्यच्च (अष्टा० ४।१।१४४) से यत्। इस प्रकार स्वरभेद से भ्रातृव्य शब्द दो प्रकार का है। चचेरा भाई अर्थ में भ्रातृव्य शब्द तित्स्वरितम् (अष्टा० ५।१।१८५) से अन्तस्वरित है, और सपत्न अर्थवाला ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अष्टा० ६।१।१९७) से आद्युदात्त है। स्वरभेद से ही सपत्न अर्थ के परिज्ञात हो जाने पर भी 'सपत्न' शब्द का प्रयोग इन शाखाओं के प्रवचनकाल में स्वरोच्चारण के शैथिल्य का बोधक है। इसी प्रकार माध्यन्दिन संहिता १।१७ में पाठ है—भ्रातृव्यस्य वधाय, परन्तु काण्व संहिता १।२८ में इसका पाठ द्विषतो वधाय है। यह पाठान्तर भी शाखाप्रवचनकाल में स्वरोच्चारण के शैथिल्य का बोध कराता है। अन्यथा आद्युदात्त भ्रातृव्य के प्रयोग से सपत्न अर्थ विस्पष्ट है (विशेष द्रष्टव्य—हमारी वैदिक स्वरमीमांसा, पृष्ठ ५०-५५, द्वि० सं०)। अर्वतिम्—इसका ऋ० १।११८।३ के भाष्य में स्कन्द स्वामी ने 'अमार्ग', माधव ने 'अगन्ता', वेङ्कटमाधव और सायण ने 'दारिद्रय', स्वामी दयानन्द ने 'अवाच्य' अर्थ किया है। तै० सं० ५।२।१।४ में भट्ट भास्कर और सायणने 'दारिद्रय' अर्थ माना है। इन में से प्रकृत प्रसङ्ग में 'अर्वति सहते' का अर्थ दारिद्रय और अवाच्य=कुत्सित वचन युक्त हैं।

नन्विदमपि वाक्यम्—ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत इति। उच्यते, स्वपदार्थमत्र श्रुतिर्विद-

सम्भारविधानार्था—सम्भार शब्द से सामान्यरूप से यज्ञीय पदार्थों का ग्रहण होता है। शतपथ २।१।१।१ में सम्भार शब्द का अर्थ इस प्रकार दर्शाया है—स यद् वा इतश्चेतश्च सम्भरति तत्सम्भाराणां सम्भारत्वम् (=जो इधर-उधर से इकट्ठा करता है, यही (=इकट्ठा करना ही) सम्भारों का सम्भारत्व है। मैत्रायणी संहिता के आधान-प्रकरण (१।६।३) में, जहां सपत्नं भ्रातृव्य··· आधत्ते वचन श्रुत है, वहां १. आप: २. वराह से खोदी हुई मृत्तिका, ३. वल्मीकवपा(=दीमक की बाम्बी की मिट्टी), ४. ऊष (=रेह, ऊसरभूमि की मिट्टी), ५. सिकता (=वालू), ६. शर्करा (रोड़ी), ७. चूहे की खोदी हुई मिट्टी ये सात पार्थिव सम्भार कहे हैं। भारद्वाज श्रौत ५।१।४ में सात पार्थिव और सात वानस्पत्य सम्भार कहे हैं—ब्राह्मणव्याख्याता: संभारा: सप्त पार्थिवा: सप्त वानस्पत्या:। सात वानस्पत्य सम्भार ये हैं—१. पलाश, २. औदुम्बर (=गूलर), ३. अश्वत्थ (=पीपल), ४. शमी (जण्ड—पंजाबी, छोंकरा—राजस्थानी), ५. अशनिहत(=विजली गिरने से जला वृक्ष), ६. विकङ्कत, ७. पद्मपर्ण (=कमल का पत्ता)। आपस्तम्ब श्रौत ५।१।५ में भूयसो वा पार्थिवान् सूत्र के अनुसार पक्ष में आठ पार्थिव सम्भार कहे हैं। आठवां सम्भार हिरण्य (=सोना) है।[1] धूर्तस्वामी-भाष्य की रामाग्निचित् की वृत्ति में सप्त पार्थिव सम्भार पक्ष में शर्करा का लोप कहकर हिरण्य को आवश्यक बताया है (द्र०—पृष्ठ ४६६, भाग १, मैसूर संस्क०)। आपस्तम्ब श्रौत के इसी प्रकरण के अगले (छठे) सूत्र में कहा है—न सम्भारान् सम्भरेदिति वाजसनेयकम् अर्थात् वाजसनेय ब्राह्मण का मत है कि संभारों का सम्भरण न करे। वाजसनेय चरण की १५ शाखाओं के १५ प्रकार के शतपथ ब्राह्मण थे। सम्प्रति उपलब्ध माध्यन्दिन शतपथ २।१।१। १-१४ में, तथा काण्व शतपथ १।१।१।१-१० में आप:, हिरण्य, ऊष (=रेह), आखुकिरीष (=चूहे की खोदा मिट्टी), और शर्करा इन पांच सम्भारों का वर्णन मिलता है। अग्न्याधान के समय वेदिनिर्माण में तलसेचन से हिरण्यपर्यन्त पदार्थों के रखने के माध्यम से पृथिवी के सर्गकाल में जो कृत्रिम परिवर्तन हुए उनकी व्याख्या की है। इस विषय के लिये देखें—श्रौत यज्ञमीमांसा निबन्धान्तर्गत 'पृथिवी-सृजन प्रक्रिया और वेदिनिर्माणविधि की समानता' प्रकरण (मी० भाष्य-व्याख्या, भाग १ के आरम्भ में, पृष्ठ ९८-१००)। अप उपसृजति—मै० सं० १।६।३ में 'आप उपसृज्याग्निमाधत्ते पाठ है। सम्भव है भाष्यकार ने पूर्ववचन से प्राप्त अर्थ का अनुकथन किया होगा। गुणार्था पुन:श्रुति:=ब्राह्मणादि निमित्तरूप गुण के विधान के लिये ब्राह्मणो वसन्ते पुन: श्रुति है। इयं केवला—केवल आधान का कथन करनेवाली य एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते श्रुति पुन:श्रुति है। अपूर्वज्ञापनवचन: शब्द उपरुध्येत—अर्थात् अपूर्वज्ञापनवचन लिङ्श्रुति निरर्थक होवे।

व्याख्या—(आक्षेप) ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत यह भी तो वाक्य है। [इस के वाक्य होने से दोनों वाक्यों के बराबर होने से वाक्य से श्रुति बलवान् है, यह कथन उपपन्न नहीं होता है।] (समाधान)—यहां (=ब्राह्मणो वसन्तेऽग्नीनादधीत वाक्य में) लिङ् श्रुति [आद-

१. आचार्यपाद ने 'यज्ञतत्त्वप्रकाश में' पार्थिव सम्भारों में मैत्रायणी-संहितोक्त 'आप:' की गणना न करके 'सूद' (=कभी न सूखनेवाले तालाब की मिट्टी) का निर्देश किया है। द्र०—पृष्ठ ३।

धात्याधानं ब्राह्मणादिसम्बन्धेन। परपदार्थं प्रशंसति—य एवं सपत्नं भ्रातृव्यम् अर्वात्तिं सहते इति। नन्वनेकगुणविधानं त्वया वाक्येनाध्यवसितं भवति। नैष दोषः। अगुणविधिपरे हि वाक्ये भवत्यनेकगुणविधानमित्युक्तम्—तद्गुणास्तु विधीयेरन्नविभागाद् विधार्थे, न चेदन्येन शिष्टाः[1] इति। तस्माद् ब्राह्मणादिसंयुक्ता विधायिका श्रुतिः। इयमपि केवलस्याधानस्य पुनः श्रुतिः सम्भारविधानमुपक्रमितुमिति सिद्धम्।

यदुक्तम्—'अनेकगुणविधाने वाक्यं भिद्येत' इति। यदोमौ गुणविधानविशिष्टौ विधीयेयाताम्, भवेद् वाक्यभेदः। द्वाभ्यान्तु विशेषणाभ्यां विशिष्टमेकमाधानं विधायिष्यते। तेन न भविष्यति वाक्यभेदः। तस्माद् ब्राह्मणादीनामाधानस्य प्रापकानि श्रवणानि, इति सिद्धम् ॥४॥ इत्यग्न्याधानस्य विधेयत्वाऽधिकरणम् ॥३॥

श्रुति] ब्राह्मण आदि के सम्बन्ध से आधान का विधान करती है। य एवं सपत्नं भ्रातृव्यमर्वात्ति सहते परपदार्थ (=अन्यश्रुति से विहित आधान) की प्रशंसा करती है। (आक्षेप) आप के द्वारा वाक्य से अनेक गुण (=ब्राह्मण और वसन्त) का विधान स्वीकार करना होता है। (समाधान) यह दोष नहीं है। जो वाक्य गुणविधिपरक नहीं है, उसमें अनेक गुण का विधान होता है, यह हम कह चुके हैं—तद्गुणास्तु विधीयेरन्नविभागाद् विधार्थे, न चेदन्येन शिष्टाः (=विधानार्थ वाक्य में अविभक्त होने से कर्म और कर्म के गुणों का विधान किया जा सकता है, यदि अन्य से कर्म का विधान न हुआ हो—मी० १।४।९)। इसलिये ब्राह्मण आदि गुणसंयुक्त आधान की विधायिका श्रुति है। और यह (=य एवं विद्वानग्निमाधत्ते श्रुति) सम्भारों के सम्भरण के विधान का आरम्भ करने के लिये पुनःश्रुति है, यह सिद्ध होता है।

और जो कहा है कि—'अनेक गुण के विधान में वाक्यभेद होगा'? यदि [ब्राह्मणो वसन्त० श्रुति] दोनों गुणों का विशिष्ट विधान करे, तो वाक्यभेद होवे। [यह वाक्य] दोनों (=ब्राह्मण और वसन्त) विशेषणों से विशिष्ट एक आधान का विधान करेगा। इससे वाक्यभेद नहीं होगा। इसलिये ब्राह्मणो वसन्ते आदि] ब्राह्मणादि के आधान के प्रापक (=विधायक) श्रवण हैं, यह सिद्ध होता है ॥४॥

विवरण—नन्विदमपि वाक्यम्—इसका भाव यह है कि अग्न्याधान के विधान में ब्राह्मण वसन्त आदि पदों के अर्थों का परित्याग न होने से यह भी वाक्य ही है ॥४॥

---

१. मी० १।४।९॥

[दाक्षायणादीनां गुणताऽधिकरणम् ॥४॥]

अयनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपबन्धात् ॥५॥ (पू०)

दर्शपूर्णमासौ प्रकृत्यामनन्ति—दाक्षायणयज्ञेन यजेत प्रजाकामः[1], साकम्प्रस्थायीयेन यजेत पशुकामः,[2] संक्रमयज्ञेन यजेतान्नाद्यकामः[3] इति । तत्र सन्देहः—किं दर्शपूर्णमासयोरेव गुणात् फलम्, उत कर्मान्तरमेवञ्जातीयकमिति ? किं प्राप्तम् ? कर्मान्तरमिति । कुतः? सञ्ज्ञोपबन्धात् । यद्यपि प्रकरणाद् यजतिशब्दाच्च स एव पूर्वप्रकृतो याग इति गम्यते, तथापि नाऽसावेवंसंज्ञकः । इति यागान्तरं विधेयं गम्यते ॥५॥

अयनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपबन्धात् ॥५॥

सूत्रार्थः—(अयनेषु) 'अयन' शब्दयुक्त वाक्यों में (चोदनान्तरम्) भिन्न चोदना है, अर्थात् कर्मान्तर का विधान है, (संज्ञोपबन्धात्) संज्ञा का उपवन्ध=बन्धन=निर्देश होने से ।

विशेष—भाष्य आदि के अनुसार सूत्रस्थ 'अयन' शब्द 'दाक्षायण यज्ञ' शब्द का एकदेश है । छत्री-न्याय (द्र०—मी० भाष्य १।४।२८) से 'अयन' शब्द एकपद में भी होता हुआ तत्सह-पठित साकंप्रस्थीय संक्रमयज्ञ आदि का उपलक्षक है । इसलिये अयनेषु में वहुवचन है । जैसे—समुदाय में एक पुरुष के पास छाता होने पर छत्रिणो गच्छन्ति प्रयोग होता है ।

व्याख्या—दर्शपौर्णमास को आरम्भ करके पढ़ते हैं—दाक्षायणयज्ञेन यजेत प्रजाकामः (=प्रजा की कामनावाला दाक्षायण यज्ञ से यजन करे), साकंप्रस्थायीयेन यजेत पशुकामः (=पशु की कामनावाला साकंप्रस्थायीय से यजन करे), संक्रमयज्ञेन यजेतान्नाद्यकामः (=अन्नाद्य की कामनावाला संक्रम यज्ञ से यजन करे) । इन में सन्देह है—क्या दर्शपौर्णमासों में ही गुण से फल कहा है, अथवा इस प्रकार के कर्मान्तर हैं ? क्या प्राप्त होता है ? कर्मान्तर हैं । किस हेतु से ? संज्ञा का उपबन्ध (बन्धन=निर्देश) होने से । यद्यपि प्रकरण से और 'यजेत' शब्द से वही पूर्व प्रकृत याग है, ऐसा जाना जाता है, तथापि वह याग इस नामवाला नहीं है । इसलिये यहां [इन नामों के] यागान्तर विधेय हैं, ऐसा जाना जाता है ।।५।।

विवरण—भाष्यकार के द्वारा उद्धृत संक्रमयज्ञविधायक वचन हमें उपलब्ध नहीं हुआ । शांखायन ब्राह्मण ४।९ में साकंप्रस्थायीय के स्थान पर साकंप्रस्थाय्य शब्द प्रयुक्त हुआ है । संक्रमयज्ञ—यद्यपि इसका आवृत्तिरूप अर्थ भाष्यकार ने नहीं दर्शाया है, तथापि उनके अनुसार सम्=समान क्रम=क्रमण । संज्ञोपबन्धात्—इसका भाव यह है कि उत्पत्ति वाक्यशिष्ट संज्ञा कर्म की भेदिका होती है, यह पूर्व संज्ञा

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—दाक्षायणयज्ञेन सुवर्गकामो यजेत । तै० २।५।५।।
२. तै० सं० २।५।४।। शां० ब्रा० ४।९ में 'साकंप्रस्थाय्य' नाम मिलता है ।
३. अनुपलब्धमूलम् ।

अगुणाच्च कर्मचोदना ॥६॥ (पू०)

न चात्र गुण उपबद्धचते[1] कश्चिद्, यद्विधानार्था चोदना भवेत्। यदि च न यागान्तरम्, आनर्थक्यमेव। अपि च, यदि गुण उपबद्धचेत, ततो यागगुणसम्बन्धो गम्यते इति, तदनुष्ठानं[3] विधीयेतेति। अननुबध्यमाने यागमात्रं गम्यते। इति तदनुष्ठानं विहितं गम्यते ॥६॥

समाप्तं च फले वाक्यम् ॥७॥ (पू०)

चोत्पत्तिसंयोगात् (मी० २।२।२२) सूत्र से कह चुके हैं। अतः संज्ञा के निबन्धन से यागान्तर जानना चाहिये ॥५॥

अगुणाच्च कर्मचोदना ॥६॥

सूत्रार्थः—(च) और (अगुणात्) किसी गुण का उपदेश न होने से (कर्मचोदना) [दाक्षायणयज्ञेन यजेत आदि वाक्य] कर्म के विधायक हैं।

विशेष—अगुणा च कर्मचोदना पाठान्तर है। इस पाठ में सूत्रार्थ होगा—(च) और (कर्मचोदना) कर्म का विधायक वचन (अगुणा) गुणरहित है।

व्याख्या—यहां किसी गुण का उपबन्ध (=संयोग) नहीं कहा है, जिसके विधान के लिये विधायक वचन होवे। [इस कारण] यदि यागान्तर का विधान नहीं है, तो आनर्थक्य होगा। और भी, यदि गुण का उपबन्ध होवे, तो उस से याग और गुण का सम्बन्ध जाना जाये, और उसके अनुष्ठान का विधान होवे। गुण का अनुबन्ध (=संयोग) न होने पर यागमात्र जाना जाता है। इसलिये उसका अनुष्ठान कहा है, ऐसा जाना जाता है ॥६॥

विवरण—अननुबध्यमाने—आचार्यपाद ने इसके स्थान पर अनुपबध्यमाने पाठ शुधवाया था ॥६॥

समाप्तं च फले वाक्यम् ॥७॥

सूत्रार्थः—(च) और (फले) प्रजारूप फल में वाक्य समाप्त हो जाता है। इसलिये कर्मान्तर है।

---

१. सुबोधिनी-कुतुहलवृत्त्योः पूनासंस्करणे च 'अगुणा च' इति पाठः। बृहतीसंवलितमद्रास-संस्करणे 'अगुणाच्च' इत्येव पठ्यते। सूत्रार्थस्तूभयथा संगच्छते।

२. सर्वत्र 'उपरुद्ध्यते' इति पाठः। 'उपबध्येत' 'अननुबध्यमाने' पदयोः श्रवणादिह 'उपबद्धचते' इत्येव पाठः साधीयान्।

३. समीपस्थयोर्वाक्ययोः 'तदनुष्ठानं' पदस्यावृत्तिकारणात् दृष्टिदोषेण पूनासंस्करणे 'तदनुष्ठानं' इत्यतोऽनन्तरं 'विधीयेतेति। अननुबध्यमाने यागमात्रं गम्यत इति तदनुष्ठानं' एतावान् पाठो नष्टः।

इतश्च कर्मान्तरम् । कथम् ? फले समाप्तं वाक्यम्—प्रजाकामो यजेत इति । प्रजाकामस्य याग उपायो विधीयते । विधीयते चेत् कर्मान्तरम् ॥७॥

विकारो वा प्रकरणात् ॥८॥ (उ०)

दर्शपूर्णमासयोरेव विकार एवञ्जातीयकः स्याद् दाक्षायणयज्ञादिः । एवं प्रकरणमनुगृहीतं भवति ॥८॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥९॥ (उ०)

लिङ्गमप्येतमर्थं दर्शयति—त्रिंशतं वर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत, यदि दाक्षायणयाजी स्यात्, अथो अपि पञ्चदशैव वर्षाणि यजेत । अत्र ह्येव सा [सम्पत्][1] सम्पद्यते । द्वे हि पौर्णमास्यौ

व्याख्या—इसलिये भी कर्मान्तर है । किस हेतु से ? वाक्य [प्रजारूप] फल [के सम्बन्ध] में पूर्ण हो जाता है—प्रजाकामो यजेत । प्रजा की कामनावाले के लिये यागरूप उपाय का विधान किया जाता है । और यदि [उपाय का] विधान होता है, तो कर्मान्तर होता है ॥७॥

विकारो वा प्रकरणात् ॥८॥

सूत्रार्थः—(वा) शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् कर्मान्तर नहीं है । (प्रकरणात्) दर्शपौर्णमास का प्रकरण होने से (विकारः) दर्शपौर्णमास का विकार है, अर्थात् उसके ही गुणविशेष का विधायक है ।

व्याख्या—इस प्रकार का दाक्षायण यज्ञ आदि दर्शपूर्णमास का ही विकार होवे । इस प्रकार प्रकरण अनुगृहीत होता है ॥८॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥९॥

सूत्रार्थः—(च) और [विकार में] (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से कर्म गुणविधि है, कर्मान्तर नहीं है ।

व्याख्या—लिङ्ग भी इस (=गुणविधानरूप) अर्थ को दर्शाता है—त्रिंशतं वर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत, यदि दाक्षायणयाजी स्याद्, अथो अपि पञ्चदशैव वर्षाणि यजेत । अत्र ह्येव सा [संपत्] संपद्यते । द्वे हि पौर्णमास्यौ यजेत द्वे अमावस्ये । अत्र ह्येव खलु

---

१. सर्वेषु मुद्रितग्रन्थेषु पदमिदं नोपलभ्यते । आवश्यकं चैतत् । द्रष्टव्य उत्तरटिप्पण्यां शतपथपाठः ।

यजेत द्वे अमावस्ये । अत्र हि एव खलु सा सम्पद् भवति[1] इति । यदि दाक्षायणयज्ञो दर्शपूर्णमासावेव । एवं तर्हि त्रिंशत्सम्पदा प्रयोजनम् । ततस्तस्य त्रिंशत्सम्पदनुग्रहो युज्यते । तस्मादपि न कर्मान्तरम् ॥९॥

गुणात् संज्ञोपबन्धः ॥१०॥ (उ०)

यदुक्तम्—संज्ञोपबन्धात् कर्मान्तरमिति । यदि दाक्षायणशब्दो न केनचिदपि प्रकारेण दर्शपूर्णमासवचनः शक्यते कल्पयितुम्, तत उच्येत—कर्मान्तरमिति । शक्नोति त्वावृत्तिगुणसम्बन्धाद्वदितुम् । अयनमित्यावृत्तिरुच्यते । दक्षस्य इमे दाक्षाः, तेषामयनं दाक्षायणम् । कः पुनर्दक्षः ? उत्साही । तथा साकम्प्रस्थाय्येऽपि सहप्रस्थानं गुणसम्बन्धः।

सा सम्पद् भवति (=३० वर्ष दर्शपौर्णमास से यजन करे, यदि दाक्षायण यज्ञ करनेवाला होवे, तो १५ वर्ष ही यजन करे । इसी [१५ वर्ष के काल] में वह [तीस की] संपदा प्राप्त हो जाती है । दो पौर्णमास यजन करता है, दो अमावस्या । इसी में ही निश्चय से वह सम्पदा प्राप्त हो जाती है)। यदि दाक्षायण यज्ञ दर्शपौर्णमास ही होवे । इस प्रकार तो तीस की संपदा से प्रयोजन है [वह प्रति पूर्णिमा और अमावस्या दो-दो याग करने से पूर्ण हो जाती है] । इस प्रकार मानने पर ही उस [दर्शपौणमास] का ३० सम्पदा का अनुग्रह युक्त होता है । इसलिये भी दाक्षायण यज्ञ कर्मान्तर नहीं है ॥९॥

गुणात् संज्ञोपबन्धः ॥१०॥

सूत्रार्थः—(गुणात्) गुण से (संज्ञोपबन्धः) [दाक्षायण आदि] संज्ञा का निबन्ध है, अर्थात् आवृत्ति आदि गुणों के योग से दाक्षायण आदि संज्ञाएं हैं ।

व्याख्या—जो यह कहा है कि—संज्ञा के निबन्ध से [दाक्षायणादि] कर्मान्तर हैं । [इस विषय में हमारा कहना है कि] यदि दाक्षायण शब्द किसी भी प्रकार से दर्शपूर्णमास का वाचक कल्पित नहीं किया जा सकता है, तब तो कर्मान्तर है, ऐसा कहा जा सकता है । आवृत्ति गुण के सम्बन्ध से [दाक्षायण शब्द दर्शपूर्णमास को] कह सकता है । अयन से आवृत्ति कही जाती है । दक्ष [यजमान के] ये [ऋत्विक्] दाक्ष होंगे, उन (=दाक्ष ऋत्विजों) का अयन (=आवृत्ति) दाक्षायण कहाती है । दक्ष कौन है ? उत्साही [यजमान] । इसी प्रकार साकंप्रस्थाय्य में भी सहप्रस्थान गुण का संबन्ध है । इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये । यदि दर्शपूर्णमास का

---

१. व्यत्रामुद्रितः पाठो नोपलब्धः । द्र०—'य एवं विद्वांस्त्रिंशतं वर्षाणि यजेत । तस्माद् त्रिंशतमेव वर्षाणि यजेत । यद्यु दाक्षायणयज्ञी स्याद्, अथो अपि पञ्चदशैव वर्षाणि यजेत । अत्र ह्येव सा संपद् सम्पद्यते । द्वे हि पौर्णमास्यौ यजेत द्वे अमावास्ये । अत्रो एव खलु सा संपद् भवति ।' शत० ११।१।२।१३॥ २. तद्यत्साकं सं प्रतिष्ठन्ते साकं संप्रयजन्ते साकं भक्षयन्ते । तस्मात् साकंप्रस्थाय्यः । शां० ब्रा० ४।९॥

एवं सर्वत्र। शक्यते चेद्दर्शपूर्णमासयोर्गुणसम्बन्धो वदितुं, किमिति स एव यागः प्रतीयमानोऽन्य इत्युच्यते ? किमिति वा प्रकरणं बाध्यते ? ॥१०॥

गुणसंबन्ध कहा जा सकता है, तो क्या मानकर वही (=दर्शपूर्णमास) याग प्रतीत होता हुआ अन्य है, ऐसा कहते हो ? और क्यों प्रकरण को बाधते हो ? ॥१०॥

विवरण—अयनमावृत्तिः—आवृत्ति=आवर्त्तन=लौट कर आना। जहां से गति आरम्भ हुई, वहीं लौटना क्रिया 'अयन' कहाती है। सूर्य की अयन गति भी ऐसी ही है। जिस छोर से वह दक्षिण वा उत्तर की ओर गति करता है, एक वर्ष में वह उसी आरम्भिक बिन्दु पर पहुंच जाता है। रामायण शब्द में भी यही अयन शब्द है—रामस्य अयनमावर्तनम्=रामायणम्। राम अयोध्या से वन की ओर चले, और लौटकर वापस अयोध्या पहुंच गये। अतः राम का अयन आवर्तन उपपन्न है। इसी रामायण का प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ भी रामायण नाम से विख्यात हुआ। आजकल के संस्कृत-शब्दार्थ ज्ञान-शून्य हिन्दी के लेखकों ने 'रामायण' के समान कृष्णायन नाम का ग्रन्थ रच डाला। कृष्ण मथुरा से द्वारका गये, वहीं उनका निधन हो गया। राम के समान मथुरा को वापस नहीं लौटे। अतः उनका गमन=गति अयन=आवर्तन रूप नहीं है। विना संस्कृतभाषा का बोध हुए हिन्दी वा किसी भी प्रान्तीय भाषा का यथावत् प्रयोम नहीं हो सकता है। क्योंकि समस्त भारतीय भाषाएं संस्कृतभाषा का अपभ्रंशरूप हैं। अन्य प्रान्तीयभाषाभाषियों की अपेक्षा हिन्दीभाषी अधिक स्वैर प्रयोगी बनकर संस्कृतभाषा की उपेक्षा कर रहे हैं। यह उनके लिये ही हानिकारक है।

दक्षस्येमे दाक्षाः, तेषामयनम्—हमें यह क्लिष्ट कल्पना प्रतीत होती है। क्योंकि शाङ्खायन ब्राह्मण (४।४) में अथातो दाक्षायणयज्ञस्य ऐसा उपक्रम करके दक्षो ह वै पार्वतिरेतेन यज्ञेनेष्ट्वा सर्वान् कामान् आपतत् लिखा है। इसी प्रकरण (४।६-८) में सार्वसेनि यज्ञ, शौनक यज्ञ, वसिष्ठ यज्ञ आदि कतिपय तत्तदृषियों द्वारा किये गये यज्ञों का वर्णन किया है (कतिपय सामान्य नामवाले भी हैं)। अतः ये नाम ऋषिविशेषों से सम्बद्ध हैं। इन सब का पूर्व प्रदर्शित दर्शपूर्णमास यज्ञ के साथ सम्बन्ध शांखायन ब्राह्मण में एतस्यामेव पौर्णमास्याम्, एतस्यामेवमावास्यायाम् शब्दों से दर्शाया है। अतः हमारे विचार में गुणोपवन्ध अन्य प्रकार से मानना चाहिये। सम्भव है ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी मन्त्र-संहितावत् अपौरुषेय स्वीकार करने के कारण ही शबर स्वामी ने क्लिष्ट कल्पना की है। ऐसी ही क्लिष्ट और अशुद्ध कल्पना शबर स्वामी ने वेदापौरुषेयाधिकरण के परं तु श्रुति-सामान्यमात्रम् (१।१।३१) सूत्र के भाष्य में प्रावाहणि शब्द के व्याख्यान में की है। शबर स्वामी की अशास्त्रीय (=शास्त्रविरुद्ध) कल्पना के विषय में हम पूर्व पृष्ठ ९३ पर विवरण में विस्तार से लिख चुके हैं। उत्तर काल के मीमांसकों ने शबरस्वामी का इन प्रकरणों में आंख मींच कर अन्धानुकरण किया है। केवल कुतुहल वृत्तिकार ने दोनों स्थानों पर शबर स्वामी की कल्पनाओं को स्वीकार नहीं किया है।

साकंप्रस्थाय्येऽपि सहप्रस्थानं गुणसम्बन्धः—यह शबर स्वामी का कथन युक्त है। शाङ्-

समाप्तिरविशिष्टा ॥११॥ (उ०)

यदुक्तम्—फले वाक्यं समाप्तम् । प्रजाकामादेर्यागानुष्ठानं विधीयते इति । नैवम् । अविशिष्टा फले समाप्तिः । यान्यन्यानि मुक्तसंशयानि गुणे फलस्य विधायकानि वाक्यानि गुणस्य फलवचने[1] पर्य्यवसितानि—यथा दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयाद्[2] इत्येवमादीनि, तैरेतदविशिष्टम् । अत्रापि हि गुणात् फलमुच्यते । कथम्? नैतदेवं सम्बध्यते—प्रजाकामस्य यज्ञमनुतिष्ठेदिति । कथं तर्हि? प्रजाकामस्य आवृत्तियज्ञमनुतिष्ठेदिति । आवृत्तियज्ञ इति यज्ञावृत्तिसम्बन्धोऽनुष्ठातव्यो निर्दिश्यते, न यज्ञः । तस्मात् प्रकृतयोर्दर्शपूर्णमासयोर्गुणात् फलमुच्यते, न यागान्तरं विधीयते इति । एवं साकम्प्रस्थाय्ये संक्रमयज्ञे च द्रष्टव्यमिति ॥११॥ इति दाक्षायणादीनां गुणताऽधिकरणम् ॥४॥

खायन् ब्राह्मण ४।९ . में लिखा है—तद्यत् साकं प्रतिष्ठन्ते साकं सं प्रयजन्ते साकं भक्षयन्ते तस्मात् साकंप्रस्थाय्यः (=जो इसी अमावस्या कर्म में साथ ही इस कर्म को करते हैं, साथ ही यजन करते हैं, साथ ही यज्ञशेष का भक्षण करते हैं, इससे यह साकंप्रस्थाय्य है) । संक्रमयज्ञेन—यद्यपि भाष्यकार ने इसका आवृत्तिरूप अर्थ कैसे होता है, यह नहीं दर्शाया है, तथापि उनके मतानुसार सम्=समान क्रम=क्रमण=अनुष्ठानरूप अर्थ जानना चाहिये ॥१०॥

समाप्तिरविशिष्टा ॥११॥

सूत्रार्थः—फल में वाक्य की (समाप्तिः) समाप्ति=पूर्णता [कर्मफल संबन्ध में, और अभ्यासरूप गुणफल सम्बन्ध में] (अविशिष्टा) अभिन्न=समान है ।

व्याख्या—जो यह कहा है कि—फलविधान में वाक्य पूर्ण हो जाता है । प्रजा आदि की कामनावाले के लिये याग के अनुष्ठान का विधान किया जाता है । ऐसा नहीं है । फल में वाक्य की समाप्ति समान है । जो अन्य मुक्तसंशय गुणविषयक फल के विधायक वाक्य गुण के फलवचन में पर्यवसित (=समाप्त=पूर्ण) होते हैं—यथा दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात् (=इन्द्रिय की कामनावाला दही से होम करे) इत्यादि, उनसे यह (—दाक्षायणयज्ञेन यजेत प्रजाकामः वचन) विशिष्ट नहीं है [अर्थात् उनसे अविशिष्ट (=अभिन्न) ही है] । इस वचन में भी [आवृत्तिरूप] गुण से फल कहा है । किस हेतु से? यह इस प्रकार संबद्ध नहीं होता है—प्रजा की कामनावाले का यज्ञ का अनुष्ठान करे । तो कैसे सम्बन्ध होता है? प्रजा की कामनावाले का आवृत्ति-यज्ञ का अनुष्ठान करे । यहां आवृत्तियज्ञ अर्थात् यज्ञ की आवृत्ति का सम्बन्ध अनुष्ठातव्य (=अनुष्ठान के योग्य) निर्दिष्ट किया है, यज्ञ अनुष्ठातव्य है ऐसा नहीं कहा है । इसलिये प्रकृत दर्शपूर्णमास के [आवृत्तिरूप] गुण से फल कहा है, अन्य याग का विधान नहीं किया जाता है । इसी प्रकार साकंप्रस्थाय्य और संक्रमयज्ञ में भी जानना चाहिये ॥११॥

---

१. अयमाचार्यचरणैश्शुद्धीकृतः पाठः । अन्यत्र 'फलवचनानि' इति अर्थाननुगुणः पाठ उपलभ्यते ।

२. द्र०—दध्नेन्द्रियकामस्य । तै० ब्रा० २।१।५॥

[द्रव्यदेवतायुक्तानां यागान्तरताऽधिकरणम् ॥५॥]

संस्कारश्चाप्रकरणेऽकर्मशब्दत्वात् ॥१२॥ (पू०)

अनारभ्याधीयते किञ्चित्—वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः[1], सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः।[2] दर्शपूर्णमासयोरप्यामनन्ति—ईषामालभेत,[3] चतुरो मुष्टीन्निर्वपति[4] इति। तत्रायमर्थः सांशयिकः—किं दर्शपूर्णमासिके आलम्भे आलम्भो गुणविधिः, दर्शपूर्णमासिके च निर्वापे निर्वापो गुणविधिः, उत न प्रकृतिमपेक्षते, इतरश्चेतरश्चेति? यदा न प्रकृतिमपे-

---

संस्कारश्चाप्रकरणेऽकर्मशब्दत्वात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(अप्रकरणे) अप्रकरण में पठित [वायव्यं श्वेतमालभेत और सौर्यं चरुं निर्वपेत् वचनों के] (अकर्मशब्दत्वात्) कर्मविधायक शब्द के न होने से (संस्कारः) संस्कार कर्म=गुणविधियां (च) ही हैं।

विशेष—किसी कर्मविशेष के प्रकरण में अपठित वचन-विहित गुण आदि का प्रकृतियाग के साथ संबन्ध होता है, यह अ० ३ पाद ६ के अप्रकरणाधीतानां प्रकृतिगामित्वम् नामक अधिकरण में निर्णय किया है। उसी के आधार पर यहां वायव्यं श्वेतमालभेत और सौर्यं चरुं निर्वपेत् वचनों पर विचार किया है। यह पूर्वपक्ष का सूत्र है। इसमें कहा है कि अप्रकरणाधीत वायव्यं श्वेतमालभेत और सौर्यं चरुं निर्वपेत् वचनों का प्रकृतिभूत दर्शपौर्णमास विहित ईषामालभेत, और चतुरो मुष्टीन् निर्वपति के आलम्भ और निर्वाप में श्वेत और चरुरूप गुणविधान जानना चाहिये।

व्याख्या—किसी कर्म का विधान न करके कतिपय वचन पढ़े जाते हैं—वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः (=भूति की कामनावाला वायुदेवतावाले श्वेत पशु का आलभन करे); सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः (=ब्रह्मवर्चस की कामनावाला सूर्यदेवतावाले चरु का निर्वाप करे)। इसी प्रकार दर्शपूर्णमास में भी पढ़ते हैं—ईषामालभेत (ईषा का आलभन=स्पर्श करे); चतुरो मुष्टीन्निर्वपति (=चार मुट्ठी [हव्य द्रव्य का] निर्वाप करता है)। इनमें यह अर्थ सांशयिक है—क्या दर्शपूर्णमास में विहित आलम्भ में आलम्भ गुणविधि है, तथा दर्शपूर्णमास में विहित निर्वाप में निर्वाप गुणविधि है, अथवा प्रकृति (=दर्शपूर्णमास) की अपेक्षा नहीं

---

१. तै० सं० २।१।१॥

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—सौर्यं चरुं निरवपन्...ब्रह्मवर्चसकामः। तै० सं० २।३।२॥ सौर्यं घृते चरुं निर्वपेत् शुक्लानां व्रीहीनां ब्रह्मवर्चसकामः। मै० सं० २।२।२॥

३. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—उत्तरामीषामालभ्य जपति। आप० श्रौत १।१७।७, भार० श्रौत १।१९।६॥

४. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—चतुरो मुष्टीन्निरूप्य...। आप० श्रौत १।१८।२॥

क्षते, तदापि किं यावदुक्ते, उत यजिमती एते कर्मणी इति? किं तावत् प्राप्तम्? 'प्राकृतयोरालम्भनिर्वापयोर्गुणविधी इति । कुतः ? अकर्मशब्दत्वात् । नात्र कर्मणो विधायकः शब्दोऽस्ति । ननु आलभेत निर्वपेदिति च । नैतौ विधातारौ । अविदितस्यार्थस्य वक्ता विधायको भवति । न चैतयोरविदितोऽर्थः—आलम्भः कर्त्तव्यः, निर्वापः कर्त्तव्य इति । तस्मादनुवदितारौ । किमर्थमनुवदतः? आलम्भे श्वेतं विधातुं, निर्वापे च चरुम् । तस्मान्नालम्भान्तरं निर्वापान्तरं च । 'प्राकृतयोरेव गुणविधी इति ॥१२॥

करता है, अर्थात् भिन्न भिन्न है? और जब प्रकृति की अपेक्षा नहीं करता है, तब भी क्या जितना कहा है उतना ही कर्म है, अथवा यजिमान् (=यागवाले) ये कर्म हैं ? क्या प्राप्त होता है ? प्राकृत (=प्रकृतिभूत दर्शपूर्णमासविषयक) आलम्भ (=ईषा का आलम्भ) और निर्वाप (=चार मुट्ठी यज्ञीय पदार्थ का निर्वाप) के विषय में [वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः और सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः] गुणविधियां हैं ? किस हेतु से ? [वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः और सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः] अकर्मशब्द (=कर्म के अविधायक शब्द) होने से । यहां (=उक्त वचनों में) कर्म का विधायक शब्द नहीं है । (आक्षेप) आलभेत और निर्वपेत् [कर्म के विधायक शब्द] हैं । (समाधान) ये (=आलभेत और निर्वपेत्) विधायक नहीं हैं । अविदित अर्थ को कहनेवाला शब्द विधायक होता है । इन शब्दों का जो अर्थ है—'आलम्भ करना चाहिये' और 'निर्वाप करना चाहिये' वह अविदित नहीं है । [अर्थात् 'आलम्भ और निर्वाप करना चाहिये' यह अर्थ ईषामालभेत और चतुरो मुष्टीन् निर्वपति वचन से अवगत है ।] इसलिये [वायव्यं श्वेतमालभेत और सौर्यं चरुं निर्वपेत् वचनगत आलभेत और निर्वपेत् पद अनुवादक हैं । (आक्षेप) किसलिये ये अनुवाद करते हैं ? (समाधान) आलम्भ कर्म में श्वेत गुण का, और निर्वाप में चरु का विधान करने के लिये । इसलिये [वायव्यं श्वेतमालभेत और सौर्यं चरुं निर्वपेत् में] अन्य आलम्भ और निर्वाप नहीं हैं । प्राकृत (=दर्शपौर्णमासस्थ) [आलम्भ और निर्वापविषय] की ही गुणविधियां हैं ॥१२॥

विवरण—ईषामालभेत—देवानामसि वह्नितमम् (यजुः १।८,९) से शकट के उपस्तम्भ (=शकट को ठहरानेवाले अगले भाग में संयुक्त काष्ठ) के पीछे के भाग में ईषा (=शकट के आधारभूत दक्षिण उत्तर भाग में लगे हुए लम्बे दो काष्ठ, जो अग्र भाग में मिल जाते हैं) का स्पर्श किया जाता है—देवानामित्युपस्तम्भनस्य पश्चादीषाम् [आलभेत] (कात्या० श्रौत ३।२।१४) । चतुरो मुष्टीन् निर्वपति—प्रत्येक याग (=प्रधानाहुति) के लिये जो धान्य द्रव्य विहित है, उसका चार बार एक-एक मुट्ठी करके अग्निहोत्रहवणी पात्र में जो प्रक्षेप किया जाता है, उसे 'निर्वाप' कहते हैं । द्र०—देवस्य त्वेति गृह्णात्यग्नेयं चतुरो मुष्टीन् (का० श्रौत ३।३।२०) । यावदुक्ते कर्मणी—कई कर्म ऐसे होते हैं, जिनमें जितना विधान किया है, उतना ही कर्म होता है ।

१. क्वचित् 'प्रकृतयोः' पाठ उपलभ्यते । तत्र प्रकृतयोर्दर्शपौर्णमासस्थयोरित्यर्थो ज्ञेयः ।
२. क्वचित् 'प्रकृतयोरेव' पाठो दृश्यते । तत्रापि पूर्ववदर्थो ज्ञेयः ।

यावदुक्तं वा, कर्मणः श्रुतिमूलत्वात् ॥१३॥

न चैतदस्ति—'प्राकृतयोर्गुणविधी इति ।' किं तर्हि ? आलम्भान्तरं विधीयते इति[1] निर्वापान्तरञ्च । यदि आलम्भनिर्वापौ विधीयेते, ततो न प्राकृतौ तौ विहितौ । यदि न विधीयेते, ततः प्राकृतौ लक्ष्येते—'यावालम्भनिर्वापौ कर्त्तव्यौ' इति । ततस्तौ लक्षयित्वा श्वेतो विधातव्यो भवति, चरुश्च । तौ च भूतिकामस्य ब्रह्मवर्चसकामस्य च । इति द्वावप्यर्थौ विधेयौ स्याताम् । तत्र वाक्यं भिद्येत ।

उनमें प्रकृति से धर्मों का अतिदेश नहीं होता है । यथा—दर्वि होम आदि । तद्वत् वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः वचन से विहित कर्म पशु के आलम्भपर्यन्त ही है, और सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः वचन विहित कर्म व्रीहि के निर्वाप तक ही होता है । अर्थात् इन हवियों से याग नहीं होता है । उत यजिमती—वायव्यं श्वेतम् वचन में श्वेत पशु का वायु-देवता के साथ, और सौर्यं चरुम् में चरु द्रव्य का सूर्य देवता के साथ सम्बन्ध जाना जाता है । इसलिये जब तक इन द्रव्यों से वायु और सूर्य देवता के लिये याग (=त्याग) नहीं करेंगे, तब तक द्रव्य-देवता का सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता है । अतः प्रतीयमान द्रव्य-देवता सम्बन्ध को संबद्ध करने के लिये याग (=त्याग) आवश्यक होता है । इसलिये ये यजिमती कर्म (=यागकर्म) हैं, यह शंका होती है ॥१२॥

यावदुक्तं वा, कर्मणः श्रुतिमूलत्वात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वनिर्दिष्ट 'प्राकृत कर्मों की गुणविधियां हैं', पक्ष की निवृत्ति के लिये है । अर्थात वायव्यं श्वेतमालभेत और सौर्यं चरुं निर्वपेद् वचन प्राकृत कर्मों की गुणविधियां नहीं हैं । (यावद् उक्तम) जितना कहा है, उतने कर्म के विधायक हैं, (कर्मणः) कर्म के (श्रुतिमूलत्वात्) श्रुतिमूलक होने से ।

व्याख्या—'प्राकृत कर्म की गुणविधियां हैं' ऐसा नहीं है । तो क्या हैं ? आलम्भान्तर और निर्वापान्तर का विधान किया जाता है । यदि [वायव्यं श्वेतमालभेत और सौर्यं चरुं निर्वपेत् वचन] आलम्भ और निर्वाप का विधान करते हैं, तो प्राकृत (=दर्शपूर्णमासस्य) [ये आलम्भ और निर्वाप] नहीं हैं, क्योंकि उनका विधान [ईषामालभेत, और चतुरो मुष्टीन् निर्वपति वचनों से] किया जा चुका है । यदि [आलम्भ और निर्वाप का] विधान नहीं किया जाता है, तो प्राकृत [आलम्भ और निर्वाप] लक्षित होवें—'जो [दर्शपूर्णमास में] आलम्भ और निर्वाप कर्त्तव्य हैं' । तत्पश्चात् उन [प्राकृत आलम्भ और निर्वाप] को लक्षित करके श्वेत गुण और चरु द्रव्य का विधान कर्तव्य होवे । और वह [श्वेत गुण और चरु द्रव्य क्रमशः] भूति की कामनावाले के और ब्रह्मवर्चस की कामनावाले के होवें । इस प्रकार दो [क्रमशः प्रतिवाक्य श्वेतगुण और भूतिकाम तथा चरुद्रव्य और ब्रह्मवर्चसकाम] अर्थ विधेय होवें । उस अवस्था में वाक्यभेद होवे ।

---

१. अत्रत्यम् 'इति' पदं 'निर्वापानन्तरं च' इत्यस्मादूर्ध्वं द्रष्टव्यम् ।

अथवा योऽसौ विधायकः शब्दः, स लक्षयितव्योपयुक्तः इति। विधायकाभावादेकोऽप्यर्थो न शक्यते विधातुम्। अथ स एव लक्षयिष्यति, तेनैव च विधायिष्यते गुण इति। न मिथो विधानलक्षणसम्बन्धोऽवकल्पते। अथ धात्वर्थोऽनुवादः, प्रत्ययो विधातुमिष्यते इत्युच्यते—य आलम्भः स एतद्गुणः कर्त्तव्य इति, तथापि न प्राकृतो लक्ष्येत। लौकिकोऽपि ह्यालम्भोऽस्ति। प्रत्ययार्थेऽनूद्यमाने प्राकृतोऽनूद्येतेति, स हि कर्त्तव्यो निर्ज्ञातः,

---

विवरण—विधीयते इति—इस 'इति' पद को **निर्वापान्तरं च** से आगे जानना चाहिये—आलम्भान्तरं निर्वापान्तरं च विधीयते इति ऐसा वाक्य-विन्यास जानना चाहिये। अथवा इसे हटा देना चाहिये। आचार्यपाद ने पढ़ाते समय 'इति' शब्द को कटवा दिया था। **यदि आलम्भनिर्वापौ विधीयेते**—इसका भाव यह है कि यदि 'आलभेत' और 'निर्वपेत्' पदस्थ लिङ् विभक्ति को विधायक मानते हैं तो प्राकृत कर्म का अनुवाद नहीं होगा। **यदि न विधीयेते**—यदि लिङ् विभक्ति विधायक नहीं है, तो प्राकृत कर्म लक्षित हो सकता है। **ततस्तौ लक्षयित्वा**—इसका भाव यह है कि **आलम्भं निर्वापं चोद्दिश्य श्वेतो चरुश्च विधातव्यः**=प्राकृत आलम्भ और निर्वाप को उद्दिष्ट करके श्वेतगुण और चरु द्रव्य का विधान करना चाहिये। **तत्र वाक्यं भिद्येत**—'आलभेत' और 'निर्वपेत्' को अनुवादक मानने पर दो वाक्य होते हैं—प्रथम 'जो प्राकृत आलम्भ और निर्वाप कर्तव्य हैं।' दूसरा 'उन प्राकृत आलम्भ और निर्वाप को लक्षित करके भूति कामनावाले के लिये श्वेत का आलम्भ करे, और ब्रह्मवर्चस् कामनावाले के लिये चरु का निर्वाप करे। इसलिये **यावदुक्त कर्म**—'वायु देवता के उद्देश से किसी श्वेत वस्तु का स्पर्श करना चाहिये', 'सूर्य देवता के उद्देश से चरु द्रव्य का निर्वाप करना चाहिये' इतना ही अर्थ विवक्षित जानना चाहिये। द्र० तन्त्रवार्तिक—**तस्माद्यत् किञ्चिच्छ्वेतं वायूद्देशेन स्प्रष्टव्यमिति यावदुक्तचोदनानुसारात्**। यहां भट्ट कुमारिल ने आलभेत का अर्थ पशु की हिंसा करना न लिखकर स्पर्श अर्थ माना है। यही अर्थ आलभेत का सर्वत्र युक्त है। नवीन मीमांसकों का कहीं स्पर्श, और कहीं मारना द्विविध अर्थ करना अन्याय्य है।

व्याख्या—अथवा जो यह [आलभेत और निर्वपेत्] विधायक शब्द हैं, वह लक्षयितव्य के लिये उपयुक्त हो गया। इस कारण [उसके] विधायक शब्द न होने से [दोनों अर्थों में से] एक अर्थ का भी विधान नहीं किया जा सकता है। यदि [कहो कि] वही [आलभेत और निर्वपेत् शब्द प्राकृत आलम्भ और निर्वाप को] लक्षित करेगा, और उसी से ही गुण का विधान किया जायेगा। तब तो परस्पर विधान और लक्षण (=लक्षित करना) सम्बन्ध समर्थ नहीं होगा। और यदि [आलभेत और निर्वपेत् में] धात्वर्थ (=आलम्भ और निर्वाप) को अनुवाद और [लिङ्]प्रत्यय को विधायक मानें—'जो आलम्भ करना है, वह इस गुणवाला किया जाये' ऐसा कहते हो, तब भी प्राकृत (=दर्शपूर्णमासस्थ आलम्भ) लक्षित नहीं होगा। लौकिक भी आलम्भ है। प्रत्ययार्थ (=आलम्भः कर्तव्यः) के अनूद्यमान होने पर प्राकृत (दर्शपूर्णमासस्थ आलम्भ) अनूदित हो सकेगा, क्योंकि वही [ईषामालभेत वचन से] कर्तव्यरूप से ज्ञात है, लौकिक आलम्भ विदित

न लौकिकः। अतो न प्राकृतानुवादो घटते इति। यावदुक्तमालम्भमात्रं निर्वापमात्रं चाऽपूर्वं कर्त्तव्यम्। कर्म्मणः श्रुतिमूलत्वात्। श्रुतिमूलं हि कर्मेत्युक्तम्—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति। तस्मात् कर्मान्तरे ॥१३॥

यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेतेषां कर्मसम्बन्धात् ॥१४॥ (उ०)

यदुक्तम्—'न प्राकृतयोर्गुणविधी इति', एतद् गृह्णीमः। यत्तूक्तम्—'आलम्भ-

---

नहीं है। इस कारण प्राकृत [आलम्भ और निर्वाप] का अनुवाद उपपन्न नहीं होता है। इसलिये यावद् उक्त [अर्थात्] आलम्भमात्र और निर्वापमात्र अपूर्व (=पूर्वतः अविदित) करना चाहिये। कर्म के श्रुतिमूलक होने से। कर्म श्रुतिमूलक हैं—ऐसा चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः (१।१।२) से कह चुके हैं। इसलिये ये (=आलम्भ और निर्वाप) कर्मान्तर हैं ॥१३॥

विवरण—अथवा योऽसौ—पूर्व गुणविधिपक्ष में वाक्यभेद दोष का कथन करके यावदुक्त कर्म का विधान दर्शाया था। अब 'अथवा' से वाक्यभेद दोष की उपेक्षा करके अन्यथा यावदुक्त कर्मता को दर्शाते है। न मिथो विधानलक्षण०—'आलभेत शब्द को ही विधायक भी मानें, और उद्देशार्थ लक्षणा शब्द भी मानें, यह कल्पना उत्पन्न नहीं हो सकती है। कर्तव्यो निर्ज्ञातः—कर्तव्य-रूप से ज्ञात है। न लौकिकः—लौकिक पश्वालम्भन कर्तव्यतया निर्ज्ञात नहीं है। प्रभाकर मिश्र ने उद्भिदाऽधिकरण (१।४।१) के भाष्य-व्याख्यान में जो पूर्वपक्ष स्थापित किया है, उसका मूल यही भाष्यवचन है, ऐसा हमारा विचार है। तस्मात् कर्मान्तरे—कर्मान्तरपक्ष वादी ने वायव्यं श्वेत-मालभेत भूतिकामः और सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः में फल पद के श्रवण को देखकर गुणविधि-पक्ष का निराकरण किया है। परन्तु इस पक्ष में देवतापद का आनर्थक्य होता है। अतः सूत्रकार उत्तर सूत्र में आलम्भनमात्रता निर्वापमात्रता का प्रत्याख्यान करेंगे[1] ॥१३॥

यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेतेषां कर्मसम्बन्धात् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है, अर्थात् आलम्भ और निर्वाप यावदुक्त कर्म नहीं हैं। [ये आलम्भ और निर्वाप] (यजतिः) याग हैं (द्रव्यफलभोक्तृसंयोगात्) द्रव्य (=श्वेतपशु—चरु) फल (=भूति—ब्रह्मवर्चस) भोक्ता (=भूतिकाम—ब्रह्मवर्चसकाम) का संयोग होने से। (एतेषाम्) इन द्रव्य फल और भोक्ता के (कर्मसम्बन्धात्) यागकर्म के साथ संबन्ध होने से।

व्याख्या—जो यह कहा है कि—'प्राकृत (दर्शपूर्णमासस्थ आलम्भ और निर्वाप) सम्बन्धी गुणविधियां नहीं हैं', इसे स्वीकार हम करते हैं। और जो कहा है कि—'आलम्भमात्र और निर्वापमात्र

---

१. यथा फलपदं प्रेक्ष्य गुणपक्षो निराकृतः।
देवतापदमालोक्य तथैवालम्भमात्रता ॥ [निराकृतेति शेषः] तन्त्रवार्तिक २।३।१४॥

मात्रं विधीयते निर्वापमात्रमिति' एतदपजानीमहे। यजिमती एते कर्मणी इति। कुतः? द्रव्यफलभोक्तृसंयोगात् । 'द्रव्यदेवतासंयोगात्' । द्रव्यदेवतासंयोगोऽत्र विधीयते भूतिकामस्य ब्रह्मवर्चसकामस्य च। कथम्? न ह्रीदमेव उच्यते—श्वेतमालभेत इति। यदि ह्येतावदेवोच्येत, ततः श्वेतालम्भसम्बन्धोऽवगम्यते¹। इह हि श्वेतं वायव्यमालभेतेत्युच्यते। तेन श्वेतवायव्यसम्बन्धो विधीयते। यथा 'पटं वय' इति पटवयनसम्बन्धो विधेयोऽवगम्यते। 'पटं दीर्घं वय' इति पटस्य दीर्घता विधीयते दीर्घशब्दप्रयोगात्। एवमिहापि सौर्यवायव्यशब्दप्रयोगाद् द्रव्यदेवताभिसम्बन्धो विधेय इति गम्यते। इतरथा देवताशब्दः प्रमादसमाम्नात इति गम्येत।

नन्वत्रापि श्वेतं वायव्यं कुर्यात्, तं चालभेत, इत्यर्थद्वयविधानाद् भिद्येतैव वाक्यम्। नेति ब्रूमः। न ह्यालभेतेत्यस्यायमतिभारः, यद् द्रव्यदेवतासम्बद्धं² पुरुषप्रयत्नं ब्रूयात्, तं चालभेतेत्यर्थविशिष्टम् । श्रुत्यैव हि पुरुषप्रयत्नो विशिष्टो गम्यते, वाक्येन च द्रव्यदेवताश्रयः स³ इति। नात्र द्वाभ्यां वाक्याभ्यां प्रयोजनम्। यथा 'रक्तमश्वं योजय' इति, यदा

का विधान किया जाता है', इसको हम स्वीकार नहीं करते। ये [आलम्भ और निर्वाप] यजिमता (=यागरूप)कर्म हैं। किस हेतु से? द्रव्य फल और भोक्ता के सम्बन्ध से। 'द्रव्य और देवता का संयोग होने से।' भूति और ब्रह्मवर्चस की कामनावाले को द्रव्य और देवता के संयोग का यहाँ विधान किया जाता है। किस प्रकार? इतना ही नहीं कहते हैं कि —श्वेत का आलभन करे। यदि इतना ही कहते, तो श्वेत और आलम्भ का सम्बन्ध जाना जाता। यहां तो 'वायु देवतावाले श्वेत पशु का आलभन करे' ऐसा कहा है। इससे श्वेत और वायव्य के सम्बन्ध का विधान किया जाता है। जैसे पटं वय में पट(=वस्त्र)और वयन(=बुनना)का सम्बन्ध विधेय है, यह जाना जाता है। पटं दीर्घं वय में दीर्घ शब्द के प्रयोग से वस्त्र की दीर्घता का विधान किया जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी सौर्य और वायव्य शब्द के प्रयोग से द्रव्य और देवता का सम्बन्ध विधेय है, यह जाना जाता है। अन्यथा (=ऐसा न मानने पर) देवता शब्द प्रमादपठित है, ऐसा जाना जायेगा।

(आक्षेप) यहां [वायव्यं श्वेतमालभेत में] भी श्वेत को वायु देवतावाला करो, और उसका आलभन करो, इस प्रकार दो अर्थों के विधान करने से वाक्यभेद होगा ही। (समाधान) नहीं होता ऐसा कहते हैं। आलभेत पद के प्रति यह अतिभार नहीं है, जो द्रव्य और देवता से संबद्ध पुरुष-प्रयत्न को कहे ,और उसका आलभन करे, ऐसा अर्थविशेष को कहे। [आलभेत इस] श्रुतिमात्र से विशिष्ट पुरुषप्रयत्न जाना जाता है, और वाक्य से वह द्रव्य देवता के आश्रयवाला है [ऐसा जाना जाता है]। यहां दो वाक्यों से प्रयोजन नहीं है। जैसे 'रक्त (=लाल) अश्व को

---

१. 'अवगम्येत' इति युक्तः पाठः स्यात्।

२. अयमाचार्यचरणैरध्यापितः पाठः। सर्वत्र 'द्रव्यदेवता-संबन्धेन' इति पाठ उपलभ्यते।

३. अयमपि पूर्ववत् पाठो ज्ञेयः। अन्यत्र 'सः' इति पदं नोपलभ्यते।

गुणविधिपरं भवति वाक्यम्, तदा द्वाभ्यां वाक्याभ्यां प्रयोजनं गुणद्वयविधाने। अथ 'शोणमानय' इत्युच्येत, तत्र गुणविधिपरेऽपि वाक्ये पर्यवसिते एव गुणद्वयविधानम्। श्रुत्यैव विशिष्टगुणद्रव्यस्य प्रतीतत्वात्[1], न भवत्येकस्य वाक्यस्यातिभारः। एवमिहापीति। सम्बन्धश्च बहुभिः पदैर्विशिष्ट एक एवोच्यते, इत्येकार्थत्वम्। विभज्यमानानि चाऽत्र पदानि साकाङ्क्षाणि, इत्युपपन्नम् एकवाक्यत्वम्[2]। न च यागमन्तरेण देवतायै द्रव्यं सङ्कल्पितव्यम्, इत्येष सम्बन्धोऽवकल्पते। तस्माद् यजिमती एते कर्मणी इति ॥१४॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१५॥ (उ०)

[रथ में] जोड़ो' में जब गुणविधिपरक वाक्य होता है, तब दो गुणों के विधान में दो वाक्यों से प्रयोजन होता है। और जहां शोणमानय ऐसा कहा जाता है, वहां वाक्य के गुणविधिपरक पर्यवसित (समाप्त) होने पर ही दो गुणों का विधान होता है। [शोण शब्द की] श्रुति से ही विशिष्ट गुणवाले द्रव्य की प्रतीति हो जाने से एक वाक्य के प्रति अतिभार नहीं होता है। इसी प्रकार यहां भी। बहुत पदों से विशिष्ट संबन्ध एक ही कहा जाता है, इसलिये एकार्थत्व है। और यहां पद विभक्त होते हुए साकाङ्क्ष होते हैं, इस प्रकार एक वाक्यत्व उपपन्न होता है। और याग के बिना देवता के लिये द्रव्य का संकल्प करना चाहिये, यह सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता है। इसलिये ये यजिमत् (=यागरूप) कर्म हैं ॥१४॥

विवरण—अथ शोणमानय—इस विषय में पूर्व मी० २।२।२७ का भाष्य (पृष्ठ ५११) तथा उसका विवरण पृष्ठ ५१२ पर महाभाष्य का उद्धृत वचन देखना चाहिये। विभज्यमानानि ..... एकवाक्यत्वम्—यह अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्यात् (मी० २।१।४६) का अर्थतः अनुवाद है। यजिमती एते कर्मणी—वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः के यागान्तर का वाचक होने पर भी यहां वायव्य पशु का आलम्भन=मारण इष्ट नहीं है। हम पूर्व श्रौत यज्ञमीमांसा (प्रथम भाग के आरम्भ) में विस्तार से निरूपण कर चुके हैं कि पशुयागों में पशु की हिंसा नहीं होती है। उसका पर्यग्निकरण के पश्चात् उत्सर्ग करके यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाशः के नियम से वायुदेवताक पुरोडाश से कर्म होता है ॥१४॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१५॥

सूत्रार्थः—(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से भी आलभेत और निर्वपेत् शब्दों से कही गई विधियां यजिमत्=यागरूप हैं, ऐसा जाना जाता है।

---

1. द्र०—पूर्वत्र २।२।२७ भाष्ये (पृष्ठ ५११)।
2. द्र०—अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्यात्। मी० २।१।४६॥

लिङ्गं खल्वप्येतमर्थं दर्शयति—सोमारौद्रं चरुं निर्वपेद्[1] इति प्रकृत्य परिश्रिते याजयेद्[2] इति परिश्रयणविधिः । एतस्य वाक्ये यजतिशब्देन सङ्कीर्त्तनमवकल्पते, यदि यजिमती एते कर्मणी । अथ प्रकृतौ गुणविधानं, यावदुक्तं वा, यजतिशब्देनानुवादो नावकल्पेत । तस्माद् अवगच्छामो यजिमती इति ।।१५।। इति द्रव्यदेवतायुक्तानां यागान्तरताऽधिकरणम् ।।५।।

व्याख्या—लिङ्ग भी इस (आलभेत और निर्वपेत् पदघटित विधियां यागरूप हैं) अर्थ को दर्शाता हैं—सोमारौद्रं चरुं निर्वपेत् (=सोम और रुद्र देवतावाले चरु का निर्वाप करे) ऐसा कहकर परिश्रिते याजयेत् (=चारों ओर से घिरी हुई वेदि में याग कराये) यह परिश्रयण (=घेरनारूप विधि) है । इस (परिश्रयणविधि) के वाक्य में यजति शब्द से तब संकीर्तन (=कथन) समर्थ होता है, जब ये कर्म यजिमत् (=यागरूप) होवें । और यदि प्रकृतियाग में गुण का विधान होवे, अथवा यावदुक्त कर्म होवे, तो 'यजति' शब्द से अनुकथन करना उपपन्न नहीं होता है [क्योंकि इन दोनों पक्षों में याग होगा ही नहीं] । इसलिये [इस वाक्य से हम जानते हैं कि ['आलभेत' और 'निर्वपेत्' पदघटित कर्म] यजिमत् (=यागरूप) हैं ।।१५।।

विवरण—सोमारौद्रं चरुं निर्वपेत्—यह याग ब्रह्मवर्चस की कामनावाले के लिये विहित है (द्र०—तै० सं० २। २।१०) । सोमारौद्रम्='सोम और रुद्र देवता है जिस चरुरूप हवि का' इस अर्थ में सास्य देवता (अष्टा० ४।२।२४) से अण् प्रत्यय होता है । अण् के णित् होने से देवताद्वन्द्वे च (अष्टा० ७।३।२१) से उभयपद को वृद्धि प्राप्त होती है । सौमारौद्रम् यह उभयपद वृद्धिवाला प्रयोग मैत्रायणी सं० २।१।६ तथा काठक सं० ११।५ सौमारौद्रं चरुं निर्वपेत् कृष्णानां व्रीहीणामभिचरन् आदि में बहुत्र उपलब्ध होता है । तैत्तिरीय संहिता २।१।१० के पाठ में छान्दसत्व के कारण, अथवा संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः (=संज्ञा से निर्देश करके कही विधि अनित्य होती है—नियम से पूर्वपद में वृद्धि का अभाव जानना चाहिये । सोमारौद्र वा सोमारौद्र में देवताद्वन्द्वे च (अष्टा० ६।३।२६) से पूर्वपद को आनङ् आदेश होकर दीर्घ होता है ।

विशेष—तैत्तिरीय सं० २।२।१०, मै० सं० २।१।६ तथा काठक सं० ११।५ के इसी प्रकरण में सामिधेनी ऋचाओं में मनु की ऋचाओं का विधान करके यद्वै किंचन मनुरवदत् तद् भेषजम् पाठ स्वल्प शब्दभेद से मिलता है । ताण्ड्य ब्राह्मण २३।१६।७ में भी इसी प्रकार का पाठ है । इस प्रकरण में जिन मानवी ऋचाओं का उल्लेख है, वे ऋग्वेद मं०८, सूक्त ३१ की अन्तिम ऋचाएं हैं । इनका ऋषि वैवस्वत मनु है । परन्तु आचार्य शंकर ने वेदान्तदर्शन १।२।६—स्मृतेश्च सूत्र के भाष्य में मनुस्मृति के श्लोक को उद्धृत करने से पूर्व मनु की प्रशंसा में यद्वै किंच मनुरवदत् तद्

---

१. तै० सं० २।२।१०।।
२. द्र०—परिश्रिते याजयति । तै० सं० २।२।१०।।

[वत्सालम्भादीनां संस्कारताऽधिकरणम् ॥६॥]

विशये प्रायदर्शनात् ॥१६॥ (उ०)

किमिहोदाहरणम् ? न तावत् सूत्रेणैव परिगृहीतम्, यथा अवेष्टौ यज्ञसंयोगात् क्रतुप्रधानमुच्यते[1] इति । नापि च साध्यं प्रतिज्ञातम्, यथा अयनेषु चोदनान्तरम्[2] । केवलं विशये संशये प्रायदर्शनं हेतुरिति निर्दिश्यते । कस्यायं हेतुरिति न विजानीमः ? प्रकृतं यजिमदेतत् कर्मेति । तदपि न सम्बध्यमानमिव पश्यामः । तदेतदगमकं सूत्रमेव[3] तावदनर्थकम् ।

भेषजम् वचन उद्धृत किया है । यह महती भूल है । मानवी ऋचाओं का ऋषि वैवस्वत मनु हैं । और मनुस्मृति का प्रवक्ता स्वायम्भुव मनु है । यह भूल प्रायः सभी उत्तरवर्ती आचार्यों से हुई है । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी सं० १९२६ के अपने प्रसिद्ध काशी-शास्त्रार्थ के समय मनुस्मृति के प्रामाण्य के लिये उपर्युक्त आशयवाले ताण्ड्य ब्राह्मण २३।१६।७ के 'यद्वै किंचन मनुरवदत्तद् भेषजं भेषजतायै' वचन को उद्धृत किया था (द्र०—दयानन्द शास्त्रार्थ-संग्रह, रा० ला० कपूर ट्रस्ट संस्क०, पृष्ठ २७) ॥१५॥

विशये प्रायदर्शनात् ॥१६॥

सूत्रार्थः—[अग्निहोत्र में श्रुत वत्समालभेत यह आलम्भ वायव्यं श्वेतमालभेत के समान यागरूप है, अथवा संस्कारकर्म है इस] (विशये) सन्देह में (प्रायदर्शनात्) दोहनादि संस्कारप्राय कर्मों में वत्समालभेत का दर्शन=पाठ होने से संस्कारकर्म है । अर्थात् वत्स का स्पर्शमात्र अभिप्रेत है ।

व्याख्या—यहां (=इस अधिकरण में) क्या उदाहरण है ? न तो यहां सूत्र से ही उदाहरण का परिग्रह (=ग्रहण=निर्देश) किया है, जैसे—अवेष्टौ यज्ञसंयोगात् क्रतुप्रधानमुच्यते (मी० २।३।३ सूत्र) में [अवेष्टि का निर्देश करके उदाहरण का संकेत किया है] । और न [इस अधिकरण में] साध्य क्या है इसकी ही प्रतिज्ञा की है, जैसे—अयनेषु चोदनान्तरम् (मी० २।३।५) सूत्र में [दाक्षायणादि के विषय में कर्मान्तरत्व वा गुणविधित्व की साध्यता की प्रतिज्ञा निर्दिष्ट है] । [प्रकृत सूत्र में] केवल विशय=संशय में प्रायदर्शन हेतु का निर्देश किया है । यह (प्रायदर्शन) हेतु किसका है, यह हम नहीं जानते हैं ? [पूर्व अधिकरण में] यजिमत् (=यागरूप) कर्म प्रकृत (=अधिकृत) है । उसे भी हम सम्बद्ध होता हुआ नहीं देखते हैं । इसलिये यह अगमक (=अर्थ का बोध न करानेवाला) सूत्र अनर्थक ही है ।

---

१. मी० २।३।३॥ २. मी० २।३।५॥

३. इदम् एवपदं 'तावदनर्थकम्' इत्यस्मात् परं द्रष्टव्यम्—'सूत्रं तावदनर्थकमेव ।

अथ का अत्र प्रतिज्ञा, कश्च सन्देहः, इति वक्तव्यम् ? वृत्तिकारवचनात् प्रतिज्ञां संशयं चावगच्छामः। अत्र भगवानाचार्य इदमुदाहृत्य वत्समालभेत, वत्सनिकान्ता हि पशवः[1] इतीमं संशयमुपन्यस्यति स्म—किं यजिमदभिधान एष 'आलभति', उतालम्भमात्रवचन इति ? उपपद्यते चैतदुदाहरणं संशयश्च। तत्र च पूर्वपक्षं प्रतिजानीते स्म—यजिमदभिधान इति। इदन्तु प्रत्युदाहरणसूत्रं पूर्वस्याधिकरणस्य। नात्र पूर्वपक्षेणातीव प्रयोजनम्। तथापि पुरुषाणामुच्चावचबुद्धिविशेषान् आलोच्य भवति मन्दानां सामान्यतोदृष्टेनाप्याशङ्का। सापि निवर्त्तनीया। न हि मन्दविषेण वृश्चिकेनापि दष्टो म्रियेत, न जातुचित् कदापि तत्र चिकित्सा नादरेण कर्त्तव्या भवेत्। अतस्तां निवर्त्तयितुं पूर्वपक्षमुपन्यस्यति स्म—

आलभतिरस्माभिः प्राणिसंयुक्तो यजिमदभिधानो दृष्टः। अयमप्यालभतिः प्राणि-

---

यहां प्रथम क्या प्रतिज्ञा है, और क्या सन्देह है, यह कहना चाहिये ? वृत्तिकार [भगवान् उपवर्ष] के वचन से प्रतिज्ञा और संशय को हम जानते हैं। यहां भगवान् आचार्य [उपवर्ष] ने वत्समालभेत वत्सनिकान्ता हि पशवः (=बछड़े का स्पर्श करे, पशु निश्चय ही वत्सप्रिय होते हैं) इस वचन को उदाहृत करके इस संशय को उपस्थित किया है—क्या यह 'आलभति' यजिमत् कर्म को कहनेवाला है, अथवा स्पर्शमात्र को कहनेवाला है ? यह उदाहरण और संशय उपपन्न (=युक्त) है। उसमें पूर्वपक्ष को स्वीकार करते हैं—[यह आलभेत] यजिमत् (यागरूप) कर्म को कहनेवाला है। यह पूर्व अधिकरण का प्रत्युदाहरणरूप सूत्र है। यहां पूर्वपक्ष का विशेष प्रयोजन नहीं है। फिर भी पुरुषों के उच्च नीच (=तीव्र और मन्द) बुद्धिभेदों को सोचकर, मन्द पुरुषों को सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी आशङ्का होती है। उसे भी निवृत्त करना चाहिये। मन्दविषवाले बिच्छू से काटा गया नहीं मरता है, यह सोचकर चिकित्सा प्रयत्नपूर्वक नहीं करनी चाहिये, ऐसा कभी नहीं होता है [अर्थात् चिकित्सा प्रयत्नपूर्वक करनी ही चाहिये]। इसलिये [मन्दबुद्धिवाले पुरुष को होनेवाली] उस शङ्का को निवृत्त करने के लिये [वृत्तिकार] पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं—

विवरण—वत्सनिकान्ताः पशवः—पशु वत्सप्रिय होते हैं। इस कारण बछड़े पर हाथ फेरने से उसकी माता प्रसन्न होती है। यह वचन अग्निहोत्र में गोदोहन के समय प्रयुक्त है (द्र०—तन्त्रवार्तिक)। अतः गौ को दुहते समय वत्स को दूध पिलाने के पश्चात् उसे गाय के मुंह के पास खड़ा करना या बांधना चाहिये, जिससे वह उसे चाटती रहे। पास में वत्स को पकड़कर खड़ा रहनेवाला पुरुष भी उस पर हाथ फेरे। इससे गाय शीघ्र पसीजती है, शीघ्र दूध उतारती है।

व्याख्या—हमने प्राणि के साथ प्रयुक्त आलभति को [वायव्यं श्वेतमालभेत में] यजिमत् (=यागरूप) कर्म को कहनेवाला देखा (=जाना) है। [वत्समालभेत में

---

१. मै० सं० १।५।६॥

संयुक्त एव। तेनायमपि यजिमद्वचन एव, इति भवति कस्यचिदाशङ्का। अथ वा यजिमदभिधानो दृष्ट 'आलभतिः' प्राणिसंयुक्तः। तस्यायमनुवादो वत्सविधानार्थः। तथा च फलं न कल्पयितव्यं भविष्यतीति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

अस्मिन् संशये आलम्भमात्रं संस्कारः। कुतः? प्रायदर्शनात्। यत्रान्यान्यपि संस्कारकर्माणि प्रायभूतान्युच्यन्ते[1], तत्रैतदपि श्रूयते। प्रायादपि चार्थनिश्चयो भवति। यथा—अग्र्यप्राये लिखितोऽग्र्य इति गम्यते। ननु लिङ्गं प्रायदर्शनम्। कथमनेन सिद्धिरिति? उच्यते, यथा प्रायदर्शनेन सिद्ध्यति, तथा वर्णयितव्यम्। कथञ्च प्रायदर्शनं हेतुः? न्यायतः प्राप्तौ सत्याम्। कः पुनर्न्यायः? देवतासम्बन्धाभावान्न यागवचनः, दृष्टार्थत्वाच्च[2]। वत्स आलभ्यमानो गां प्रस्नावयिष्यतीति[3]। तस्मादेवं न्यायप्राप्ते प्रायदर्शनं द्योतकं भवति। तस्मादालम्भमात्रं संस्कारः॥१६॥

प्रयुक्त] यह 'आलभति' भी प्राणि के साथ ही प्रयुक्त है। इसलिये यह भी यजिमत् (=यागरूप) वचन ही है, यह किसी को आशङ्का हो जाती है। अथवा प्राणी के साथ प्रयुक्त 'आलभति' को यजिमत् (=यागरूप) कर्म को कहनेवाला देखा (=जाना) है। उसका [=वायव्यं श्वेतमालभेत वाक्यस्थ 'आलभेत' का] यह (=वत्समालभेत वाक्यस्थ) अनुवाद वत्स के विधान के लिये है। ऐसा मानने पर [वत्समालभेत कर्म के पृथक्] फल की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

इस संशय के होने पर [यह 'आलभति'] आलम्भमात्र (=स्पर्शमात्र) संस्काररूप है। किस हेतु से? प्रायदर्शन से। जहां अन्य भी संस्कारकर्म प्रायः कहे हैं, वहां पर यह (=वत्समालभेत भी पढ़ा गया है। प्रायिकत्व से भी अर्थ का निश्चय होता है। जैसे—प्रायः अग्र्यों (=श्रेष्ठों) में लिखे [नाम] को देखकर यह भी अग्र्य है, ऐसा जाना जाता है। (आक्षेप) प्रायदर्शन तो लिङ्ग है। इससे कैसे सिद्धि होती है? (समाधान) जिस प्रकार प्रायदर्शन से [उक्त अर्थ] सिद्ध होता है, उस प्रकार वर्णन करना चाहिये। प्रायदर्शन हेतु कैसे है? न्याय से प्राप्ति होने पर। अच्छा तो न्याय क्या है? देवता का सम्बन्ध न होने से, और दृष्ट प्रयोजनवाला होने से [यह 'आलभति'] याग का वाचक नहीं है। स्पर्श किया गया (=हाथ से हाथ फेरा गया) बछड़ा गाय को प्रस्नुत (=दूध उतारने में सहायक) होगा। इसलिये इस प्रकार न्याय प्राप्त प्राय दर्शन [यह 'आलभति' याग का वाचक नहीं है, इसका] द्योतक होता है। इसलिये [वत्समालभेत यह] आलम्भमात्र संस्कारकर्म है॥१६॥

विवरण—देवतासम्बन्धाभावात्—जहां आलभेत और निर्वपेत् में द्रव्य के साथ देवता का भी सम्बन्ध होता है, वहीं 'आलभेत' और 'निर्वपेत्' यजिमत् कर्म के वाचक होते हैं। यह पूर्व अधिकरण का सिद्धान्त है। वत्समालभेत में देवता का निर्देश नहीं है। दृष्टार्थत्वाच्च—यह हेतु केवल

---

१. सर्वत्र 'प्रायभूतानीत्युच्यन्ते' इति पाठः। अत्र 'इति' पदमसंबद्धमेव।

२. काशीमुद्रिते 'अदृष्टार्थत्वाच्च' इत्यपपाठः। ३. काशीमुद्रिते 'प्रस्तावयिष्यति' इत्यपपाठः।

अर्थवादोपपत्तेश्च ॥१७॥ (उ०)

अर्थवादश्च भवति—वत्सनिकान्ता हि पशवः[1] इति। यस्माद् वत्सप्रिया पशवः, तस्माद् वत्स आलब्धव्य इति। यदि गां प्रस्नावयितुमालभ्यते, तत्रैतद्वचनमवकल्पते। अथ संज्ञपयितुम्, तत्रैवञ्जातीयकं वचनं नोपपद्यते। तस्मादप्यालम्भमात्रं संस्कारः, इति सिद्धम् ॥१७॥ इति वत्सालम्भादीनां संस्कारताऽधिकरणम् ॥६॥

[नैवारचरोराधानार्थताऽधिकरणम् ॥७॥]

अस्ति अग्निः[2]। तत्र नैवारश्चरुर्भवति[3] इत्युक्त्वा यदेनं चरुमुपदधाति[4] इति समाम-

---

उपोद्वलक (=सहायक) मात्र है। दृष्टार्थ होने मात्र से संस्कार कर्म नहीं होता है। मीमांसक व्रीहि के तुषों को दूर करने के लिये अवहनन कर्म को भी अदृष्टार्थ मानते हैं ॥१६॥

अर्थवादोपपत्तेश्च ॥१७॥

सूत्रार्थः—(च) और (अर्थवादोपपत्तेः) [वत्सनिकान्ता हि पशवः=पशु निश्चय ही वत्स-प्रिय होते हैं, इस] अर्थवाद की उपपत्ति होने से ही [वत्समालभेत वचनस्थ आलभति] स्पर्शरूप संस्कारमात्र है।

व्याख्या—और अर्थवाद भी होता है—वत्सनिकान्ता हि पशवः। जिस कारण पशु-वत्सप्रिय होते हैं, इसलिये वत्स का स्पर्श करना चाहिये। यदि गौ को प्रस्नुत (=दूध उतारने के लिये तैयार) करने के लिये [वत्स का] स्पर्श किया जाता है, तो वहां यह [अर्थवाद] वचन उपपन्न होता है। और यदि [वत्स को] मारने के लिये विधान करता है, तो वहाँ इस प्रकार का [वत्सनिकान्ता हि पशवः] वचन उपपन्न नहीं होता है। इसलिये भी यहां आलम्भ (=स्पर्श) मात्र संस्कार है, यह सिद्ध होता है ॥१७॥

व्याख्या—अग्निचयन नाम का कर्म है। वहां नैवारश्चरुर्भवति (नीवार=तिनी का चरु होता है) ऐसा कह कर यदेनं चरुमुपदधाति (=जो इस चरु को [अग्निधारणार्थं स्थल को बनाते

---

१. मै० सं० १।५।६॥

२. अग्निः=अग्निचयनम्। पदैकदेशप्रयोगः। यथा—देवदत्तो देवः दत्तो वा।

३—४. अग्निप्रकरणे नास्माभिरिमानि वचनान्युपलब्धानि। तैत्तिरीयसंहितायाम् अग्नि-चयने—'एतत् खलु वै साक्षादन्नं यदेष चरुः, यदेतं चरुमुपदधाति.........बार्हस्पत्यो भवति' इति वचनमुपलभ्यते। द्र०—तै० सं० ५।६।२॥

नन्ति। तत्र संदिह्यते—किं चरुर्यागार्थः, यागं कृत्वा अवशिष्ट उपधातव्यः, उत उपधानार्थं एवेति ? यागार्थं इति ब्रूमः। चरोर्हि प्रसिद्धं कार्यं यागः, नोपधानम्। उच्यते, यद्यपि यागार्थता चरोः प्रसिद्धा, तथापि देवतावचनसम्बन्धाभावाद् 'यजति'शब्दासंबन्धाच्च न यागार्थता, इति गम्यते। तदुच्यते—तस्यैव वाक्यशेषे श्रूयते—बृहस्पतेर्वा एतदन्नं यन्नीवाराः[1] इति। तेन देवतावचनेन सन्निहितेनैकवाक्यता भविष्यति इति। बृहस्पतिदेवताक उपधातव्य इति। तस्माद् यागार्थश्चरुः, इत्येवं प्राप्तम्। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

समय मध्य में] रखता है) ऐसा पढ़ते हैं। इसमें सन्देह होता है—क्या चरु याग के लिये है, [उससे] याग करके अवशिष्ट चरु को [अग्निधारणार्थ निर्मीयमाण स्थल में] रखना चाहिये, अथवा यह चरु रखने के लिये ही है ? यागार्थ चरु है, ऐसा हम कहते हैं। चरु द्रव्य का प्रसिद्ध कार्य याग है, उपधान नहीं है। (आक्षेप) यद्यपि चरु की यागार्थता (=यागप्रयोजनता) प्रसिद्ध है, फिर भी देवतावाचक शब्द के अभाव से और 'यजति' शब्द के असंबद्ध होने से [चरु की यहां] यागार्थता नहीं है, ऐसा जाना जाता है। (समाधान) इस विषय में कहते हैं—उसी [चरु-विधायक वचन के] वाक्यशेष में सुना जाता है—बृहस्पतेर्वा एतदन्नं यन्नीवाराः (=बृहस्पति का निश्चय ही यह अन्न है, जो नीवार हैं)। इस समीपस्थ देवतावचन से एकवाक्यता हो जायेगी। इससे बृहस्पति देवतावाले [नैवार चरु] का उपधान करना चाहिये। इस कारण (=देवता का सम्बन्ध होने से) यह चरु याग के लिये है, ऐसा प्राप्त होता है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—पूर्व पांचवें 'द्रव्यदेवतायुक्तानां यागविधायकता' नामक अधिकरण में द्रव्य और देवता के संयोग से आलभेत और निर्वपेत् की यागवचनता कही थी। उसका पूर्व छठा और प्रकृत अधिकरण अपवाद हैं। छठे अधिकरण में विचार्यमाण वत्समालभेत में द्रव्यमात्र का निर्देश है देवता का अभाव होने से संस्कारकर्मता कही है। प्रकृत अधिकरण के विचार्यमाण वचन नैवारश्चरुर्भवति, यदेनं चरुमुपदधाति में उत्तर अर्थवादवाक्य बृहस्पतेर्वा एतदन्नं यन्नीवाराः से देवता की प्रतीति होती है। इस वैशिष्ट्य के कारण यह अधिकरणान्तर रचा है। (तन्त्रवार्तिकानुसार)।

अस्त्यग्निः—यहां पदेषु पदैकदेशान् (महाभाष्य १।१। आ० १)='पदों में पद के एकदेश का प्रयोग होता है' इस नियम से जैसे देवदत्त को देव वा दत्त शब्द से भी लोक में पुकारते हैं, उसी प्रकार अग्निचयन शब्द के एकदेश का प्रयोग जानना चाहिये। 'अग्निचयन कर्म' के लिये 'अग्नि' का प्रयोग पाणिनि ने भी अग्नौ परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः (अष्टा० ३।१।१३१) में किया है। अष्टा० २।१।६ के साकल्यवचन का उदाहरण है— साग्न्यधीते। इसका अर्थ है— अग्निचयनान्त ग्रन्थ को पढ़ता है। नैवारश्चरुर्भवति—नीवार जंगली धान्य है। खेतों में स्वयं उत्पन्न हो जाता है। इसे हिन्दी में तिनी तिली तोली कहते हैं। बंगला भाषा में उड़ी धान्य, और मराठी में देवभात कहा जाता है। चरु शब्द का अर्थ हम पूर्व लिख चुके हैं— अन्तरूष्मसिद्ध ओदनश्चरुः अर्थात् विना

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

संयुक्तस्त्वर्थशब्देन तदर्थः श्रुतिसंयोगात् ॥१८॥ (उ०)

संयुक्तस्त्वर्थशब्देन कार्यशब्देनोपदधातीति तदर्थ एव स्यादुपधानार्थः। उपदधातिना चास्य प्रत्यक्षमेकवाक्यत्वम् । परोक्षं देवतावचनेनानुमेयम्। चरुमुपदधाति इति हि प्रत्यक्षं वाक्यम् । बार्हस्पत्यमुपदधाति इत्यानुमानिकम्। तस्मात् कृत्स्नश्चरुरुपधातव्यः। ततश्च किञ्चिदिज्यायां विनियुज्येत, तदन्यत्र श्रुतमन्यत्र कृतं भवेत्। यत्तु बार्हस्पत्या नीवाराः इति, अर्थवादः स इति। यत्तूक्तम्—'प्रसिद्धा चरोर्यागार्थता' इति। प्रसिद्धिर्वाक्येन

मांड निकाले अन्तः ऊष्मा से सिद्ध चावल 'चरु' कहाता है। उपधातव्यः—'उपधान' का अर्थ है रखना अग्निचयन में अग्नि के धारण के लिये जो ईंटें रखी जाती हैं, उनके लिये 'उपधान' शब्द का प्रयोग होता है। यथा—सृष्टीरुपदधाति (तै० सं० ५।३।४); प्राणभृत उपदधाति (तै० सं० ५।२।१०)। इस विषय में पाणिनि का तद्वानासामुपधानो मन्त्र इतीष्टकासु लुक् च मतोः (अष्टा० ४।४।१२५) सूत्र और उसकी काशिकावृत्ति द्रष्टव्य है। तै० सं० ५।६।२ के अनुसार नैवार चरु का इष्टकाओं के मध्य में उपधान होता है—मध्यत उपदधाति। यागं कृत्वा अवशिष्ट उपधातव्यः—इसका भाव यह है कि याग में चरु दो अंगुष्ठ प्रमाणमात्र उपयुक्त होगा। अतः याग करने के पश्चात् जो चरु बचा है, उसको इष्टकाओं के मध्य में रख देना चाहिये। इस प्रकार चरु से याग भी हो जायेगा और उसका उपधान भी। बृहस्पतिदेवताक उपधातव्यः—चरु का बृहस्पति देवता के साथ विना याग के सम्बन्ध नहीं हो सकता है। अतः बृहस्पति देवता के लिये हुत चरु का उपधान करना चाहिये, यह अर्थ जाना जाता है।

संयुक्तस्त्वर्थशब्देन तदर्थः श्रुतिसंयोगात् ॥१८॥

सूत्रार्थः—[चरु शब्द] (अर्थशब्देन) अर्थ=कार्यशब्द 'उपदधाति' से संयुक्त है। अतः चरु (तदर्थः) उसी के लिये=उपधान के लिये ही है, (श्रुतिसंयोगात्) 'उपदधाति' श्रुति के साथ साक्षात् संयुक्त होने से चरु की उपधानार्थता ही है। [अर्थवाद—बृहस्पतेर्वा एतदन्नं यन्नीवाराः से बृहस्पति देवता का संबन्ध कल्प्य होगा। कल्पना से श्रुति बलवान् होती है। अतः अर्थवादगत देवता का संबन्ध नहीं होता है। देवता ने अभाव में यागार्थता नहीं होगी।]

व्याख्या—अर्थ शब्द से=कार्य शब्द से संयुक्त 'उपदधाति' पद उसके लिये=उपधान के लिये ही होवे। 'उपदधाति' पद के साथ इस (=चरु) का एकवाक्यत्व प्रत्यक्ष है [—एनं चरुमुपदधाति]। देवतावाचक (=बृहस्पति शब्द) के साथ परोक्ष है, और अनुमेय है। चरुमुपदधाति प्रत्यक्ष वाक्य है। बार्हस्पत्यमुपदधाति आनुमानिक वाक्य है। इस लिये सम्पूर्ण चरु का [अग्नि के आधारभूत स्थण्डिल में] उपधान करना चाहिये। यदि उस (=चरु) में से कुछ भाग याग में विनियुक्त होवे, तो वह अन्यत्र श्रुत अन्यत्र किया हुआ होवे। और जो कहा कि—'बार्हस्पत्या नीवाराः' (नीवार बृहस्पतिदेवतावाले हैं), वह अर्थवाद है। और जो कहा कि—'चरु की याग-

बाध्यते । तस्मादुपधानार्थः, इति सिद्धम् ॥१८॥ नैवारचरोराधानार्थताऽधिकरणम् ॥७॥

[त्वाष्ट्रपात्नीवतस्य पर्यग्निकरणगुणकत्वाऽधिकरणम् ॥८॥]

त्वाष्ट्रं पात्नीवतं विधायेदमुच्यते—यत् पर्य्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति[1] इति । तत्र सन्देहः—किं त्वाष्ट्रस्य पर्यग्निकृतस्यैष उत्सर्गो विधीयते, उत तस्माद् यागान्तरमिति ?

प्रयोजनता प्रसिद्ध है।' प्रसिद्धि वाक्य से बाधी जाती है। इसलिये [चरु] उपधान के लिये ही है, यह सिद्ध होता है ॥१८॥

विवरण—बार्हस्पत्यमुपदधातीत्यानुमानिकम्—बृहस्पतेर्वा एतद् अन्नं यन्नीवाराः, इस अर्थ-वाद वचन से बृहस्पति देवता के नीवार के साथ गम्यमान संबन्ध से बृहस्पतिदेवताक चरु का अनुमान करके 'बार्हस्पत्य चरु का उपधान करे' यह आनुमानिक वाक्य होगा। इस आनुमानिक वाक्य के आधार पर चरु का बृहस्पति देवता के साथ संबन्ध होने पर याग की कल्पना होगी। प्रत्यक्षवाक्य अनुमानिकवाक्य से वलवान् ही नहीं होता, अपितु प्रत्यक्ष होने पर अनुमान की आवश्यकता ही नहीं होती है—सति प्रत्यक्षे नानुमानमुदेति यह नैयायिकों का सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। इसी प्रकरण में भट्ट कुमारिल ने तै० सं० (५।६।२) के यदेष चरुमुपदधाति …… बार्हस्पत्यो भवति में प्रत्यक्ष चरु के साथ समानाधिकरण तद्धितप्रत्ययान्त बार्हस्पत्य के निर्देश से जो याग की प्रकृति प्राप्त होती है, उसके सम्बन्ध में लिखा है—जिनके पाठ में उक्त वाक्यशेष में देवता का आश्रयण है, उनके यहां भी चरुमुपदधाति वाक्य से प्रथम चरु के उपधानार्थत्व के विध्युद्देश से सिद्ध हो जाने पर आकाङ्क्षा न होने से देवता का विधान नहीं किया जा सकता है। बार्हस्पत्यो भवति में वर्तमान का कथन होने से, जैसा हम इसका बार्हस्पत्यरूप वर्तमान देखते हैं, उसी प्रकार की प्रशंसा के लिये उक्त अर्थवाद का संकीर्तन है। इस कारण भाष्यकारोक्त शाखान्तरीय बृहस्पतेर्वा एतदन्नम् वचन का जो अर्थ है, वही बार्हस्पत्यो भवति का भी जानना चाहिये। इसलिये तैत्तिरीय वचन भी यजिमत् नहीं है ॥१८॥

व्याख्या—त्वष्टा देवतावाले पात्नीवत (=पात्नीवत कर्मसम्बद्ध) पशु का विधान करके कहा है—यत्पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति (=जो पर्यग्निकरण संस्कारि किये गये पात्नीवत पशु को छोड़ते हैं)। इसमें सन्देह है—क्या त्वाष्ट्र (=त्वष्टा देवतावाले) पर्यग्निकृत पशु के उत्सर्ग का यह विधान किया जाता है, अथवा [त्वाष्ट्र पशुयाग से पात्नीवत] यागान्तर है ?

---

१. त्वाष्ट्रस्य पात्नीवतस्य विधानानन्तरं नैतद् वाक्यमस्माभिः क्वचिदुपलब्धम्। द्र०—तै० सं० ६।६।२॥ अत्रोत्तरत्र त्वाष्ट्रस्य विधानम्।

यदि 'पर्यग्निकृतमुत्सृजन्ति' इति पदद्वयं परस्परेण सम्बद्धम्, ततस्त्वाष्ट्रस्योत्सर्गः। अथ पात्नीवतशब्द उत्सृजतिना सम्बद्धश्चेत, ततो यागान्तरम्। किं तावत् प्राप्तम्? यागान्तरमिति। कुतः? पूर्वस्त्वाष्ट्रः पात्नीवतश्च। उभयविशेषणविशिष्टः कथं पात्नीवतशब्देनानूद्येत? अपि च, त्वाष्ट्रस्योत्सर्गे विधीयमाने पर्यग्निकृतमिति विशेषणं नावकल्पेत। अतो ब्रूमः—पर्यग्निकृतस्य पात्नीवतता विधीयते। स एव याग इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

यदि पर्यग्निकृतम् उत्सृजन्ति ये दो पद परस्पर संबद्ध हैं, तो त्वाष्ट्र पशु का उत्सर्ग होगा। और यदि पात्नीवत शब्द 'उत्सृजति' से सम्बन्ध होवे, तो यागान्तर (=कर्मान्तर) होगा। क्या प्राप्त होता है? यागान्तर है। किस हेतु से? पूर्व पशु त्वाष्ट्र और पात्नीवत है। दोनों विशेषणों से विशिष्ट कैसे अकेले पात्नीवत शब्द से अनूदित हो सकता है? और भी, त्वाष्ट्र पशु के उत्सर्ग के विधान करने पर 'पर्यग्निकृतम्' यह [पात्नीवत का] विशेषण उपपन्न नहीं होता है। इसलिये हम कहते हैं कि—पर्यग्निकृत के पात्नीवतत्व का विधान किया जाता है। और वही याग है। इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—भाष्यकार ने त्वाष्ट्र पात्नीवत पशु के विधान के अनन्तर पठित यत्पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति वचन को उद्धृत किया है। ऐसा पूर्वापरसंबद्ध पाठ हमें उपलब्ध नहीं हुआ। कात्या० श्रौत ८।९।१ की व्याख्या में लिखा है—त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत इति विधाय यत्पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति' इति। पात्नीवत के अर्थ में भी श्रौत व्याख्याकारों में मतभेद है। कात्यायन श्रौत ८।९।४ में पात्नीवत को कर्मनाम माना है—'तदन्तं वा कर्मनामधेयत्वात्। पत्नीसम्बन्धी यूप में त्वाष्ट्र पशु का बन्धन होने से वह पात्नीवान् है, ऐसा किन्हीं का मत है (द्र०—का० श्रौत ८।९।१ सूत्र की विद्याधर टीका का शीर्षक है—पात्नीयूपे त्वाष्ट्रः पशुः)। आपस्तम्ब श्रौत १४।७।१२ में शालामुखीयं पात्नीवतं मिनोति वचन है। तदनुसार पात्नीवत यूप का नाम है। इसी सूत्र की व्याख्या में रुद्रदत्त ने पात्नीवत पशु की संज्ञा मानकर उसके संबन्ध से यूप की पात्नीवत संज्ञा मानी है—एवं पात्नीवतपशुसम्बन्धात् यूपोऽपि पात्नीवतः। कुतुहल वृत्तिकार ने पात्नीवत शब्द के तद्धितप्रत्ययान्त होने से त्वष्टा के साथ पत्नीवान् को भी देवता माना है—तद्धितान्तं पदं प्रत्येकमेव देवतात्वं गमयति।

हमारे विचार में इन सब मतभेदों का मूल तै० सं० ६।६।६ के इन्द्रः पत्निया मनुमयाजयत्, तां पर्यग्निकृतामुदसृजत् (=इन्द्र ने मनु को पत्नी से याग कराया, उस पत्नी को पर्यग्निकरण के पश्चात् छोड़ दिया)। इस पर कृतिरूप अर्थवाद में निहित है। इसमें पत्नी का संबन्ध होने से यह कर्म पात्नीवत हुआ। इसी के स्थान में त्वाष्ट्र पशु के आलभन का विधान होने से तत्स्थानीय त्वाष्ट्र पश्वालम्भ कर्म भी पात्नीवत नाम से जाना जाता है। पत्नी से याग करने पर उसे जिस यूप से सम्बद्ध किया (=पास में बैठाया) उस यूप का नाम भी पात्नीवत हुआ। त्वाष्ट्र पशु के पत्नीस्थानीय होने से त्वाष्ट्र पशु भी पात्नीवत नाम से व्यवहृत हुआ। यतः मनु की पत्नी का पर्यग्नि-

पात्नीवते तु पूर्वत्वाद्[1] अवच्छेदः[2] ॥१९॥ (उ०)

न कर्मान्तरम्। पूर्वस्यैवोत्सृजतिशब्देनावच्छेदो विधीयते। किमेवं भविष्यति? यजिमत्ता तावत् कल्पयितव्या न भविष्यति। उत्सृजतिशब्दश्च श्रुत्या उत्सर्गं विदधद् वाक्येन

करण के पश्चात् उत्सर्ग किया गया, अतः तत्स्थानी त्वाष्ट्र पशु का भी उत्सर्ग होता है। तै० सं० निर्दिष्ट वचन अर्थवाद है। अर्थवादानां स्वार्थे प्रामाण्यं नास्ति (अर्थवादवचनों का स्वार्थ में प्रामाण्य नहीं होता है) इस मीमांसक सिद्धान्त से इन्द्र ने मनु को उसकी पत्नी से याग कराया था। यह प्रतीयमान अर्थ प्रमाणभूत नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि—वैवस्वत मनु इस पृथिवी का प्रथम शासक हुआ था। राजा पृथिवी का पालक होने से पृथिवीपति कहाता है। और पृथिवी राजा की पालिका होने से राजा की पत्नी होती है। इन्द्र ने मनु को उसकी पत्नी पृथिवी से याग कराया। इसका तात्पर्य है—'इन्द्र ने मनु को पृथिवीरूप पत्नी से संगत किया=मनु को राज्याधिकार दिया।' मनु की पुत्री का नाम इळा था। इळा पृथिवी का नाम भी है। मनु ने प्रजा की समृद्धि के लिये रत्नगर्भा पृथिवी का दोहन किया। अतः इळा=पृथिवी उसकी दुहिता हुई। परन्तु आवश्यक दोहन के पश्चात् उसे छोड़ दिया, जिससे वह रिक्त हुई पुनः समृद्ध हो जावे। प्राचीन राजा लोग पृथिवी से धन-धान्य वा रत्नादि की प्राप्ति के लिये उतना ही दोहन करते थे, जिसे उसको क्षति न पहुँचे। आजकल हमारे देश में जिस प्रकार पृथिवी का दोहन हो रहा है, लोहादि धातुओं वा कोयले के लिये उत्खनन हो रहा है, उससे पृथिवी तो कालान्तर में रिक्त हो ही जायगी, भूकम्पादि से धंस भी जायेगी।

पात्नीवते तु पूर्ववत्त्वाद् अवच्छेदः ॥१९॥

सूत्रार्थः—(पात्नीवते) पर्यग्निकृतं पात्नीवतम् वाक्य में (तु) तो (पूर्ववत्त्वात्) पूर्ववान् होने से=त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत पूर्वनिर्दिष्ट कर्म के प्रत्यभिज्ञात होने से (अवच्छेदः) पूर्व का अनुवाद है। अर्थात् त्वाष्ट्र पात्नीवत कर्म की ही उत्सृजति से समाप्ति कही है।

विशेष—भाष्यकार आदि के मतानुसार 'तु' शब्द सूत्र से वहिः उपस्थापित पूर्वपक्ष=कर्मान्तर की निवृत्ति के लिये है। तथा कुतुहल वृत्तिकार ने अपच्छेदः पाठ माना है। उसमें पूर्व-कर्म का अपच्छेद=समाप्ति अर्थ स्पष्ट है।

व्याख्या—[पात्नीवत] कर्मान्तर नहीं है। पूर्व [श्रुत त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत] का ही 'उत्सृजति' शब्द से अवच्छेद (अनुवाद) किया है। इस प्रकार (पूर्वकर्म का अनुवाद होने से) क्या होगा? [पात्नीवत की] यजिमत्ता (=कर्मान्तरता) कल्पित नहीं होगी। और 'उत्सृजति' शब्द श्रुति से [पशु के] उत्सर्ग का विधान करता हुआ वाक्य से बाधित नहीं होगा। कर्मान्तर-

---

१. 'पूर्वत्वात्' इति क्वाचित्कं पाठान्तरम्।
२. 'अपच्छेदः' इति कुतुहलवृत्तौ पाठ.।

न बाधितो भविष्यति । कर्मान्तरपक्षे वाक्येन पात्नीवततायां विधीयमानायामर्थात् प्राप्त उत्सर्गो धातुनाऽनूद्येत । अपिच, पर्यग्निकृतस्य पात्नीवतता पूर्वस्य विदितैव । सा विधातुं न शक्यते । तस्मात् पूर्वस्य कर्मणोऽवच्छेदः । यत्तूक्तम्—'त्वाष्ट्रस्योत्सर्गे विधीयमाने पर्यग्निकृतमिति विशेषणं तावन्नावकल्पेत' इति । नैष दोषः । अतन्त्रमेवात्र पात्नीवतशब्दः । नाऽसौ विशेष्यते । अत एव त्वाष्ट्रः पात्नीवत उभयविशेषणविशिष्टः केवलेन पात्नीवतशब्देन [1]लक्षणयाऽनूद्यते । अतो न दोषः । तस्माद् अवच्छेद इति सिद्धम् ॥१९॥ इति त्वाष्ट्रपात्नीवतस्य पर्यग्निकरणगुणकत्वाऽधिकरणम् ॥८॥

पक्ष में वाक्य से पात्नीवतता के विधीयमान होने पर [उत्सृजति से] अर्थतः प्राप्त उत्सर्ग धातु से अनूदित होगा [अर्थात् 'उत्सर्ग को उद्देश करके पात्नीवतता का विधान किया जाता है' ऐसा अर्थ होगा]। और भी, पर्यग्निकृत की पात्नीवतता [त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत वाक्य से] पूर्व (=त्वाष्ट्र) की विदित ही है। इस कारण उसका विधान नहीं किया जा सकता है। इसलिये पूर्वकर्म का ही अवच्छेद (=समापन) होता है। और जो कहा है—'त्वाष्ट्र के उत्सर्ग के विधान में पर्यग्निकृत विशेषण समर्थ नहीं होता है'। यह दोष नहीं है। यहां पात्नीवत शब्द अतन्त्र है [अर्थात् तन्त्र (=प्रधान) नहीं है]। वह विशेषित नहीं होगा। इसलिये त्वाष्ट्र और पात्नीवत दो विशेषणों से विशिष्ट [पशु] अकेले पात्नीवत शब्द से लक्षणा से अनूदित किया जाता है। अतः कोई दोष नहीं है। इससे [त्वाष्ट्र पात्नीवत का] अनुवाद सिद्ध है ॥१९॥

विवरण—पूर्वस्य विदितैव—इसका यथाविभक्तिक अर्थ हमने व्याख्या में दर्शाया है। यदि यहां पूर्वस्माद् विदितैव पाठ होवे, अथवा षष्ठी को पञ्चम्यर्थ में माना जाये, तो अर्थ अधिक स्पष्ट होता है—पूर्व (=त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत वाक्य) से विदित ही है। **केवलेन पात्नीवतशब्देन**—कुतुहल वृत्तिकार ने अकेले पात्नीवत शब्द से और विना लक्षण के भी त्वाष्ट्र और पात्नीवत पशु के ग्रहण में एक दृष्टान्त दिया है—जैसे 'देवदत्त और यज्ञदत्त की माता का निर्देश दोनों में एक देवदत्तमाता और यज्ञदत्तमाता से किया जाता है', उसी प्रकार त्वष्टा देवतावाले और पत्नीवत् देवतावाले पशु का निर्देश पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति वाक्य में अकेले पात्नीवत शब्द से किया है।

विशेष—जैमिनि के इस अधिकरण से स्पष्ट है कि आचार्य के मत में पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति वाक्य से कर्मान्तर का विधान नहीं है। अपितु त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत वाक्यविहित पशु के उत्सर्ग का विधान है। परन्तु कात्यायन श्रौत ८।९।१-३ सूत्रों में इस विषय में पूर्वपक्ष पशु का उत्सर्ग कहकर सूत्र ४-५ में पात्नीवत को कर्मान्तर मानकर पात्नीवत कर्म का उत्सर्ग कहा है, पशु का उत्सर्ग नहीं माना है (द्र०—कर्क और विद्याधर की व्याख्यायें)। आपस्तम्ब श्रौत १४।७।१३ में पशु का पर्यग्निकरण करके उत्सर्ग कहा है। और आज्य से शेष कर्म को समाप्त करने का विधान

---

१. 'लक्षणयाऽनूद्यतेति न दोषः' इति पाठान्तरम् ।

[अदाभ्यादीनां ग्रहनामताऽधिकरणम् ॥९॥]

न कस्यचिदपि प्रकरणे श्रूयते—एष वै हविषा हविर्यजते, योऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते[1] इति; तथा परा वा एतस्यायुः प्राण एति, योंऽशुं गृह्णाति[2] इति। तत्र सन्देहः—किं यागान्तरमेतद्ग्रहणकम्, उत ज्योतिष्टोमयागे ग्रहविधिरिति? किं प्राप्तम् ? यागान्तरमिति।

किया है—तस्मिन् (= पात्नीवते यूपे) त्वाष्ट्रं साण्डं लोमशं पिङ्गलं पशुमुपाकृत्य पर्यग्निकृतमुत्सृज्याज्येन शेषं संस्थापयेत्। इस सूत्र की टीका में रुद्रदत्त ने स्पष्ट लिखा है कि—"इस प्रकार कुम्भीशूलादि और संज्ञप्त होमादि अर्थलुप्त (=अर्थ=पशुद्रव्य के लोप=न होने से लुप्त) द्रव्यक्रियाएं निवृत्त होती हैं। अगले १४वें सूत्र में जितने पशु के अवदान की आहुतियां होती हैं, उतनी घृत की आहुतियां देने का विधान करके, १५वें सूत्र में आज्य को पशुधर्मवाला कहा है—यावन्ति पशोरवदानानि स्युस्तावत्कृत्व आज्यस्यावद्येत्, पशुधर्मभ्राज्यं भवति (१४।७।१४-१५)। १५वें सूत्र की टीका में रुद्रदत्त ने लिखा है कि—पशु के न रहने पर वपा के स्थान में घृत के लिये त्वाष्ट्र पशु में छागस्य हविषा वपाया मेदसोऽनुब्रूहि ऐसा ही संप्रैष करना चाहिये। इसी प्रकार पशु पुरोडाश हवि के लिये भी—अतो वपास्थानस्याज्यस्य त्वष्ट्रे छागस्य वपाया मेदस इति संप्रैषः। तथा पुरोडाशहविषोरपि।"

यह लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार जिन पशुयागों में अवरकालीन पशु को मार कर उसकी वपा वा अङ्गों से होम करते हैं, और उसमें छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि मन्त्र को प्रमाणरूप से उद्धृत करते हैं, उनका भी समाधान हो जाता है। इसके पश्चात् आप० श्रौत के १७वें सूत्र में पक्षान्तर लिखा है—पर्यग्निकरण के पश्चात् कर्म का अत्यन्त त्याग कर देना चाहिये। आज्य से समाप्त नहीं करना चाहिये—अपि वा पर्यग्निकृतमेवोत्सृजेत्, न संस्थापयेत्। १८वें सूत्र में अनुबन्ध्या के याग को भी पशुपुरोडाश से समाप्त करने का विधान किया है—पशुपुरोडाशानानूबन्ध्यायाः शेषं संस्थापयेत् ॥१९॥

व्याख्या—किसी के भी प्रकरण में नहीं सुना जाता है—एष वै हविषा हविर्यजते, योऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते (=यह निश्चय ही हवि से हवि का यजन करता है, जो अदाभ्य का ग्रहण करके सोम के लिये यजन करता है); तथा परा वा एतस्यायुः प्राण एति, योंऽशुं गृह्णाति (=इसकी आयु वा प्राण नष्ट होता है, जो अंशु का ग्रहण करता है)। इन में सन्देह होता है क्या यह [अदाभ्य और अंशु] यागान्तर इस [अदाभ्य और अंशु ग्रहों में] ग्रहणवाले हैं, अथवा ज्योतिष्टोमयाग में ग्रहविधि है? क्या प्राप्त होता है? यागान्तर हैं। किस हेतु से?

---

१. अनुपलब्धमूलम्। तै० संहितायां (३।३।४) 'हविर्यजते' इत्यस्य स्थाने 'हविर्यजति', तथा 'सोमाय यजते' इत्यस्य स्थाने 'सोमाय जुहोति' पाठो दृश्यते।

२. तै० सं० ३।३।४।

कुतः ? अपूर्वनामधेयसंयोगात् । न प्रकृतावेतन्नामधेयको यागोऽस्ति । न ग्रहः कश्चिद्, योऽभ्यस्येत । तस्माद् यागान्तरम् । ननु द्रव्यदेवतं न श्रूयते । मा भूद् द्रव्यदेवतम्, साक्षादेव 'यजति'शब्दो विद्यते । तस्मात् कर्मान्तरम्—'अदाभ्यसंज्ञकम् अंशुसंज्ञकं च यागं करोति', इत्येवं प्राप्तम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

अद्रव्यत्वात् केवले कर्मशेषः स्यात् ॥२०॥ (उ०)

अद्रव्यदेवताके केवले नामधेये श्रूयमाणे ब्रूमः—ज्योतिष्टोमे एव ग्रहाभ्यासविशेष-विधानमिति । कुतः ? एतत् तावद ग्रहस्य नामधेयम्, न यागस्य । ग्रहणेन साक्षात् सम्बन्धात्, व्यवहितत्वाद् यागस्य । अंशुरिति च मुक्तसंशयमेव ग्रहनामधेयम् । न च

अपूर्व नाम के संयोग से । प्रकृति (=ज्योतिष्टोम) में इस (=अदाभ्य और अंशु) नामवाला कोई याग नहीं है । और न कोई ग्रह ही है, जिसका अभ्यास किया जाये । इसलिये [ये अदाभ्य और अंशु नामवाले] यागान्तर हैं । (आक्षेप) यहां द्रव्यदेवता का श्रवण नहीं है [जिससे यागवचनता जानी जाये] । (समाधान) द्रव्य देवता न होवे, साक्षात् 'यजति' शब्द विद्यमान है । इसलिये कर्मान्तर हैं—'अदाभ्यसंज्ञक और अंशुसंज्ञक याग को करता है,' ऐसा प्राप्त होता है । ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—

अद्रव्यत्वात् केवले कर्मशेषः स्यात् ॥२०॥

सूत्रार्थः—(अद्रव्यत्वात्) द्रव्य [देवता] का निर्देश न होने से (केवले) केवल नाममात्र के श्रवण होने पर (कर्मशेषः) कर्म=ज्योतिष्टोम का शेष=अङ्ग (स्यात्) होवे ।

विशेष—भाष्यकार के अद्रव्यदेवताके (=द्रव्य और देवतारहित में) निर्देश करने से सभी वृत्तिकारों ने सूत्रस्थ द्रव्य शब्द से देवता को भी उपलक्षित माना है । केवलानन्द सरस्वती ने भाष्य और तन्त्रवार्तिक के आधार पर सूत्र का अद्रव्यदेवतात्वात् पाठ आवश्यक माना है (द्र० मीमांसादर्शन-सूत्रपाठ, पृष्ठ ३१) । मीमांसा ३।४।२१ का भाष्यस्थ सूत्रपाठ है—अद्रव्य-त्वात्तु शेषः स्यात् । यहां भी भाष्यकार ने अद्रव्यत्वात् का अर्थ नात्र द्रव्यदेवते श्रूयेते किया है । इस सूत्र के प्रकाश में यहां (२।३।२०) में अद्रव्यत्वात् पाठ साधु है । सूत्र ३।४।२१ के विषय में आगे यथास्थान विचार करेंगे ।

व्याख्या—द्रव्यदेवतारहित केवल [अदाभ्य और अंशु] नाममात्र के श्रवण होने पर हम कहते हैं कि—ज्योतिष्टोम में ही ग्रहाभ्यासविशेष का विधान है । किस हेतु से ? यह [अदाभ्य और अंशु] ग्रहण (=जिसमें सोमरस का ग्रहण किया जाता है उस) पात्र के नाम हैं, याग के नाम नहीं हैं । ग्रहणक्रिया के साथ साक्षात् संबन्ध होने से [—अदाभ्यं गृहीत्वा, अंशुं गृह्णाति), और याग के साथ अदाभ्य अंशु का व्यवहित सम्बन्ध होने से [—अदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते में अदाभ्यं और यजते के बीच में गृहीत्वा सोमाय पदों का व्यवधान हैं] ।

ग्रहभेदे यागभेदो भवति । न च द्रव्यदेवतं श्रूयते, यतो गृह्णातिर्यजिमद्वचनो भवेत् । यदप्युक्तम्—'साक्षादत्र यजतिशब्दो विधायकः' इति । नैवं शक्यं कर्मान्तरं विधातुम् । विहितयागवचनो हि सः । विशेषाभावात् । तस्माद् यजतिना ज्योतिष्टोम एवोच्यते, अंशवदाभ्यशब्दाभ्यामप्यपरौ ग्रहाभ्यासौ विधीयेते इति सिद्धम् ॥ ०॥ इत्यदाभ्यादीनां ग्रहनामताऽधिकरणम् ॥९॥

[अग्निचयनस्य संस्कारताऽधिकरणम् ॥१०॥]

अग्निस्तु लिङ्गदर्शनात् क्रतुशब्दः प्रतीयेत ॥२१॥ (पू०)

और अंशु यह तो मुक्तसंशय ग्रह का नाम है । ग्रह का भेद होने से याग का भेद नहीं होता है । द्रव्य और देवता [उक्त वाक्यों में] नहीं सुना जाता है, जिससे 'गृह्णाति' यजतिमत् (याग) को कहनेवाला होवे । और जो यह कहा है—'यहां साक्षात् 'यजति' शब्द विधायक है ।' इस प्रकार (= यजति शब्द श्रवण से) कर्मान्तर का विधान नहीं किया जा सकता है । क्योंकि वह (यजते) विहित याग को कहनेवाला है । [सोमेन यजेत की यजति से इस सोमाय यजते की यजति का] विशेष [=भेद] न होने से । इसलिये [प्रकृत वाक्य में] यजति से ज्योतिष्टोम ही कहा जाता है, और अंशु तथा अदाभ्य शब्दों से अन्य ग्रहाभ्यास का विधान किया जाता है, यह सिद्ध होता है ॥२०॥

विवरण—कुतुहल वृत्तिकार ने भाष्योक्त उदाहरणों को तैत्तिरीय पाठ के अनुसार ज्योतिष्टोम प्रकरण में पाठ मानकर इन उदाहरणों का प्रत्याख्यान करके उदाहरणान्तर उपस्थित करके अधिकरण का व्याख्यान किया है । इस खण्डन-मण्डन को उसी के ग्रन्थ में देखना चाहिये । हमारे विचार में भाष्यकारोक्त उद्धरण उस शाखा के हैं, जिनमें इनका पाठ अनारभ्य प्रकरण में था । शाखान्तर पाठ की दृष्टि से भाष्यकार के उदाहरण संगत हो सकते हैं । तैत्तिरीय पाठ से भाष्यस्थ पाठ में कुछ भिन्नता भी है (द्र०—भाष्योदाहरण निर्दिष्ट टिप्पणी) । वार्तिककार ने भाष्य की ही यथावत् व्याख्या की । उसे दूषित नहीं माना है ॥२०॥

अग्निस्तु लिङ्गदर्शनात् क्रतुशब्दः प्रतीयेत ॥२१॥

सूत्रार्थः—[य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते में] (अग्निः) अग्निशब्द (तु) तो (लिङ्गदर्शनात्) [अग्नेः स्तोत्रम्, अग्नेः शस्त्रम् रूप] लिङ्ग के दर्शन से (क्रतुशब्दः) क्रतुवाचक शब्द (प्रतीयेत) प्रतीत होवे=जाना जाये ।

अस्त्यग्निः—य एवं विद्वानग्निञ्चिनुते[1] इत्येवं विधाय श्रूयते—अथातोऽग्निमग्निष्टोमेनैवानुयजति, तमुक्थ्येन, तमतिरात्रेण, तं षोडशिना[2] इत्येवमादि। तत्र सन्देहः—किमयमग्निशब्दो यागवचनो ज्योतिष्टोमादिभ्यः कर्मान्तरं 'चिनुते' इत्याख्यातेन विधीयते, उत द्रव्यवचनः, ज्योतिष्टोमादिषु गुणविधानमिति ? किं प्राप्तम् ? यागवचन इति। कुतः ? लिङ्गदर्शनात्। लिङ्गं हि दृश्यते—अग्नेः स्तोत्रमग्नेः शस्त्रम्[3] इति। तथा षडुपसदोऽग्नेश्चित्यस्य भवन्ति[4] इति। यस्य स्तोत्रशस्त्रमुपसदश्च, तस्याग्निशब्दो वाचक इति गम्यते। यागस्यैतत् सर्वम्। तस्माद् यागवचन इति। ननु लिङ्गमसाधकम्, प्राप्तिरुच्यतामिति। अत्रोच्यते—अथातोऽग्निष्टोमेनैवानुयजति[5] इति यागमभिनिर्वर्त्तयतीत्युच्यते। तम् अग्निमिति विशिनष्टि। तस्मादग्निसंज्ञकः, इति गम्यते। अनुशब्दोऽप्युपसर्गो यजतेर्विशेषक एवमुपपद्यते। यद्यग्निर्यागः। तस्मात् क्रतुशब्दः प्रतीयेत ॥२१॥

व्याख्या—अग्नि कर्म है—य एवं विद्वान् अग्निञ्चिनुते (=जो विद्वान् इस प्रकार अग्नि का चयन करता है) इत्यादि का विधान करके सुना जाता है—अथातो अग्निमग्निष्टोमेनैवानुयजति, तमुक्थ्येन, तमतिरात्रेण, तं षोडशिना (=अनन्तर अग्नि का अग्निष्टोम से अनुयजन करता है, उसका उक्थ्य से, उसका अतिरात्र से, उसका षोडशि से) इत्यादि। इस विषय में सन्देह होता है—क्या यह अग्निशब्द यागवचन ज्योतिष्टोमादि कर्मों से कर्मान्तर को 'चिनुते' इस आख्यात से कहता है, अथवा [अग्निशब्द] द्रव्य को कहनेवाला है, ज्योतिष्टोमादि में [अग्निरूप] गुण का विधान करता है ? क्या प्राप्त होता है ? [अग्निशब्द] याग को कहनेवाला है। किस प्रकार ? लिङ्ग के दर्शन से। लिङ्ग देखा जाता है—अग्नेः स्तोत्रम्, अग्नेः शस्त्रम् (=अग्नि का स्तोत्र है, अग्नि का शस्त्र है)। तथा षड् उपसदोऽग्नेश्चित्यस्य भवन्ति (=अग्निचयन के ६ उपसत् होते हैं)। जिसके स्तोत्र शस्त्र और उपसत् होते हैं, उसका वाचक अग्नि शब्द है, ऐसा जाना जाता है। याग के ही ये सब होते हैं। इसलिये [अग्निशब्द] याग को कहनेवाला है। (आक्षेप) लिङ्ग साधक नहीं होता है, प्राप्ति (=हेतु) कहो। (समाधान) इस विषय में कहते हैं—अथातोऽग्निमग्निष्टोमेनैवानुयजतीति (=अनन्तर इस अग्नि का अग्निष्टोम से अनुयजन करता है)। याग को सम्पन्न करता है, ऐसा कहा जाता है। [तमुक्थ्येन में] 'तम्' अग्नि को विशेषित करता है। इससे अग्निसंज्ञक [याग है] ऐसा जाना जाता है। उपसर्ग 'अनु' शब्द इस प्रकार 'यजति' का विशेषक उपपन्न होता है। जब अग्नियाग हो [अर्थात् अग्नि के याग होने पर ही अग्निष्टोम से किया गया याग अनुयाग होता है]। इसलिये [अग्नि को] क्रतु (=याग) वाचक शब्द जानें ॥२१॥

विवरण—अग्नेः स्तोत्रम्, अग्नेः शस्त्रम्—प्रगीत मन्त्र द्वारा गुणवाले के गुणों का कथन

---

१. द्र०—तै० सं० ५।५।२॥ भाष्यकारेण यद्वचनसंबद्धान्युत्तरवाक्यान्युपन्यस्तानि, तन्नोपलब्धम्।
२. अनुपलब्धमूलम्।
३. अनुपलब्धमूलम्।
४. अनुपलब्धमूलम्।
५. अनुपलब्धमूलम्।

द्रव्यं वा स्याच्चोदनायास्तदर्थत्वात् ॥२२॥ (उ०)

द्रव्यं वा अग्निशब्देनोच्येत । कतमद् द्रव्यम् ? यदेतज्ज्वलनः । अत्र ह्येष प्रसिद्धः । 'चिनुते' इत्येषा हि चोदना चयनार्था, न यजत्यर्थं शक्नोति वदितुम् । चयनेनैनं संस्कुरुते, चितौ स्थापयतीति । अनुशब्दश्च पश्चादर्थो भविष्यति—चयने निर्वृत्ते पश्चादग्निष्टोमेन यागेन यजतीति ॥२२॥

तत्संयोगात् क्रतुस्तदाख्यः स्यात्तेन धर्म-विधानानि ॥२३॥ (उ०)

करना स्तोत्र कहाता है, और अप्रगीत मन्त्र द्वारा गुणवाले के गुणों का कथन शस्त्र कहाता है। यह हम पूर्व (पृष्ठ ३८५ के विवरण में) विस्तार से लिख चुके हैं। षडुपसदोऽग्नेश्चित्यस्य— 'उपसत्' शब्द का अर्थ है—उपसीदतीति उपसत्=समीप में बैठनेवाला। सोमयागों में प्रधान याग (=सोम से याग) के दिन से पूर्व उपसत्संज्ञक याग होते हैं। इनकी संख्या भिन्न-भिन्न यागों में अलग-अलग होती है। यहां अग्निचयन के छ उपसत् याग कहे हैं ॥२१॥

द्रव्यं वा स्याच्चोदनायास्तदर्थत्वात् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(वा) शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है—अग्नि कर्म का वाचक नहीं है। (द्रव्यम्) द्रव्य (स्यात्) होवे=अग्निशब्द द्रव्य का वाचक होवे। (चोदनायाः) 'चिनुते' इस चोदना के (तदर्थत्वात्) अग्नि के लिये होने से=अग्नि को चयन से संस्कृत करके स्थापन करता है, इस अर्थ को कहनेवाला होने से।

व्याख्या—द्रव्य अग्नि शब्द से कहा जाता है, [याग नहीं]। कौनसा द्रव्य कहा जाता है? जो यह जलनेवाला है। इसी द्रव्य में यह [अग्निशब्द] प्रसिद्ध है। चिनुते (=चयन करता है) यह चोदना(=विधायकशब्द) चयन के लिये है, 'यजति' (=याग) के अर्थ को नहीं कह सकती है। चयन से इस [अग्नि] को संस्कृत करता है, चिति (=इष्टकाओं से निर्मित स्थण्डिल) पर स्थापित करता है। 'अनु'शब्द पश्चात् अर्थवाला होगा—चयन के सम्पन्न हो जाने के पश्चात् अग्निष्टोम याग से यजन करता है ॥२२॥

तत्संयोगात् क्रतुस्तदाख्यः स्यात्तेन धर्मविधानानि ॥२३॥

सूत्रार्थः—(तत्संयोगात्) चयन द्वारा संस्कृत अग्नि के संयोग से, उसमें किया जानेवाला (क्रतुः) याग (तदाख्यः) उस आख्यावाला=अग्निसंज्ञावाला (स्यात्) होवे। (तेन) इस कारण [अग्नेः स्तोत्रम् आदि स्तोत्र शस्त्र उपसत् याग के धर्मवाचक शब्द] (तद्धर्मवचनानि) उस अग्नि संज्ञावाले कर्म के धर्मवाचक होते हैं।

यत्तु लिङ्गदर्शनमुक्तम्—यागवचनोऽग्निशब्दः इति । तत् तेष्वेव लिङ्गसंयुक्तेषु वचनेषु, न सर्वत्र। तेषु चित्याग्निसंयोगात् यागे लक्षणशब्दः । तेन क्रतुवचनानि तद्धर्मविधानानीत्यदोषः ॥२३॥ इत्यग्निचयनस्य संस्कारताऽधिकरणम् ॥१०॥

[मासाग्निहोत्रादीनां क्रत्वन्तरताऽधिकरणम् ॥११॥]

कुण्डपायिनामयने श्रूयते—मासमग्निहोत्रं जुहोति[1], मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते[2] इत्येव-

---

व्याख्या—और जो लिङ्गदर्शन कहा है कि—अग्निशब्द याग का वाचक है। वह उन लिङ्गयुक्त (=अग्नि लिङ्गयुक्त—अग्नेः शस्त्रम् इत्यादि) वचनों में जानना चाहिये, सर्वत्र नहीं। इसलिये उनमें चित्य (=चयन से संस्कृत) अग्नि के संयोग से याग में [अग्निशब्द] लक्षणा से प्रयुक्त है। इस कारण क्रतु को कहनेवाले उसी (=लक्षणा से बोधित कर्म) के धर्म के विधायक हैं, अतः दोष नहीं है ॥२३॥

विवरण—भट्ट कुमारिल ने लिखा है कि—'इसी अधिकरण में फलवान् अफलवान्, प्राकृत वैकृत, नित्य अनित्य, उत्तरवेदि विकार अविकार आदि का विचार किया है, वह उदाहरणान्तरों में अधिकरणान्तरसिद्ध, यहां असम्बद्ध होता हुआ भी स्मरणमात्र के अभिमान से उपस्थित किया है। इसलिये वह उपेक्षणीय है।' यह सब विषय वर्तमान काल में शावर भाष्य में नहीं मिलता है, और ना ही प्रभाकर भट्ट ने इस विषय में कुछ लिखा है। इस से जाना जाता है कि भट्ट कुमारिल के पास शावर भाष्य का जो हस्तलेख था, उसमें रहा होगा। इस विषय में दो कल्पनाएं हो सकती हैं—(१) भट्ट कुमारिल का हस्तलेख जिस हस्तलेख से प्रतिलिपि किया गया, उसके प्रान्त भाग पर किसी अध्येता ने उक्त विषयों का संकेत स्मरणार्थ किया होगा। और भट्ट कुमारिल को उपलब्ध हस्तलेख के प्रतिलिपिकर्ता ने उसे भाष्य में जोड़ दिया होगा। ऐसी भूलें प्रायः प्रतिलिपिकर्ताओं की देखी जाती हैं। (२) अथवा भट्ट कुमारिल के उक्त वचन को देखकर उक्तविषयक भाष्यपाठ उत्तरवर्ती पाठकों ने भाष्य में से निकाल दिया होगा। मीमांसक सम्प्रदाय में भट्ट प्रभाकर कुमारिल का शिष्य माना जाता है। उसने इस विषय में कुछ नहीं लिखा। इससे हमारे विचार में पूर्व अनुमान अधिक युक्त है। अथवा भाष्यपाठ को सदोष जानकर भट्ट कुमारिल ने ही उसे निकाल दिया होगा। परन्तु ऐसा होने पर उसे कुछ लिखना अवश्य चाहिये था ॥२३॥

व्याख्या—कुण्डपायियों के अयन में सुना जाता है—मासमग्निहोत्रं जुहोति (=महीनाभर अग्निहोत्र होम करता है); मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते (=महीनाभर दर्शपूर्णमासों से

---

१. द्र०—मासमग्निहोत्रं जुह्वति (कात्या० श्रौत २४।४।२४; आप० श्रौत २३।१०।९ (अत्र 'जुहोति' पाठान्तरमपि)। २. द्र०—मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजन्ते। आप० श्रौत २३।१०।९; दर्शपूर्णमासाभ्यां मासम्। कात्या० श्रौत २४।४।२५॥

मादि। तत्र संदिह्यते— किं नियते अग्निहोत्रे नियतयोश्च दर्शपूर्णमासयोर्मासो विधीयते कालः, अथ किं नियताग्निहोत्रान्नियताभ्याञ्च दर्शपूर्णमासाभ्यां कर्मान्तरविधानमिति ? किं तावत् प्राप्तम् ? नियतेषु कालविधिरिति । कुतः ? कालविधिसरूप एष शब्दो मासमिति । कथं कालविधिसरूपता ? यदग्निहोत्र जुहोतीति विदितम्, मासमित्यविदितम् । एवञ्चाग्निहोत्रशब्दो दर्शपूर्णमासशब्दश्च न अर्थान्तरवृत्तौ भविष्यतः। तस्मात् कालविधिः। ननु कुण्डपायिनामयनप्रकरणं वाध्येतैवम् । कामं बाध्यताम् । वाक्यं हि बलवत्तरम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् ॥२४॥ (उ०)

यजन करता है, इत्यादि । इस विषय में सन्देह होता है— क्या नियतकाल में होनेवाले अग्निहोत्र में, और नियतकाल में होनेवाले दर्शपूर्णमासों में मासरूप काल का विधान किया जाता है, अथवा क्या नियत अग्निहोत्र से, और नियत दर्शपूर्णमासों से अन्य कर्म का विधान किया जाता है ?- क्या प्राप्त होता है ? नियत समय पर होनेवाले (=अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमासों) में काल की विधि कही है । किस हेतु से ? कालविधि के समान ही यह 'मासम्' शब्द है । कालविधि की समानता क्या है? जो 'अग्निहोत्र होम करता है' यह विदित है । 'मासम्' (मासरूप काल) अविदित है । इस प्रकार मानने पर अग्निहोत्र शब्द और दर्शपूर्णमास शब्द अर्थान्तर में प्रवृत्त नहीं होंगे । इसलिये यह काल की विधि है । (आक्षेप) इस प्रकार तो कुण्डपायियों के अयन प्रकरण की बाधा होगी । (समाधान) अच्छा तो [कुण्डपायियों के अयन का प्रकरण] बाधा जाये । [प्रकरण से] वाक्य बलवान् होता है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—कुण्डपायिनामयनम्—इस नामवाला सत्ररूप कर्मविशेष है । इसका उल्लेख प्रायः सभी श्रौत ग्रन्थों में मिलता है । (यथा—कात्या० श्रौत २४।४।२१; आप० श्रौत २३।१०। ६) । पाणिनि ने भी क्रतौ कुण्डपाय्यसंचाय्यौ (अष्टा० ३।१।१३७) कुण्डपाय्य क्रतु का उल्लेख किया है । इस सूत्र की काशिकावृत्ति में कुण्डेन पीयते सोमोऽस्मिन् इति कुण्डपाय्यः (=कूण्डे से सोम जिस ऋतु में पीया जाता है, वह 'कुण्डपाय्य' कहाता है) लिखा है । यह व्युत्पत्तिमात्र है । इस के विषय में लाट्या० श्रौत १०।१२।१३ में लिखा है—अत्सरुकैश्चमसैर्भक्षयेयुः कुण्डप्रतिरूपैः । इसका अर्थ है—चमसों को पकड़ने के लिये उनमें जो दण्ड (=हत्था) लगा रहता है, उससे रहित कुण्डसदृश चमसों से सोम का भक्षण करें । सोमयागों में चमस नाम के पात्र होते हैं । ये काष्ठ के चतुष्कोण मध्य में गहरे होते हैं । इन्हें पकड़ने के लिये एक ओर हत्था लगा होता है । कुण्डपायियों के अयन में चमसों में हत्था नहीं होता है । अतः वे कुण्ड (=कूण्डे) के सदृश होते हैं ।

प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(प्रकरणान्तरे) प्रकरणान्तर=कुण्डपायियों के अयन में पठित मासमग्निहोत्रं

प्रकरणान्तरे श्रूयमाणं वाक्यं यस्य प्रकरणे, तस्य वाचकं भवितुमर्हति। ननु प्रत्यक्षोऽग्निहोत्रस्य दर्शपूर्णमासयोश्च गुणविधिः। नेत्युच्यते। कथम्? उपसद्भिश्चरित्वा[1] इति ह्युक्त्वेदमभिधीयते। न चोपसदोऽग्निहोत्रस्य दर्शपूर्णमासयोश्च सन्ति। तस्माद शक्यस्तत्र मासविधिः। अथोच्येत—उपसदोऽपि विधीयन्ते इति। तथा गुणविधानार्थेऽस्मिन् वाक्ये अनेकगुणविधानाद् वाक्यं भिद्येत। [2]अस्मत्पक्षे पुनरतन्त्रमग्निहोत्रशब्दः। न कर्म विशेक्ष्यति। तेन वाक्यभेदो न भविष्यति। तस्मात् कर्मान्तरमिति सिद्धम् ॥२४॥

इति मासाग्निहोत्रादीनां क्रत्वन्तरताऽधिकरणम् ॥११॥

[आग्नेयादिकाम्येष्टयधिकरणम् ॥१२॥]

अनारभ्य किञ्चिच्छ्रूयते—आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेद् रुक्कामः[3], अग्नीषोमीयमेकादश-

---

जुहोति, मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते वचनों के (प्रयोजनान्यत्वम्) प्रयोजन का अन्यत्व है, अर्थात् कर्मान्तर का विधान प्रयोजन है।

व्याख्या— प्रकरणान्तर में श्रूयमाण वाक्य जिसके प्रकरण में पठित है, उसका वाचक होने योग्य है। (आक्षेप) अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास की [कालरूप गुणविधि] प्रत्यक्ष है? (समाधान) नहीं है, ऐसा कहते हैं। कैसे? उपसद्भिश्चरित्वा (=उपसत् कर्म करके) ऐसा कहके यह (=मासमग्निहोत्रं जुहोति, मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते) कहा है। उपसत्कर्म अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास के नहीं हैं। इसलिये वहां (=नियतकालिक अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास में) मास का विधान अशक्य है। और यदि कहो कि—उपसत् कर्म का भी विधान किया जाता है। उस अवस्था में गुणविधानार्थक इस [मासमग्निहोत्रं जुहोति] वाक्य में अनेक (=मास काल और उपसद् रूप) गुणों का विधान होने से वाक्यभेद होवे। हमारे पक्ष में तो अग्निहोत्र शब्द अतन्त्र (=उद्देश्यता से कर्म के बोधकत्व में अविवक्षित) है [अर्थात् हम अग्निहोत्र को उद्देश करके किसी गुण का विधान नहीं करते हैं]। [अतः अग्निहोत्र शब्द] कर्म को विशेषित नहीं करेगा। इससे वाक्य भेद नहीं होगा। इसलिये [मासाग्निहोत्रादि] कर्मान्तर हैं ॥२४॥

व्याख्या—किसी कर्म का आरम्भ न करके सुना जाता है—आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेद् रुक्कामः (=रुक्=तेजः की कामनावाला अग्निदेवतावाले अष्टाकपाल में संस्कृत हवि का

---

१. द्र०—द्वादशभिरुपसद्भिश्चरित्वा हविर्यज्ञैर्यजन्ते। मासमग्निहोत्रं जुह्वति। मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजन्ते……। आप० श्रौत २३।१०।८,९॥

२. 'अस्मिन् पक्ष' इति सार्वत्रिकोऽप्यपपाठ एव, अर्थाननुगुणत्वात्।

३. द्र०—अग्नये रुक्मवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद् रुक्कामः। तै० सं० २।२।३॥

कपालं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः[1]; ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः[2] इति। अत्र सन्दिह्यते—किं प्राकृतेष्वाग्नेयादिषु फलं विधीयते उत प्राकृतेभ्यः कर्मान्तराण्येतानि? किं प्राप्तम्? प्राकृतेषु फलविविधिरिति। कुतः? विदिता आग्नेयादयः प्रत्यभिज्ञायन्ते। तस्मात् तेषामनुवादः फलसम्बन्धार्थं इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

फलं चाकर्मसन्निधौ ॥२५॥ (उ०)

फलं च भेदकमकर्मसन्निधौ श्रूयमाणम्। कथम्? अनुवादे सति न शक्येत फलं विधातुम्, विधायकस्याभावात्। न हि अविधीयमानो ह्युपायो रुचो भवतीति गम्यते। अपिच, रुक्कामे अत्र विधीयमाने कामस्यानित्यत्वादाग्नेयादीनां नित्यत्वात् सम्बन्धो नावकल्पेत। एवं सर्वत्र। तस्मात् कर्मान्तराणि ।२५॥ इत्याग्नेयादिकाम्येष्ट्यधिकरणम् ॥१२॥

निर्वाप करे); अग्निषोमीयमेकादशकपालं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः(=ब्रह्मवर्चस् की कामनावाला अग्नि और सोम देवतावाले एकादश कपाल में संस्कृत हवि का निर्वाप करे); ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः (=प्रजा की कामनावाला इन्द्र और अग्नि देवतावाले एकादश कपाल में संस्कृत हवि का निर्वाप करे)। इनमें सन्देह होता है—क्या प्रकृति (=दर्शपूर्णमास) में होनेवाले आग्नेयादि यागों में फल का विधान किया जाता है, अथवा प्राकृत [आग्नेयादि] से ये कर्मान्तर हैं? क्या प्राप्त होता है? प्राकृत [आग्नेयादि यागों] में फल की विधि है। किस कारण? [प्रकृति में] विदित आग्नेयादि याग ही प्रत्यभिज्ञात (=बुद्धिस्थ) होते हैं। इसलिये उनका अनुवाद फल के सम्बन्ध के लिये किया है। ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—

फलं चाकर्मसन्निधौ ॥२५॥

सूत्रार्थः—(अकर्मसन्निधौ) किसी कर्मविशेष की सन्निधि में न सुना जानेवाला (फलम्) फलवचन (च) भी कर्म का भेदक अर्थात् कर्मान्तर का विधायक होता है।

व्याख्या—अकर्मसन्निधि (=कर्मविशेष की समीपता में न श्रूयमाण फल भी कर्म का भेदक होता है। कैसे? [प्राकृत आग्नेयादि यागों के] अनुवाद करने पर फल का विधान करना शक्य नहीं है, विधायक शब्द के न होने से। अविधीयमान उपाय रुक् (=तेजः) का होता है, ऐसा नहीं जाना जाता है। और भी, रुक् की कामना के विधीयमान होने पर कामना के अनित्य होने से और आग्नेयादि यागों के नित्य (=नियत) होने से [परस्पर] सम्बन्ध घटित नहीं होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये। इसलिये ये कर्मान्तर हैं ॥२५॥

विवरण—न शक्येत फलं विधातुम्—यदि आग्नेयादि प्राकृत कर्मों का उद्देश करके फल का

---

१. द्र०—अग्नीषोमीयमेकादशकपालं निर्वपेच्छ्यामाकं वसन्ता ब्रह्मवर्चसकामः। मै० सं० २।१।४॥ २. तै० सं० २।१।१॥

[अवेष्टेरन्नाद्यफलकत्वाऽधिकरणम् ॥१३॥]

अस्त्यवेष्टिः—आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति[1] इत्येवमादिः। तां प्रकृत्योच्यते—एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत्[2] इति। तत्र सन्देहः—किं कर्मान्तरमवेष्टेः, उतावेष्टिरेवेति? किं प्राप्तम्? कर्मान्तरमिति। उक्तेन न्यायेन। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

विधान किया जावे, तो फल का विधान नहीं किया जा सकता है। विधायक=फलविधायक शब्द के न होने से। उद्दिश्य और उद्दिश्यमान का एकान्त(=अवश्य) रूप से सम्बन्ध नहीं होता है। इसलिये फल को उद्देश करके ही कर्मान्तर का विधान करना चाहिये। नित्यत्वात् सम्बन्धो नावकल्पेत—इसका भाव यह है कि प्रकृतिस्थ आग्नेयादि याग नित्य हैं। रुक् आदि की कामना अनित्य है। अतः इन दोनों में साध्यसाधनरूप सम्बन्ध उपपन्न नहीं हो सकता है। 'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत् (=पशु कामनावाले का गोदोहन में उपयुक्त पात्र से जलों का प्रणयन करे) में जैसे गोदोहन से प्रणयन का प्रजाफल कहा है, ऐसा यहां सम्भव नहीं है। दर्शपूर्णमास में काष्ठनिर्मित पात्र से प्रणयन कर्म कहा गया है। उसी प्रणयन में उक्त वाक्य गोदोहन से प्रणयन के प्रजारूप फल का विधान करता है। यहां साध्य प्रजाकामना भी अनित्य है, और उसका साधन गोदोहन से प्रणयन भी अनित्य है। प्रकृत में कामना अनित्य है, और साधन (=प्रकृतिस्थ आग्नेयादि याग) नित्य हैं। अतः नित्यानित्य का साध्यसाधनरूप सम्बन्ध अशक्य है ॥२५॥

व्याख्या—अवेष्टिसंज्ञक याग है—आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति (=अग्नि देवतावाला अष्टकपालों में संस्कृत पुरोडाश होता है) इत्यादि। उस [अवेष्टि] को आरम्भ करके कहा जाता है—एतया अन्नाद्यकामं याजयेत् (=इससे अन्नाद्य=अन्नभक्षण में समर्थ होऊं, ऐसी कामनावाले को यजन करावे)। इसमें सन्देह होता है—क्या यह (=एतया……वाक्यविहित कर्म) अवेष्टि से कर्मान्तर (=अन्य कर्म) है, अथवा अवेष्टि का ही [फल] है? क्या प्राप्त होता है? कर्मान्तर है। उक्त(=फलं चाकर्मसन्निधौ २।३।२५)न्याय से। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—एतया रुक्कामं याजयेत्—इस उदाहरण के विषय में वार्तिककार भट्ट कुमारिल ने लिखा है कि सभी असन्निध्यंशरूप पूर्व अधिकरण के प्रत्युदाहरण के लिये यह है। और भाष्यकार द्वारा फलविषयक उदाहरण, तथा सूत्र में फलग्रह प्रदर्शनमात्र के लिये है। इसलिये देश आदि के भी प्रत्युदाहरण देने चाहियें। यथा—देश का—समे दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत (अनुपलब्ध); काल का—पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत (आप० परिभाषा कण्डिका २), यावज्जीवं दर्शपौर्णमासाभ्यां

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—५३३तमे पूर्वपृष्ठे सुबोधिनीवृत्तेष्टिप्पण्यामुद्धृतः पाठः।
२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—मै० संहितायां ४।४।९—अवेष्टेः प्रकरणे अन्नकामो यजेत्।
३. द्र०—आप० श्रौत १।१६।२॥

सन्निधौ त्वविभागात् फलार्थेन पुनःश्रुतिः ॥२६॥ (उ०)

सन्निधौ फलार्थेन पुनःश्रुतिरवेष्टेरेव। न कर्मान्तरमिति। कुतः? अविभागात्। एतयेत्येष शब्दो न शक्नोत्यवेष्टया विभक्तं यागमन्यं वक्तुम्। सन्निहितस्य प्रतिनिर्देशक एष शब्दः। तस्मादवेष्टेरेवान्नाद्यकामस्य विधीयते इति। किं प्रयोजनम्? यद्यवेष्टिः, आग्नेयादीनि हवींषि। अथ कर्मान्तरम्, अन्यहविष्को याग इति॥ ॥२६॥ ॥ इत्यवेष्टेरन्नाद्यफलकत्वाऽधिकरणम् ॥१३॥

यजेत (तु०—आप० श्रौत ३।१४।११); फल का—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत (द्र०—शाबरभाष्य २।३।४, पृष्ठ ५४४)।

सन्निधौ त्वविभागात् फलार्थेन पुनःश्रुतिः ॥२६॥

सूत्रार्थः—(सन्निधौ) अवेष्टिकर्म की समीपता में श्रूयमाण [एतया अन्नाद्यकामं याजयेत् वचन] (तु) तो (अविभागात्) अवेष्टिविधायक वचन से अविभक्त होने से (फलार्थेन) फलप्रयोजन=फल के विधान करने के प्रयोजन से (पुनःश्रुतिः) अवेष्टि की ही [एतया पद से] पुनःश्रुति होवे।

व्याख्या—सन्निधि (=सामीप्य) में फल के प्रयोजन अवेष्टि की ही [एतया शब्द से] पुनःश्रुति है। [अवेष्टि से] कर्मान्तर नहीं है। किस हेतु से? अविभाग (=एकवाक्यता) होने से। एतया यह शब्द अवेष्टि से विभक्त अन्य याग(=अन्य यागान्तर)को नहीं कह सकता है। यह [एतया] शब्द समीपस्थ का प्रतिनिर्देशक (=समुपस्थापक) है। इसलिये अवेष्टि ही अन्नाद्य की कामनावाले के लिये विधान की गई है। [इस विचार का] क्या प्रयोजन है? यदि अवेष्टि का ही कथन है, तो उसके आग्नेयादि हवियां प्राप्त हैं। और यदि [अवेष्टि से यह] कर्मान्तर होवे, तो अन्य हवियोंवाला यह याग होवे। [उस अवस्था में अन्य हवियों का विधान करना होगा] ॥२६॥

विवरण—सन्निहितस्य प्रतिनिर्देशक एष शब्दः—एतत् आदि सर्वनाम शब्द सन्निहित में पूर्वश्रुत शब्दों के ही उपस्थापक होते हैं। परन्तु समेषु कर्मयुक्तं स्यात् (मी० २।२।२७) सूत्र में एतस्यैव…एतेन यजेत श्रुत एतत् शब्द को विशेष अनुपपत्तियों के कारण सन्निहित का प्रत्युपस्थापक न मानकर अनन्तरापेक्ष=एतद् धर्मवाले कर्म का वोधक लक्षणा शब्द स्वीकार किया है (द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ ५१५ भाष्य, तथा पृष्ठ ५१६ का विवरण)। प्रकृत में 'एतया' पद के मुख्यार्थ की उपपत्ति होने से लाक्षणिक अर्थ का ग्रहण न होने से कर्मान्तरपक्ष में प्रकृत आग्नेयादि हवियों से भिन्न हवियों की कल्पना करनी पड़ेगी। अतः कहा है—अथ कर्मान्तरम्, अन्यहविष्को यागः।

विशेष—भाष्यकार ने द्वितीयाध्याय के आरम्भ में छः प्रकार का कर्मभेद कहा था, अर्थात् शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, गुण, प्रक्रिया(=प्रकरण), और नामधेय (संज्ञा) के भेद से कर्मान्तर होता है, यह लिखा था(द्र०—पूर्व पृष्ठ ३५७)। वह सापवाद(=अपवादसहित)पूर्ण हो गया है।

[आग्नेयद्विरुक्तेः स्तुत्यर्थताऽधिकरणम् ॥१४॥]

आग्नेयस्तूक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयेत ॥२७॥ (पू०)

दर्शपूर्णमासयोः—'आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति'[1] इति विधाय पुनरुच्यते—'आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति'[2] इति। तत्र सन्देहः—किममावास्यायां द्विराग्नेयेन यष्टव्यः, उत सकृदिति ? किं प्राप्तम् ? आग्नेयस्तूक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयते। एकस्यैवं पुनःश्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यादिति ॥२७॥

भट्ट कुमारिल ने यहां लिखा है कि वृत्त्यन्तर (=अन्य वृत्ति) में चार ही भेद के कारण कहे हैं—शब्दान्तर, संज्ञा, गुण और फल। पुनःश्रुति और संख्या को शब्दान्तर में ही अन्तर्भाव और फलादि का अनुग्रहमात्रार्थ होने से चार प्रकार के ही कर्मभेद हैं। यहां केवल वृत्त्यन्तर शब्द का निर्देश किया है। अतः इस वृत्तिकार का नाम अज्ञात है। वृत्त्यन्तर में निर्दिष्ट चतुष्टय कर्मभेद पक्ष का भट्ट कुमारिल ने विस्तार से खण्डन करके भाष्यकारोक्त ६ प्रकार के कर्मभेद की स्थापना की है ॥२६॥

आग्नेयस्तूक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयेत ॥२७॥

सूत्रार्थः—(आग्नेयः) [आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति वाक्यविहित] आग्नेय याग (तु) तो (उक्तहेतुत्वात्) [२।२।२ में कहे गये] अभ्यासरूप हेतु से (अभ्यासेन) अभ्यासरूप से (प्रतीयेत) जाना जाये, अर्थात् अमावास्या में पूर्वविहित आग्नेय अष्टाकपाल और प्रकृत वाक्यविहित दो आग्नेय याग जाने जायें।

व्याख्या—दर्शपूर्णमासों में—आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति(=अग्निदेवतावाला अष्टाकपाल हवि अमावास्या और पौर्णमासी में च्युतिरहित=अवश्य होता है) ऐसा विधान करके पुनः कहा है—आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति (=आग्नेय अष्टाकपाल अमावास्या में होता है)। इसमें सन्देह होता है—क्या अमावास्या में दो आग्नेय यागों से यजन करना चाहिये, अथवा एक [बार आग्नेय याग करना चाहिये]? क्या प्राप्त होता है ? आग्नेय याग तो उक्त हेतु से अभ्यास से जाना जाता है। अन्यथा एक ही [आग्नेय याग] की इस प्रकार पुनःश्रुति विशेष के अभाव से अनर्थक ही होवे ॥२७॥

---

१. तै० सं० २।५।२॥
२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति। तै० सं० २।५।३॥

अविभागात्तु कर्मणो द्विरुक्तेर्न विधीयते ॥२८॥ (उ०)

नैतदस्ति, पुनरभ्यसितव्य आग्नेय इति । कुतः ? नाभ्यासस्य वाचकः शब्दोऽस्ति इति । नन्वाग्नेयः पुनरुच्चरितोऽपरं कर्म विधास्यति । नेति ब्रूमः । शब्दः पुनरुच्चरितो न पुनरर्थः कर्त्तव्यः, इति शक्नोति वदितुम् । योऽस्य प्रथममुच्चरितस्याऽर्थः, शतकृत्वोऽप्युच्चरितस्य स एवार्थो भविष्यति, नान्यः । ननु विहितमेव पुनरविशिष्टं विदधदनर्थको भवति । भवतु काममनर्थकत्वम्, न त्वन्यं शक्नोति वदितुम् । भवेदुपपन्नमनर्थकत्वम्, न त्वर्थान्तरवचनता । तस्मान्न द्विरभ्यस्येतेति ॥२८॥

अन्यार्था वा पुनःश्रुतिः ॥२९॥ (उ०)

अथ वा नानर्थिका पुनःश्रुतिः । अर्थवादार्था भविष्यति, इत्युच्यते । किमर्थवादेन

अविभागात्तु कर्मणो द्विरुक्तेर्न विधीयते ॥२८॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष=द्विरभ्यास की निवृत्ति के लिये है । आग्नेय का दो बार अभ्यास नहीं करना चाहिये । (कर्मणः) कर्म के (अविभागात्) अविभक्त=अभिन्न होने से । (द्विरुक्तेः) दो बार कथन से [दो बार] (न) नहीं (विधीयते) विधान किया जाता है ।

विशेष—इस सूत्र का पाठ मुद्रित भाष्यग्रन्थों और विभिन्न वृत्तियों में कुछ भेद से मिलता है । हमारा पाठ आचार्यचरण द्वारा संशोधित है ।

व्याख्या—[अमावास्या में] आग्नेय का पुनः अभ्यास करना चाहिये, यह पक्ष नहीं है किस हेतु से ? अभ्यास का वाचक कोई शब्द नहीं है इस हेतु से । (आक्षेप) पुनः उच्चरित आग्नेय अन्य कर्म का विधान करेगा । (समाधान) नहीं करेगा, ऐसा हम कहते हैं । [आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति] पुनः उच्चरित शब्द अर्थ (=याग) पुनः करना चाहिये, इस को नहीं कह सकता है । जो इसका पूर्व उच्चरित(=आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति)का अर्थ है, सौ बार उच्चरित का भी वही अर्थ होगा, अन्य नहीं होगा ।(आक्षेप) विहित का ही विशेष विधान न करता हुआ शब्द अनर्थक होता है ? (समाधान) चाहे अनर्थक होवे, किन्तु अन्य अर्थ को नहीं कह सकता है । अनर्थकता चाहे उपपन्न होवे, अर्थान्तर का कहना उपपन्न नहीं होवे । इस कारण दो बार अभ्यास का वाचक नहीं है ॥२८॥

अन्यार्था वा पुनःश्रुतिः ॥२९॥

सूत्रार्थः—(वा) अथवा (पुनःश्रुतिः) पुनः श्रवण [अनर्थक नहीं है], (अन्यार्था)अर्थवाद के लिये है ।

व्याख्या—अथवा [आग्नेय अष्टाकपाल याग का] पुनःश्रवण अनर्थक नहीं है । अर्थवाद के लिये होगा, इसलिये पुनः कहा जाता है । (आक्षेप) अर्थवाद से क्या प्रयोजन है ? जबकि पूर्व

प्रयोजनम्? यदा पूर्वेणैव वाक्येन साथवादकेन विहित आग्नेयः, कमन्यमर्थं विधातुं स्तुतिः[1] प्रयुज्ज्येत? स्तुतिमात्रं यन्न कस्यचिद्विधानार्थम्, तदनर्थकमित्युक्तम्—आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्[2] इति। स्तुतश्चास्तुतश्च तावानेव सोऽर्थः। यथा स्तुता च अस्तुता च देवता अङ्गभावं साधयति, एवमेतदिति। तदुच्यते—अन्यार्था वा पुनःश्रुतिः, न आग्नेयं विधातुम्। ऐन्द्राग्नविधानार्था। आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवत्येव। न केवलेनाग्निना स साधुर्भवति, इतीन्द्रसहितोऽग्निः समीचीनतरः। तस्मादैन्द्राग्नः कर्त्तव्य इति ॥२९॥

इत्याग्नेयद्विरुक्तेः स्तुत्यर्थताऽधिकरणम् ॥१४॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये द्वितीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

अर्थवादसहित वाक्य से ही आग्नेय विहित हो गया है, फिर किस अन्य अर्थ के विधान के लिये स्तुति प्राप्त होवे? स्तुतिमात्र जो किसी अर्थ के विधान के लिये नहीं है, वह अनर्थक है ऐसा कह चुके हैं—आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् (मी० १।२।१) (=आम्नाय के क्रिया के लिये होने से, जो आम्नाय क्रिया के लिये नहीं हैं, उनका आनर्थक्य होता है वे=अनर्थक होते हैं)। अर्थ चाहे स्तुत होवे चाहे अस्तुत, उतना (=समान) ही होता है [अर्थात् स्तुति करने से वा न करने से अर्थ में अन्तर नहीं आता है]। जैसे स्तुति की गई अथवा स्तुति न की गई देवता [कर्म के] अङ्गभाव को सिद्ध करती है, उसी प्रकार यह अर्थ है। (समाधान) इस विषय में कहते हैं—अन्य प्रयोजन के लिये पुनःश्रुति है, आग्नेय के विधान के लिये नहीं है। ऐन्द्राग्न विधान के लिये है। आग्नेय अष्टाकपाल अमावास्या में होता ही है। वह केवल अग्नि से साधु नहीं होता है, इस लिये इन्द्रसहित अग्नि विशेष साधु होता है। इस कारण ऐन्द्राग्न करना चाहिये ॥२९॥

विवरण—पूर्वसूत्र से कहा गया समाधान प्रौढीवादमात्र होने से एकदेशी है। वास्तविक समाधान पुनःश्रुति ऐन्द्राग्न के विधान के लिये है, यह जानना चाहिये। ऐन्द्राग्नविधानार्था...... तस्मादैन्द्राग्नः कर्तव्यः—इस सम्पूर्ण पाठ का व्याख्याकारों के मतानुसार भाव यह है कि अमावास्या में आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति वाक्य अमावास्या में आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश के विधान के लिये है। और आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति वचन अर्थवाद है। अग्निसहित ऐन्द्राग्न पुरोडाश विधान की स्तुति के लिये है। ऐन्द्राग्न एकादशकपाल पुरोडाश का विधायक वाक्य प्रकृत सूत्र में स एतमैन्द्राग्नमेकादशकपालममावास्यायामपश्यत् और २।४।८ में (भाग १, पृष्ठ २८७)[3] ऐन्द्राग्न एकादशकपालोऽमावास्यायामसन्नयतः वचन उद्धृत किया है। हमें दोनों वचन किसी आकर ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हुए। कात्यायन श्रौत की विद्याधर टीका की भूमिका पृष्ठ ३४, पं० ३ में ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश कहा है। तै० सं०

---

१. काशी संस्करणे इह उत्तरत्र न सर्वत्र स्तुतिशब्दस्थाने श्रुतिशब्दोऽपपाठो ज्ञेयः।

२. मी० १।२।१॥

३. लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली द्वारा प्रकाशित।

२।५।३ में वृत्रवध के अनन्तर इन्द्र के व्यृद्ध (=देवता और इन्द्रिय से रहित) हो जाने का निर्देश करके कहा है—स एतमाग्नेयमष्टाकपालमावास्यायामपश्यत्, ऐन्द्रं दधि, तं निरपवन्, तेन वै स देवताश्चेन्द्रियं चावारुन्ध । यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति, ऐन्द्रं दधि देवताश्चैव······पाठ मिलता है । इस से विदित होता है कि आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश का विधान सान्नाय्य पक्ष में, ऐन्द्र दधि पक्ष में किया है । इसके अनुसार सान्नाय्य पक्ष में अमावास्या कर्म में इन्द्र के साथ अग्नि देवता के सहभाव के लिये जानना चाहिये । इस दृष्टि से भाष्य के न आग्नेयं विधातुम्, ऐन्द्राग्न-विधानार्था वाक्य का अर्थ 'सान्नाय्ययाजी के अमावास्या कर्म को इन्द्र के साथ अग्निदेवतावाला विधान करने के लिये है' ऐसा जानना चाहिये । प्रतीत होता है कि सभी मीमांसकों ने भाष्य के ऐन्द्राग्नविधानार्था का अर्थ ऐन्द्राग्न पुरोडाश विधान समझकर तथा ऐन्द्राग्नः कर्तव्यः में पुंस्त्व देखकर ऐन्द्राग्न एकादशकपाल पुरोडाश विधायक श्रुति को उद्धृत करने का प्रयास किया है । यह हमारे विचार में चिन्त्य है । ऐन्द्राग्न पुरोडाश तो द्विदेवताक है ही । इसलिये भाष्यकार का न केवलेनाग्निना स साधुर्भवतीतीन्द्रसहितोऽग्निः समीचीनतरः पाठ हमारे विचार का ही पोषक है । ऐन्द्राग्नः कर्त्तव्यः में पुंस्त्व अमावास्यायागः की दृष्टि से जानना चाहिये, न कि ऐन्द्राग्न पुरोडाश की दृष्टि से ।।२६।।

—:o:—

द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः

[यावज्जीवाग्निहोत्राऽधिकरणम् ॥१॥]

वह्वृचब्राह्मणे[1] श्रूयते—यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति[2] इति; यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत[2] इति। अत्र संदेहः—किं कर्मधर्मोऽभ्यासो यावज्जीविकता, उत कर्तृधर्मो नियमश्चोद्यते यावज्जीविकतेति ? कथं कर्मधर्मोऽभ्यासः, कथं वा कर्तृधर्मो नियम इति ? यदि जुहोतिरनुवादः, यावज्जीवमिति विधिः, ततः कर्मधर्मोऽभ्यासः। यदि विपरीतं, ततः कर्तृधर्मो नियम इति। किं तावत् प्राप्तम्—

व्याख्या—वह्वृच ब्राह्मण में सुना जाता है—यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति (=यावज्जीवन=जब तक जीवन है तब तक अग्निहोत्र करे); यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत (=यावज्जीवन दर्शपूर्णमासों से यजन करे)। इसमें सन्देह है—क्या यावजीविकता कर्म का धर्म अभ्यास है, अथवा यावजीविकता कर्ता का धर्म नियम कहा जाता है ? किस प्रकार का कर्म का धर्म अभ्यास होगा, और कैसे कर्ता का धर्म नियम होगा? यदि जुहोति अनुवाद है, और यावज्जीवं विधि है तो कर्म का धर्म अभ्यास होगा [—अग्निहोत्रहोममुद्दिश्य यावज्जीविका विधीयते=अग्निहोत्र होम को उद्देश करके यावज्जीविकता का विधान किया जाता है=यावज्जीवन अग्निहोत्र करे]। और यदि विपरीत है—[यावज्जीवमुद्दिश्य अग्निहोत्रहोमो विधीयते=यावज्जीवन को उद्देश करके अग्निहोत्र होम का विधान किया जाता है], तब कर्तृधर्म नियम होगा। तो क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—बह्वृचब्राह्मणे श्रूयते—इस पर भट्ट कुमारिल ने लिखा है—बह्वृच (=ऋग्वेदीय) ब्राह्मणों में श्रुत है, अथवा अध्वर्यु (=यजुर्वेदीय) ब्राह्मणों में श्रुत है, इस विषय में अधिक अभिनिवेश नहीं करना चाहिये। प्रतीत होता है, भट्ट कुमारिल को ऋग्वेदीय उपलब्ध ब्राह्मणों में यह पाठ नहीं मिला था। हमें भाष्योक्त दोनों वचन न ऋग्वेदीय उपलब्ध ब्राह्मणों में मिला, और ना ही यजुर्वेदीय उपलब्ध ब्राह्मणों में। आगे भट्ट कुमारिल ने पुनः लिखा है कि—कर्तृधर्म वा कर्मधर्म यह शेष लक्षण (=तृतीयाध्याय) का विषय है, अतः यह सम्बद्ध नहीं होता है। कुछ व्याख्याता कहते हैं, लक्षणारूप अर्थ के परिपूर्ण हो जाने पर शेष लक्षणविषयक विचार भी प्रत्यासत्ति(=

---

१. अत्राह भट्टकुमारिलः—बह्वृचब्राह्मणेऽध्वर्युब्राह्मणे वा श्रूयत इति नातीवाभिनिवेशनीयम्। २. अनुपलब्धमूलम्।

यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः प्रकरणात् ॥१॥ (पू०)

कर्मधर्मोऽभ्यासः। कुतः ? प्रकरणात्। यदीयं वचनव्यक्तिः—जुहोतियजतिशब्दावनुवादौ, यावज्जीवमिति च विधिः, ततः प्रकरणमनुगृह्यते। तस्मादभ्यासः। एवं कृत्वा सत्रसंस्तवो युक्तो भविष्यति—जरामर्यं वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च[1] इति दीर्घकालसामान्यात्। तस्मादभ्यासः ॥१॥

कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात् ॥२॥ (उ०)

समीपता) के कारण किया हुआ विरुद्ध नहीं है। यह कथन अयुक्त है, क्योंकि शाखान्तर में कर्म-भेद है वा नहीं ? यह विचार अभी तक पूर्ण नहीं हुआ है (=अगले अधिकरण में विचार करना शेष है)। इस कारण इसका सम्बन्ध इस प्रकार लगाना चाहिये—जैसे भेद के [शब्दान्तर आदि] कारण. क्रर्म के स्वरूप के भिन्न होने पर व्यापृत होते हैं, उसी प्रकार प्रयोगभेद में भी व्यापृत होते हैं। इसलिये यहां यावज्जीव गुणयुक्त अग्निहोत्रादि के प्रयोग भिन्न होते हैं, अथवा एक ही यह काम्य प्रयोग यावज्जीवन काल तक रहता है।

यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः प्रकरणात् ॥१॥

सूत्रार्थः—[यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति में] (यावज्जीविकः) यावज्जीवनवाला (अभ्यासः) अभ्यास=आवृत्ति (कर्मधर्मः) कर्म का धर्म=अङ्ग कहा है, (प्रकरणात्) अग्निहोत्र के प्रकरण में पाठ होने से।

व्याख्या—कर्म का धर्म अभ्यास है। किस हेतु से ? प्रकरण से। यदि यह वचनव्यक्ति (=वचन का स्वरूप) है—जुहोति यजति शब्द अनुवाद हैं, और यावजीविकता विधि है, तो प्रकरण अनुगृहीत होता है। इसलिये [अग्निहोत्र और दर्शपौर्णमास का] अभ्यास है। इस कारण [इनके लिये] सत्र की स्तुति - जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च (=यह अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास जरामर्य=वृद्धता वा मरण से पूरा होनेवाल सत्र है) इस दीर्घकाल सामान्य से युक्त होती है। इसलिये अभ्यास है ॥१॥

विवरण—सत्रसंस्तवः—सत्र के समान स्तुति। इस स्तुति में सामान्य हेतु है सत्र और जरामर्य अग्निहोत्र तथा दर्शपूर्णमास की दीर्घकालता ॥१॥

कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है—यावज्जीवन अभ्यास [की

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं, जरया वा ह्येतस्मान्मुच्यते मृत्युना वा। शत० ब्रा० १२।४।१।१॥ तु०—श्रा० १०।६४।१॥

अत्र ब्रूमः—यावज्जीविकोऽभ्यासो न स्यात्, कर्तुर्धर्मो नियमश्चोद्यते इति। कुतः? श्रुतिसंयोगात्। एवं श्रुतिपरिच्छिन्नोऽर्थो भविष्यति। इतरथा लक्षणा स्यात्। कथम्? यावज्जीवनं तावता कालेन कुर्यादिति। तदेतत् प्रदोषपरिसमाप्तमग्निहोत्रमनभ्यस्य, न शक्यते यावज्जीवनकालेन कर्तुम्। पौर्णमास्यमावास्यापरिसमाप्तौ च दर्शपूर्णमासौ। यद्युच्येत—जीवनकालस्यैकदेशेऽपि कृतं तेन कालेन कृतं भवति इति, नैतदेवम्। अर्थप्राप्तं हि तद्, न विधातव्यं शब्देन। जीवनपरिमितः कालो यः, तेन परिसमापयितव्यम्, इत्यर्थादभ्यासः। स हि कर्त्तव्यतया श्रूयते। न चासौ जुहोतियजलिभ्यामुच्यते। लक्षणया तु गम्यते—यावज्जीवं जुहुयात्, यावज्जीवमभ्यस्येदिति। श्रुतिश्च प्रकरणाद् वलीयसी। यदि इयं वचनव्यक्तिरस्य वाक्यस्य - यावज्जीवमित्यनुवादो. जुहोति यजतीति च विधानम्, इत्येवं यजतिजुहोतिशब्दौ स्वार्थावेव भविष्यतः। यावज्जीवशब्दोऽपि जीवनवचन एव। नाभ्यासलक्षणो भविष्यतीति। जीवने निमित्ते कर्म विधीयते—जीवंश्चेद् होतव्यमिति। जीवनं निमित्तं, न कालः। नियतनिमित्तत्वान्नियतं कर्म। तेनोच्यते—कर्त्तुर्धर्मो नियमश्चोद्यते इति ॥२॥

विधि] नहीं है। (कर्तुः) कर्ता का धर्म यावज्जीविकता है, (श्रुतिसंयोगात्) श्रुति का संयोग= श्रुति से परिच्छिन्न अर्थ होने से।

व्याख्या—इस विषय में कहते हैं—यावज्जीवन अभ्यास न होवे, कर्ता का धर्म नियम [यावज्जीविकता] कही जाती है। किस हेतु से? श्रुति का संयोग होने से। इस प्रकार [मानने पर] श्रुति से परिच्छिन्न (=प्रमाणित) अर्थ गृहीत होगा। अन्यथा [यावज्जीवन] लक्षणा होवे। कैसे? यावज्जीवनं तावता कालेन कुर्यात् (=जब तक जीवन है, उतने काल से पूरा करे)। वह यह प्रदोष (=सायं) में परिसमाप्त होनेवाले अग्निहोत्र का अभ्यास बिना किये यावज्जीवन काल नहीं किया जा सकता है। और पौर्णमास्य अमावास्य कर्म को अपरिसमाप्त किये दर्शपूर्णमास कर्म नहीं किये जा सकते हैं। और यदि कहो कि—जीवनकाल के एक देश में भी किया हुआ कर्म उस काल से किया गया होता है, तो यह ठीक नहीं है। अर्थ से प्राप्त [अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास] हैं, उनका विधान [यावज्जीवन] शब्द से नहीं करना चाहिये। जीवनपरिमित जो काल है, उससे [अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास को] समाप्त करना चाहिये, इस प्रकार अभ्यास अर्थतः प्राप्त है। वही (=अभ्यास) कर्तव्यरूप से श्रुत है। [पूर्वपक्ष में] यह [अर्थ] जुहोति यजति शब्द से नहीं कहा जाता है। लक्षणा से जाना जाता है—यावजीवन होम करे, यावज्जीवन अभ्यास करे। और श्रुति प्रकरण से बलवती है। यदि इस वाक्य की यह वचनव्यक्ति (=स्वरूप) है—यावज्जीवं यह अनुवाद है, जुहोति यजति का विधान है, तो इस प्रकार यजति जुहोति शब्द स्व-अर्थवाले ही होंगे। और यावज्जीव शब्द भी जीवनवाचक ही होगा। अभ्यासलक्षणवाला [यावज्जीव शब्द] नहीं होगा। जीवन के निमित्त होने पर कर्म का विधान किया जाता है—यदि जीवित है, तो होम करे। [इस प्रकार] जीवन निमित्त है, काल निमित्त नहीं है। नियत निमित्तवाला होने से कर्म नियत है। इसलिये कहते हैं—कर्ता का धर्म नियम कहा जाता है ॥२॥

लिङ्गदर्शनाच्च कर्मधर्मे हि प्रक्रमेण नियम्येत तत्रानर्थकमन्यत् स्यात् ॥३॥ (उ०)

लिङ्गञ्च भवति—अपि ह वा एष स्वर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी पौर्णमासीममावास्यां वा अतिपातयेद्[1] इति। कथं लिङ्गम् ? कर्मधर्मे हि प्रक्रान्तं सत्रं यावज्जीवन-

---

विवरण—तावता कालेन कुर्यात्—यहां कालेन में तृतीया विभक्ति अपवर्गे तृतीया (अष्टा० २।३।६) के नियम से है। अतः अर्थ होगा—तावता कालेन समापयेत् (=उतने काल से पूरा=समाप्त करे)। प्रदोषपरिसमाप्तमग्निहोत्रमनभ्यस्य—इसका तात्पर्य है कि अग्निहोत्र का आरम्भ सायंकाल के अग्निहोत्र से होता है, और प्रातःकाल के अग्निहोत्र पर अग्निहोम समाप्त होता है। कालद्वयसाध्य एक अग्निहोत्र होम है। उसका अभ्यास किये विना यावज्जीवन काल से अग्निहोत्र नहीं किया जा सकेगा। अर्थात् यावज्जीवन अग्निहोत्र का अभ्यास करना पड़ेगा। जीवनकालस्यैकदेशे—इसका भाव है कि पूरे जीवन में कभी भी किया हुआ अग्निहोत्र उस यावज्जीवन काल से कृत होता है। अर्थप्राप्तं हि तत्—आधान के अनन्तर अग्निहोत्र होम ने होना ही है, और वहां यावज्जीवन काल से समाप्त हुआ माना जाये, तो उसके यावज्जीवन विधान की आवश्यकता नहीं। लक्षणया तु गम्यते·····अभ्यस्येदिति—इस प्रकार पूर्वपक्ष में दो अर्थ लाक्षणिक होते हैं—(१) यावज्जीवन=जीवनपर्यन्त काल, (२) जुहोति=होम का अभ्यास करे, यजेत=याग का अभ्यास करे ॥२॥

लिङ्गदर्शनाच्च कर्मधर्मे हि प्रक्रमेण नियम्येत तत्रानर्थकमन्यत् स्यात् ॥३॥

सूत्रार्थः—अपि ह वा एष स्वर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी पौर्णमासीममावास्यां वा अतिपातयेत् इस (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के देखे जाने से (च) भी यावज्जीवन वाक्य कालार्थ एक प्रयोग है। (कर्मधर्मे) कर्म का धर्म मानने पर यावज्जीविका (प्रक्रमेण) प्रक्रम=उपक्रम से (नियम्येत) नियमित होवे। (तत्र) उस पक्ष में (अन्यत्) अन्य प्रायश्चित्तादि विधान (अनर्थकम्) अनर्थक (स्यात्) होवे। क्योंकि कर्मधर्म यावज्जीविका को मानने पर पौर्णमासी वा अमावास्या का अतिपात=उल्लङ्घन होगा ही नहीं, फिर प्रायश्चित्त का विधान क्यों कर होवे ?

व्याख्या—[यावज्जीविका वाक्य एक कर्म के अभ्यास का विधायक है, इसमें] लिङ्ग भी है—अपि ह वा एष स्वर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी पौर्णमासीममावास्यां वा अतिपातयेत् (=वह यजमान निश्चय ही स्वर्ग से छिन्न हो जाता है=कट जाता है, जो दर्शपूर्णमासयाजी होकर पौर्णमासी वा अमावास्या का अतिपात=त्याग करता है=याग के बिना छोड़ देता है)। यह लिङ्ग कैसे है ? कर्म का धर्म [यावज्जीविका को] मानने पर आरम्भ किया

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—अपि वा एष सुवर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी सन्नमावास्यां वा पौर्णमासीं वातिपातयति। तै० सं० २।२।५॥

कालेन परिसमाप्येत । न तत्र कालातिपातः स्यात् । तत्र चानर्थकमन्यत् स्यात् प्रायश्चित्तादि विधीयमानम् ॥३॥

व्यपवर्गञ्च दर्शयति कालश्चेत् कर्मभेदः स्यात् ॥४॥ (उ०)

व्यपवर्गस्य समापनस्य दर्शनं भवति—दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत[1] इति । यदि दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमस्य कालोऽस्ति, व्यक्तं न यावज्जीवनकालेन तौ परिसमाप्येते । अथ जीवनं निमित्तम्, उपपद्यते कर्मभेदः—दर्शपूर्णमासौ परिसमाप्य सामं कर्मान्तरं कुर्य्यादिति ।

अपि च, आहिताग्निर्वा एष योऽग्निहोत्रं जुहोति, न दर्शपूर्णमासौ यजते, तद् या आहुतिभाजो देवतास्ता अनुध्यायिनीः करोति[2], इत्यनुध्यायिनीवचनं भवति । नियतो य आहुतिभागः,

---

गया सत्र यावज्जीवन काल से परिसमाप्त होगा । उसमें काल (=पौर्णमासी और अमावास्या) का अतिपात=त्याग होगा ही नहीं । उस अवस्था में अन्य विधीयमान प्रायश्चित्तादि अनर्थक होंगे ॥३॥

व्यपवर्गञ्च दर्शयति कालश्चेत् कर्मभेदः स्यात् ॥४॥

सूत्रार्थः—[दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत वाक्य] (व्यपवर्गम्) व्यपवर्ग=कर्म की समाप्ति को (च) भी (दर्शयति) दिखाता है । और (कालश्चेत्) यदि काल=जीवननिमित्त होवे, तो (कर्मभेदः) कर्म का भेद=दर्शपूर्णमास के अनन्तर सोम (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—व्यपवर्ग (=दर्शपूर्णमास के) समापन का दर्शन होता है—दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत (=दर्शपूर्णमास से यजन करके सोमयाग करे) । यदि दर्शपूर्णमास से यजन के पश्चात् सोम का काल है, तो यावज्जीवन काल से दर्शपूर्णमास समाप्त नहीं होते हैं, यह व्यक्त (=स्पष्ट) है । और यदि जीवन निमित्त है=जब तक जीवन हैं दर्शपूर्णमास से यजन करे अभिप्राय है, तो कर्मभेद (=दर्शपूर्णमास से यजन करके सोमयाग) उपपन्न होता है - दर्शपूर्णमास को समाप्त करके कर्मान्तर सोमयाग को करे ।

और भी, आहिताग्निर्वा एष योऽग्निहोत्रं जुहोति, न दर्शपूर्णमासौ यजते, तद् या आहुतिभाजो देवतास्ता अनुध्यायिनीः करोति (=जो यह यजमान आहिताग्नि होकर अग्निहोत्र होम करता है, दर्शपूर्णमास का यजन नहीं करता है, तो वह जो आहुतिभाक् (=जिनको आहुति देनी है उन) देवताओं को अनुध्यायिनी=हमें आहुति मिलेगी ऐसा चिन्तन करनेवाली करता है, यह अनुध्यायिनी वचन (उपपन्न) होता है । जो नियत आहुतिभाग है, उसके न देने पर ही अनु-

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा सोमेन यजते । तै० सं० २।५।६॥
२. मै० सं० ३।६।५॥ पूर्वमुद्रितेषु 'एष योऽग्निहोत्रं जुहोति··· ···यजेत या' इत्यपपाठः ।

तस्मिन् अदीयमाने अनुध्यायिनीवचनं भवति। यस्त्वनियत आहुतिभागः, न तमनुध्यायन्ति, इदं नो भविष्यतीति। नियतश्च भागो नियमपक्षे भवति, न काम्यपक्षे। कर्मधर्मे च काम्यमग्निहोत्रञ्च दर्शपूर्णमासौ च। तस्मान्नियमपक्षः।

अपि च श्रूयते—जरामर्यं वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च, जरया ह वा एताभ्यां निर्मुच्यते मृत्युना च[1] इति जरामरणनिर्मोचनावधारणवचनं च नियमपक्षे उपपद्यते। काम्यपक्षे ह्यप्रयोगादपि मुच्येत ॥४॥

अनित्यत्वात्तु नैवं स्यात् ॥५॥ (उ०)

ध्यायिनी वचन [उपपन्न] होता है। जो अनियत आहुतिभाग है [अर्थात् काम्य पक्ष में कामना होने पर प्राप्त होनेवाला अनियत आहुतिभाग का देवता], यह हमारा भाग होगा, ऐसा अनुध्यान नहीं करते हैं। और नियतभाग नियमपक्ष(=यावज्जीवन अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास यजन करे)में उपपन्न होता है. काम्यपक्ष (=होम को उद्देश करके यावज्जीवन काल के विधानपक्ष) में नहीं होता है। कर्म का धर्म=यावज्जीवनकाल का विधान मानने पर अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास काम्य होते हैं। इसलिये नियमपक्ष (=यावज्जीवन को उद्देश करके अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास करे, यह विधान) है।

और भी सुना जाता है—जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च, जरया ह वा एताभ्यां निर्मुच्यते मृत्युना च (=यह जरामर्य सत्र है, जो अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास हैं, जरा=वृद्धता से ही इनसे मुक्त होता है और मृत्यु से) यह जरा वा मरण से निर्मोचन (=मुक्ति) का अवधारणवचन नियमपक्ष में ही उपपन्न होता है। काम्यपक्ष में अप्रयोग (=कर्मत्याग) से भी मुक्त हो सकता है [अर्थात् कामना न होने पर आरम्भ न करने, अथवा जब तक इच्छा हुई कर्म किया, इच्छा न रहने पर छोड़ देने से भी कर्म से मुक्ति हो सकती है ॥४॥

अनित्यत्वात्तु नैवं स्यात् ॥५॥

सूत्रार्थः—'तु' शब्द अन्वाचय=कहे हुए के साथ अन्य के समुच्चय अर्थ में है। (अनित्यत्वात् तु) [यावज्जीविका को कर्म का धर्म मानने पर उसके काम्य होने से] अनित्यत्व के कारण भी (एवम्) इस प्रकार (न) नहीं (स्यात्) होवे।

विशेष—पूर्व सूत्र के भाष्य के अन्त में उद्धृत जरामर्यं वा एतत् सत्रम् वचन से अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास से जरा अथवा मृत्यु से छुटकारा कहा है। यदि यावज्जीविका कर्म-धर्म (=अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास को उद्देश करके विहित) होवे, तो उसके काम्य होने से कामना के अभाव में वह अनित्य होगा। अनित्य होने से विना जरा और मरण के भी प्रयोग न करने से छुटकारा हो सकता है। अतः जरामर्यवचन कर्तृधर्म=नियम का ही बोधक है।

---

१. द्र०-- पूर्व पृष्ठ ५९२ टि० १।

'तु' शब्दोऽन्वाचये। इतश्च पश्यामः—कर्तुर्धर्मो नियमश्चोद्यते इति। यदि पूर्वस्य होमस्य गुणविधिर्भवेत्, स एवैकः पूर्वोऽग्निहोत्रहोमोऽनित्यः स्यात्, कामसंयोगेन श्रुतः। नान्यः कश्चिन्नित्यः। तत्र लिङ्गं विरुध्येत—जरामर्यं वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ, जरया वा एताभ्यां निर्मुच्यते मृत्युना च[1] इति। कथं विरुध्यते? जरामरणनिर्मोचनावधारणवचनं नियमपक्षे उपपद्यते। काम्यपक्षे अप्रयोगादपि मुच्येत ॥५॥

विरोधश्चापि पूर्ववत् ॥६॥ (उ०)

इतश्च पश्यामः—न पूर्वाभ्यासो गुणश्चोद्यते इति। कुतः? विरोधात्। विरोधो

व्याख्या—'तु' शब्द अन्वाचय में प्रयुक्त है। इससे भी हम देखते हैं कि—[यावज्जीविका वाक्य से] कर्ता का धर्म नियम कहा जाता है। यदि पूर्व होम की ही [यावज्जीविका] गुणविधि होवे, तो वही एक पूर्वविज्ञात अग्निहोत्र होम कामसंयोग से श्रुत अनित्य होवे। और कोई होम नित्य नहीं है। उस अवस्था में लिङ्ग विरुद्ध होवे—जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ, जरया वा एताभ्यां निर्मुच्यते मृत्युना च। यह लिङ्ग विरुद्ध कैसे होता है? जरामरण से निर्मोचन के अवधारण को कहनेवाला वचन नियमपक्ष में उपपन्न होता है। काम्य पक्ष में [इनके] अप्रयोग से भी मुक्त हो सकता है ॥५॥

विवरण—इस सूत्र के वार्तिक में भट्ट कुमारिल ने कहा है कि—पूर्व सूत्र के भाष्य के अन्त में नियमपक्ष में ही जरा वा मरण से अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास से मुक्ति कहनेवाला वचन उपपन्न होता है। काम्यपक्ष में इन कर्मों के अप्रयोग से भी मुक्ति हो सकती है। उसे ही सूत्रारूढ़ (=इस सूत्र के आधार पर आरोहित) करते हैं। कुतुहल वृत्तिकार ने इस सूत्र की वृत्ति में जरामयम् का अर्थ 'जरा=वृद्धा अवस्था से मर्यं=समाप्य' किया है। वह उपसंहार जरया वा एताभ्यां निर्मुच्यते मृत्युना च से विरुद्ध होने से चिन्त्य है। अतः जरामर्यम् में जरा और मर्य(=मृत्यु)का समाहार द्वन्द्व जानना चाहिये। अर्थ के लिये अभिविधि अर्थ में आङ् का अध्याहार करना चाहिये—जरापर्यन्त अथवा मृत्युपर्यन्त किया जानेवाला कर्म। सायणाचार्य ने तैत्तिरीय आरण्यक १०।६४ के एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रम् से 'जरामर्यं' का अर्थ किया है—जरामरणावधिम् ।।।५।

विरोधश्चापि पूर्ववत् ॥६॥

सूत्रार्थः—(च) और [यावज्जीविका को कर्मधर्म मानने में] (विरोधः) विरोध (अपि) भी (पूर्ववत्) पूर्व के समान है।

व्याख्या—इससे भी हम देखते हैं कि—पूर्व [=अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास] का [यावज्जीवकारूप] अभ्यास गुण नहीं कहा जाता है। किस हेतु से? विरोध होने से। विरोध होता है—

---

१ द्र०—पूर्व पृष्ठ ५९२ टि० १।

भवति—दर्शपूर्णमासविकाराः सौर्यादयोऽपि यावज्जीवमभ्यसितव्या भवेयुः। सोऽनारभ्यार्थः प्रतिज्ञातः स्यात्। अतोऽपि पश्यामो नियम इति। सत्रसंस्तवश्च सन्ततभावमुपपत्स्यते ॥६॥

कर्त्तुस्तु धर्मनियमात् कालशास्त्रं निमित्तं स्यात् ॥७॥ (उ०)

यदि कर्त्तुर्धर्मो नियमश्चोद्येत, ततो जीवनं निमित्तम्। जीवने निमित्ते कर्म्मं विधीयते। तत्र प्रयोगे परिसमाप्तं कर्म्मं। तथा व्यपवर्गस्य[1] दर्शनमवक्लृप्तम्भवति। तस्मात् कर्तृधर्मो नियमश्चोद्यते, इति सिद्धं भवति ॥७॥ इति यावज्जीविकाग्निहोत्राऽधिकरणम्॥१॥

[यावज्जीवन अभ्यास का विधान करने पर] दर्शपूर्णमास के विकार सौर्यादि इष्टियां भी यावज्जीवन अभ्यसनीय होवें। वह अनारभ्यार्थ(=करने के अयोग्य अर्थ)प्रतिज्ञात होवे। इस कारण भी हम देखते हैं कि [यावज्जीवन] नियम (=कर्तृधर्म) है। और [अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास के लिये] सत्र की स्तुति सन्ततभाव को लेकर उपपन्न हो जायेगी ॥६॥

विवरण—विरोधो भवति·········यावज्जीवमभ्यसितव्या भवेयुः—इसका भाव यह है कि सौर्यादि जितनी इष्टियां हैं, वे सब दर्शपूर्णमास की विकृतियां हैं। यदि दर्शपूर्णमास में यावज्जीविका कर्मधर्म का विधान माना जाये, तो प्रकृतिवद् विकृतिःकर्तव्या नियम के अनुसार सौयादि इष्टियों में भी यावज्जीवन कर्म-धर्म उपस्थित होगा। सब इष्टियों का यावज्जीवन अभ्यास नहीं किया जा सकता है। अतः यह करने के अयोग्य धर्म प्रतिज्ञात होता है ॥६॥

कर्त्तुस्तु धर्मनियमात् कालशास्त्रं निमित्तं स्यात् ॥७॥

सूत्रार्थः—(कर्तुः) कर्त्ता के (तु) तो (धर्मनियमात्) धर्म का नियम होने से (कालशास्त्रम्) कालविधायक शास्त्र [यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति आदि होम और दर्शपूर्णमास का] (निमित्तम्) निमित्त (स्यात्) होवे। अर्थात् यावज्जीवन कर्ता का धर्म होने पर यावज्जीवन होमादि के करने में निमित्त होता है—जब तक जीवन है, अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास करे।

व्याख्या—यदि कर्त्ता का धर्मनियम कहते हो, तो जीवन [अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास करने का] निमित्त होता है। जीवन के निमित्त होने पर कर्म का विधान किया जाता है। वहां प्रतिप्रयोग कर्म समाप्त होता है। इस प्रकार व्यपवर्ग (=समाप्ति) का दर्शन [दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा सोमेन यजेत]उपपन्न होता है। इसलिये कर्त्ता का धर्मनियम कहा जाता है, यह सिद्ध होता है ॥७॥

---

१. दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा सोमेन यजेत। तै० सं० २।५।६॥

[सर्वशाखाप्रत्ययैकर्मताऽधिकरणम् ॥२॥]

नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनप्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यात् ॥८॥ (पू०)

इह शाखान्तराण्युदाहरणम्—काठकं कालापकं पैप्पलादकमित्येवमादीनि। तत्र सन्देहः—किमेकस्यां शाखायां यत् कर्म्म अग्निहोत्रादि श्रूयते, तच्छाखान्तरे पुनः श्रूयमाणं भिद्येत तस्मात्, उत न भिद्येत ? भिद्येतेति पश्यामः। कुतः ?

नामभेदात्—एकं काठकं नाम, अन्यत् कालापकं नाम। एवं नामभेदाद्भेदः। ननु ग्रन्थनामैतत्। सत्यम्। कर्मणामपीति ब्रूमः। कर्मभिरप्येवमादीनां सामानाधिकरण्यमेकविभक्तित्वञ्चेति।

रूपभेदाच्च—एकस्यां शाखायाम् अग्नीषोमीयमेकादशकपालम्[1] आमनन्ति, एकस्यां

नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनप्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यात् ॥८॥

सूत्रार्थः—(नाम-रूप-धर्मविशेष-पुनरुक्ति-निन्दा-अशक्ति-समाप्तिवचन-प्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनात्) १. नाम, २. रूप, ३. धर्मविशेष, ४. पुनरुक्ति, ५. निन्दा, ६. अशक्ति, ७, समाप्तिवचन, ८. प्रायश्चित्त, ९. अन्यार्थदर्शन होने से (शाखान्तरेषु) शाखान्तरों में (कर्मभेदः) कर्म का भेद (स्यात्) होवे।

व्याख्या—इस सूत्र में शाखान्तर (कर्म) उदाहरण हैं—काठक कालापक पैप्पलादक इत्यादि। इनमें सन्देह होता है—क्या एक शाखा में जो अग्निहोत्रादि कर्म सुना जाता है, वही शाखान्तर में पुनः श्रूयमाण उससे भिन्न होता है, अथवा भिन्न नहीं होता है ? भिन्न होता है, एसा हम देखते हैं। किस हेतु से ?

(१) नामभेद से—एक कर्म काठक है, और दूसरा कालापक। इस प्रकार नामभेद से [कर्मों में] भेद होता है। (आक्षेप) ये (=काठक कालापक) तो ग्रन्थों के नाम हैं [न कि कर्मों के]। (समाधान) सत्य है। कर्मों के नाम भी हैं, ऐसा हम कहते हैं। कर्मों के साथ भी इन काठक कालपक आदि का सामानाधिकरण्य और एकविभक्तित्व देखा जाता है [—काठकमग्निहोत्रम्, कालापकमग्निहोत्रम्]।

(२) रूपभेद से भी—एक शाखा में अग्निषोम देवतावाला पुरोडाश एकादशकपाल में

---

१. द्र०—ताभ्यामग्नीषोमीयमेकादशकपालं पौर्णमासे प्रायच्छन्। तै० सं० २।५।२॥

द्वादशकपालम्[1]। एवं भिन्नरूपं कथमिव न कर्मान्तरं भविष्यति ?

धर्मविशेषाच्च कारीरीवाक्यान्यधीयानास्तैत्तिरीया भूमौ भोजनमाचरन्ति[1], अपरे शाखिनो नाचरन्ति। तथा अग्निमधीयानाः केचिदुपाध्यायस्योदकुम्भानाहरन्ति,[1] अपरे न। अश्वमेधमधीयानाः केचिदश्वस्य घासमाहरन्ति[1], अपरे न। परेऽन्यं धर्ममाचरन्ति। अश्वघासादेरेकेषामुपकारम् आकाङ्क्षति अश्वमेधादिः; एकेषां नाकाङ्क्षति। स एवैकः, कथं नाकाङ्क्षेत ? कथं वाऽन्यदाकाङ्क्षितुम् अर्हति ? अतो गम्यते अन्यदिति।

संस्कृत पढ़ा जाता है, दूसरी में द्वादशकपालों में संस्कृत। इस प्रकार भिन्नरूप क्यों नहीं कर्मान्तर होगा ?

(३) धर्मविशेष से भी—कारीरी [इष्टि] के वाक्यों का अध्ययन करते हुए तैत्तिरीय शाखा के छात्र भूमि पर भोजन करते हैं, दूसरी शाखावाले ऐसा आचरण नहीं करते। तथा अग्नि (=अग्निचयन) का अध्ययन करते हुए कुछ शाखावाले उपाध्याय के जलघटों का आहरण करते हैं (=उपाध्याय के लिये घड़ों में पानी भरके लाते है), दूसरे ऐसा आचरण नहीं करते। अश्वमेध का अध्ययन करते हुए कुछ लोग अश्व के घास को लाते है, दूसरे नहीं लाते। दूसरे लोग अन्य धर्म का आचरण करते हैं। किन्हीं का अश्वमेधादि [कर्म का अध्ययन] अश्वघास से उपकार की आकाङ्क्षा करता है, अन्यों का आकाङ्क्षा नहीं करता है। वह एक ही होवे, तो [अश्वघासादि की] कैसे आकाङ्क्षा न करे ? अथवा कैसे अन्य की आकाङ्क्षा करे ? इससे जाना जाता है कि [शाखाभेद से] कर्मभेद होता है।

विवरण—प्रन्थनामैतत्। सत्यम्, कर्मणामपीति ब्रूमः—कठ से तेन प्रोक्तम् (अष्टा० ४।३।१०१) प्रकरण में कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च (अष्टा० ४।३।१०४) से णिनि प्रत्यय होता है। कठ से णिनि का कठचरकाल्लुक् (अष्टा० ४।३।१०७) से लुक् हो जाता है। यद्यपि यह प्रत्यय प्रोक्तार्थ में होता है, प्रोक्तप्रत्ययान्त से तदधीते तद्वेद (अष्टा० ४।२।५९) से अण् होकर प्रोक्ताल्लुक् (अष्टा० ४।३।६३) से लुक् प्राप्त होता है। पुनरपि छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (अष्टा० ४।२।६६) नियम से प्रोक्तप्रत्ययान्त ही तदध्येतृवेदितृविषयक हो जाते हैं। इसलिये छन्दोब्राह्मणवाचक शब्दों से न अध्येतृवेदितृ विषयक प्रत्यय होता है, और ना ही प्रोक्ताल्लुक् (अष्टा० ४।२।६३) से लुक् होता है। इसलिये कठेन प्रोक्तमधीयते विदुर्वा कठाः विग्रह होता है। कलापिन शब्द से कलापिनोऽण् (अष्टा० ४।३।१०८) से अण् प्रत्यय होता है—कलपिना प्रोक्तमधीयते विदुर्वा कालापाः। इस प्रकार 'कठाः' 'कलापाः' चरणवाची शब्द उपपन्न होते हैं। तत्पश्चात् तस्येदम् (अष्टा० ४।३।१२०) प्रकरण में गोत्रचरणाद् वुञ् (अष्टा० ४।३।१२६) सूत्रस्थ चरणाद्धर्माम्नाययोः वार्तिक से धर्म और आम्नाय अर्थ में वुञ् प्रत्यय होकर काठक आम्नायः, काठको धर्मः, कालापक आम्नायः, कालापको धर्मः प्रयोग उपपन्न होते हैं। आम्नाय अर्थवाला काठक कालापक ग्रन्थवाची होता है, और धर्म अर्थवाला तद्विहित कर्मों का

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

वाचक। भाष्यकार ने शाखावाचक अर्थ को मुख्य मानकर काठकमग्निहोत्रम्, कालापकमग्निहोत्रम् में कर्म के साथ सामानाधिकरण्य दर्शाकर कर्मवाचक स्वीकार किया है। वस्तुतः धर्म-शब्द के व्यापक अर्थवाला होने से तत्तच्छाखाविहित कर्म तत्तच्छाखाध्येताओं के लिये धर्मरूप ही है। इसी प्रकार पैप्पलादकम् में पिप्पलादेन प्रोक्तमधीयते पैप्पलादाः, तेन प्रोक्तम् (अष्टा० ४।३।१०१) से अण्, और चरणाद् धर्माम्नाययोः (वा० ४।३।१२६) नियम से वुञ् प्रत्यय होकर बनता है।

मीमांसा कौस्तुभकार खण्डदेव ने इसी प्रकरण में कठ शब्द से प्रोक्तार्थ में पूर्ववत् णिनि, और उसका लुक् करके तदधीते तद्वेद (अष्टा० ४।२।५९) से पुनः अण्, और प्रोक्ताल्लुक् (अष्टा० ४।२।६४) से लुक् कहा है, वह अशुद्ध है। प्रोक्त प्रत्यय जहां केवल प्रोक्तार्थ में, और अध्येतृ-वेदितृविषयक होते हैं, उनमें अर्थो का अन्तर होने से तदधीते तद्वेद प्रकरणस्थ प्रत्ययों की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति में भी अन्तर होता है। जैसे पाणिनिना प्रोक्तम्—पाणिनीयमष्टकम् स्वतन्त्र प्रयोग, और पाणिनीयमष्टकमधीयते विदुर्वा पाणिनीयाः में अध्येतृवेदितृ विषयक प्रत्यय, और उसका प्रोक्ताल्लुक से पाणिनीयाः स्वतन्त्र प्रयोग उपपन्न होते हैं। तद्वत् कठेन प्रोक्तम्=कठः आम्नायः, और कठमाम्नायमधीयते कठाः ऐसे स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होते हैं। इन्हीं स्वतन्त्र प्रयोगों की निवृत्ति के लिये पाणिनि ने छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (अष्टा० ४।२।६६) का प्रवचन किया है। इस सूत्र की व्याख्या में काशिकाकार ने स्पष्ट लिखा है—अनन्यभावो विषयार्थः। तेन स्वातन्त्र्यमुपाध्यन्तर-प्रयोगो वाक्यं च निवर्तते। अर्थात् तद्विषयता का विधान अनन्यभाव (=एकत्व) विषय के लिये है। इस से प्रोक्त, और अध्येतृवेदितृविषयक प्रत्ययों का स्वतन्त्रता से होना प्रोक्तम् और अधीते वेद वा उपाध्यन्तर (=अर्थान्तर) का प्रयोग और भिन्नवाक्यत्व निवृत्त होता है।

प्रतीत होता है—खण्डदेव की इस भूल का कारण सिद्धान्तकौमुदीकार का अध्येतृवेदितृ प्रत्ययं विना न प्रयोज्यानि (छन्दोब्राह्मणानि सूत्रव्याख्यायाम्) वाक्य रहा हो। हरदत्त तथा भट्टोजि दीक्षित प्रभृति ने प्रोक्तप्रत्ययान्त छन्दो ब्राह्मण शब्दों से तदधीते तद्वेद अर्थ में प्रत्यय उत्पन्न करके लुक् माना है। इस प्रक्रिया में कलापिनः में प्रोक्तप्रत्ययान्त कलापिन् के नकार का अवान्तर पद संज्ञा मानकर लोप न होवे, इसके लिये नागेश भट्ट ने प्रोक्तप्रत्ययान्त कलापिन् से सुबुत्पत्ति से पूर्व ही अध्येतृवेदितृ प्रत्यय का विधान माना है (द्र० · लघुशब्देन्दुशेखर)। यह सब सूत्रकार और भाष्यकार के मत से विरुद्ध है। यदि सूत्रकार को यह प्रक्रिया अभिमत होती, तो तद्विषयाणि के स्थान पर नित्यम् छोटे शब्द का प्रयोग करते। जैसे क्त्रेर्मम् नित्यम् (अष्टा० ४।४।२०) में किया है। तद्विषयाणि ऐसा गुरुनिर्देश का प्रयोजन यही है कि प्रोक्तप्रत्ययान्त छन्दो-ब्राह्मण वाचक ही तद्विषयक=अध्येतृवेदितृविषयक होवें। भाष्यकार ने प्रोक्ताधिकार में तद्विष-यता के विधान का जो पक्ष उपस्थित किया है, उससे भी यही ध्वनित होता है कि वे प्रोक्तप्रत्य-यान्त को ही अध्येतृवेदितृविषयक मानते हैं। अनार्ष ग्रन्थों के माध्यम से आर्ष ग्रन्थ पढ़ने पर उनके तात्पर्य का प्रायः यथावत् ज्ञान नहीं होता है। इसीलिये आर्षग्रन्थों के परम उद्धारक स्वामी दयानन्द ने ठीक ही लिखा है—'जितना बोध इन (अष्टाध्यायी-महाभाष्य) के पढ़ने से तीन वर्षों[1]

---

१. हमारे विद्यालय में अष्टाध्यायी-सूत्रपाठ के माध्यम से महाभाष्यान्त पाणिनीय

पुनरुक्तिप्रसङ्गाच्च—यदि सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म, एकस्यां शाखायां विहितस्य कर्मणः शाखान्तरे वचनं पुनरुक्तमनर्थकं स्यात्। न तु भेदपक्षे एष दोषोऽस्ति। तस्मादपि कर्मभेदः।

निन्दावचनाच्च—प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम्। दिवाकीर्त्यमदिवा कीर्त्तयन्तः सूर्यो ज्योतिः, न तदा ज्योतिरेषाम्'इति केचिच्छाखिनोऽनुदितहोमं निन्दन्ति। अपरे पुनरुदितहोमं निन्दन्ति—यथाऽतिथये प्रद्रुतायान्नमाहरेयुस्तादृक् तद् यदि उदिते

में होता है, उतना बोध कुग्रन्थ अर्थात् सारस्वत चान्द्रिका कौमुदी मनोरमा आदि के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता है'(द्र०—सत्यार्थप्रकाश, समु० ३)। इसीलिये आप्त पुरुषों ने भी कहा है—काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्, अर्थात् कणादप्रोक्त वैशेषिक दर्शन और पाणिनिप्रोक्त व्याकरण समस्त शास्त्रों का उपकारक है। इनको यथावत् विना जाने अन्य शास्त्र समझ में नहीं आते, पदे-पदे स्खलन होता है।

अग्नीषोमीयमेकादशकपालम्—तैत्तिरीय सं० २।५।२ का वचन है—ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पौर्णमासे प्रायच्छत्। इसी अग्नीषोमीय पुरोडाश को माध्यन्दिनी द्वादशकपालवाला मानते हैं (प्रमाण अनुपलब्ध)।

कारीरीवाक्यान्यधीयानाः—कारीरी इष्टि का विधान वृष्टिकामना के लिये है—कारीर्या वृष्टिकामो यजेत (द्र०—मै० सं० २।४।८)। तैत्तिरीया भूमौ भोजनमाचरन्ति यह नियम, और अग्निमधीयानाः··· उदकुम्भान् आहरन्ति, अश्वमेधमधीयानाः······घासमाहरन्ति ये तीनों नियम हमें उपलब्ध नहीं हुए।

व्याख्या—(४) पुनरुक्ति के प्रसङ्ग (=प्राप्ति) से भी—यदि सर्वशाखाओं में जाना गया एक कर्म होवे, तो एक शाखा में विहित कर्म का शाखान्तर में वचन पुनरुक्त अनर्थक होवे। भेदपक्ष में तो यह दोष नहीं है। इसलिये भी कर्मभेद है।

(५) निन्दावचन से भी—प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम्। दिवाकीर्त्यमदिवा कीर्तयन्तः सूर्यो ज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम् (=सवेरे-सवेरे वे झूठ बोलते हैं, जो सूर्योदय से पूर्व अग्निहोत्र करते हैं। दिन में कीर्तनयोग्य सूर्यो ज्योतिः को रात्रि में कीर्तन करते हुए, इनकी तब = सूर्योदय से पूर्व सूर्यज्योति नहीं होती है, इस प्रकार कुछ शाखावाले अनुदितहोम की निन्दा करते हैं। दूसरी शाखावाले पुनः उदितहोम की निन्दा करते हैं—यथाऽतिथये प्रद्रुतायान्नमाहरेयुस्तादृक् तद् यदि उदिते जुह्वति इति (=जैसे घर पर आकर लौट गये अतिथि के लिये अन्न का आहरण करें, वैसा वह कर्म है जो उदित होने

व्याकरण का ५ वर्षों का अध्ययन-अध्यापन लगभग ५० वर्षों से हो रहा है। इसी प्रकार माध्वमतानुयायी आत्मकूर (आन्ध्र) निवासी श्री पं० पद्मनाभ राव जी के विद्यालय में भी है।

१. ऐ० ब्रा० ५।३१॥

जुह्वति' इति। सर्वशाखाप्रत्यये विरुद्धं, न तु कर्मभेदे। तस्मादपि भेद इति।

अशक्तेश्च—न शक्नुयुः खल्वपि सर्वशाखाप्रत्ययमुपसंहर्त्तुम्। तत्रानारभ्योऽर्थो विधीयते इति, प्रतिज्ञातं भवेत्। शक्यन्तु कर्मभेदे। अतः कर्मभेद इति।

समाप्तिवचनाच्च—असमाप्तेऽपि समाप्तेर्वचनं भवति। केचिदाहुः—अत्रास्माकमग्निः परिसमाप्यते इति। अपरेऽन्यपरिसमाप्तिं व्यपदिशन्ति। तदेककर्मत्वे नोपपद्यते। न हि तत्र च परिसमाप्येत, अन्यत्र च। भेदे तु युक्तम्। तस्माद् भेद इति।

प्रायश्चित्तविधानाच्च—केचिदनुदितहोमव्यतिक्रमे प्रायश्चित्तमामनन्ति, केचिदुदितहोमव्यतिक्रमे। व्यृद्धे च प्रायश्चित्तम्। न च कर्मैकत्वे उभयथा व्यृद्धिः सम्भवति। कर्मभेदे तु यदनुदिते होमकर्म, तदुदिते व्यृद्धम्, इतरदप्यनुदिते। तस्मादपि भेदः।

पर होम करते हैं)। सर्वशाखा में एकरूप से जाने गये कर्म में विरोध होता है. कर्मभेद मानने पर विरोध नहीं होता है। इसलिये भी कर्मभेद है।

विवरण—यथातिथये प्रद्रुताय—इनका अभिप्राय यह है कि पूज्य के लिये पूजा को ग्रहण करके पहले ही उपस्थित रहना साधु होता है (भट्ट कुमारिल)। सम्भवतः इसी दृष्टि से प्राचीन काल में गृहणियां ब्रह्मचारी आदि के भिक्षाकाल से पूर्व ही भिक्षा लेकर द्वार पर खड़ी रहती थीं।

व्याख्या—(६) अशक्ति से भी—सब शाखाओं में जाने गये कर्म का उपसंहार करने में निश्चय ही कर्ता समर्थ नहीं होंगे। ऐसी अवस्था में जो आरम्भ करने योग्य नहीं है, ऐसे अर्थ का विधान किया जाता है, यह स्वीकार करना होगा। कर्मभेद मानने पर कर्म करना शक्य है। इससे भी कर्मभेद है।

(७) समाप्तिवचन [के भेद] से भी—कर्म के असमाप्त होने पर भी समाप्ति का कथन होता है। किसी शाखावाले कहते हैं—यहां हमारा अग्निकर्म (=अग्निचयन) परिसमाप्त होता है। दूसरी शाखावाले अन्य परिसमाप्ति को कहते हैं। यह (=समाप्तिभेद) एककर्मत्व में उपपन्न नहीं होता है। वह कर्म वहां (=जहां कहा गया है) भी समाप्त होवे, और अन्यत्र भी यह नहीं हो सकता है। कर्मभेद में तो [समाप्तिभेद] युक्त है। इसलिये कर्मभेद है।

(८) प्रायश्चित्त का विधान करने से भी—कुछ लोग अनुदित होम के व्यतिक्रम में (=समय पर न होने पर) प्रायश्चित का कथन करते हैं. कुछ लोग उदितहोम के व्यतिक्रम में। और कर्म के व्यृद्ध (=यथाविहित न होना=असम्पूर्णता) होने पर प्रायश्चित्त होता है। कर्म के एक होने पर दोनों प्रकार व्यृद्धि सम्भव नहीं है। कर्मभेद होने पर तो जो अनुदित में होमकर्म है, वह उदय होने पर व्यृद्ध होता है, और अन्य (=उदितहोम) अनुदित में। इसलिये भी कर्मभेद है।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—यदुदिते सूर्ये प्रातर्जुहुयात्, यथातिथये प्रद्रुताय शून्यायाऽऽवसथायाऽऽहार्यं हरन्ति तादृगेव तत्। तै० ब्रा० २।१।२।१२॥

अन्यार्थदर्शनाच्च—इदं श्रूयते—यदि पुरा दिदीक्षाणाः स्युः, यदि वैषां गृहपतिः, गृहपतेर्वाऽनुसत्रिण इति, त एनमेव बृहत्सामानं क्रतुमुपेयुः, उपेतं ह्येषां रथन्तरम् । अथ यदि अदिदीक्षाणाः[1] इति, इष्टवतामनिष्टपूर्वाणां च द्वादशाहे दर्शनमुपपद्यते, यदि कर्मभेदः । एककर्मत्वे नावकल्पते । कथम् ? ताण्डचके श्रूयते—एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः, य एतेनानिष्टवाऽथान्येन यजेत, गर्त्तपत्यमेव तज्जायेत प्र वा मीयते[2] इति । तत् सर्वत्र स्यात् । तत्रादिदीक्षाणां द्वादशाहे दर्शनं नोपपद्यते । तस्मादपि कर्मभेदः ।

विवरण—न च कर्मकत्वे उभयथा व्यृद्धिः सम्भवति—इस का भाव यह है कि सभी शाखाओं में एक कर्म मानने पर अग्निहोत्र के उदित और अनुदित दोनों काल विहित होते हैं । अतः अनुदित के उदित होने पर, वा उदित के अनुदितकाल में होने पर व्यृद्धि सम्भव नहीं है ।

व्याख्या—(६)अन्यार्थ के दर्शन से भी—यह सुना जाता है—यदि पुरा दिदीक्षाणाः स्युः, यदि वा एषां गृहपतिः, गृहपतेर्वाऽनुसत्रिण इति, त एनमेव बृहत्सामानं क्रतुमुपेयुः, उपेतं ह्येषां रथन्तरम् । अथ यदि अदिदीक्षाणाः (=यदि सत्र करनेवाले पहले दीक्षित हो चुके हों, अथवा यदि गृहपति, अथवा गृहपति के अनुयायी सभी दीक्षित हो चुके हों, तो इस बृहत्सामा क्रतु को करें, क्योंकि इनका रथन्तरसामा क्रतु किया हुआ होता है । और यदि अदीक्षित होवें) । यह जिन्होंने पहले सोमक्रतु कर लिया है, अथवा जो अनिष्टपूर्व हैं, उन दोनों का द्वादशाह सत्र में दर्शन तभी उपपन्न होता है, यदि कर्मभेद होवे । यह एककर्मत्व पक्ष में उपपन्न नहीं होता है । कैसे ? ताण्डच (=ताण्डच ब्राह्मण) में सुना जाता है—एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः, य एतेनानिष्ट्वाऽथाऽन्येन यजेत, गर्त्तपत्यमेव तज्जायेत, प्र वा मीयते(=यही यज्ञों में प्रथम यज्ञ है जो ज्योतिष्टोम है, जो इससे बिना यजन किये अन्य से यजन करता है, वह गड्ढे में गिरता है अथवा मर जाता है) । यह [नियम] सर्वत्र होवे [अर्थात् ज्योतिष्टोम से प्रथम यजन करना सर्वत्र प्राप्त होवे] । उस अवस्था में अदीक्षितों का द्वादशाह में दर्शन उपपन्न न होवे । इससे भी कर्मभेद है ।

विवरण—ताण्डचके श्रूयते—प्राचीन ऋषिनामों में तण्ड और ताण्डच दो नाम मिलते है । तण्ड द्र०—गर्गादिगण ४।१।१०५; तथा ताण्डच—वैशायनान्तेवासियों में अन्यतम, द्र०—काशिका ४।३।१०५ । ताण्डच तण्ड का अपत्य है (द्र०—गणपाठ ४।१।१०५) । तण्ड से प्रोक्त ब्राह्मण का अध्ययन करनेवाले अष्टा० ४।३।१०५ से णिनि प्रत्यय होने से ताण्डिनः कहाते हैं । इसी प्रकार ताण्डच से अष्टा० ४।३।१०५ से णिनि होकर आपत्यस्य च तद्धिते ऽनाति (अष्टा० ६।४।१५१) से 'य' का लोप होकर ताण्डिनः ही प्रयोग निष्पन्न होता है । तथ दोनों से धर्माम्नाय

---

१. द्र०—अथापि ब्राह्मणमेव भवति—तेषां ये पुरस्ताद्दिदीक्षाणाः स्युर्यद्यु वैषां गृहपतिरिति । निदानसूत्र ५।१३।२३।।

२. द्र०—ताण्डच ब्रा० १६।१।२।। अत्र 'यज्ज्योतिष्टोमः' एतावान् पाठो न श्रूयते । भाष्यकारेणार्थाल्लब्धः संयोजितः स्यात् ।

अथापरं लिङ्गदर्शनम्—यत्पक्षसम्मितां मिनुयात् कनीयांसं यज्ञक्रतुमुपेयात् कनीयसीं प्रजां कनीयसः पशून् कनीयोऽन्नाद्यं पापीयान् स्यात्, अथ यदि वेदिसम्मित्या मिनोति[1] इति, पक्षसम्माने प्रतिषिद्धे वेदिसम्मानस्य दर्शनं भवति। तत्तु कर्मभेदे उपपद्यते। पाक्षिकस्य वेदिसम्मानस्य दर्शनम् एककर्मत्वे नोपपद्यते। कथम्? एके हि समामनन्ति—रथाक्षमात्राणि यूपान्तरालानि भवन्ति[2] इति। तत् सर्वत्र स्यात्। तत्र च नो पक्षसम्मानं, नो वेदिसम्मानं स्यात्। वेदिसम्मानदर्शनं नोपपद्यते। तस्मादपि कर्मभेदः।

में ताण्डक (अष्टा० ४।३।१२६) समान शब्द उपपन्न होता है। इसी प्रकार तण्ड और ताण्ड्य से औत्सर्गिक अण् प्रत्यय (अष्टा० ४।३।१०१) करने पर दोनों का ताण्डाः समानरूप निष्पन्न होता है। इसी कारण पुराण तण्डप्रोक्त ब्राह्मण का ताण्ड्यप्रोक्त ब्राह्मण से भेद करने के लिये लाट्या० श्रौत ७।१०।१७ में, तथा पुराणताण्डम् में पुराण विशेषण उपपन्न होता है। दोनों के भेद को स्पष्ट करने के लिये ताण्ड्यप्रोक्त ब्राह्मण का निर्देश ऋषि नाम ताण्ड्य से ताण्ड्यब्राह्मण के रूप में अथवा उससे संज्ञा में अष्टा० ५।३।७५ से कन् प्रत्यय करके ताण्ड्यक शब्द के रूप में व्यवहार होता है।

व्याख्या—और दूसरा लिङ्गदर्शन होता है—यत्पक्षसम्मितां मिनुयात् कनीयांसं यज्ञक्रतुमुपेयात् कनीयसीं प्रजां कनीयसः पशून् कनीयोऽन्नाद्यं पापीयान् स्यात्, अथ यदि वेदिसम्मित्या मिनोति (=यदि यूपैकादशिनी को पक्षसम्मित=पक्षबराबर में मान स्थापित करे तो छोटे क्रतु को प्राप्त होवे छोटी प्रजा को छोटे पशुओं को छोटे अन्नाद्य को, पापी होवे, और यदि वेदिसम्मित पश्वैकादशिनी का मान करे) में पक्षसम्मान के प्रतिषेध में वेदिसम्मान का दर्शन होता है। वह कर्मभेद पक्ष में ही उपपन्न होता है। पाक्षिक वेदिसम्मान का दर्शन एककर्म होने पर उपपन्न नहीं होता है। कैसे? कुछ शाखावाले पढ़ते हैं—रथाक्षमात्राणि यूपान्तरालानि भवन्ति (=रथ के अक्ष=धुरा मात्र अन्तराल=दूरीवाले यूप होते हैं)। यह विधि सर्वत्र होवे। उस अवस्था में न पक्षसम्मान होवे, न वेदिसम्मान होवे। इस प्रकार वेदिसम्मान का दर्शन उपपन्न नहीं होता है। इससे भी कर्मभेद है।

विवरण—अथापरं लिङ्गदर्शनम्—सूत्र में अन्यार्थदर्शनात् इतना ही कहा है। उसकी उपपत्ति पूर्व उदाहरण से हो जाती है। फिर इसका तथा आगे उद्ध्रियमाण लिङ्गदर्शनों का भाष्य में निर्देश समाधानसूत्रों की दृष्टि से किया है। अग्निचयन (सुपर्णयाग वा श्येनयाग) सम्बन्धी कर्मविशेष में पश्वैकादशिनी=ग्यारह पशु विहित हैं। उनके लिये एकादश यूप गाड़े जाते हैं। सुपर्ण-

---

१. मै० सं० ३।४।८॥ तुलना कार्या—काठक सं० २२।७; कठ कपि० सं० ३५।२; तै० सं० ५।६।८॥

२. द्र०—रथाक्षमात्राणि यूपान्तरालानि। आप० श्रौत ८।५।१७॥ तु० कार्या—कात्या० श्रौत ८।८।६॥

अपरञ्च लिङ्गदर्शनम्—केषाञ्चिज्ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'द्वे संस्तुतानां विराजमतिरिच्येते'[1] इति। परेषां 'तिस्रः संस्तुतानां विराजमतिरिच्यन्ते'[2] इति। एककर्मत्वे विरोधः। नानाकर्मत्वे कस्मिंश्चिज्ज्योतिष्टोमे द्वे, कस्मिंश्चित् तिस्रः। तस्मात् कर्मभेद इति।

याग का अग्निस्थण्डिल पंख फैलाये श्येन के समान होता है। उत्तर दक्षिण पंख भाग, मध्य में आत्म-स्थानीय भाग, पूर्व में चञ्चु स्थान और पश्चिम में पुच्छ स्थान होता है। आहवनीय की पूर्वरेखा के मध्य में एक यूप गाड़ा जाता है, और पांच-पांच यूप दोनों ओर गाड़े जाते हैं। इन यूपों को कितने स्थान में गाड़ें, इसके लिये प्रथम पक्ष है—उत्तर दक्षिण पंखों का फैलाव जितने स्थान में उतनी बराबर दूरी रखकर गाड़ें। यह पक्षसम्मान (=पक्ष बराबर=दक्षिण और उत्तर प्रत्येक ओर चार हाथ और २२ अङ्गुल[3] परिमाण) से यूपों का मान है। दूसरा पक्ष है—वेदि का जितना पूर्व दिशा में स्थान है, उसमें बराबर दूरी रखकर यूपों को गाड़ें। चयन में वेदि का परिमाण इस क्रतु में ४० पद=कदम=साढ़े सात पुरुष=सवा छब्बीस हाथ होता है। तीसरा पक्ष है—रथ के अक्ष परिमाण (=१०४ अंगुल=चार हाथ ८ अंगुल) मध्य दूरी छोड़कर गाड़ना चाहिये। पक्षसम्माने प्रतिषिद्धे—पक्ष=पंख बराबर सम्मान की निन्दा से उसका प्रतिषेध, और वेदिसम्मान की स्तुति से उसकी विधि जानी जाती है। तत्तु कर्मभेदे उपपद्यते—एक विधि का प्रतिषेध और एक विधि का विधान कर्मभेद मानने पर सम्भव होता है। तत्र च नो पक्षसम्मानम्—रथाक्षमात्र यूपों का अन्तराल होने पर न पक्षसम्मान हो सकता है, न वेदिसम्मान। पक्षसम्मित पक्ष में दक्षिणपक्ष=४ हाथ २२ अंगुल, उत्तर पक्ष=४ हाथ २२ अंगुल, दोनों के मध्य का भाग २ पुरुष=७ हाथ, सब मिलाकर १६ हाथ २० अंगुल स्थान होता है। वेदिसम्मित में वेदी का परिमाण २६ हाथ ६ अंगुल कह चुके हैं। ११ यूपों के मध्य के १० अन्तराल=१० रथाक्षप्रमाण=१०४० अंगुल बराबर ४३ हाथ ८ अंगुल होता है। इसके साथ ११ यूपों की मोटाई न्यून से न्यून एक वितस्ति =१२ अंगुल होने पर ५ हाथ १२ अंगुल होगी। अतः ११ यूप अन्तरालसहित ४८ हाथ २० अंगुल लम्बे स्थान में स्थित होंगे। इस प्रकार रथाक्षप्रमाण अन्तराल मानने पर न पक्षसम्मित यूपनिखनन उपपन्न होता है, और ना ही वेदिसम्मित। कात्यायन श्रौत ८।८।६-७-८ में रथाक्ष-अन्तराल, वेदिसम्मित और पक्षसम्मित तीनों पक्ष स्वीकार किये हैं।

व्याख्या—और भी लिङ्गदर्शन होता है—किन्हीं शाखियों के यहां ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—संस्तुत स्तोत्रीय ऋचाओं में विराट् (=१० संख्या) से दो अतिरिक्त रहती हैं। अन्यों के मत में संस्तुत स्तोत्रों में विराट् संख्या से तीन अतिरिक्त रहती हैं। यदि दोनों एककर्म होवें तो विरोध होता है। नानाकर्म होने पर किसी ज्योतिष्टोम में दो, और किसी में तीन का विराट् संख्या से अतिरेक उपपन्न होता है। इसलिये [शाखान्तरस्थों में] कर्म का भेद है।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. अनुपलब्धमूलम्।

३. इस पक्ष परिमाण और अगले वेदिपरिमाण के लिये देखें—कात्या० श्रौत विद्याधर टीका, भूमिका, पृष्ठ ६३।

अपि च सारस्वते श्रूयते—ये पुरोडाशिनस्ते उपविशन्ति, ये साम्नायिनस्ते वत्सान् वारयन्ति[1]। सान्नायिन इष्टप्रथमयज्ञाः। पुरोडाशिनो विपरीताः। उभयेषां सारस्वते दर्शनमपकल्पते कर्मभेदे। एककर्मत्वे सर्वेषां ज्योतिष्टोमपूर्वत्वं स्यात्। तत्र दर्शनं नोपपद्यते।

विवरण—ज्योतिष्टोमे श्रूयते—ज्योतिष्टोम की ७ संस्थाएं हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय और आप्तोर्याम। इनमें स्तोत्रों के न्यूनाधिक होने से स्तोत्रीय ऋचाओं की संख्या में भी भेद होता है। आगे उद्घृत वचन अतिरात्र संस्था का है (द्र०—सूत्र २।४।२६)। संस्तुतानाम्=स्तुति की गई। यह ऋचा का निर्देशक है। एक साम एकस्तोत्र होता है। एकं साम तृचे क्रियते (=एक साम तीन ऋचाओं के समुदाय पर गाया जाता है), इसलिये त्रिवृत् (=त्रिगुणित) स्तोत्र में स्तोत्रीया ऋचाओं की संख्या ३×३=९ होती हैं, पञ्चदश स्तोत्र में पन्द्रह गुणित होती हैं, सप्तदश स्तोत्र में १७गुणित। इसी प्रकार सर्वत्र जानें। इस संख्या का उपयोग अगले सिद्धान्तसूत्र २६ में होगा। विराजमतिरिच्येते ··· अतिरिच्यन्ते—विराट् नाम पूर्ण संख्या १० का वाचक है - विराट् विराजनात् पूर्णाक्षरा (निरुक्त ७।१३)। १० संख्या को पूर्ण संख्या इस लिये मानते हैं कि इसके आगे ११-१२-१३ आदि में दाईं ओर पुनः १-२-३ रखे जाते हैं। इसलिये विराजमतिरिच्येते··· रिच्यन्ते का भाव है—विराट् (=१० संख्या) से बचती हैं। एक ज्योतिष्टोम (=किसी भी संस्था) में जितने स्तोत्र होते हैं, उनकी ऋचाओं की संख्या में विराट्=१० संख्या से भाग देने पर भागफल की संख्या विराटों की होती हैं। शेष जो बचता है, उसका यहां संकेत है।

व्याख्या—और भी, सारस्वत सत्र में सुना जाता है—जो पुरोडाशी (=पुरोडाश से दर्श करनेवाले) हैं वे चुपचाप बैठते हैं, और जो सान्नायी (=दूध दधि से दर्श करनेवाले) हैं, वे वत्सों को [गायों से] हटाते हैं। सान्नायी इष्टप्रथमयज्ञ (=जिन्होंने पहले सोमयाग किया है) होते हैं। और पुरोडाशी इससे विपरीत (=जिन्होंने बिना सोमयाग किये दर्शपूर्णमास का आरम्भ किया है) होते हैं। दोनों (=पुरोडाश से और सान्नाय्य से दर्श करनेवालों) का सारस्वत सत्र में दर्शन कर्मभेद में उपपन्न होता है। एककर्म होने पर सभी (=पुरोडाशियों और सान्नायियों) का ज्योतिष्टोम पूर्वत्व होवे। उस अवस्था में [भेद] दर्शन उपपन्न नहीं होता है।

विवरण—सारस्वते श्रूयते—सारस्वत नाम का सत्ररूप सोमयाग है। सत्र का सामान्य सोमयाग से जो भेद है, उसका निर्देश प्रथम भाग के पृष्ठ ९४ टि० २ में दर्शाया है। जिसने सोमयाग पहले किया है, उन्हीं का सत्र में अधिकार होता है। ऐसा मानकर दोष दिया है कि सारस्वत सत्र में पुरोडाशियों और सान्नायियों का दर्शन उपपन्न नहीं होता है। क्योंकि जो सोमयाग करके दर्शपूर्णमास करते हैं, उन्हें दर्श में सान्नाय्य हवि (=दधि दूध मिश्रित हवि) देनी होती है। और

---

१. द्र०—उत्सर्गिणामयने श्रूयते—तेषां ये पुरोडाशिनस्त उपवसन्ति, ये सान्नायिनस्त एतदहर्वत्सान् अपाकुर्वन्ति। सत्या० श्रौत १६।८।२१॥

अपि च श्रूयते—उपहव्योऽनिरुक्त[1], अग्निष्टोमो यज्ञः, रथन्तरसामा, अश्वः श्यावो दक्षिणा[2]। परेषां श्रूयते—उपहव्योऽनिरुक्तः, उक्थ्यो यज्ञः, बृहत्सामा, अश्वः श्वेतो रुक्मललाटो दक्षिणा[3] इति। कर्मैकत्वे रथन्तरवचनं बृहद्वचनं चानर्थकम्। शाखाद्वयप्रत्ययत्वात्—बृहत्सामा रथन्तरसामा वा स्यात्[4]। स चायं प्रकृतित एवँल्लक्षणकः प्राप्तः। नानाकर्मत्वे त्वन्यो बृहत्सामाऽन्यो रथन्तरसामा, इति युक्तं भवति। तस्माच्छाखान्तरे कर्मभेदो भवितुम् अर्हति ॥८॥

जो दर्शपूर्णमास पहले करते हैं, उन्हें दर्श में पुरोडाश हवि देनी होती है (विशेष सिद्धान्तसूत्र में देखें)।

व्याख्या—और भी सुना जाता है—उपहव्य अनिरुक्त, अग्निष्टोम यज्ञ, रथन्तरसामवाला और काला अश्व दक्षिणावाला होता है। अन्यों का सुना जाता है—उपहव्य अनिरुक्त, उक्थ यज्ञ, बृहत्सामवाला, और श्वेत अश्व जिसके ललाट पर रुक्म सुवर्ण बंधा है) दक्षिणावाला होता है। कर्म के एकत्व में रथन्तरसाम का वचन और बृहत्साम का वचन अनर्थक है। दोनों शाखाओं में ज्ञात होने बृहत्सामा रथन्तरसामा वा स्यात् (=बृहत्सामवाला अथवा रथन्तरसामवाला होवे)। और यह [उक्थसंस्थाक यज्ञ में] प्रकृति (=अग्निष्टोम) से ही इस लक्षणवाला (=पक्ष में बृहत्सामवाला वा रथन्तरसामवाला) प्राप्त ही है। नानाकर्मत्व होने पर बृहत्सामवाला और रथन्तरसामवाला भिन्न होता हैं, इससे [उभयनिर्देश] युक्त है। इसलिये शाखान्तर में कर्मभेद होना चाहिये ॥८॥

विवरण—उपहव्योऽनिरुक्तः—उपहव्यसंज्ञक एकाहरूप सोमयाग है। इसकी अग्निष्टोम संस्था का वर्णन ताण्ड्य ब्रा० १८।१ में मिलता है। अनिरुक्तः—इसका अभिप्राय है कि देवता का नाम परोक्षरूप से बोला जाये। द्र०—उपहव्ये देवतानामधेयानि परोक्षं ब्रूयुः स्वस्थानासु (लाट्या० श्रौत ८।६।१)। अग्निष्टोमो यज्ञः—अग्निष्टोमसंस्थावाला (=जिस सोमयाग की आग्नेय स्तोम से संस्था=समाप्ति होवे)। रथन्तरसामा—ताण्ड्य ब्रा० १८।१ १८ में अग्निष्टोमसंस्था में बृहत्साम कहा है—बृहत्सामा भवति। अश्वः श्यावो दक्षिणा (ताण्ड्य ब्रा० १८.१।२०)। उक्थ्यो यज्ञ—उक्थसंस्थावाला सोमयाग। बृहत्सामा—बृहत्सामवाला। अश्वः श्वेतो रुक्मललाटो दक्षिणा—रुक्मललाटः=जिसके ललाट पर हिरण्य का पत्रा बांधा हुआ होवे। बृहत्सामा रथन्तरसामा वा

---

१. 'उपहव्यो निरुक्तः' क्वाचित्कोऽपपाठः।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—उपहव्यनामक एकाहः—ताण्ड्य ब्रा० १८।१॥ सप्तदशोऽग्निष्टोमः, सोऽनिरुक्तमाहरत्, अश्वः श्यावो दक्षिणा। ताण्ड्य १८।१।१,३,१८॥ तथा कात्या० श्रौ २२।१।२,८॥

३. तृतीय उक्थ्यः, रुक्मललाटोऽश्वः श्वेतो दक्षिणा। कात्या० श्रौत २२।१।७, ११॥

४. अनुपलब्धमूलम्।

एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याऽविशेषात् ॥९॥ (उ०)

नचैतदस्ति, यदुक्तं शाखान्तरेषु कर्म्मभेद इति। सर्वशाखाप्रत्ययं सर्वब्राह्मणप्रत्ययञ्चैकं कर्म्म। अर्थसंयोगस्याविशेषात्। तदेव प्रयोजनमुद्दिश्य तदेव विधीयमानं प्रत्यभिजानीमः। रूपमप्यस्य तदेव द्रव्यदेवतम्। पुरुषप्रयत्नश्च तादृश एव चोद्यते। नामधेयञ्चाविशिष्टम्। तेन तदेव कर्म्म सर्वशाखादिषु, इति प्रत्ययः ॥९॥

न नाम्ना स्यादचोदनाऽभिधानत्वात् ॥१०॥ (उ०)

यदुक्तम्—नामभेद इति। परिहृतं तद्, ग्रन्थनामैतद् इति। अथ यदुक्तम्—कर्मणोऽपि नामसामानाधिकरण्यदर्शनादिति। नैष दोषः। ग्रन्थसंयोगात् कर्म काठकादि, न कर्म-

---

स्यात्—इसका तात्पर्य यह है कि अग्निष्टोम में माध्यन्दिनसवन में ४ पृष्ठस्तोत्र कहे हैं, उनमें बृहत्साम अथवा रथन्तरसाम होवे। बृहत् और रथन्तरसाम के लिये प्रकृतिगान और ऊहगान द्रष्टव्य है ॥८॥

एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याऽविशेषात् ॥९॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है—शाखान्तरों में कर्मभेद नहीं है। (एकम्) एक=समानकर्म है। (संयोगरूपचोदनाख्याऽविशेषात्) अर्थ=प्रयोजन के संयोग, रूप=द्रव्य देवता, चोदना=विधायक वाक्य, और आख्या=संज्ञा के समान होने से।

व्याख्या—शाखान्तरों में कर्मभेद हैं, यह जो कहा है, वह नहीं है। सब शाखाओं से जाना गया, सब ब्राह्मणों से जाना गया एककर्म है। अर्थ (=प्रयोजन) के संयोग के अविशेष (=समान) होने से। उसी प्रयोजन का उद्देश करके उसे ही विधान किया हुआ हम जानते हैं [अर्थात् सर्वत्र यज्ञों का समान प्रयोजन निर्दिष्ट होने से एकता जानी जाती है]। रूप=द्रव्यदेवता भी उनका वही है। पुरुष का प्रयत्न भी वैसा ही कहा है। और नामधेय [=अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास आदि संज्ञा] भी समान हैं। इन हेतुओं से वही कर्म सब शाखाओं में है, ऐसा जाना जाता है ॥९॥

न नाम्ना स्यादचोदनाऽभिधानत्वात् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(नाम्ना) काठक आदि नाम से कर्मभेद (न स्यात्) नहीं होवे। (अचोदनाभिधानत्वात्) चोदना=कर्मविधायक वाक्यों का अभिधान=कथन नाम से न होने से।

व्याख्या—जो यह कहा है कि—[कर्म का काठक कालापक आदि] नामभेद है। उसका परिहार कर चुके, वह ग्रन्थ के नाम के भेद से [नामभेद] हैं। और जो कहा कि—कर्म का भी नाम के साथ सामानाधिकरण्य (=काठक कर्म, कालपक कर्म) के दर्शन से [कर्मभेद] है। यह दोष नहीं है। ग्रन्थ के संयोग से कर्म काठक आदि हैं, न कि कर्म के संयोग से ग्रन्थ काठक

संयोगाद् ग्रन्थः काठकः। कथं गम्यते? यत् कर्म काठिकादि[ग्रन्थ]संयुक्तम्, तत् काठकादि-शब्देनोच्यते। किमतोऽपि, यद् ग्रन्थसंयोगात् काठकं कालापकं कर्मोच्यते ? एकत्वेऽपि काठकग्रन्थसंयोगात् काठकम्, कालापकग्रन्थसंयोगात् तु कालापकं भविष्यति ॥१०॥

सर्वेषाञ्चैककर्म्यं स्यात् ॥११॥ (उ०)

यदि शब्दभेदाद् भेदो भवेत्, शब्दैक्यात्तर्हि कर्मैक्यं भवेत्। तत्र काठकशब्दाभिधाना-दैक्यं भवेत्। अग्निहोत्रस्य दर्शपूर्णमासयोर्ज्योतिष्टोमस्य च तच्छब्दत्वात्। न चैत-देवम्, तस्मादपि अभेदः ॥११॥

कृतकं चाभिधानम् ॥१२॥ (उ०)

इदानीन्तनञ्चैतदभिधानं भवेत्। अस्य न पूर्वमासीद्। यतः प्रभृति कठस्य प्रकृष्टं

है। कैसे जाना जाता है? जो कर्म काठक आदि ग्रन्थों से संयुक्त है, वह काठक आदि शब्द से कहा जाता है। इससे भी क्या, जो ग्रन्थ के संयोग से काठक कालापक कर्म कहा जाता है? [इससे सिद्ध होता है कि] कर्म के एक होने पर भी काठक ग्रन्थ के संयोग से [कर्म] काठक, और कालापक ग्रन्थ के संयोग से [कर्म] कालापक होगा ॥१०॥

सर्वेषाञ्चैककर्म्यं स्यात् ॥११॥

सूत्रार्थः—[ग्रन्थनाम के भेद से कर्म के भेद होने पर ग्रन्थनाम की समानता से] (सर्वेषाम्) अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास ज्योतिष्टोम आदि सभी कर्मों का (ऐककर्म्यम्) एककर्मत्व (स्यात्) होवे। अतः ग्रन्थनाम न कर्म के भेद का और न कर्म के अभेद का प्रतिपादक है।

व्याख्या—यदि [काठक कालापक] शब्दों के भेद से कर्मभेद होवे, तब तो [काठकमग्निहोत्रम्, काठकौ दर्शपूर्णमासौ, काठको ज्योतिष्टोमः आदि में काठक] शब्द के समान होने से [अग्निहोत्रादि की] एककर्मता होवे। उस अवस्था में (=अग्निहोत्रादि में) काठक शब्द के अभिधान से एककर्मता होवे। अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास ज्योतिष्टोम का उस (=काठक) शब्दवाला होने से। ऐसा (=अग्निहोत्र आदि कर्मों का ऐक्य) नहीं है। इससे भी कर्म का अभेद है ॥११॥

कृतकं चाभिधानम् ॥१२॥

सूत्रार्थः—[अग्निहोत्रादि कर्मों का काठक आदि से] (अभिधानम्) कथन (कृतकम्) कृत्रिम (च) भी है। अर्थात् कठ के प्रवचन के पश्चात् तत्तत् कर्मों के साथ काठक नाम का संयोग हुआ है।

व्याख्या—यह (=काठक आदि) कथन [कृतक=कृत्रिम अर्थात्] नवीन होवे। यह इस कर्म का नाम पहले नहीं था। जब से कठ के द्वारा उत्कृष्ट प्रवचन हुआ तब से यह प्रवृत्त हुआ है।

वचनं, ततः प्रभृति प्रवृत्तम् । पूर्वं नासीद्भेदः, इदानीं भेदः, इति विरुद्धम् ॥१२॥

एकत्वेऽपि परम् ॥१३॥ (उ०)

एककर्मत्वेऽपि रूपभेदो भवति वचनात् । न च वाचनिके रूपभेदे असत्यामपि भेदबुद्धौ कर्मणो भेदोऽध्यवसीयेत ॥१३॥

विद्यायां धर्मशास्त्रम् ॥१४॥ (उ०)

अथ यो धर्मविशेष उक्तः, विद्याग्रहणार्थः, स न कर्मण उपकारकः । कथं गम्यते ? श्रुत्यादीनामभावाद्, विद्यासंयोगाच्च न कर्मप्रयुक्त इति ॥१४॥

आग्नेयवत् पुनर्वचनम् ॥१५॥ (पू०)

[कठ के प्रवचन से] पूर्व [कर्म का] भेद नहीं था, अब (=काठक के प्रवचन के पश्चात्) भेद हो गया, यह विरुद्ध है ॥१२॥

एकत्वेऽपि परम् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(परम्) अगला दोष=रूपभेद होना (एकत्वे) कर्म के एक होने पर (अपि) भी [वाचनिक होने से] उपपन्न होता है ।

व्याख्या—एककर्मत्व होने पर भी वचनसामर्थ्य से [अग्नीषोमीय याग का एकादश-कपालत्व और द्वादशकपालत्व] रूपभेद होता है । और वाचनिक रूपभेद होने पर कर्मभेदरूप बुद्धि के उदय न होने से भी कर्म का भेद जाना जाता है ॥१३॥

विद्यायां धर्मशास्त्रम् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(धर्मशास्त्रम्) भूमि-भोजन आदि धर्म का शास्त्र शासन=विधान (विद्या-याम्) विद्याग्रहण के लिये है, कर्म का उपकारक नहीं है ।

व्याख्या—और जो [=भूमि-भोजन, उदकुम्भ और अश्वघास का आहरणरूप] धर्म-विशेष कहा है, वह विद्या के ग्रहण के लिये है, वह कर्म का उपकारक नहीं है । कैसे जाना जाता है? [कर्म के उपकारकत्व में] श्रुति आदि का अभाव होने से, और [अधीयानाः आदि शब्दों से] विद्या के संयोग का निर्देश होने से कर्मप्रयुक्त धर्मभेद नहीं है ॥१४॥

आग्नेयवत् पुनर्वचनम् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(आग्नेयवत्) जैसे आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावस्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति

अथ यदुक्तम्—यथा 'अमावास्यायामाग्नेयस्य पुनरुक्तदोषान्मध्यमः'[1] पक्षो निरस्तः; एवमयमपि तस्मादेव दोषात् कर्मैकत्वपक्षो निरसितव्यः' इति। एतत् परिहर्त्तव्यम्, इत्याभाषान्तं सूत्रम् ॥१५॥

अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात् ॥१६॥ (उ०)

वाक्य से अमावास्या में विहित आग्नेय याग यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति से पुनः विहित पुनरुक्तदोष की निवृत्ति के लिये पुनः अभ्यस्त कर्मभेद होता है (द्र०—मी० २।३।२७ भाष्य) उसी प्रकार शाखान्तरों में पुनर्वचन व्यर्थ होकर कर्मभेद को द्योतित करता है।

व्याख्या—जो कहा है—जैसे 'अमावास्या में आग्नेय का पुनरुक्तदोष होने से मध्यम पक्ष का खण्डन किया है, उसी प्रकार यह उसी पुनरुक्तदोष से कर्मैकत्वपक्ष भी खण्डनीय है'। इसका परिहार करना चाहिये, यह आभाषान्त (=शङ्का) सूत्र है ॥१५॥

विवरण—आग्नेयवत्—इससे मी० २।३।२७वां सूत्र लक्षित होता है। मध्यम पक्षः—मी० २।३।२७ सूत्र के भाष्य में दो ही पक्ष हैं—पुनरुक्त आग्नेय का अमावास्या में सकृत् प्रयोग करना चाहिये, अथवा पुनरुक्तदोष की निवृत्ति के लिये आग्नेय का पुनः अभ्यास करना चाहिये। इस दृष्टि से यहां 'मध्यमः' पाठ सार्वत्रिक होते हुए भी चिन्त्य प्रतीत होता है। प्रथमः पक्षः (=सकृत् पक्षः) पाठ उचित प्रतीत होता है। क्योंकि मी० २।३।२७ में प्रथम पक्ष सकृत् प्रयोग में पुनरुक्तदोष से प्रत्याख्यान किया है। और प्रकृत २।४।१५में पुनरुक्तदोष से ही आग्नेयवत् कर्मैकत्व का खण्डन किया है।

विशेष—भाष्यकार ने प्रकृत 'आग्नेयवत्' सूत्र का आशङ्कोपस्थानपरक मानकर व्याख्यान किया है। कुतुहल वृत्तिकार ने इसे सिद्धान्तपक्ष का सूत्र मानकर इस प्रकार व्याख्यान किया है—"जैसे अमावास्या में पुनःश्रुत आग्नेय याग अभ्यास का बोधक नहीं है।" (द्र०—मीमांसा २।३।२७ तथा भाष्य) उसी प्रकार यहां भी पुनर्वचन कर्मभेद का प्रतिपादक नहीं है ॥१५॥

अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् द्विर्वचन से कर्मभेद होता है, यह ठीक नहीं है। (अद्विर्वचनम्) कर्म का द्विर्वचन नहीं है (श्रुतिसंयोगाविशेषात्) श्रुति के सामान्य होने से। अर्थात् जैसे एक शाखा में अग्निहोत्रादि कर्मों का विधान है, वैसा ही दूसरी शाखा में है। एक शाखा का अध्येता जब अन्य शाखा को पढ़ता है, तो उसे उसमें विशेष अर्थ

१. पूर्वत्र मी० २।३।२७ तमे सूत्रभाष्ये पुनरुक्ताग्नेयस्यामावास्यायां सकृत्प्रयोगः कर्तव्य उत पुनरुक्तदोषादभ्यसनीय इत्याशङ्क्य सकृत्प्रयोगो निराकृतः। तेनात्र प्रथमः पक्षो इत्येव साधुपाठः स्यात्। त्रयाणां पक्षाणामुपस्थापने हि कस्यचिन्मध्यत्वं संभवति, न पक्षद्वयोपस्थापने।

नैव खल्वेतद् द्विर्वचनम् । स एवायमर्थः पुनः श्रावितोऽग्निहोत्रादिर्बहुकृत्वो बहुभिस्तु पुरुषैः । न चैकोऽर्थो बहुभिरुच्यमानः पुनरुक्तो भवति। यदि भवेद्,एकस्मिन्नेव वेदे बहुभिरुच्यमाने भवेत् । तस्मान्न बहुकर्मसमवायोऽयम्, एकमेवेदं कर्मेति ।।१६।।

[1]अर्थासन्निधेश्च ।।१७।। (उ०)

की प्रतीति नहीं होती है । शाखान्तर में भी वही कर्म है, जो मेरी शाखा में है । ऐसी एकत्व बुद्धि ही उत्पन्न होती है ।

विशेष—सुबोधिनीवृत्ति में "वाऽश्रुतिसंयोगात्' पाठ है । इस पाठ में सूत्रार्थ सुबोधिनी वृत्ति में ही देखें ।

व्याख्या—यह निश्चय ही द्विर्वचन नहीं है। वही यह अग्निहोत्रादि=अर्थ बहुत बार बहुत पुरुषों से पुनः श्रावित (=पुनः सुनाया हुआ) है । एक अर्थ बहुत पुरुषों से उच्यमान (=कहा हुआ) पुनरुक्त नहीं होता है । यदि पुनरुक्त होवे, तो एक ही वेद में बहुत पुरुषों से कथित होने पर होवे । इसलिये यह बहुत (=भिन्न-भिन्न) कर्मों का समवाय(=समूह) नहीं है, यह एक ही कर्म है ।।१६।।

विवरण—न चैकोऽर्थो बहुभिरुच्यमानः—देवदत्त यज्ञदत्त विष्णुमित्र प्रभृति के घरों में गाय है । वे सभी भृत्य को कहते हैं—गां दोग्धि=गाय को दुह । यह गां दोग्धि देवदत्त प्रभृति बहुतों से उच्यमान होने पर पुनरुक्त नहीं है । एकस्मिन्नेव वेदे—एक देवदत्त के घर में ही देवदत्त उसकी पत्नी और पुत्रादि गां दोग्धि कहें,तो वह पुनरुक्त होगा ।।१६।।

[2]अर्थासन्निधेश्च ।।१७।।

सूत्रार्थः—(च) और (अर्थासन्निधेः) कृत्स्न अर्थ की असन्निधि से शाखा शब्द उपपन्न होता है ।

विशेष—कुतुहलवृत्तिकार ने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है—'एक पुरुष के प्रति अनेक शाखागत अर्थ की असन्निधि होने से शाखान्तरों का आनर्थक्य नहीं है । जैसे एक शाखागत कर्म

---

१. इतः पूर्वं 'वाक्यासमवायात्' इति सूत्रं भाष्ये नष्टमिति वार्तिककारा आहुः । तस्य चायमर्थः—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इत्यस्मिन् विधौ स्वशब्दश्रवणात् स्वीयशाखाया एव अध्ययनस्य प्राप्तत्वान्नैकस्मिन् पुरुषे शाखान्तरवाक्यं समवैति, इत्यतोऽप्यपुनर्वचनं ज्ञेयम् इति ।

२. इस सूत्र से पूर्व भाष्य में 'वाक्यासमवायात्'सूत्र नष्ट हो गया है, ऐसा भट्ट कुमारिल ने कहा है । इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार जानना चाहिये—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' में स्वशब्द के प्रयोग से प्रत्येक को स्वशाखा का अध्ययन प्राप्त होता है । इस अवस्था में शाखान्तर पठित कर्म-विधायक वाक्यों का समवाय(=एकीभाव)एक पुरुष के प्रति प्राप्त ही नहीं होता है । इस कारण पुनःवचन नहीं है, ऐसा जानना चाहिये ।

अर्थासन्निधेश्च शाखाशब्द उपपन्नो भविष्यति। शाखा इव होमाः शाखाः। तद् यथा वृक्षस्य शाखाः, एवमिहापि वृक्षस्थानीयस्य वेदस्य शाखाः। किं शाखासारूप्यम्? यथा नानावस्थानम्। नचैकैकस्यां कृत्स्नं पुष्पं फलं सन्निहितम्, एवमिहापि नैकैकस्यां कृत्स्नं गुणकाण्डं सन्निहितम्। इत्यर्थासन्निधेः शाखाशब्दोपपत्तिः। तस्मादप्येकं कर्मेति ॥१७॥

उसी शाखा के अध्ययन करनेवालों के प्रति पुनः श्रूयमाण होता हुआ ज्ञातृ भेद से पुनरुक्त नहीं होता है, तद्वत् शाखान्तरों में भी जानना चाहिये।

व्याख्या—[कृत्स्न] अर्थ की असन्निधि (=असमीपता) से शाखाशब्द उपपन्न होगा। शाखाओं के समान ये शाखाएं हैं। जैसे वृक्ष की शाखायें इसी प्रकार यहां भी वृक्षस्थानीय वेद की शाखाएं। शाखा का सारूप्य क्या है? जैसे नानारूप से स्थित होना। एक [वृक्ष की] शाखा में सम्पूर्ण पुष्प और फल सन्निहित नहीं होते हैं, इसी प्रकार यहां भी एक शाखा में सम्पूर्ण गुणकाण्ड (=गुणविधियां) सन्निहित नहीं होती हैं। इसी असन्निधि से शाखा शब्द की उपपत्ति होती है। इससे भी [सब शाखाओं से] एक कर्म है ॥१७॥

विवरण—यथा वृक्षस्य शाखाः—इस निर्देश से स्पष्ट है कि वेदशाखा के लिये प्रयुक्त शाखा शब्द लाक्षणिक है। चरणव्यूह और पातञ्जल महाभाष्य के अनुसार ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१ (=शुक्ल की १५, कृष्ण की ८६), सामवेद की १०००, और अथर्ववेद की ९ शाखाएं स्वीकार की जाती हैं। यह गणना द्वापरान्त और कलि आरम्भ में कृष्णद्वैपायन और उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त शाखाओं की है। इस गणना से बहिर्भूत प्राचीन ऐतरेय शाट्यायन वाल्मीकि आदि प्रोक्त अनेक शाखाओं के नाम अष्टाध्यायी[1] तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

चरण-शाखा, अवान्तर शाखा आदि अनेक विभाग इन में उपलब्ध होते हैं। इनके दो विभाग प्रमुख हैं—चरण और शाखा, तथा शाखा और अवान्तर शाखा। प्रथम विभाग में जिनके जिनके चरण और शाखा नाम हैं, उन्हीं के द्वितीय विभाग में शाखा और अवान्तरशाखा नाम हैं। वैदिक शाखाओं में शाखा शब्द का जो व्यवहार-कारण भाष्यकार शबर स्वामी ने यहां उपस्थापित किया है, वह स्वीकार्य है। तदनुसार ऋक् यजुः साम और अथर्वरूप वेद के चार वृक्ष हैं। जैसे वृक्ष के तने से शाखाएं, और उनसे अवान्तर शाखाएं प्रस्फुटित होती हैं, इसी प्रकार वेदरूपवृक्ष के तने से जो प्रमुख शाखाएं प्रस्फुटित हुई, उन्हें प्रथम विभाग में चरण (प्रतिष्ठा स्थान=सब अवान्तर शाखाओं का आश्रय) कहा गया है। और चरण नाम की प्रमुख शाखा से जो अवान्तर शाखाएं प्रस्फुटित हुई उन्हें शाखा कहा गया है। द्वितीय विभाग में उन्हें ही क्रमशः शाखा और अवान्तर शाखा कहा है (द्र०—सं० व्याकरणशास्त्र इतिहास, भाग २, पृष्ठ ३२८-३३०, सं० २०३०)। यह वैदिक शाखाओं के अध्ययन से स्पष्ट हैं (द्र०—पं० भगवद्दत्त कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १)।

---

१. द्र०—सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १४६—२५५, सं० २०३० संस्क०)।

न चैकं प्रति शिष्यते ॥१८॥ (उ०)

न च यत् काठकेऽग्निहोत्रम्, तत् काठकमेवैकं पुरुषं प्रति विधीयते। तैत्तिरीय-

---

शाखाओं के दो स्वरूप—उपलभ्य शाखाओं के दो रूप प्रमुख हैं। एक—पाठान्तर द्वारा व्याख्यानरूप, और दूसरा—यज्ञप्रक्रियाभेद से प्रक्रिया/विशेष विधानरूप[1]। द्वितीयरूप में यज्ञ-प्रक्रिया का भेद प्रमुख होते हुए भी पाठान्तरद्वारा मन्त्रव्याख्या न भी उनमें सर्वत्र अनुस्यूत हैं (द्र०—मीमांसा-शाबरभाष्य-व्याख्या, भाग १, पृष्ठ १११-११४)। इसी दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शाखाओं को वेदव्याख्यान माना है, और वेदानुकूलता से उनका प्रामाण्य स्वीकार किया है—तत्रैकादशशतानि सप्तविंशतिश्च (=११२७) वेदशाखा वेदार्थव्याख्याना[2] अपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमर्हन्ति (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय, ऋग्वेदभाष्य भाग १, पृष्ठ ३१६, रा० ला० क० ट्रस्ट संस्करण)।

स्वामी दयानन्द के इस मन्तव्य की पुष्टि जहां शाखाओं के पाठभेदों की तुलना से होती है, वहां पौराणिक साहित्य भी इसी मत का पोषक है। वायुपुराण अ० ६१ में शाखा-प्रकरण के आदि वा अन्त में स्पष्ट लिखा है—

> सर्वास्ताश्चतुष्पदाः सर्वाश्चैकार्थवाचिकाः।
> पाठान्तरे पृथग्भूता वेदशाखा यथा तथा ॥५६॥
> प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्विमाः स्मृताः ॥७५॥[3] ॥१७॥

—:o:—

न चैकं प्रति शिष्यते ॥१८॥

सूत्रार्थः—[शाखाओं में पुनः पुनः उपदिष्ट कर्म] (एकम् प्रति) उसी शाखा के अध्येता के प्रति (न) नहीं (शिष्यते) कहा जाता है, अर्थात् शाखान्तरों में विहित कर्म चाहे किसी शाखा का अध्येता हो, सब के प्रति कहा गया है।

व्याख्या—और जो काठक शाखा में अग्निहोत्र है, वह एक काठक [शाखा के अध्येता]

---

१. श्रौतमूल यज्ञों के आधिदैविक तात्पर्य निदर्शनरूप होने (मी० शा० भा० व्या० भाग १, श्रौतयज्ञ-मीमांसाप्रकरण, पृष्ठ ९६—१०४) से यज्ञप्रक्रिया का भेद ऋषियों के आधिदैविक तत्त्वदर्शन भेद पर, तथा विस्तार और संक्षेप से निदर्शन पर आधृत है।

२. स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा उक्त शाखास्वरूप का पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने ऐतरेयालोचन, पृष्ठ १२९ पर जो खण्डन किया है, उसका निर्देश करके स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत की पुष्टि हम मीमांसाभाष्यव्याख्या, भाग १, पृष्ठ ११३, ११४ पर कर चुके हैं। पाठक इस सारे प्रकरण को गम्भीरता से पढ़ें।

३. द्र०—मी० शा० भाष्य व्याख्या भाग १, पृष्ठ ११३।

स्यापि तद्विहितमेव। पुरुषविशेषवचनाभावात्। यच्चाग्निहोत्रस्य किञ्चिदङ्गं विधीयते, सर्वावस्थस्य तदग्निहोत्रस्य। यच्च काठकस्याग्निहोत्रस्य[1],तच्च तैत्तिरीयकस्येति। विशेषवचनाभावात्। तस्मात् सर्वशाखाभिरेकं समाप्तं कर्मोच्यते इति ॥१८॥

के प्रति ही विहित नहीं है। तैत्तिरीय[शाखाऽध्येता] के प्रति भी वह विहित ही है। [विधान में] पुरुषविशेष का कथन न होने से। और जो [किसी भी शाखा में] अग्निहोत्र का कुछ अङ्ग विधान किया गया है,वह सर्वावस्थवाले अग्निहोत्र का है। और जो काठक शाखा के अग्निहोत्र का [अङ्गविधान] है, वह तैत्तिरीय शाखा [के अग्निहोत्र] का भी है विशेष वचन के अभाव होने से। इसलिये सब शाखाओं से एक समाप्त कर्म कहा जाता है, अर्थात् सब शाखाओं में कहा गया कर्म मिलकर एक कर्म होता है ॥१८॥

विवरण—इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने पुरुषविशेषवचनाभावात् और विशेषवचनाभावात् दो प्रकार से वाक्यशेष करके दो व्याख्याएं की हैं। प्रथम व्याख्या में – पुरुषविशेषवचनाभावात् वाक्यशेष से काठक शाखा में उपदिष्ट काठक शाखा के अध्येता के लिये है,ऐसा पुरुषविशेष का कथन न होने से, सर्वशाखा-अध्येताओं के लियें समानरूप से उपदिष्ट है। इसलिये किसी एक शाखा में उपदिष्ट अङ्ग सामान्य अग्निहोत्र का जानना चाहिये। द्वितीय व्याख्या में—विशेषवचनाभावात् वाक्यशेष से काठक शाखा का अग्निहोत्र काठक शाखा का ही नहीं है, तैत्तिरीय शाखा का भी है। क्योंकि 'यह अग्निहोत्र काठक शाखा का है' ऐसा विशेषवचन नहीं है।

प्रथम व्याख्या का स्वारस्य इसी में प्रतीत होता है कि काठाकादि शाखाओं में उक्त कर्म सभी के लिये समानरूप से विहित है। और द्वितीय व्याख्या का स्वारस्य किसी एक शाखा में उपदिष्ट किसी कर्म का अङ्ग अन्य शाखा में उपदिष्ट उस कर्म का भी अङ्ग है, ऐसा विदित होता है। परन्तु वार्तिककार ने भाष्य की अन्यथा व्याख्या करके काठकशाखा का कर्म कठशाखावाले के लिये ही है, और तैत्तिरीयशाखा का कर्म तैत्तिरीय-शाखाध्येता के लिये ही है। इस प्रकार व्यवस्था करके पुनरुक्ततादोष का परिहार किया है। भाट्टमतानुयायी कुतुहल वृत्तिकार ने भी ऐसी ही व्याख्या की है।

वस्तुतः इस सम्पूर्ण अधिकरण का स्वारस्य सूत्रकार और भाष्यकार के मत में यही है कि सर्वशाखागत कर्म एक ही है। किसी भी शाखा के अनुसार कोई भी व्यक्ति कर्म करके कर्म के ऋण से मुक्त हो सकता है। इस प्रकार सूत्रकार के काल में विभिन्न शाखाध्येताओं के मध्य जो कलहसा प्रवृत्त था,उसका सूत्रकार ने निवारण किया है। और भाष्यकार शबर स्वामी ने भी सूत्रकार के पक्ष का ही पदे-पदे अनुमोदन किया है। भट्ट कुमारिल ने शाखाविशेष के अध्येताओं के आग्रह को ध्यान में रखकर सर्वशाखास्थ कर्म एक ही है, इसे स्वीकार करते हुए भी शाखाभेद से तत्तच्छाखाऽध्येताओं के प्रति कर्म की व्यवस्था स्वीकार की है। इस व्यवस्था को स्वीकार करने पर मीमांसा२।४।३०प्रत्ययं चापि दर्शयति सूत्र और उसके भाष्य का स्वारस्य नष्ट हो जाता है।

१. काशी मुद्रिते 'काठकस्याग्निहोत्रं' इत्यपपाठः।

समाप्तिवच्च सम्प्रेक्षा ॥१९॥ (उ०)

वर्तमान युग में तत्तच्छाखाभेद के कलह की व्याप्ति को ध्यान में रखकर सम्पूर्ण वैदिक आर्ष वाङ्मय में अटूट आस्था रखनेवाले सर्वशेमुषीसम्पन्न वैदिक वाङ्मय के पुनरुद्धारक[1] स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शाखाकृत भेदकलह को शान्त करने के लिये मीमांसा के इसी सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म सिद्धान्त के अनुसार संस्कारविधि ग्रन्थ में प्रायः सभी गृह्यसूत्रों से उचित विधियों को ग्रहण करके समान गृह्यकर्मपद्धति का निर्माण किया। उनकी इच्छा श्रौतकर्मों की भी एकसमान पद्धति निर्माण करने की थी, ऐसा संस्कारविधि के सामान्यप्रकरण में गृह्यकर्म में अनुपयुक्त दर्शपौर्णमासों के पात्रों के लक्षण और आकृति का निर्देश करने से विदित होता है। दूसरे शब्दों में संस्कारविधि का सामान्यप्रकरण गृह्यकर्म और श्रौतकर्म दोनों की दृष्टि से लिखा गया है। मनुस्मृति में अ० २ श्लोक २६ से आगे गर्भादि-अन्त्येष्टिपर्यन्त संस्कारों का मानव-जीवन के अभ्युत्थान में विशेषरूप से वर्णन होने से सम्भवतः स्वामी दयानन्द ने पूर्व कल्पसूत्रकारों के श्रौत-गृह्य-धर्म इस क्रम को परिवर्तित करके प्रथम गृह्यकर्म के लिये संस्कारविधि की रचना की। उसके अनन्तर श्रौतयागों पर लिखना चाहते थे, जो अकाल में विरोधियों द्वारा विषप्रदान से पूरा न हो सका। उपर्युक्त दृष्टि से ही धर्मसूत्र के रूप में मानवमात्र के लिये आचारशास्त्र का निर्माण सत्यार्थप्रकाश के रूप में किया है। यह वर्तमानकाल में स्वामी दयानन्द सरस्वती की महती देन है। यह उनके द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज के अनुयायियों में भी प्रायः अज्ञात है ॥१८॥

समाप्तिवच्च सम्प्रेक्षा ॥१९॥

सूत्रार्थः—(च) और [यहां हमारी अग्नि=अग्निचिति समाप्त होती है, हमारी यहां समाप्त नहीं होती यह] (समाप्तिवत्) समाप्ति के समान (संप्रेक्षा) संप्रेक्षा=उत्प्रेक्षामात्र है। अर्थात् अत्रास्माकमग्निः समाप्यते में अस्माकं निर्देश ही कर्म के अभेदकत्व को बताता है।

विशेष—समाप्तिवत् में 'वत्' इवार्थ में है। समाप्ति के समान उत्प्रेक्षामात्र होती है। कुतुहलवृत्तिकार ने 'वत्' को स्वार्थ में माना है। तदनुसार अर्थ होगा—समाप्तिवचन उत्प्रेक्षामात्र है। भट्ट कुमारिल ने **'न चैकं प्रतिशिष्यते समाप्तिवचचसंप्रेक्षा'** संहितापाठ का आश्रयण करके **'असमाप्तिवच्च'** विच्छेद भी दर्शाया है। इस का अर्थ होगा—कर्मभेदपक्ष में उनका जितना शाखा में समाम्नान है, उतने पर ही कर्म के समाप्त होने पर, "हमारी यहां अग्नि समाप्त नहीं होती" ऐसा न कहें।

---

१. वेदवैदिकमत-प्रचारार्थोत्सर्गीकृतजीवनेनाद्यतनसर्वार्यवर्येणास्माकं श्रद्धाभाजनेन आचार्य-दयानन्दसरस्वतीस्वामिना……। तस्याशेषशेमुषीसम्पन्नस्यापि स्वामिनः……। ऐतरेयालोचन, पृष्ठ १२८, १२९।

'अत्रास्माकमग्निः परिसमाप्यते', इत्युत्प्रेक्षितारो भवन्ति—'अन्वारोहेषु मैत्रायणीयानामग्निः परिसमाप्यते, अस्माकं तेषु न परिसमाप्यते' इति । यदि अन्यदेव मैत्रायणीयानाम्, अन्यच्च तेषाम्, कथं ते ब्रूयुः—'एष्वस्माकं न परिसमाप्यते' इति? एकत्वमुपपन्नम्, तेषामपि हि ते सन्ति ॥१९॥

एकत्वेऽपि पराणि निन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनानि ॥२०॥(उ०)

न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रयुज्यते । किं तर्हि? निन्दितादितरत् प्रशंसितुम् । तत्र न निन्दिस्य प्रतिषेधो गम्यते, किन्त्वितरस्य विधिः । तत्र एकस्मिन्नग्निहोत्रे द्वौ कालौ विहितौ विकल्प्येते । अतो न कश्चिद्विरोधः ।

तथा असमर्थानामेकस्मिन्नपि वेदे विहितकृत्स्नमङ्गजातमुपसंहर्तुमशक्तिः । समर्था-

---

व्याख्या—'यहां हमारी अग्नि समाप्त होती है', ऐसी उत्प्रेक्षा करनेवाले होते हैं—अन्वारोहों में (=चयनस्थलारोह=मन्त्रों के पाठ के अनन्तर) मैत्रायणी शाखा के अध्ययन करनेवालों की अग्नि समाप्त होती है, हमारी उनमें समाप्त नहीं होती है।' यदि मैत्रायणी शाखावालों का अन्य अग्निकर्म होवे, और उनका अन्य होवे, तो वे—'हमारी यहां [अग्नि] समाप्त नहीं होती हैं' ऐसा क्यों कहें ? इससे एकत्व उपपन्न होता है, उनकी भी वे अग्नियां हैं ॥१९॥

विवरण—अन्वारोहेषु—'अन्वारोह' नाम स्थलारोहण मन्त्रों का है (द्र०—वार्तिक)। अन्वारोहेषु मैत्रायणीयानाम्—अग्नि के लिये चयन किये गये स्थल के आरोह के मन्त्र मैत्रायणी सं० २।१३।२२ में पढ़े गये हैं । यहीं पर अग्निचयनकर्म समाप्त हो जाता है । इसके आगे ३।१-५ तक अग्निचयन सम्बन्धी ब्राह्मण पढ़ा है । इस ब्राह्मणपाठ में भी यदन्वारोहान् जुहोति कहकर अन्वारोह कर्म पर ही अग्निचिति की समाप्ति की है । अस्माकं न समाप्यत इति न ब्रूयुः—भाष्यवचन के आधार पर ही संभवतः भट्ट कुमारिल ने 'असमाप्तिवच्च' ऐसा सूत्रविच्छेद दर्शाया है ॥१९॥

एकत्वेऽपि पराणि निन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनानि ॥२०॥

सूत्रार्थः—[शाखान्तरस्थ कर्मों के] (एकत्वे) एक=समान होने पर (अपि) भी (पराणि) अगले (निन्दाशक्तिसमाप्तिवचनानि) निन्दावचन, अशक्तिवचन और समाप्तिवचन उपपन्न होते हैं ।

व्याख्या—[प्रातःप्रातरनृतं ते वदन्ति आदि] निन्दावचन निन्द्य की निन्दा के लिये नहीं प्रयुक्त होते हैं । तो किस लिये प्रयुक्त होते हैं ? निन्दित से भिन्न कर्म की प्रशंसा के लिये प्रयुक्त होते हैं । इसलिये वहां निन्दित का प्रतिषेध नहीं जाना जाता है, किन्तु इतर (=अनिन्दित) की विधि जानी जाती है । उस एक अग्निहोत्र में दो काल विहित विकल्पित होते हैं । इसके लिये कोई विरोध नहीं है ।

तथा असमर्थ पुरुषों के लिये एक वेद (=शाखा) में भी विहित सम्पूर्ण अङ्गों के उपसंहार

नान्तु सर्वशाखाभ्योऽप्यागमितमधिकं विधिमुपसंहर्तुं शक्तिरस्तीति । तेनैककर्मत्वेऽपि न विरुद्धमिति ।

तथैकस्मिन्नपि कर्मणि किञ्चिद् वस्तु समाप्तम, इति कृत्वा समाप्तिशब्दः प्रयुज्यते । यथा आध्वर्यवे समाप्ते ज्योतिष्टोमस्य 'समाप्तो ज्योतिष्टोमः' इति भवति ॥२०॥

की शक्ति नहीं होती है । समर्थों की तो सब शाखाओं से प्रापित अधिक विधि के भी उपसंहार में शक्ति होती है । इस कारण [शाखान्तर कर्मों के] एक होने में कोई विरोध नहीं है ।

तथा एक कर्म में भी कोई वस्तु समाप्त हो गई है, ऐसा मानकर समाप्तिशब्द का प्रयोग होता है । जैसे ज्योतिष्टोम के अध्वर्युविहित कर्म के समाप्त हो जाने पर 'ज्योतिष्टोम समाप्त हुआ' ऐसा व्यवहार होता है ॥२०॥

विवरण—न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्ततेऽपि तु विधेयं स्तोतुम्' यह न्यायशास्त्र में न हि निन्दा-न्याय के नाम से प्रसिद्ध है । अग्निहोत्रे द्वौ कालौ विहितौ—यह कथन पूर्व (सूत्र ८ के भाष्य में) उपस्थापित उदित और अनुदित पक्षश्रुतियों की दृष्टि से है । मनुस्मृति २।१५ में उदित (=सूर्य के प्रादुर्भाव) समय, अनुदित (=सूर्य के उदय से पूर्व) समय और समयाध्युषित (=सूर्य वा नक्षत्ररहित)समय में अग्निहोत्र का निर्देश किया है । अर्थात् अग्निहोत्र के तीन काल बताएं हैं । न्याय वात्स्यायनभाष्य (२।१।५७) में उदिते होतव्यम्, अनुदिते होतव्यम्, समयाध्युषिते होतव्यम् इस प्रकार कालत्रयविधायक श्रुतियों का निर्देश करके तीनों कालों के विषय में निन्दा अर्थवाद दिये हैं—श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति (=धुवें के वर्णवाला कुत्ता इसकी आहुति को खा जाता है, जो उदितकाल में होम करता है), शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति, योऽनुदिते जुहोति (=कबूतर के वर्णवाला कुत्ता इसकी आहुति को खा जाता है, जो अनुदित काल में होम करता है), श्यावशबलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यो समयाध्युषिते जुहोति (=धुवें के वर्णवाले और कबूतर के वर्णवाले दो कुत्ते उसकी आहुति को खा जाते हैं, जो समयाध्युषित काल में होम करता है) । अतः भाष्यकार का द्वौ कालौ विहितौ निर्देश पूर्व उपस्थापित दो काल की श्रुतियों की दृष्टि से है, यह स्पष्ट है ।

असमर्थानाम्···उपसंहर्तुमशक्तिः, समर्थानान्तु···शक्तिरस्ति—इन वाक्यों का अन्तर्निहित तात्पर्य है कि जो असमर्थ पुरुष हैं, वे नित्य कर्म के जितने अंग कर सकते हों, करने से कर्म पूर्ण हो जाता है । (काम्यपक्ष में कृत्स्न अङ्गों का उपसंहार करना आवश्यक है ।) इसी प्रकार जो समर्थ पुरुष हैं, वे शाखान्तरों से भी कर्म का उपसंहार कर सकते हैं । उससे अधिकस्याधिकं फलम् की कहावत के अनुसार वह भूयिष्ठ उपकारक होता है ।

आध्वर्यवे समाप्ते···समाप्तो ज्योतिष्टोमः—आध्वर्यव कर्म समाप्त हो जाने पर यद्यपि होत्र शस्त्र परिशेष रहता है, फिर भी आध्वर्यव कर्म के मुख्य होने से उस की समाप्ति पर कहा जाता है कि ज्योतिष्टोम पूरा हो गया ॥२०॥

प्रायश्चित्तं निमित्तेन ॥२१॥ (पू०)

यदुक्तम्—उदितहोमस्यापि प्रायश्चित्ताम्नानाद् व्यृद्धता[1] गम्यते। अनुदितहोमस्यापि। तदेकत्वे विरुध्यते, अविरुद्धं नानात्वे इति। तत् परिहर्त्तव्यम्। आभाषान्तं सूत्रम् ॥२१॥

प्रक्रमाद्वा नियोगेन ॥२२॥ (उ०)

'वा' शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, नैष दोषः। 'उदिते होष्यामि' इति प्रक्रान्ते अन्यथा क्रियमाणे भवति दोषः। तत्र प्रायश्चित्तस्य विषयो भविष्यतीति। कर्म्मैकत्वेऽपि न दोषः ॥२२॥

प्रायश्चित्तं निमित्तेन ॥२१॥

सूत्रार्थः—[उदित और अनुदित होम में] (प्रायश्चित्तम्) प्रायश्चित्त का विधान (निमित्तेन) निमित्त से कहा है। अतः प्रायश्चित्त-विधान से कर्मभेद जाना जाता है।

विशेष—सुबोधिनी-वृत्ति में प्रायश्चित्तं वा निमित्तेन पाठ है। उत्तर में 'वा' का निर्देश होने से अपपाठ प्रतीत होता है।

व्याख्या—और जो कहा है कि—उदित होम के भी प्रायश्चित्त का विधान होने से [उदित होम की] व्यृद्धता (=न्यूनता) जानी जाती है। उसी प्रकार अनुदित होम में भी [प्रायश्चित्त का विधान होने से अनुदित होम की भी व्यृद्धता जानी जाती है]। वह कर्म के एकत्व में विरुद्ध है, और नानात्व पक्ष में अविरुद्ध है। उसका परिहार करना चाहिये। यह आभाषान्त सूत्र है ॥२१॥

प्रक्रमाद्वा नियोगेन ॥२२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द आशंका की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् प्रायश्चित्त के विधान से कर्मभेद नहीं है। (नियोगेन) वैकल्पिक पदार्थ के नियम से (प्रक्रमात्) प्रक्रम=प्रथम प्रयोग में उदित पक्ष वा अनुदित पक्ष को स्वीकार करने से कालातिपात में प्रायश्चित्त का विधान एक कर्म में भी उपपन्न होता है।

व्याख्या—'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति करता है, यह दोष नहीं है। 'उदितकाल में होम करूंगा' इस प्रकार नियम करने पर अन्यथा (=अनुदितकाल में होम) किये जाने पर दोष होता है। उस अवस्था में वह प्रायश्चित का विषय होगा। अतः कर्म के एकत्व में भी दोष नहीं है ॥२२॥

विवरण—यज्ञकर्म में वैकल्पिक पदार्थों में इच्छानुसार एक पक्ष को स्वीकार करके उसके

---

१. काशीमुद्रिते 'प्रायश्चित्तान्तता नावृद्धता' इत्यपपाठः।

समाप्तिः पूर्ववत्त्वाद् यथाज्ञाते प्रतीयेत ॥२३॥ (उ०)

पूर्ववति समाप्तिवचनं भवति । यत् प्रारब्धं तत् परिसमाप्यते । 'तत्रास्माकं परिसमाप्तोग्निः' इति योऽस्माभिर्ज्ञायते, प्रारब्धश्च परिसमाप्यते, इत्यभिप्रायः'[1] ॥२३॥

परित्याग में दोष माना जाता है । जैसे व्रीहिभिर्यजेत यवैर्यजेत यहां दोनों वाक्यों के समप्रधान होने से विकल्प स्वीकार किया जाता है । अतः जिस व्यक्ति ने व्रीहिपक्ष को स्वीकार करके कर्म आरम्भ किया है, वह कालान्तर में व्रीहि की अप्राप्ति में यदि यवों से होम करता है, तो वह प्रायश्चित्ती होता है । उसे व्रीहि की अप्राप्ति में व्रीहि के प्रतिनिधि नीवार आदि से होम करना चाहिये, यवों से नहीं करना चाहिये । इसी प्रकार यवपक्ष स्वीकार करने पर यवों के अभाव में आरण्य यवों से होम करना होगा, न कि व्रीहि या व्रीहि के प्रतिनिधि से । अतः जैसे अन्यथा आरम्भ करने पर अन्यथा प्रयोग करनेवाला प्रायश्चित्ती होता है, उसी प्रकार उदित और अनुदित पक्षों में भी विकल्प होने से जिस काल को स्वीकार करके अग्निहोत्र आरम्भ किया है, उस काल का अतिपात (= उल्लङ्घन) होने पर होमकर्त्ता प्रायश्चित्त का भागी होता है ॥२२॥

समाप्तिः पूर्ववत्त्वाद् यथाज्ञाते प्रतीयेत ॥२३॥

सूत्रार्थः—(समाप्तिः) अत्रास्माकमग्निः समाप्तः इत्याकारक समाप्तिवचन (पूर्ववत्त्वात्) पूर्व उक्त अभेदप्रत्यय प्रत्यभिज्ञायुक्तिपूर्वक होने से (यथाज्ञाते) जैसा ज्ञात है=जैसा प्रारब्ध है, उसमें समाप्तिवचन जानें । अर्थात् जिस शाखा का जो कर्म ज्ञात है=प्रारब्ध है, उसकी समाप्ति जाननी चाहिये । इससे कर्मभेद नहीं है । [भाष्य और सुबोधिनीवृत्त्यनुसार]

विशेष—कुतुहलवृत्तिकार ने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है—(यथाज्ञाते) जिस शाखा में जो पठित है, उस विषय में (समाप्तिः) समाप्तिवचन (प्रतीयेत) जाने । (पूर्ववत्त्वात्) शब्दप्रयोग के तात्पर्यपूर्वक होने से=जिस शाखा में जो प्रारब्ध किया है, उसकी दृष्टि से समाप्ति वचन के होने से एक कर्म है ।

व्याख्या—पूर्ववत् (=प्रक्रान्त=प्रारब्ध) के विषय में समाप्तिवचन होता है । जो कर्म प्रारब्ध है, वह समाप्त किया जाता है । तत्राऽस्माकं परिसमाप्तोऽग्निः वचन का जो अग्नि हमारे द्वारा ज्ञात है, और प्रारब्ध है, वह समाप्त किया जाता है, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिये ॥२३॥

विवरण—भाष्य में सर्वत्र मुद्रितपाठ 'योऽस्माभिर्ज्ञायते, परिसमाप्यते प्रारब्धश्चेत्यभिप्रायः' मिलता है । वह पूर्वापरदोष युक्त है । हमने यथागुरुसम्प्रदाय पाठ स्वीकार किया है ।

---

१. अयं पाठोऽस्मद्गुरुसम्प्रदायानुगुणः । सर्वमुद्रितग्रन्थेषु तु 'योऽस्माभिर्ज्ञायते परिसमाप्यते प्रारब्धश्चेत्यभिप्रायः' इति पूर्वापरदोषदूषितोऽपपाठः ।

लिङ्गमविशिष्टं सर्वशेषत्वान्नहि तत्र कर्मचोदना, तस्माद् द्वादशाहस्याहारव्यपदेशः स्यात् ॥२४ (उ०)

यदुक्तम्—'यदि पुरा दिदीक्षाणा इति द्वादशाहे इष्टप्रथमयज्ञानामनिष्टप्रथमयज्ञानां च दर्शनं कर्मभेदे उपपद्यते, न सर्वशाखाप्रत्ययैककर्म्मणीति'। नैष दोषः। 'यदि दिदीक्षाणा द्वादशाहेन, अदिदीक्षाणा द्वादशाहेन' इत्येवं तत्। न हि सामवेदे ज्योतिष्टोमस्य विधानम्। किमतोऽपि? यत्र विहितः, तत्रानूद्यते। तेन कर्म्मभेदेऽपि सर्वज्योतिष्टोमानामेष धर्म्मः प्राथम्यं नाम। अतो नानाकर्म्मपक्षेऽपि अवश्यं द्वादशाहस्याहारव्यपदेशः कल्पनीयः। तस्माददोषः ॥२४॥

पूर्वं समाप्तिवच्च सम्प्रेक्षा (२।४।१६) से भी समाप्तिवचन की उपपत्ति दर्शाई है। इससे भी वही अर्थ कहा है। इस पुनरुक्ति का परिहार कुतुहल-वृत्तिकार ने इस प्रकार दर्शाया है—समाप्तिवच्च सम्प्रेक्षा इस सूत्र से कर्मैकत्व में लिङ्ग दर्शाया है। और इस सूत्र से कर्म के एकत्व में भिन्न-भिन्न समाप्तिवचन में जो विरोध आता है, उसका परिहार किया है ॥२३॥

लिङ्गमविशिष्टं सर्वशेषत्वान्नहि तत्र कर्मचोदना, तस्माद् द्वादशाहस्याहारव्यपदेशः स्यात् ॥२४॥

सूत्रार्थः—यदि पुरा दिदीक्षाणाः का द्वादशाह में (लिङ्गम्) प्राथम्यरूप लिङ्ग (अविशिष्टम्) दोनों (=कर्मभेद और कर्मैकत्व) पक्षों में समान है, (सर्वशेषत्वात्) उसके सर्वविध ज्योतिष्टोम के प्रति शेषभूत होने से। क्योंकि (तत्र) ताण्ड्य ब्राह्मण में (कर्मचोदना) ज्योतिष्टोम कर्म का विधान (नहि) नहीं है। इसलिये [अदिदीक्षाणाः निर्देश का] (द्वादशाहस्य) द्वादशाह कर्म के (आहारव्यपदेशः) प्रयोग के कथनवाला (स्यात्) होवे। अर्थात् अदिदीक्षाणाः का सम्बन्ध द्वादशाह के प्रयोग के साथ जाने=अदिदीक्षाणा द्वादशाहेन=द्वादशाह से दीक्षित न होनेवाले, ऐसा जाने।

व्याख्या—जो कहा है—'यदि पुरा दिदीक्षाणाः यह द्वादशाह में इष्ट प्रथम यज्ञवालों (=जिन्होंने पहले ज्योतिष्टोम किया है) का, और अनिष्ट प्रथमयज्ञवालों (=जिन्होंने ज्योतिष्टोम प्रथम नहीं किया है) का दर्शन कर्मभेद में उपपन्न होता है, सर्वशाखाज्ञात एककर्म पक्ष में उपपन्न नहीं होता है।' यह दोष नहीं है। यदि दिदीक्षाणा द्वादशाहेन (=यदि द्वादशाह से दीक्षित होते हुए), अदिदीक्षाणा द्वादशाहेन (=द्वादशाह से दीक्षित न होते हुए) इस अर्थपरक है। क्योंकि सामवेद (=ताण्ड्य ब्राह्मण) में ज्योतिष्टोम का विधान (=उत्पत्ति-वाक्य) नहीं है। इससे क्या? जहां ज्योतिष्टोम विहित है, वहां (=उस विषय में) अनुवाद होवे। इसलिये कर्मभेद पक्ष में भी सब ज्योतिष्टोमों का यह प्राथम्यरूप धर्म है। इसलिये नानाकर्मपक्ष में भी अवश्य द्वादशाह का प्रयोगभेद से कथन कल्पनीय होता है। इसलिये [कर्मैकत्वपक्ष में] दोष नहीं है ॥२४॥

द्रव्ये चाचोदितत्वाद्विधीनामव्यवस्था स्यान्निर्देशाद् व्यवतिष्ठेत, तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥२५॥(उ०)

द्रव्ये चाग्नावचोदितत्वादेकादशिन्याः सम्मानपरिमाणं प्रति नैषा व्यवस्था स्यात् । नैवाग्नावेकादशिनी चोद्यते । कुतः पक्षसम्मानं वेदिसम्मानं वा स्यात् ? द्वयमप्येतत् परार्थं कीर्त्यते, पश्वेकादशिनीविधानार्थम् । यदि पक्षसम्मिता स्यात्, अयं दोषः स्यात् ।

विवरण—यत्र विहितस्तत्रानूद्यते—इसका भाव यह है कि सामवेद में ज्योतिष्टोम का विधायक वाक्य नहीं है । उसका विधान तो यजुर्वेद में किया गया है । इस कारण ताण्ड्य ब्राह्मण का एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानाम् वाक्य जहां ज्योतिष्टोम का विधान है,उसी विषय में अनुकथन करेगा । अर्थात् यजुर्वेदविहित ज्योतिष्टोम का अनुवाद करके उसकी प्रथमता का विधान करेगा । इसलिये यह प्राथम्य धर्म कर्मभेदपक्ष में भी सभी ज्योतिष्टोमों का है ॥२४॥

द्रव्ये चाचोदितत्वाद्विधीनामव्यवस्था स्यान्निर्देशाद् व्यवतिष्ठेत, तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(च) और [पक्षादिसम्मान का] (द्रव्ये) अग्निचयन में (अचोदितत्वात्) विधान न करने से (विधीनाम्) पक्षसम्मान आदि विधियों की यह (अव्यवस्था) व्यवस्था नहीं (स्यात्) होवे । (निर्देशात्) निर्देशसामर्थ्य से (व्यवतिष्ठेत) [अग्निचयनरहित सर्वस्तोमादि क्रतुओं में रथाक्षपरिमाण] व्यवस्थित होवे । (तस्मात्) इसलिये [पक्षसम्मान विधि का] (नित्यानुवादः) नित्य अप्राप्तरूप अनुवाद (स्यात्) होवे ।

विशेष—कुतुहल-वृत्तिकार ने सूत्र में 'च' के स्थान पर 'वा' पाठ मानकर उसे सम्भावना अर्थ का बोधक स्वीकार किया है । इसी प्रकार विधीनामव्यवस्था स्यात् का अर्थ इस प्रकार किया है—अचोदित पक्षसम्मान वेदिसम्मान और रक्षाक्षान्तराल विधियों की स्तुति से कल्प्य श्रौतकर्मों को मानने पर व्यवस्था का अभाव होवे । अर्थात् अव्यवस्था की सम्भावना होवे । नित्यानुवादः जैसे न पृथिव्यमग्निश्चेतव्यो न दिवि नान्तरिक्षे के सम्बन्ध में मीमांसा १।२।१८ में कहा है कि द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक में अग्निचयन प्राप्त ही नहीं है । अतः प्राप्ति न होने पर यह प्रतिषेध नित्यानुवादमात्र है । इसी प्रकार प्रकृत में भी पक्षसम्मान के अप्राप्त होने से प्रतिषेध नित्यानुवाद है ।

व्याख्या—और अग्निचयनरूप द्रव्य में अचोदित (=अनुपदिष्ट) होने से एकादशिनी (=एकादश पशुओं) का सम्मानपरिमाण के प्रति यह (=पूर्वपक्षी द्वारा उक्त) व्यवस्था नहीं होवे । अग्निचयन में पश्वेकादशिनी (=यूपैकादशिनी) का विधान नहीं किया है । तो फिर पक्षसम्मान वा वेदिसम्मान कैसे होवे ? ये दोनों (पक्षसम्मान और वेदिसम्मान) अन्य के लिये कहे गये हैं, पश्वेकादशिनी के विधान के लिये कहे हैं । यदि पक्षसम्मिता यूपैकादशिनी

वेदिसम्माने न दोषो भवेत्। क एतत् सङ्कटमध्यवसातुमर्हति ? एकस्मिन् यूपे एकादश पशवो नियोक्तव्या इति। वाचस्तोमादिषु तु यूपैकादशिन्यामस्य नित्यानुवादत्वाद् रथाक्षमात्राण्येव यूपान्तरालानि भविष्यन्ति। नित्यानुवादत्वाच्चासत्यपि पक्षसम्माने वेदिसम्माने वैकादशिनीविधानार्थं वचनमुपपद्यत एव। इति न दोषः ॥२५॥

विहितप्रतिषेधात् पक्षेऽतिरेकः स्यात् ॥२६॥ (उ०)

होवे, तो यह दोष होवे। वेदिसम्मान में दोष न होवे। कौन व्यक्ति इस संकट को स्वीकार कर सकता है ? इसलिये एक यूप में एकादश पशुओं को बांधना चाहिये। वाचस्तोमादि क्रतु [जो अग्नि-चयन से सम्बद्ध नहीं हैं] में तो यूपैकादशिनी के विषय में इसका नित्य अनुवाद होने से [वहां] रथाक्ष-मात्र ही यूपान्तराल होंगे। [पक्षसम्मान की निन्दा का] नित्य [अप्राप्तिरूप] अनुवाद होने से पक्षसम्मान अथवा वेदिसम्मान में पशवैकादशिनी के विधान के लिये [यदि पक्षसम्मितं मिनु-यात् आदि] वचन उपपन्न होता ही है। इसलिये [कर्नैकत्व पक्ष में] कोई दोष नहीं है ॥२५॥

विवरण—भट्ट कुमारिल ने प्रस्तुत भाष्य का तात्पर्य इस प्रकार प्रकट किया है—'एक यूप में एकादश पशु बांधें' इस विधि का यह शेष (=अर्थवाद) है—यत्पक्षसम्मिता आदि। यूपैकादशिनी में दोनों (=पक्षसम्मान और वेदिसम्मान) में किसी एक सम्मान के आश्रयण करने पर यह क्लेश होगा। इसलिये एक ही यूप श्रेष्ठ है। पक्षसम्मान तो अत्यन्त अप्राप्त ही है। उसका निन्दार्थवाद नित्यानुवादमात्र है। वेदिसम्मान का उपदेश भी प्रशंसारूप से एक यूप के प्राशस्त्य (=श्रेष्ठत्व) ज्ञापन के लिये है। और रथाक्षमात्र अन्तरालता जहां यूपैकादशिनी विहित है, वहां सम्बद्ध होगा। इसलिये इनमें कोई विरोध नहीं है। यहां तो वेदिसम्मान की प्रशंसा से यूपैकादशिनी की विधेयरूप प्रतीति से अन्य =यूपैकादशिनी की स्तुत्यर्थता की कल्पना करना अशक्य है। अर्थात् वेदिसम्मान की स्तुति से चयनयाग में यूपैकादशिनी की कल्पना अशक्य है। इसलिये अप्राप्त ही पक्षसम्मान के वेदिसम्मान की स्तुति के लिये नित्य अनुसार है, ऐसा समर्थन करना चाहिये। प्रकरणप्राप्त होने से इसी अग्निचयन कर्म के बलवान् होने से अनारभ्याधीत रथाक्षमात्र अन्तरालविधि इस अग्निचयन से मुक्त होकर विकृति (=अन्य वाचस्तोम आदि) को प्राप्त होगी।

कुतुहल वृत्तिकार ने कहा है कि—अग्निचयनसहित और अग्निचयनरहित क्रतु के भेद से यूपैकादशिनी में वेदिसम्मान और रथाक्षमात्रान्तरालता उपपन्न होती है, अतः दोष नहीं है। कात्या-यन ने यूपैकादशिनी चेद्रथान्तराला यूपावटा स्युः, पक्षसम्मितां वाग्नौ (तु०—का० श्रौत८।८।६,८) से अग्निचयन में पक्षसम्मान का जो निर्देश किया है, वह शाखान्तर के अभिप्राय से जानना चाहिये ॥२५॥

विहितप्रतिषेधात् पक्षेऽतिरेकः स्यात् ॥२६॥

सूत्रार्थः—[ज्योतिष्टोम में संस्तुत स्तोत्रों में विराट (१० संख्या) से दो और तीन शेष रहने का जो निर्देश किया है, वह] (विहितप्रतिषेधात्) षोडशी के विहित और प्रतिषेध से (पक्षे) पक्ष में दो वा तीन का (अतिरेकः) अतिरेक शेष रहना (स्यात्) होता है।

अतिरात्रे गृह्णाति षोडशिनम्[1] इति विहितः षोडशी। नातिरात्रे गृह्णाति षोडशिनम्[1] इति प्रतिषिद्धः। तेन पक्षे द्वयोः स्तोत्रीययोरतिरेकः, पक्षे तिसृणाम्। तस्माददोषः। कथं पुनरयं द्वयोस्तिसृणां वा अतिरेकः? त्रिवृद् बहिष्पवमानं तत्तावन्नवकम्। पञ्चदशान्याज्यानि, तानि तावच्चत्वारि, तेन सा षष्टिः। पञ्चदशो माध्यन्दिनः पवमानः। तया पञ्चदशसंख्यया सह पूर्वया च नवसंख्यया चतुरशीतिः। सप्तदशानि पृष्ठानि चत्वारि सप्तदश आर्भवः पवमानः, पञ्चसप्तदशकानि तानीति पञ्चाशीतिः। पूर्वया चतुरशीत्या सहैकोनसप्ततिशतम्। एकविंशं यज्ञायज्ञियम्, तयैकविंशत्या सह तस्य नवतिशतं स्तोत्रीयाः[2], इति ब्राह्मणवादः। अग्निष्टोममात्रमभिप्रेत्योच्यते। सा विराट् सम्पूर्णा। विराडिति दशकाख्या। त्रय एकविंशका उक्थपर्य्यायाः, सा त्रिषष्टिः। एकविंशः षोडशी, तयैकविंशत्या सह चतुरशीतिः। पञ्चदशका रात्रिपर्य्यायास्त्रयः। तत्रैकैक-

---

विशेष—(विहितप्रतिषेधात्) में समाहार द्वन्द्व है— विहितं च प्रतिषेधश्च=विहितप्रतिषेधम्, तस्मात् विहितस्य प्रतिषेधात्=विहितप्रतिषेधात् षष्ठीसमास प्राप्त होता है। परन्तु दो वा तीन का शेष रहना विधान और प्रतिषेध की व्यवस्था से होता है, केवल विहित के प्रतिषेध से नहीं होता है। अतः समाहार द्वन्द्व मानना हमारे विचार में युक्त है। दो वा तीन का अतिरेकत्व (=शेषत्व) कैसे होता है, इसे भाष्य-व्याख्या में देखें।

व्याख्या—अतिरात्रे गृह्णाति षोडशिनम्—(=अतिरात्र कर्म में षोडशी ग्रह का ग्रहण=सोम से पूरित करता है) इस प्रकार षोडशी विहित है। नातिरात्रे गृह्णाति षोडशिनम् (=अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण नहीं करता है) इस प्रकार षोडशी का ग्रहण प्रतिषिद्ध है। इससे पक्ष में दो स्तोत्रीयों का अतिरेक होता है, और पक्ष में तीन का। इसलिये [कर्मकत्व में] दोष नहीं है। यह दो वा तीन का अतिरेक कैसे होता है? त्रिवृत् बहिष्पवमान स्तोत्र त्रिवृत् [=त्रिवृत् ३×३ होने से] ९ संख्यावाला होता है। पञ्चदश आज्य स्तोत्र, वे चार होते हैं, उस से (१५×४) साठ हुए। पञ्चदश माध्यन्दिन पवमान (१५ संख्या)। इस पन्द्रह संख्या के साथ पूर्व [६० संख्या और] ९ संख्या के साथ (=१५+६०+९=) ८४ स्तोत्र होते हैं। सप्तदश पृष्ठ स्तोत्र चार होते हैं (=१७×४=६८), सप्तदश आर्भव पवमान (१७) [मिलकर] पांच सत्रहवाले (१७×५=) ८५ होते हैं। पूर्व ८४ स्तोत्रों के साथ मिलकर (८४+८५=) १६९ स्तोत्र होते हैं। एकविंश यज्ञायज्ञिय (२१), उस २१ के साथ १९० स्तोत्रीय होते हैं, ऐसा ब्राह्मण का वाद (=कथन) है। [यह ब्राह्मणवाद] अग्निष्टोम संस्था को अभिप्रेत करके कहा जाता है। वह विराट् (१९०÷१०=१९) विराट् (=दशक) संख्या पूर्ण हुई। विराट् यह दश संख्या का नाम है। तीन एकविंश उक्थ्य स्तोत्र के पर्याय हैं, वह (२१×३=) ६३ हुए। एकविंश षोडशी, इस २१ के साथ (६३+२१=) ८४ हुए। पञ्चदश रात्रिपर्याय तीन होते हैं। उन

---

१. अनुपलब्धमूलवचनम्। षोडशिनो विधानं तु मै० सं० ४।७।६ इत्यत्रोपलभ्यते।
२. अनुपलब्धमूलम्। ३. अनुपलब्धमूलम्।

पर्य्यायश्चतुःस्तोत्रः। तदशीतिशतं सम्पूर्णा विराट्। त्रिवृद्रथन्तरं साम[1] तन्नवकम्। ततश्चतुरशीतेरेकं नवकमागच्छति। तथा तिस्रः संस्तुतानां विराजमतिरिच्यन्ते[1]। यदा षोडशी न गृह्यते, तदा एकविंशत्या विना द्वे संस्तुतानां विराजमतिरिच्येते[2]। एवमेककर्मत्वेऽपि लिङ्गमुपपद्यते ॥२६॥

में एक एक पर्याय चार स्तोत्रों का होता है। वह (१५×३=४५×४=) १८० (१८०÷१०=१८) विराट् (=दशक) पूर्ण हुई। त्रिवृत् रथन्तरसाम (३×३=) ९ हुए। इस प्रकार [विराट् पूर्ति के अतिरिक्त] ८४ (=उक्थ्य ६३+षोडशी की २१ संख्या, और ९=९३) संख्या होती है। इसमें स्तुति किये गयों में विराज (१० संख्या के भाग से) ३ अतिरिक्त होते हैं। जब षोडशी का ग्रहण नहीं होता हैं, तब [पूर्व ८४ संख्या में से २१ कम होने पर ६३,तथा त्रिवृद् रथन्तर ९=७२ संख्या होती है। इसमें विराट=१० का भाग देने पर] स्तुति किये गये स्तोत्रों में दो बचते हैं। इस प्रकार एककर्मत्व में भी [दो वा तीन का शेष रहना] लिङ्ग उत्पन्न होता है ॥२६॥

विवरण—अतिरात्रे—सोमयाग की ७ संस्थाएं हैं—ज्योतिष्टोम,उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय और आप्तोर्याम। इनमें उत्तरोत्तर स्तोत्र बढ़ते जाते हैं। इनका विवरण पूज्य आचार्यपाद कृत यज्ञतत्त्वप्रकाश, पृष्ठ ८३-९१ तक देखें। गृह्णाति⋯नातिगृह्णाति समान बल विधिप्रतिषेध के होने से षोडशी का ग्रहण विकल्प से होता है। षोडशी ग्रह से आहुति देने पर जो स्तोत्र उच्चरित किया जाता है,उसे भी षोडशी कहते हैं। त्रिवृद् बहिष्पवमानम्—इत्यादि प्रत्येक स्तोत्र-संख्या का निर्देश भाष्य में स्पष्ट कर दिया है, फिर भी सुगमता के लिये इस प्रकार जानें—

अग्निष्टोम संस्था के स्तोत्र

प्रातःसवन में—त्रिवृद् बहिष्पवमान ३×३= ९
पञ्चदश आज्य चार =१५×४=६०
माध्यन्दिनसवन में—सप्तदश पृष्ठ चार
=१७×४=६८
पञ्चदश माध्यन्दिन पवमान एक =१५
तृतीयसवन में—सप्तदश आर्भव पवमान एक=१७
एकविंश यज्ञायज्ञिय एक =२१

———
अग्निष्टोम की स्तोत्रसंख्या १९०

उक्थ्य संस्था के स्तोत्र

प्रातःसवन और माध्यन्दिनसवन में अग्निष्टोम के समान ही स्तोत्र होते हैं। तृतीयसवन में आर्भव पवमान और यज्ञायज्ञिय के पश्चात्
=१९०
एकविंश उक्थ तीन=२१×३=६३

———
उक्थ की स्तोत्रसंख्या २५३

---

१. 'पञ्चसाम' इति सर्वसंस्करणेषूपलभ्यमानोऽप्यपपाठः। पञ्चसामत्वे 'तन्नवकम्' इत्युत्तरवचनं विरुध्येत।
२. अनुपलब्धमूलम्।

सारस्वते विप्रतिषेधाद् यदेति स्यात् ॥२७॥ (उ०)

यदुक्तम्—'पुरोडाशिनां सान्नायिनां च सारस्वते दर्शनं भवतीति'। ज्योतिष्टोमपूर्वकत्वात् सर्वकर्म्मणां विप्रतिषिद्धमेतदिति। 'तेनयदा सान्नायिनः' इति कल्प्यते ॥२७॥

उपहव्येऽप्रतिप्रसवः ॥२८॥ (पू०)

षोडशी संस्था के स्तोत्र		अतिरात्र संस्था की स्तोत्रसंख्या	
प्रातःसवन और माध्यन्दिन सवन में अग्निष्टोम के समान ही स्तोत्र होते हैं। तृतीयसवनमें उक्थ्य स्तोत्र के पश्चात्	=२५३	प्रातःसवन माध्यन्दिनसवन के स्तोत्र अग्निष्टोम के समान होते हैं। तृतीयसवन में षोडशी के पश्चात्	=२७४
एकविंश षोडशी एक	=२१	पञ्चदशरात्रि पर्याय चार-चार स्तोत्रों के तीन=१५×४×३	=१८०
षोडशी संस्था की स्तोत्रसंख्या	२७४	त्रिवृत् रथन्तर ३×३	=९
		अतिरात्र की स्तोत्रसंख्या	४६३

इस प्रकार अतिरात्र स्तोत्र में कृत्स्न स्तोत्रीय संख्या षोडशी पक्ष में ४६३ होती है। इनमें विराट्=१० संख्या का भाग देने पर ३स्तोत्र बचते हैं। षोडशी (२१) के अग्रहणपक्ष में (=ग्रहण न करने पर) शेष ४४२ रहते हैं। इनमें विराट्=१० संख्या का भाग देने पर २ संख्या शेष रहती है ॥२६॥

सारस्वते विप्रतिषेधाद् यदेति स्यात् ॥२७॥

सूत्रार्थः—(सारस्वते) सारस्वत सत्र में (विप्रतिषेधात्) परस्पर विरोध होने से (यदेति) ये पुरोडाशिनः···· ये सान्नाययाजिनः में 'यत्' शब्द का प्रयोग (स्यात्) होवे। इससे कर्मभेद नहीं है।

विशेष—समस्त सत्र ज्योतिष्टोमपूर्वक ही होते हैं। सारस्वत भी एक सत्र है। परन्तु इस में ये पुरोडाशिनः······ये सान्नाययाजिनः परस्पर विरुद्ध श्रवण होने से सारस्वत सत्र द्वादशाह के समान सत्रात्मक और असत्रात्मक दोनों प्रकार का होता है। द्र०—वार्तिक—'सारस्वते हि द्वादशाहन्यायेनोभयोः पक्षयोर्ज्योतिष्टोमपूर्वकत्वाद् [ये सान्नाययाजिन०······] अवश्यमेव वक्तव्यम्।'

व्याख्या—जो यह कहा है कि—'पुरोडाशवालों और सान्नाय्यवालों का सारस्वत सत्र में दर्शन होता है। सब [सत्र] कर्मों के ज्योतिष्टोमपूर्वक होने से यह विरुद्ध है। [इस विषय में कहते हैं—] इस कारण 'जब सान्नाययाजी होवें' ऐसी कल्पना की जाती है ॥२७॥

उपहव्येऽप्रतिप्रसवः ॥२८॥

सूत्रार्थः—[एककर्म में] (उपहव्ये) उपहव्य नामवाले एकाह में बृहद् और रथन्तरसाम

अथ यदुक्तम्—उपहव्ये बृहद्रथन्तरविधानं प्रकृतिप्राप्तमेव। एककर्मत्वे प्रतिप्रसवतयाप्यसम्भावाद् विधीयमानमनर्थकं स्यादिति। तत् परिहर्तव्यम्। आभाषान्तं सूत्रम् ॥२८॥

गुणार्था वा पुनःश्रुतिः ॥२९॥ (उ०)

यदा रथन्तरसामा, तदा अश्वः श्यावो[1] दक्षिणा। यदा बृहत्सामा तदा [अश्वः श्वेतो][2] रुक्मललाट इति ॥२९॥

का (अप्रतिप्रसवः) प्रतिप्रसव=पुनःविधान अनर्थक है। क्योंकि एककर्म पक्ष में उपहव्य में प्रकृति अग्निष्टोम से बृहद् और रथन्तरसामों की विकल्प से प्राप्ति होती ही है।

विशेष—अनर्थकः प्रतिप्रसवः=अप्रतिप्रसवः। सुबोधिनी वृत्तिकार ने प्रतिप्रसवः पदच्छेद मानकर 'प्रकृति से विकल्पतः प्राप्त बृहद् रथन्तर का तत्तच्छाखाओं के उपहव्य में नियम विधान के लिये कर्मभेद पक्ष में प्रतिप्रसव=पुनःकथन किया है। इससे वह सफल=युक्त है।

व्याख्या—और जो कहा है कि—उपहव्य में बृहद् रथन्तरसामों का विधान प्रकृति से प्राप्त ही है। एककर्मत्व पक्ष में प्रतिप्रसवरूप से विधान असम्भव होने से अनर्थक होवे। इस आक्षेप का परिहार करना चाहिये। यह आभाषान्त सूत्र है ॥२८॥

गुणार्था वा पुनःश्रुतिः ॥२९॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है। अर्थात् बृहद् रथन्तसामों का प्रतिप्रसव अनर्थक नहीं है। (गुणार्था) [अश्वः श्यावो दक्षिणा आदि] गुण के विधान के लिये (पुनःश्रुतिः) बृहद् रथन्तरसाम की पुनःश्रुति है।

विशेष—यहां भाष्य के सब मुद्रित ग्रन्थों में रथन्तरसामा पक्ष में अश्वः श्वेतो दक्षिणा पाठ मिलता है। यह पूर्वसूत्र(२।४।८)के भाष्यपाठ के विपरीत है। यहां रथन्तरसामा पक्ष में अश्वः श्यावो दक्षिणा, और बृहत्सामा पक्ष में अश्वः श्वेतो रुक्मललाटो दक्षिणा पाठ है (द्र०—पूर्व पृष्ठ ६०८)।

व्याख्या—जब रथन्तर सामवाला उपहव्य होवे, तब [उसकी] श्याव अश्व दक्षिणा होती है। और जब बृहत्सामवाला होवे तब [श्वेत] रुक्मललाट (=ललाट पर सुवर्ण बन्धा हुआ) अश्व दक्षिणा होवे [इसके विधान के लिये बृहद् रथन्तरसामों का पुनःश्रवण है] ॥२९॥

---

१. मीमांसायाः २।४।८ सूत्रस्य भाष्ये 'अश्वः श्यावो दक्षिणा' इति पठ्यते (द्र०—पृष्ठ ६०८)। एतत्पृष्ठस्था द्वितीया टिप्पण्यपि द्रष्टव्या। तेन 'अश्वः श्वेतो दक्षिणा' इति सार्वत्रिकः पाठः सन्नप्यपपाठ एव।

२. पूर्वपाठानुसारं वर्धितोऽयं पाठोऽस्माभिः। द्र०—२।४।८ सूत्रस्य भाष्यम् (पृष्ठ ६०८)।

प्रत्ययञ्चापि दर्शयति ॥३०॥ (उ०)

यदा न सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्मेति, कथमेकस्यां शाखायां समाम्नायते, अन्यस्यां गुणो विधीयते ? यथा मैत्रायणीयानां समिदादयः प्रयाजा न समाम्नायन्ते । अथ च गुणाः श्रूयन्ते—ऋतवो वै प्रयाजाः समानत्र[1] होतव्या इति । तथा येषां शाखिनां[2] कुटरुरसि इत्यश्मादानमन्त्रो नाम्नातः, तेषामपि हि दृश्यते—कुक्कुटोऽसीत्यश्मानमुपादत्ते, कुटरुरसीति वा[3] इति । तस्मादेकं कर्म्मेति प्रतीमः ॥३०॥

प्रत्ययञ्चापि दर्शयति ॥३०॥

सूत्रार्थः—(प्रत्ययम्) सब शाखाओं में एक कर्म है, इस प्रत्यय (=ज्ञान) को (चापि) भी (दर्शयति) आम्नाय दिखाता है ।

विशेष—सूत्र में च अपि दोनों नियत समुच्चय में ही प्रयुक्त हैं—चापीति निपातसमुदाय उक्तसमुच्चये (कुतुहलवृत्ति) ।

व्याख्या—जब सब शाखाओं में जाना गया कर्म एक नहीं है, तो कैसे एक शाखा में [कर्म का] कथन किया जाता है, और दूसरी शाखा में [उसके] गुण का विधान किया जाता है ? जैसे मैत्रायणी शाखा के अध्येताओं के [आम्नाय में] समित् आदि प्रयाज नहीं पढ़े जाते हैं । परन्तु उनके गुण श्रुत हैं—ऋतवो वै प्रयाजाः (निश्चय ही प्रयाज ऋतुएं हैं), समानत्र होतव्याः (=एक स्थान में ठहरकर, अर्थात् न आगे बढ़ कर और न पीछे हटकर, होम करना चाहिये) । तथा जिन शाखावालों के आम्नाय में कुटरुरसि यह अश्म (=शिला वा लोढ़ी) के आदान का मन्त्र नहीं पढ़ा है, उनके यहां भी देखा जाता है—कुक्कुटोऽसीत्यश्मानमुपादत्ते, कुटरुरसीति वा (=कुक्कुटोऽसि मन्त्र से अश्मा का ग्रहण करे, अथवा कुटरुरसि मन्त्र से) । इससे भी जाना जाता है कि [सब शाखाओं में] एक कर्म है ॥३०॥

विवरण—समानत्र होतव्याः—शाबरभाष्य के सभी मुद्रित ग्रन्थों में 'समानीय' पाठ मिलता है । यह मैत्रायणी संहिता से विपरीत होने से अशुद्ध है । समानीय का अर्थ होता है—उपभृत्स्थ आज्य को जुहू में ग्रहण करके । परन्तु यह पाठ अशुद्ध है । मैत्रायणी संहिता १।४।१२ में पाठ है—

---

१. 'समानीय' इति सार्वत्रिकः पाठः सन्नप्यपपाठ एव । मै० सं० १।४।१२ इत्यत्र 'समानत्र' पदं श्रूयते । समानत्र=एकत्र=एकस्मिन् स्थाने स्थित्वेति तदर्थः । द्र०—कुतुहलवृत्तिः ।

२. केषां शाखिनां 'कुटरुरसि' मन्त्रो न पठ्यते तेषामपि दृश्यते इत्यादि नास्माभिर्ज्ञायते । मै० सं० १।१।६; ४।१।६ इत्यत्र कुटरुरसि मन्त्रः पठ्यते । वाजसनेयसंहितायां तु (१।१६) कुक्कुटोऽसि इति पाठो दृश्यते ।

३. वचनमिदं नोपलब्धमस्माभिः ।

अपि वा क्रमसंयोगाद् विधिपृथक्त्वमेकस्यां व्यवतिष्ठेत ॥३१॥(पू०)

यो ह्यन्यशाखावस्थितान् विधीनुपसंहरति, स स्वशाखाहितं क्रममुपरुणद्धीति । तेन शाखान्तरेषु कर्म्मभेद इति ॥३१॥

ऋतवो वै प्रयाजाः समानत्र होतव्याः । मैत्रायणी-संहिता में इस प्रकरण में पञ्च प्रयाजों के यजन के विषय में तीन मत दिये हैं—**अभिक्रामन्त्येका**—अभिक्रमण करते हुए (=जिस स्थान में खड़े होकर एक आहुति दी है, उससे आगे बढ़ते हुए) एक आहुति देवे । **अपक्रामन्त्येका**—अपक्रमण करते हुए (=पीछे हटते हुए) एक आहुति देवे । और **प्रतिष्ठितैका**—पूर्वस्थान में ठहरते हुए एक आहुति देवे । इसके उपसंहार में कहा है—प्रयाज निश्चय ही ऋतुएं हैं । एक स्थान पर ठहरकर ही प्रयाजों का होम करना चाहिये, ऋतुओं की प्रतिष्ठा (=स्थिति) के लिये । इससे **समानीय** पाठ की अशुद्धता स्पष्ट है । **येषां शाखिनां……नाम्नातः**—काण्व और माध्यन्दिन शाखा में **कुटरुरसि** मन्त्र के स्थान में **कुक्कुटोऽसि** (मा० सं० १।१६; काण्व० सं० १।५।५=१।२६) मन्त्र का पाठ है । **कुटरुरसि** मन्त्र मै० सं० १।१।६; ४।१।६ में मिलता है । **तेषामपि दृश्यते—कुक्कुटोसीत्यश्मानमादत्ते, कुटरुसीति वा** यह वचन हमें उपलब्ध शाखाओं ब्राह्मणग्रन्थों वा श्रौतसूत्रों में नहीं मिला ॥३०॥

अपि वा क्रमसंयोगाद् विधिपृथक्त्वमेकस्यां व्यवतिष्ठेत ॥३१॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि वा' निपातसमुदाय सर्वशाखाप्रत्यय एककर्म के प्रतिषेध के लिये है, अर्थात् सर्वशाखाप्रत्यय एककर्म नहीं है । (क्रमसंयोगात्) प्रतिशाखा विधीयमान कर्मों के क्रम का संयोग=क्रम का निर्देश होने से (विधिपृथक्त्वम्) प्रतिशाखा विधियों का पार्थक्य है । अतः (एकस्याम्) प्रतिशाखाविहित कर्म उस-उस शाखा में (व्यवतिष्ठेत) व्यवस्थित होगा=सभी शाखाओं का एककर्मत्व नहीं होगा ।

विशेष—प्रकृत सूत्र का पाठ भाष्यानुसार है । अन्य ग्रन्थों में पाठभेद उपलब्ध होते हैं । यथा—अपि वा श्रुतिसंयोगात्…एकैकस्यां शाखायां व्यवतिष्ठेत यह कुतुहलवृत्ति का पाठ है। एकस्यां शाखायाम् यह भाट्टदीपिका (मैसूर सं०) कस्तूरिरंगाचार्यवृत्ति, तथा सुबोधिनीवृत्ति का है । एकस्याम् यहां वीप्सा जाननी चाहिये—एकैकस्यां शाखायाम् ऐसा ऋषिपुत्र परमेश्वर ने 'जैमिनी सूत्रार्थ संग्रह' में लिखा है । हमारे विचार में भाष्य के एकस्यां व्यवतिष्ठेत पाठ से भी पाठान्तर बोधित अर्थ व्यक्त हो जाता है ।

व्याख्या—जो अन्य शाखा में अवस्थित विधियों का [यज्ञकर्म में] उपसंहार करता है (=संगृहीत करता है), वह स्वशाखाविहित क्रम को अवरुद्ध करता है (=तोड़ता है) । इस कारण शाखान्तरों में कर्म का भेद जानना चाहिये ॥३१॥

विरोधिना त्वसंयोगादैककर्म्ये तत्संयोगाद् विधीनां सर्वकर्मप्रत्ययः स्यात् ॥३२॥ (उ०)

उच्यते—नैष शाखान्तरविहितानामैककर्म्ये सति विरोधिना संयोगः। न हि क्रमो वाक्येन विरुद्धयते। दुर्बलो हि क्रमः, बलवद्वाक्यम्। वाक्येन च शाखान्तरीयाणामुपसंहारः। तस्मात् सर्वशाखाप्रत्ययं सर्वब्राह्मणप्रत्ययञ्चैकं कर्म्म चोद्यते इति सिद्धं भवति ॥३२॥ इति सर्वशाखाप्रत्ययैककर्मताऽधिकरणम् ॥२॥

विरोधिना त्वसंयोगादैककर्म्ये तत्संयोगाद् विधीनां सर्वकर्मप्रत्ययः स्यात् ॥३२॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है, अर्थात् शाखान्तरों में कर्मभेद नहीं है। (विरोधिना) विरोधि क्रम के साथ (असंयोगात्) संयोग न होने से, अर्थात् वाक्य के साथ क्रम का विरोध न होने से (ऐककर्म्ये) एककर्मता का ज्ञान होने पर (विधीनाम्) सब शाखान्तरों में विहित विधियों के (तत्संयोगात्) वाक्य के द्वारा शाखान्तरविहित कर्मों के साथ संयोग होने से (सर्वकर्मप्रत्ययः) सब शाखाओं में विहित अङ्ग कर्मों के साथ प्रतीति (स्यात्) होवे।

विशेष—उक्त सूत्रार्थ भाष्यानुसार है। सुबोधिनीवृत्ति के अनुसार सूत्रार्थ इस प्रकार है—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है। पूर्वोक्त युक्तियों से सब शाखान्तरस्थ कर्मों के (ऐककर्म्ये) एककर्मत्व सिद्ध होने पर (विधीनाम्) सर्वशाखापठित अङ्गविधियों के (तत्संयोगात्) उस कर्म के साथ संयोग होने से (सर्वकर्मप्रत्ययः स्यात्) सब अङ्गकर्मों का एक में प्रत्यय=समन्वय होवे। शाखान्तरस्थ परस्परविरुद्ध विधियों का अन्वय कैसे होवे? इसका उत्तर देते हैं—(विरोधिना) पूर्व उदाहृत विरोधी विधियों का एकप्रयोग में (असंयोगात्) संयोग न होने से उपपत्ति होती है, अर्थात् जो परस्परविरुद्ध विधियां हैं, उनका एक प्रयोग में समन्वय न होकर प्रयोगभेद से समावेश जानना चाहिये।

व्याख्या—[पूर्वविषय में] कहते हैं—शाखान्तरविहित कर्मों की एककर्मता होने पर विरोधि [क्रम] के साथ संयोग नहीं होता है [अर्थात् क्रम के विरोध से शाखान्तरविहित कर्मों में भेद नहीं माना जा सकता है]। क्योंकि क्रम वाक्य के साथ विरुद्ध नहीं होता है। क्रम दुर्बल है, और वाक्य बलवान् है। वाक्यप्रमाण से शाखान्तरपठित विधियों का उपसंहार होता है। इसलिये सर्वशाखाओं [में विहित कर्मों] का ज्ञान और सब ब्राह्मणों [में विहित सब कर्मों] का ज्ञान एककर्म को ही कहा जाता है, यह सिद्ध होता है ॥३२॥

विवरण—इस सर्वशाखा-प्रत्यय एककर्मरूप अधिकरण का तात्पर्य यह है कि सब शाखाओं में विहित अङ्गविधियों का जो उपसंहार करने में समर्थ है, वह सब विधियों का उप-

संहार करे। और जो सब विधियों के उपसंहार में अशक्त है, वह स्वशाखाविहित जितना कर्म है, उसे करे। इस प्रकार शक्तिभेद से शाखान्तर-विहित कर्मान्तरों की व्यवस्था जाननी चाहिये ॥३२॥

इति अजयमेरु (अजमेर) मण्डलान्तर्गत-विरञ्च्यावासा (विरकच्यावासा)ऽ-
भिजनेन सारस्वत-कुलावतंसस्य तत्रभवतः श्री सूर्यरामस्य प्रपौत्रेण
श्री रघुनाथस्य पौत्रेण श्री यमुनादेवीनागौरीलालाचार्ययोः पुत्रेण
पूर्वोत्तरमीमांसापारदृश्वनां महामहोपाध्यायाद्यनेकविरुद्भाजाम्
श्री चिन्नस्वामिशास्त्र्यपरनाम्नां वेङ्कटसुब्रह्मण्यशास्त्रिणाम्
अन्तेवासिना भारद्वाजगोत्रेण त्रिप्रवरेण
वाजसनेयचरणेन माध्यन्दिनिना
युधिष्ठिर-मीमांसकेन
विरचितायां
मीमांसाशाबरभाष्यस्य वैदिकतत्त्वप्रकाशिन्यां हिन्दी-व्याख्यायां
द्वितीयोऽध्यायः पूर्तिमगात् ॥

[इषुरामाम्बरपक्षाख्ये (२०३५) वैक्रमाब्दे आश्विनमासस्य कृष्णपक्षस्य तृतीयस्यां तिथौ भौमवासरे द्वितीयाध्यायव्याख्याया लेखनं समाप्तम् ॥]

—:०:—

तृतीयेऽध्याये प्रथमः पादः

[प्रतिज्ञाऽधिकरणम् ॥१॥]

अथातः शेषलक्षणम् ॥१॥ (प्र० स०)

नानाकर्म्मलक्षणं वृत्तम्, अनन्तरं शेषलक्षणं वर्त्तयिष्यामः। कः शेषः, केन हेतुना शेषः, कथञ्च विनियुज्यते इति? श्रुत्यादीनि च विनियोगे कारणानीति वक्ष्यते, तेषां च बलवदबलवत्ता। एतत्तात्पर्य्येणान्यदप्युपोद्घातादिना ॥१॥ प्रतिज्ञाधिकरणम् ॥१॥

अथातः शेषलक्षणम् ॥१॥

सूत्रार्थः—(अथ) नानाकर्म लक्षण=कर्मों के भेद को लक्षित करनेहारे प्रमाणों के अनन्तर [यतः नानाकर्म-लक्षण ज्ञात हो गया है] (अतः) इस कारण (शेषलक्षणम्) शेष का लक्षण=जिनसे शेषत्व जाना जाता है, उनको कहेंगे।

विशेष—शेषस्य लक्षणम्=शेषलक्षणम्। लक्षण शब्द में करण में ल्युट् प्रत्यय है—लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम्।

व्याख्या—नाना कर्मों के (=कर्मों के भेद बोधक) लक्षण (=लक्षित करने हारे प्रमाणों का कथन) वृत्त (=पूर्ण) हो गया है। उसके अनन्तर शेष का लक्षण कहेंगे। शेष कौन? किस हेतु से शेष है? और उसका विनियोग कैसे होता है? और श्रुति आदि विनियोग में कारण हैं, यह कहेंगे और उन [श्रुति आदि प्रमाणों] की बलवत्ता तथा अबलवत्ता (=निर्बलता) भी कहेंगे। और इसी तात्पर्य से अन्य विषय भी उपोद्घात आदि के रूप में दर्शायेंगे।

विवरण—नानाकर्मलक्षण—संज्ञा अभ्यास आदि छ कर्मों के भेद पूर्व अध्याय में कह चुके हैं (द्र०—२।३।२६ का विवरण, पृष्ठ ५८६)। कः शेषः—'शेष' शब्द संबन्धी शब्द हैं। अतः शेष के ग्रहण से शेषी का भी उपलक्षण जानना चाहिये। शेष का लक्षण सूत्रकार अगले सूत्र में दर्शाएंगे—शेषः परार्थत्वात्। इसका तात्पर्य भाष्यकार ने इस प्रकार व्यक्त किया है=यः परस्योपकारे वर्तते स शेषः=जो दूसरों के प्रति उपकार में वर्तता है, वह शेष कहाता है अर्थात् जो किसी का अङ्गभूत अथवा अप्रधान होता है, वह शेष और जिसके प्रति शेष=परार्थ होता है, वह शेषी कहाता है। कथं च विनियोजकम्—विनियोग परस्पर अङ्गाङ्गी भाव का बोधक होता है। विनियोगे कारणानीति वक्ष्यते—विनियोग में कारणों का विधान मी०अ० ३,पाद ३ के १-१३ सूत्रों से

[शेषलक्षणाऽधिकरणम् ॥२॥]

शेषः परार्थत्वात् ॥२॥ (उ०)

इह सूत्रे शेषस्य लक्षणं, येन च हेतुना शेष इत्युच्यते, तदुभयमाख्यायते। यः परस्योपकारे वर्त्तते, स शेष इत्युच्यते। तद् यथा—ये परार्थास्ते वक्तारो भवन्ति, शेषभूता वयमिहेति। ननु योऽपि प्रधानभूतः सोऽपि कदाचित् परार्थे वर्त्तते। यथा उपाध्यायः प्रधानभूतः शिष्याणां विद्याविनयाधाने वर्त्तते। सत्यं वर्त्तते। यस्तु अत्यन्तं परार्थस्तं वयं शेष इति ब्रूमः। यथा गर्भदासः कर्मार्थ एव स्वामिनः, अनडवाँश्च क्रीयते वक्ष्यतीत्येव। ननु गर्भदासस्यापि स्वामी संविदधानो गुणभावमायात्। नेति ब्रूमः। आत्मन एवासौ संविदधानो गुणभावं गच्छति। नान्तरीयकत्वाद् गर्भदासस्योपकरोति, अनडुहो वा। यस्त्वत्यन्तं परार्थस्तं वयं शेष इति ब्रूमः॥

कहेंगे। तेषां च बलवत्ताबलवत्ता—इसका निर्देश मी० ३।३।१४ से करेंगे। उपोद्घातादिना—आदि शब्द से प्रसक्तानुप्रसक्त का संग्रह जानना चाहिये ॥१॥

शेषः परार्थत्वात् ॥२॥

सूत्रार्थः—[जो अन्य के लिये होता है वह] (शेष) शेष=अङ्ग अथवा अप्रधान कहाता है, (परार्थत्वात्) उसके परार्थ=दूसरे के लिये होने से। [जिसके प्रति शेष होता है, वह शेषी=अङ्गी अथवा प्रधान कहाता है।]

व्याख्या—इस सूत्र में शेष का लक्षण और जिस हेतु से शेष कहाता है, इन दोनों को कहा जाता है। जो कोई दूसरे के उपकार में वर्तमान (=उपकार करनेवाला) होता है, वह शेष कहाता है। जैसे—जो [व्यक्ति] दूसरे के लिये [कर्म करनेवाले] होते हैं, वे यह कहनेवाले होते हैं कि हम इस विषय में शेषभूत हैं। (आक्षेप) जो भी प्रधानभूत है वह भी कभी दूसरे के लिये [कर्म करनेवाला] होता है। जैसे—उपाध्याय प्रधान होता हुआ शिष्यों में विद्या और विनय के आधान में वर्तता है अर्थात् शिष्य कैसे विद्यावान् और विनयशील होवें, इसके लिये प्रयत्न करता है। (समाधान) सत्य है [उपाध्याय शिष्यों को विद्वान् और विनयशील बनाने के लिये] व्यवहार करता है। हम तो जो अत्यन्त (=सर्वथा) परार्थ है उसको शेष कहते हैं। जैसे गर्भदास (=गर्भावस्था से ही दास बना हुआ) स्वामी के कर्म के लिये ही होता है और बैल, यह भार ढोएगा इसीलिये खरीदा जाता है। (आक्षेप) गर्भदास का भी प्रत्युपकार करता हुआ स्वामी [उसके प्रति] गुणभाव को प्राप्त होवे? (समाधान) नहीं होता है ऐसा कहते हैं। अपने ही उपकार को करता हुआ [गर्भदास के प्रति] गुणभाव को प्राप्त होता है। अनिवार्य होने से (=अन्य चारा न होने से) गर्भदास अथवा बैल का उपकार (=अन्न-पान की व्यवस्था) करता है। इसलिये जो अत्यन्त परार्थ है, उसको हम शेष कहते हैं।

अथ तत्र किं वृत्तम्। यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत (मी० २।१।७) इति। तत्र अपूर्वार्थता व्यावर्तिता दृष्टप्रयोजनानामाख्यातानाम्। इह तु सर्वेषामेव शेषाणां लक्षणमुच्यते ॥२॥ शेषत्वकारणसहित—शेषलक्षणाधिकरणम् ॥२॥

विवरण—गर्भदासः—जब तक भारत में वैदिक व्यवस्था चलती रही, तब तक यहां दास-प्रथा नहीं थी। शूद्रों को भी सभी मानवोचित अधिकार प्राप्त थे। क्योंकि वैदिक धर्म की घोषणा है—न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित् (महा० शान्ति० २०९।२०)। अर्थात् मानव से श्रेष्ठ इस संसार में कोई नहीं है। मानवता के नाते ही वेद में स्पष्ट आदेश है—अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय (ऋ० ५।६०।५)। अर्थात् मानवों में न कोई श्रेष्ठ है और न कोई हीन। सब भाई भाई हैं और मिलकर अपने सौभाग्य के लिये आगे बढ़ते हैं। उत्तरकाल में जब धनधान्य से समर्थ व्यक्ति मद मोह लोभ अहंकार के वशीभूत हो गया, तो उसने अपने से हीन सामर्थ्य वालों पर अपना आधिपत्य जमाया और अन्त में साधनहीन व्यक्तियों को अपना दास (=गुलाम) बनाया। इस जघन्य प्रथा की यहां तक प्रवृत्ति हुई कि दास-दासी की सन्तानें भी दास-दासी माने जाते रहे। भाष्यकार के समय यह जघन्य प्रथा अपनी चरम सीमा तक पहुंच चुकी थी, यह गर्भदास शब्द से ही स्पष्ट है। वैदिककाल में शूद्रवर्ग विविध कार्य करने हारे कर्मकर तो होते थे, परन्तु दास नहीं माने जाते थे। ऋत्विक् जो ब्राह्मण होता है, वह भी दक्षिणा द्वारा यजमान से क्रीत होने से कर्मकर ही होता है। आत्मन एव संविधानः—इसका भाव यह है कि स्वामी गर्भदास के योग-क्षेम की व्यवस्था भी इसलिये करता है कि यदि वह स्वस्थ और बलवान् रहेगा तो मेरा अधिक कार्य करेगा। गर्भदास के प्रति अनुकम्पा से प्रेरित होकर स्वामी उसका ध्यान नहीं रखता है। इस प्रकार गर्भदास के प्रति उपकार में भी स्वामी का अपना ही स्वार्थ होता है। नान्तरीयकत्वात्—इसका शब्दार्थ है—अन्तर+ईय+कः=अन्तरीयकः, न अन्तरीयकः नान्तरीयकः। इस प्रयोग में अन्तर शब्द 'विना' अर्थवाला है। उससे गहादिभ्यश्छः (अष्टा० ४।२।१३८) से 'भव' अर्थ में 'छ' प्रत्यय होता है—अन्तरीय। इससे स्वार्थ में क प्रत्यय होकर अन्तरीयक शब्द बनता है। तत्पश्चात् नञ्-समास होने पर पृषोदरादि (अष्टा० ६।३।१०९) से अथवा न भ्राण्नपान्नवेदा० (अष्टा० ६।३।७५) में सूत्रपठित शब्दों को उपलक्षण मानकर नञ् के नकार का लोप नहीं होता है। इस प्रकार नान्तरीयकत्वात् का अर्थ होता है—अनिवार्य होने से=उसके विना कार्य न चलने से।

व्याख्या—इससे पूर्व क्या वर्णित हो चुका है? यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत [मी० २।१।७] (=जिन भावशब्दों से द्रव्य=द्रव्य का संस्कार वा निष्पत्ति चाही जाती है=इष्ट होती है, वहां भावशब्दों से गुणकर्म जाने [द्रव्य के गुणभूत होने से])। [जहां द्रव्य का संस्कार वा उसकी निष्पत्ति इष्ट होती है] वहां दृष्ट-प्रयोजनवाले आख्यातों की अपूर्वार्थता का निवर्तन किया है अर्थात् दृष्ट-प्रयोजनवाले आख्यात अपूर्व के उत्पादक नहीं होते हैं। यहां तो सभी प्रकार के शेषों का लक्षण कहा जाता है।

[शेषलक्ष्याधिकारणम् ॥३॥]

द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः ॥३॥ (पक्षान्तर-सूत्रम्)

बादरिराचार्योऽत्र द्रव्यगुणसंस्कारेष्वेत्र शेषशब्द इति मेने, न यागफलपुरुषेषु। द्रव्यं क्रियार्थम्। यदि प्रयोजनवती क्रिया, व्यक्तं सा द्रव्येण निर्वर्त्तयितव्या। तस्या निर्वृत्तिर्द्रव्याद् ऋते न भवतीति तन्निर्वृत्तये द्रव्यमेषितव्यं भवति। तस्मात् क्रियार्थं द्रव्यम्। गुणः शकनोति विशिष्टं द्रव्यं चोदितं लक्षयितुम्। लक्षितेन च तेन प्रयोजनम्, विशिष्टस्य क्रियासाधनत्वात्। तस्मात् सोऽपि द्रव्यद्वारेण क्रियाया उपकरोतीति क्रियार्थं एव। संस्कारो नाम स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य। तेनापि क्रियायां कर्त्तव्यायां प्रयोजनमिति सोऽपि परार्थः। तस्माद् द्रव्यगुणसंस्काराः परार्थत्वाच्छेषभूताः, न तु यागफलपुरुषाः।

विवरण—यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते वचन से द्रव्यसंस्कार परक अथवा द्रव्यनिष्पति परक दृष्ट-प्रयोजन वाले आख्यातों की अपूर्वार्थता के प्रतिषेध द्वारा गुणकर्मों=अङ्गकर्मों का हो परार्थत्व अर्थात् प्रधानयागार्थता=शेषता दर्शाई है। प्रकृत वचन से पुरुष द्रव्य गुण संस्कार आदि सभी, जो-जो भी पदार्थ हैं, का शेषत्व कहा है ॥३॥

द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः ॥३॥

सूत्रार्थः—(बादरिः) बादरि नामवाले आचार्य (द्रव्यगुणसंकारेषु) द्रव्य गुण और संस्कार में शेषत्व=परार्थता मानते हैं

व्याख्या—बादरि आचार्य यहां (=शेष विषय में) द्रव्य गुण और संस्कार में ही शेषशब्द व्यवहृत होता है ऐसा मानते हैं, याग फल और पुरुष में शेषत्व नहीं मानते। द्रव्य क्रिया के लिये होता है। यदि वह क्रिया प्रयोजनवाली है तो व्यक्त ही उसे द्रव्य से सम्पादित करना चाहिये। उस क्रिया की निष्पत्ति विना द्रव्य के नहीं होती है। इसलिये उसकी सिद्धि के लिये द्रव्य एषितव्य (=चाहने योग्य=इष्ट) होता है। इसलिये द्रव्य क्रिया के लिये है। [शुक्लादि] गुण कहे गये विशिष्ट द्रव्य को लक्षित करने में समर्थ होते हैं। और उस लक्षित [विशिष्ट द्रव्य] से प्रयोजन होता है, विशिष्ट द्रव्य के क्रिया का साधन होने से। इस कारण वह गुण भी द्रव्य द्वारा क्रिया का उपकारकरता है,इसलिये क्रिया के लिये ही है। संस्कार वह होता है जिसके उत्पन्न होने पर पदार्थ किसी प्रयोजन के लिये योग्य होता है। उससे भी कर्त्तव्यरूप क्रिया में प्रयोजन होता है, इस कारण वह भी परार्थ है। इस हेतु से द्रव्यगुण और संस्कार परार्थ होने से शेषभूत हैं,याग फल और पुरुष शेष नहीं हैं।

यागस्तावत् कर्त्तव्यः पुरुषस्य। न हि तस्मिन्निर्वर्त्तिते किञ्चिद् अपरमस्ति कर्त्तव्यम्। स हि पुरुषार्थः। यदन्यद् द्रव्यादि तत् तदर्थं तस्य शेषभूतम्। स तु न किञ्चिदभिनिर्वर्त्तयितुं क्रियते। फलमपि न तेन क्रियते। तस्मिँस्तु कृते स्वयमेव तद् भवति। तस्मिन् कृते फलमस्य भवतीत्येतावद् गम्यते। नास्ति शब्दः—यागेन क्रियते फलमिति। तस्माद् यागो न शेषभूतः कस्यचिदर्थस्य। फलमपि न पुरुषं प्रत्युपदिश्यते। यः स्वर्गं कामयते स यागं कुर्य्यादित्येतावच्छब्देनोपदिश्यते, नात्मनः परस्य वेति। स्वर्गं प्रतीच्छामात्रेण स्वर्गकाम इति भवति। तस्मात् पुरुषं प्रति गुणभावेन न श्रूयते स्वर्गः। तस्मात् सोऽपि न शेषभूतः। न चेत् फलयागौ गुणभावेन चोद्येते, कस्य पुरुषः प्रधानभूतो भवति? प्रत्यक्षश्चास्य द्रव्यत्वात् कर्म्म प्रति गुणभावः। तस्माद् द्रव्यगुणसंस्कारेष्वेव शेषभावं बादरिर्मेने इति ॥३॥

याग तो पुरुष का कर्त्तव्य है। उसके सम्पन्न हो जाने पर और कोई दूसरा कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। वही पुरुषार्थ है। और जो कोई भी अन्य द्रव्य आदि है वह उसके लिये है, अतः शेष भूत है। वह याग तो किसी अन्य को सिद्ध करने के लिये नहीं किया जाता है। फल भी उस याग से नहीं किया जाता है अर्थात् फल भी उससे नहीं उत्पन्न होता है। उस याग के करने पर वह फल स्वयं प्राप्त हो जाता है। उस याग के करने पर इसका फल होता है, इतना ही जाना जाता है। [इस विषय में] कोई शब्द प्रमाण नहीं है कि याग से फल उत्पन्न होता है। इस कारण याग किसी अर्थ का शेषभूत नहीं है। फल का उपदेश भी पुरुष के प्रति नहीं है। 'जो स्वर्ग की कामना करता है वह याग करे' इतना ही शब्द से उपदिष्ट (=कहा जाता) है, अपने लिये फल की कामना से याग करे वा अन्य के लिये फल की कामना से, यह नहीं कहा जाता है। स्वर्ग के प्रति इच्छामात्र से स्वर्गकाम (=स्वर्ग की कामनावाला) होता है। इसलिये स्वर्ग पुरुष के प्रति गुणभाव से नहीं सुना जाता है। इसलिये वह (=फल) भी शेषभूत नहीं है। यदि फल और याग गुणभाव से नहीं कहे जाते हैं तो पुरुष किसका (=किसके प्रति) प्रधानभूत होता है? इस (=पुरुष) का प्रत्यक्ष ही द्रव्य होने से कर्म के प्रति गुणभाव है। इस कारण द्रव्य गुण और संस्कार में ही बादरि आचार्य शेषभाव मानते हैं।

विवरण—बादरिराचार्योऽत्र……मेने—मीमांसा सूत्रों में बहुत्र विभिन्न आचार्यों के नामोल्लेखपूर्वक मत-वैभिन्न्य दर्शाा है। साम्प्रतिक मीमांसाव्याख्याकार इन आचार्यों के मतों को पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष में बांट देते हैं। परन्तु हमारे विचार में आचार्यविशेष के नामोल्लेख जिन सूत्रों में हैं वा उनके भी मत हैं उन्हें पूर्वपक्ष में रखना, दूसरे शब्दों में उनके मत को अशुद्ध कहना है। ये सभी आचार्य आप्त पुरुष थे। आप्त के सम्बन्ध में आयुर्वेदीय चरक संहिता (सूत्र स्थान अ० ११) में लिखा है—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥१८॥

कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात् ॥४॥ (पूर्वपक्ष०)

जैमिनिस्तु खल्वाचार्यः कर्माण्यपि शेषभूतानि मन्यते स्म, न बादरिरिवाव-

---

आप्ताः शिष्टा विबुधास्ते तेषां वाक्यमसंशयम् ।
सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥१६॥

अर्थात्—जो तप और ज्ञान के बल से रजोगुण और तमोगुण से रहित हैं। जिनका ज्ञान तीनों कालों में मल रहित और अव्याहत (=खडित न होनेवाला) है, ऐसे विद्वान् आप्त वा शिष्ट कहाते हैं। इनका वाक्य सदा असंशय सत्य है। ऐसे रजोगुण और तमोगुण से रहित आप्तजन किस कारण से झूठ बोलेंगे ?

आप्तजनों की इस स्थिति को न समझकर अथवा अपने वैदुष्य का सिक्का जमाने की इच्छा-वाले शंकराचार्य प्रभृति मध्यकालीन आचार्यों ने प्राय: सभी आचार्यों के मतों को पूर्वपक्ष में रखकर उनका खण्डन किया है। वस्तुत: आप्त शिष्ट पुरुषों के मत वा विचार अपने देशकाल की परिधि अथवा अधिकारीभेद से प्रवचन के कारण अपने स्थानों पर सत्य हैं। हम साधारणजन अपने अज्ञान से अथवा बुद्धि-वैभव के अहंकार के कारण उनको यथावत् समझने में असमर्थ होते हैं। शास्त्रीय वाङ्मय में परस्पर खण्डन-मण्डनरूप कलह लगभग दो ढाई सहस्र वर्ष से विद्वानों में चला आ रहा है। इस युग में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आप्त शिष्ट पुरुषों की यथावत् महिमा को जान कर प्रथम बार यह घोषणा की है कि षड्दर्शनों (वा सम्पूर्ण आर्षग्रन्थों) में परस्पर कोई विरोध नहीं है (द्र०—सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ १२२-१२३; ३४३-३४५; रा० ला० क० ट्र० शताब्दी सं०, २, संवत् २०३२)। इसीलिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मध्यकालीन अज्ञानी वा अहंकार-युक्त साधारण जनों के ग्रन्थों को विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्य कहकर आर्षग्रन्थों के ही पठन-पाठन पर बल दिया है (द्र० स० प्र० समु० ३, संस्कारविधि वेदारम्भ संस्कार में पठनपाठन-विधि अंश)। प्रकृत में बादरि आचार्य के और उत्तर सूत्र में निर्दिष्ट जैमिनि आचार्य के मतों में किस प्रकार अविरोध है, यह शबर स्वामी ने मीमांसा ३।१।६ के भाष्य में प्राचीन वृत्तिकार उपवर्ष आचार्य का जो मत मत उद्धृत किया है, उससे स्पष्ट है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्षग्रथों में जहां सामान्य दृष्टि से मत- भेद प्रतीत भी होता है, वहां तात्त्विक मतभेद नहीं है ॥३॥

कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात् ॥४॥

सूत्रार्थः—(कर्माणि) यागादि कर्म (अपि) भी शेषभूत हैं, (फलार्थत्वात्) फल के लिये होने से, ऐसा (जैमिनिः) जैमिनि आचार्य मानते हैं।

व्याख्या—जैमिनि आचार्य [यागादि] कर्मों को भी शेषभूत मानते थे। बादरि आचार्य के समान [द्रव्य गुण और संस्कार विषयक] अवधारण नहीं मानते अर्थात् केवल द्रव्य गुण और

धारणामनुमेने। स हि ददर्श—न यागः कर्त्तव्यतया चोद्यते, फलकामस्य तु तत्साधनोपायत्वेनेति। एवं श्रुतोऽर्थः परिगृहीतो भविष्यति। अर्थवांश्चोपदेशः। एनमेवार्थं षष्ठेऽध्याये सूत्रैरेव साधयिष्यति। इह तु तत्सिद्धेनैव फलार्थत्वेन शेषभावं यागस्यापादयति स्म। तस्मादनवधारणा द्रव्यगुणसंस्काराः शेषभूताः। यागोऽपि शेषभूतः फलं प्रतीति ॥४॥

फलं च पुरुषार्थत्वात् ॥५॥ (पक्षान्तर०)

फलमपि पुरुषं प्रत्युपदिश्यते। यः स्वर्गो मे भवेदित्येवं कामयते, तस्य यागः। न यः स्वर्गः स आत्मानं लभेतेति। कुतः? आत्मनेपदप्रयोगात्। कर्त्रभिप्राये एतद् भवति। क्रियाफलमनुभवेत् कथं पुरुष इति यागः प्रयुज्यते। तस्मात् फलं पुरुषार्थं यागाच्छ्रूयते, नात्मनिर्वृत्त्यर्थम्। तस्माच्छेषभूतमिति ॥५॥

संस्कार ही परार्थ (=शेषभूत) हैं, ऐसा नहीं मानते। उन्होंने देखा—याग का कर्तव्यरूप से विधान नहीं किया जाता है, [उसका विधान तो] फल की कामनावाले पुरुष के प्रति फल के साधन=उपायरूप से किया गया है। इस प्रकार श्रुत अर्थ (=श्रुति=शब्द श्रवण से गम्यमान अर्थ) परिगृहीत होता है। और [फल कामनावाले के फल के साधनरूप से याग का] उपदेश अर्थवान् भी होता है। इसी अर्थ का षष्ठाध्याय में [आचार्य जैमिनि] सूत्रों के द्वारा सिद्ध करेंगे। यहां तो उसको सिद्ध मानकर ही याग का फलार्थत्व से शेषभाव का उपपादन करते हैं। इसलिये यह अवधारण की द्रव्य गुण और संस्कार ही शेषभूत हैं, ठीक नहीं है। याग भी फल के प्रति शेषभूत है।

विवरण—न यागः कर्त्तव्यतया ...... तत्साधनोपायत्वेन—यह सकाम कर्म की दृष्टि से जानना चाहिये। निष्काम नैत्यिक कर्म तो कर्तव्यरूप से ही कहे गये हैं। अतएव उनके न करने पर प्रत्यवाय माना जाता है। षष्ठाध्याये सूत्रैरेव—अ० ६, पाद १, सूत्र १-३ (प्रथम अधिकरण) से यहां तात्पर्य है ॥५॥

फलं च पुरुषार्थत्वात् ॥५॥

सूत्रार्थः—(च) और (फलम्) फल भी (पुरुषार्थत्वात्) पुरुष के लिये होने से शेषभूत है।

व्याख्या—फल का उपदेश भी पुरुष के लिये किया है। "मुझे स्वर्ग प्राप्त होवे, ऐसी जो कामना करता है उसके प्रति याग का विधान किया है। जो स्वर्ग है वह मुझ को प्राप्त होवे, ऐसा अभिप्राय नहीं है। किस हेतु से? आत्मनेपद का प्रयोग होने से। कर्त्रभिप्राय (=कर्ता को प्राप्त होने वाले) क्रिया के फल में यह (=आत्मनेपद) होता है। पुरुष [या रूप] क्रिया के फल को कैसे अनुभव करे, इसके लिये याग किया जाता है। इसलिये फल पुरुष के लिये याग से [प्राप्त किया जा सकता है, ऐसा] सुना जाता है। अपनी निर्वृत्ति के लिये नहीं सुना जाता है। इसलिये फल शेषभूत है।

पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् ॥६॥ (पचान्तर०)

पुरुषोऽप्यौदुम्बरीसम्मानादिषु[1] गुणभूतः श्रूयते । तस्मादनवधारणा एषा—द्रव्य-

विवरण—न यः स्वर्गः स आत्मानं लभेत—इसका भाव जानने के लिये तृतीय सूत्र मत के की ओर ध्यान देना चाहिये । वहां कहा है—न किञ्चिदभिनिर्वर्तयितुम्=किसी फल आदि की निर्वृत्ति=सिद्धि के लिये याग का विधान नहीं है । तथा—यः स्वर्गं कामयते····· नात्मनः परस्य-वा—अर्थात् कर्मविधायक वाक्य में स्वर्ग अपने लिये चाहता है अथवा दूसरे के लिये यह नहीं कहा है । इन्हीं दोनों का समाधान करते हैं—आत्मनेपदप्रयोगात् अर्थात् दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्ग-कामो यजेत, सोमेन स्वर्गकामो यजेत आदि वाक्यों में आत्मनेपद का प्रयोग होने से स्वर्गरूप फल की कर्त्रभिप्रायता स्पष्ट है । यजेत—पाणिनीय व्याकरण के अनुसार यज धातु स्वरितेत् है । उससे स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (अष्टा० १।३।७२) नियम से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद का विधान है । परन्तु पाणिनीय यह नियम वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः में उपपन्न नहीं होता हैं । क्योंकि लभ धातु को पाणिनि ने अनुदात्तेत् पढ़ा है । अनुदात्तेत् धातुओं से पाणिनीय नियमा-नुसार कर्त्रभिप्राय क्रियाफल और पराभिप्राय क्रियाफल दोनों में आत्मनेपद होता है । अतः भाष्य-के कथन की उपपत्ति वैदिक वाग्व्यवहार से जाननी चाहिये । वेद की सभी धातुएं आत्मनेपदी और परस्मैपदी हैं । अतः जहां आत्मनेपद का प्रयोग होता है, वहां कर्त्रभिप्राय क्रियाफल हो जाना जाता है । यथा—आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते (अथर्व ११।५।१७)। इसका तात्पर्य है —आचार्य ब्रह्मचारी को अहमाचार्यो भवेम (=मैं आचार्य बन जाऊं) इस आत्माभिप्राय से चाहता है, न कि ब्रह्मचारी में योग्यताधान के लिये । इसी प्रकार प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति (महाभाष्य ३। १।८५में उद्धृत) का तात्पर्य है—एक लहर दूसरी लहर के विरुद्ध उलटी ओर से लड़ती है । अर्थात् यहां उत्तर लहर का दूसरी पूर्व लहर से लड़ने अर्थात् पराजित=समाप्त करने में उसका अपना स्वार्थ नहीं है, पूर्व लहर की समाप्ति ही उसका प्रयोजन है ।

पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् ॥६॥

सूत्रार्थः—(च) और (पुरुषः) पुरुष भी (कर्मार्थत्वात्) कर्म के लिये होने से कर्म के प्रति शेषभूत है ।

विशेष—यहां पुरुष की कर्मार्थता सामान्यरूप से नहीं कही है । अपितु सोमयागों में पुरुष-सम्मिता औदुम्बरी भवति (अनुपलब्धमूल) आदि में पुरुष=यजमान के बराबर ऊंची औदुम्बरी (=उदुम्बर=गूलर की शाखा) का निर्देश है । वहां औदुम्बरी की ऊंचाई की निष्पत्ति में पुरुष कर्मार्थ होने से शेषभूत होता है ।

व्याख्या—पुरुष भी औदुम्बरी के सम्मान (=प्रमाण) आदि कार्यों में गुणभूत सुना

१. द्र०—'पुरुषसम्मितौदुम्बरी भवति' इति वचनम् । अनुपलब्धमूलमिदं वचनम्, परन्तु बृहत्यां भट्टप्रभाकरेण इहैव सूत्रे वचनमिदमुद्धृतम् ।

गुणसंस्कारेष्वेव शेषत्वं बादरिर्मेने इति ॥

अथ इदानीमत्र भगवान्[1] वृत्तिकारः परिनिश्चिकाय। द्रव्यगुणसंस्कारेष्वेव नियतो यजिं प्रति शेषभावः, आपेक्षिक इतरेषाम्। यागस्य द्रव्यं प्रति प्रधानभावः, फलं प्रति गुणभावः। फलस्य यागं प्रति प्राधान्यम्, पुरुषं प्रति गुणता। पुरुषस्य फलं प्रति प्रधानता, औदुम्बरीसम्मानादि प्रति गुणत्वम्। तस्मात् संमता अवधारणा—द्रव्यगुणसंस्कारा यागं प्रति नियोगतो गुणभूता एवेति ॥६॥ शेषलक्ष्याऽधिकरणम् ॥३॥

जाता है। इसलिये यह धारणा ठीक नहीं है जो—द्रव्य गुण कर्मों में ही शेषत्व बादरि आचार्य मानते हैं।

विवरण—औदुम्बरीसम्मानदिषु—सोमयाग में सदोमण्डप के मध्य में औदुम्बरी (=गूलर वृक्ष की शाखा) गाड़ी जाती है। उसका स्पर्श करके, उससे पीठ लगाकर सामगानकर्ता साम का गान करता है—औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत (मी० भाष्य १।३।२ में उद्धृत)। इस औदुम्बरी की ऊंचाई कितनी होवे, इस विषय में कहा है—यजमानसम्मिता औदुम्बरी भवति (अनुपलब्धमूलम्)। अर्थात् यजमान पुरुष की ऊंचाई के बराबर औदुम्बरी ऊंची होवे। इस प्रकार औदुम्बरी के प्रति पुरुष गुणभूत होता है।

व्याख्या—यहां [=इस प्रकरण में] भगवान् वृत्तिकार [उपवर्ष] ने शेषों का इस प्रकार निश्चय किया है—द्रव्य गुण और संस्कारों में ही यजि (=याग) के प्रति नियत शेषभाव है। अन्यों (=कर्म फल और पुरुषों) का शेषभाव आपेक्षिक है। याग का द्रव्य के प्रति प्रधानभाव हैं, फल के प्रति गुणभाव है। फल की याग के प्रति प्रधानता है, पुरुष के प्रति गुणभाव है। पुरुष की फल के प्रति प्रधानता है, औदुम्बरी के सम्मान (=प्रमाण=नाप) में गुणभाव है। इसलिये [बादरि आचार्य की] अवधारणा सम्मत (=मानने योग्य) है—द्रव्य गुण और संस्कार याग के प्रति नियत रूप से गुणभूत ही हैं।

विवरण—भगवान् वृत्तिकारः परिनिश्चिकाय—वृत्तिकार ने बादरि और जैमिनि प्रभृति के विरुद्ध से प्रतीयमान शेष-शेषी-भाव की जो व्यवस्था लिखी है, वही सूत्रकार सम्मत है। सूत्रकार ने शाखान्तरों में प्रतिपादित यागों में कुछ भिन्नता होते हुए भी जिस प्रकार समन्वय=एक कर्मत्व का प्रतिपादन किया है। उससे भी स्पष्ट है कि सूत्रकार जैमिनि का बादरि आचार्य के मत को उद्धृत करके उसके खण्डन में तात्पर्य नहीं है ॥६॥

---

१. पूनासंस्करणानुसारी पाठोऽयम्। आचार्य पादा अपीत्थमेव पाठं पाठितवन्तः। काशी-मुद्रिते तु 'शेषान्' इति पाठः, सोऽप्युपपन्नत एव।

[निर्वपणादीनामर्थानुसारेण व्यवस्थितविषयताधिकरणम् ॥४॥]

स्तो दर्शपूर्णमासौ—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत[1] इति। तत्र श्रूयन्ते धर्माः—निर्वपणं, प्रोक्षणम्, अवहननमित्येवमादय औषधधर्माः, तथोत्पवनविलापनग्रहणासादनादय आज्यधर्माः, तथा शाखाहरणं गवां प्रस्थापनं, गवां प्रस्नावनमित्येवमादयोऽपि सान्नाय्यस्य। तेषु सन्देहः। किं सर्वे औषध आज्ये सान्नाय्ये च कर्त्तव्याः, उत ये यत्र क्रियमाणा अर्थवन्तस्ते तत्र कर्त्तव्या इति॥ ननु संयुक्ता एवं श्रूयन्ते। यथा—व्रीहीनवहन्ति[2], तण्डुलान् पिनष्टि[3] इति। बाढं संयुक्ताः। अवघातादयस्तु पदार्था विधीयन्ते श्रुत्या। वाक्येन एषां व्रीह्यादिसंयोगः। अतोऽस्ति संशयः। किं तावत् प्राप्तम्?

व्याख्या—दर्शपूर्णमास याग विहित हैं—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत (=दर्शपूर्णमासों से स्वर्ग की कामनावाला यजन करे)। वहां कुछ धर्म श्रुत हैं—निर्वाप, प्रोक्षण, अवहनन आदि औषध (=व्रीहि आदि) के धर्म, और उत्पवन, विलापन, ग्रहण, आसादन आदि आज्य के धर्म, और शाखाहरण, गौवों का प्रतिस्थापन, गौवों का प्रस्नावन इत्यादि सान्नाय्य के। इनमें सन्देह है कि क्या सब धर्म औषध आज्य और सान्नाय्य में करने चाहियें अथवा जो जहां किये हुए प्रयोजनवान् होवें, वहां करने चाहियें? (आक्षेप) [उक्त धर्म व्रीहि आदि से] संयुक्त ही सुने जाते हैं। जैसे व्रीहीन् अवहन्ति (=व्रीहि को कूटता है), तण्डुलान् पिनष्टि (=चावलों को पीसता है)। (समाधन) अवघात आदि पदार्थों का श्रुति से विधान किया जाता है। व्रीहि आदि का संयोग वाक्य से [जाना जाता है]। इसलिये संशय होता है। क्या प्राप्त होता है?

विवरण—निर्वपण=निर्वाप। चतुरो मुष्टीन् निर्वपति (द्र० आप० श्रौत १।१८।२) के नियम से प्रति प्रधान याग चार चार मुट्ठी व्रीहि आदि का ग्रहण करना निर्वाप कहाता है। निर्वाप की प्रक्रिया श्रौतसूत्रों में यथास्थान देखें अथवा श्रौतपदार्थ-निर्वचन, पृष्ठ १६, सन्दर्भ १३० में देखें। प्रोक्षण—अग्निहोत्रहवणी में जल को ग्रहण करके पवित्र संज्ञक दो दर्भ तृणों से उत्पवन कर के दक्षिण हाथ से व्रीहि आदि का सेचन प्रोक्षण कहाता है (द्र० श्रौत पदाथ निर्वचन, पृष्ठ १५, सन्दर्भ ११०)। अवहनन—व्रीहि को ऊखल में डालकर मूसल से छिलका उतारने के लिये कूटना

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासौ। आप० श्रौत ३।१४।८॥

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—यथादेवतमेनान् प्रोक्षति। तै० ब्रा० ३।२।५॥ अग्नये वो जुष्टं प्रोक्षामीति यथादेवतं हविस्त्रिः प्रोक्षन्……। आप० श्रौत १।१९।१॥

३. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—……तण्डुलानोप्य पिनष्टि। कात्या०श्रौत २।५।६॥ प्राणाय त्वा अपानाय त्वा व्यानाय त्वेति एततं पिनष्टि। आप० श्रौत १।२१।६॥

तेषामर्थेन सम्बन्धः ।।७।। (उ०)

तेषामर्थेन सम्बन्धः । अर्थेन प्रयोजनेन । ये यत्र क्रियमाणाः प्रयोजनवन्तस्ते तत्र

(श्रौतप० पृष्ठ १७, सन्दर्भ १३८) । उत्पवन—आज्यस्थाली में स्थित आज्य का दायें बायें हाथों से परस्पर असंसृष्ट (=दूर दूर रखे हुए) धारण किये दो पवित्रों (=दर्भ तृणों) से उछालना (द्र० श्रौतप० पृष्ठ १५, सन्दर्भ ११२) । विलापन—घृत को पिघलाना । आसादन—वेदि में रखना । शाखाहरणम्......सान्नाय्यस्य—दर्शेष्टि में, जिसने पहले सोमयाग किया है उसके लिये ऐन्द्र वा महेन्द्र दधि और ऐन्द्र वा महेन्द्र पयः[1] हव्यद्रव्य विहित है—सोमयाजी सन्नयेत् (कात्या० श्रौत ४।२।४५) । दोनों हवियों का समान देवता होने से दोनों हवियों को मिलाकर एक ही आहुति दी जाती है । इसी संनयन (=एक में दूसरे को मिलाकर आहुति देने) के कारण यह हवि सान्नाय्य कहाती है । अष्टा० ३।१।१२८ में सान्नाय्य शब्द का हवि अर्थ में निपातन किया है—संनीयते इति सान्नाय्यं हविः । दधि और पयः की निष्पत्ति के लिये गोदोहन आवश्यक है । उसके कुछ धर्म यहां गिनाए हैं । शाखाऽऽहरण=पलाश के वृक्ष की हरी शाखा काट कर लाना । इस शाखा से गोदोहन के समय बछड़े का गो के साथ संयोग होने पर बछड़े का स्पर्श किया जाता है—मातृभिर्वत्सान् संसृज्य वत्सं शाखयोपस्पृशति वायवस्थेति (कात्या० श्रौत ४।२।७) । गवां प्रस्थापनम्—दोहन के पश्चात् गौ को चरने के लिये भेजना (द्र०—शाखया गोचराय-गाः प्रस्थापयति । आप० श्रौत १।५।८) गवां प्रस्नावनम्—दुहने से पहले गौ के दूध उतारने से अनुकूल क्रिया करना । लोक में इसे 'पावसना' या 'पसावना' कहते हैं । यद्यपि यह क्रिया गौवों के प्रस्थापन से पूर्व की है, फिर भी क्रम की विवक्षा न होने से भाष्य में आगे पीछे निर्देश किया हैं ।

अवघातादय...श्रुत्या—अवहन्ति पिनष्टि आदि आख्यात शब्दों के श्रवणमात्र से विदित होते हैं । वाक्येन एषां व्रीह्यादिसंयोगः—व्रीहीन् अवहन्ति, तण्डुलान् पिनष्टि वाक्य से व्रीहि और तण्डुल का अवहन्ति और पिनष्टि क्रिया के साथ संबन्ध होता है । 'पहले पद अपने अपने अर्थ को कहते हैं, पश्चात् समान वाक्यस्थ पदों का परस्पर में संबन्ध होता हैं' इस पक्ष के अनुसार उपर्युक्त आक्षेप है ।।६।।

तेषामर्थेन संयोगः ।।७।।

सूत्रार्थः—(तेषाम्) उन अवहनन, पेषण आदि कर्मों का (अर्थेन) प्रयोजन से औषध आज्य वा सान्नाय के साथ (संयोगः) सम्बन्ध होता है । अर्थात् अवहननादि कर्म जहां किये हुए प्रयोजनवान् होवें, वहीं इनका सम्बन्ध जानना चाहिये, सर्वत्र नहीं ।

व्याख्या—उन [अवहनन आदि] का अर्थ से सम्बन्ध होता है । अर्थ से=प्रयोजन से ।

---

१ ऐन्द्रं भवति महेन्द्रं वा । कात्या० श्रौत ४।२।१०।।

कर्त्तव्याः। प्रथनादय आज्यसान्नाय्ययोरनुपकारका इति न तत्र करणीयाः। एवमुत्पवनादय औषधसान्नाय्योः। शाखाहरणादय आज्यौषधयोः। ननु श्रूयन्ते सर्वे सर्वत्र? एतदेव न जानीमः—श्रूयन्ते न श्रूयन्ते इति। तद्विचारयितव्यम्। यद्यपि श्रूयेरँस्तथाप्यनुपकारकत्वान्नैव कर्त्तव्या भवेयुः ॥७॥

विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात् संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च ॥८॥ (पू०)

उच्यते, योऽर्थात् प्राप्तः स्यात्, स यत्र प्रयोजनं तत्रैव क्रियेत। शब्देन तु सर्वेऽमी

जो कर्म जहां किये जाते हुए प्रयोजनवान् होते हैं उन्हें वहां करना चाहिये। प्रथन आदि कर्म आज्य और सान्नाय्य में उपकारक नहीं हैं। इसलिये उन्हें इनमें नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार उत्पवन आदि कर्म औषध (=व्रीह्यादि) और सान्नाय्य में प्रयोजनवान् नहीं हैं। इसी प्रकार शाखाऽऽहरण आदि धर्म औषध और आज्य में प्रयोजनवान् नहीं हैं, अतः इनको सान्नाय्य और आज्य में नहीं करना चाहिये। (आक्षेप) सब धर्म [समान प्रकरण होने से] सर्वत्र सुने जाते हैं। (समाधान) यही तो हम नहीं जानते कि सब धर्म सर्वत्र सुने जाते अथवा नहीं सुने जाते हैं। इस लिये इसका विचार करना चाहिये। यद्यपि [सब धर्म सर्वत्र] सुने भी जावें तो भी [जहां जिसकर्म का करना] उपकारक (=प्रयोजनवान्) न होवे वहां वे कर्म कर्त्तव्यरूप नहीं होंगे।

विवरण—प्रथनादयः—पुरोडाशं प्रथयति—पुरोडाश को गोल बनाकर बाटी के समान उसे कुछ दबाकर फैलाना कर्म 'प्रथन' कहाता है। एतदेव न जानीमः—यह कथन प्रौढ़ोक्तिमात्र है। यद्यपि वाक्य से ये सभी कर्म सम्बद्ध सुने जाते हैं। फिर भी यद्यपि श्रूयेरन्=सर्वत्र सब धर्मों के श्रुत होना, पक्ष को मानकर भी उसका खण्डन करने के लिये है ॥७॥

विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात् संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणविशेषाच्च ॥८॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है अर्थात् अवहनन आदि जहां प्रयोजनवान् होवें वहीं किये जायें, यह ठीक नहीं है। विहित-विधान किया गया अवहनन आदि (सर्वधर्मः) सब औषध आज्य और सान्नाय्य का धर्म (स्यात्) होवे। (संयोगतो ऽविशेषात्) संयोग से सबके साथ समान होने से (च) और (प्रकरणविशेषात्) दर्शपूर्णमास प्रकरण के अविशेष=समान होने से।

विशेष—संयोगतोऽविशेषात् का अभिप्राय है—साक्षात् अथवा परम्परा से सबका परम=अन्तिम अपूर्व के साथ सामान्य संबन्ध होने से।

व्याख्या—कहते हैं—जो प्रयोजन से प्राप्त होवे वह जहां प्रयोजन होवे वहीं किया जाये। परन्तु यह अवहनन आदि सभी पदार्थ ['अवहन्ति' 'पिनष्टि आदि] शब्द से विहित हैं। इस

पदार्था विहिताः। तेन न यत्र केवलं प्रयोजनं प्रत्यक्षं दृश्यते, तत्रैव कर्त्तव्याः। क्व तर्हि? यत्र यत्र विहिताः। ते चामी सर्वत्र विहिता गम्यन्ते। कुतः? संयोगतोऽविशेशात् प्रकरणाऽविशेषाच्च। सर्वेषां तावदाज्यौषधसान्नाय्यानामपूर्वेण साध्यसाधनसंयोगोऽविशिष्टः। यत्र क्रियमाणा अपूर्वस्य कृता भवन्तीति विज्ञायते। तथा प्रकरणमविशिष्टम्। यस्मिन् विहिताः सर्वेषां विहिता भवन्तीति गम्यते। अतः सर्वे सर्वत्र कर्त्तव्याः। यत्त्वमी न सर्वत्रोपकुर्वन्तीति विधानसामर्थ्यात् सर्वत्रोपकारका इति गम्यते। स चायमदृष्ट उपकारो भविष्यति ॥८॥

अर्थलोपादकर्म स्यात् ॥९॥ (उ०)

नैतत्, सर्वे सर्वत्र करणीया इति। ये यत्र नोपकुर्वन्ति, न ते तत्र क्रियामर्हन्तीत्युक्तमेव। ननु विधानसामर्थ्यात् सर्वे सर्वत्रोपकरिष्यन्ति। नेति ब्रूमः ॥९॥

कारण जहां केवल प्रयोजन प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता है वहीं करना चाहिये ऐसा नहीं है। तो कहां करना चाहिये? जहां जहां विहित है। वे ये [अवहनन आदि] सर्वत्र (=औषध आज्य सान्नाय में) विहित जाने जाते हैं। किस हेतु से? [साक्षात् वा परम्परा से परम अपूर्व के साथ] संयोग के समान होने से और प्रकरण के समान होने से। सभी आज्य औषध और सान्नाय्यों का अपूर्व (=परम=अन्तिम अपूर्व) के साथ साध्यसाधन रूप संयोग के समान होने से। जिन [आज्य आदि] में किये गये [अवहनन आदि] अपूर्व के करनेवाले होते हैं, ऐसा जाना जाता है। इसी प्रकार प्रकरण भी समान है। जिस [दर्शपूर्णमास प्रकरण] में विहित सभी [आज्य औषध सान्नाय्य] के होते हैं, ऐसा जाना जाता है। इसलिये [अवहनन आदि] सभी सर्वत्र (=आज्य औषध सान्नाय्य में) करने चाहियें। और जो यह कहा कि ये [अवहनन आदि] सर्वत्र उपकारक नहीं होते हैं? विधान सामर्थ्य से सर्वत्र उपकारक हैं, ऐसा जाना जाता है। वह अदृष्ट उपकार होगा ॥८॥

अर्थलोपात् अकर्म स्यात् ॥९॥

सूत्रार्थः—(अर्थलोपात्) अर्थ=प्रयोजन का लोप होने से [जहां प्रयोजन नहीं है वहां यह अवहनन आदि (अकर्म) अकर्त्तव्य (स्यात्) होवे।

व्याख्या—सभी [अवहननादि] सर्वत्र [आज्य औषध और सान्नाय्य में] करने चाहियें, यह ठीक नहीं है। जो कर्म जहां उपकार नहीं करते, वे वहां क्रिया की योग्यता नहीं रखते। (आक्षेप) विधान सामर्थ्य से सब सर्वत्र उपकारक होंगे? (समाधान) [सभी सर्वत्र उपकारक] नहीं हैं, ऐसा हम कहते हैं।

फलं तु सह चेष्टया शब्दार्थोऽभावाद् विप्रयोगे स्यात् ॥ १० ॥

नास्ति विधानं येन सर्वे सर्वत्रोपकुर्वन्ति । न च प्रत्यक्षादिभिरुपकारमवगच्छामः । अर्थापत्तिरपि नियोगतस्तत्रैव भवेत्, यत्रैव शब्देन चोदना भवति, नान्यथा । यदि च प्रथनादीनामाज्यसान्नाय्ययोरनुपकुर्वतामपि तत्प्रकरणे समाम्नायोऽनुपपन्नो भवेत् ततोऽर्थाद् अदृष्ट उपकारः कल्प्येत । ते त्ववश्यं समाम्नानीया औषधार्थम् । फलं हि सह चेष्टयाऽवहननादिकयाऽवगम्यते तुषविमोचनादि । प्रयोजनं च तेन । न तस्मादृते पुरोडाशः सिद्धयति । सति चास्मिन् अर्थवान् प्रकरणे समाम्नायः । अर्थवति च तस्मिन्नादृष्टकल्पनायां प्रमाणमस्तीत्यतो न शक्यं कल्पयितुम् । यदि च तत्र तण्डुलादिनिष्पादनं दृष्टं नाभविष्यत् ततो विप्रयोगे तण्डुलादीनामभावादुपकारस्य शब्दार्थमात्रं दृष्टोप-

---

फलं तु सह चेष्टया शब्दार्थो ऽभावाद् विप्रयोगे स्यात् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(फलम्) वितुषीकरण=तुषरहित करना रूप दृष्ट फल (तु) तो (चेष्टया सह) अवहनन आदि क्रिया के साथ देखा जाता है अर्थात व्रीहि=धान के अवहनन क्रिया से तुषरहित तण्डुल=चावल की निष्पत्तिरूप दृष्ट फल देखा जाता है। (विप्रयोगे) वितुषी भावरूप दृष्टोपकार के न होने पर (अभावात्) दृष्टफल के अभाव होने से (शब्दार्थः) अवघात=अवहनन रूप शब्दार्थमात्र (स्यात्) होवे । अर्थात् अवहनन से दृष्टफल न होने पर अदृष्ट की कल्पना होवे ।

व्याख्या—ऐसा विधान नहीं है जिससे [अवहनन आदि] सब पदार्थ सर्वत्र [आज्य औषध और सान्नाय्य में] उपकारक होते हैं [ऐसा जाना जाये] । और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से भी [सबका सर्वत्र] उपकार नहीं जानते हैं । अर्थापत्ति भी नियम से वहीं होती है जहां शब्द ने विधान होता है, अन्यथा नहीं होती है । और यदि प्रथन आदि कर्मों का आज्य और सान्नाय्य में उपकार न करते हुओं का उस प्रकरण में समाम्नाय (=पाठ) उपपन्न न होवे तो उससे अर्थापत्ति से अदृष्ट उपकार की कल्पना होवे । वे (=प्रथन आदि) कर्म औषध (=व्रीहि आदि के वितुषीकरण के लिए) अवश्य पठनीय हैं । [अवहनन आदि का] तुषविमोचनादि फल निश्चय ही चेष्टा (=अवहननादि क्रिया) के साथ जाना जाता है अर्थात् अवहनन आदि क्रिया से तुषविमोचन फल प्रत्यक्ष देखा जाता है । और उस (=तुषविमोचन) से प्रयोजन है । उस (=तुषविमोचन) के विना पुरोडाश सिद्ध नहीं होता है । और इस [तुषविमोचन प्रयोजन] के सिद्ध होने पर प्रकरण में [अवहनन आदि का] पाठ अर्थवान् (=प्रयोजनवाला) है । और उस [अवहननादि] के प्रयोजनवान् होने पर अदृष्ट कल्पना में प्रमाण नहीं है, इसलिये उसकी कल्पना नहीं की जा सकती है । और यदि उस [अवहननादि क्रिया] में तण्डुलादि की निष्पत्तिरूप दृष्ट प्रयोजन न होता तो उससे विप्रयोग में तण्डुलादि के अभाव से उपकार के शब्दार्थमात्र दृष्टोपकार

कारानपेक्षं कर्त्तव्यमित्याज्यसान्नाय्ययोरपि क्रियमाणानामदृष्टमभविष्यत् । तस्माद् न प्रथनादयः सर्वत्र । एवम् उत्पवनादयः शाखाहरणादयश्च । तस्मान्न सर्वे सर्वत्र कर्त्तव्याः । प्रथनादयो नाज्यसान्नाय्ययोः, औषधे एव ते । उत्पवनादय आज्यस्य, नौषधसान्नाय्ययोः, शाखाहरणादयश्च सान्नाय्यस्य, नाज्यौषधयोरिति सिद्धम् ॥१०॥ निर्वपणादीनामर्थाऽनुसारेण व्यवस्थितविषयताधिकरणम् ॥४॥

[स्फ्यादीनां संयोगानुसरेण व्यवस्थितत्वाधिकरणम् ॥५॥]

स्तो दर्शपूर्णमासौ । तत्र समामनन्ति—स्फ्यश्च कपालानि च अग्निहोत्रहवणी च शूर्पं च कृष्णाजिनं च शम्या च उलूखलञ्च मुसलञ्च दृषच्चोपला च एतानि वै दश यज्ञायुधानि[1] इति । तत्र सन्दिह्यते—किं यो य इह शक्यते एभिः कर्त्तुं तस्मै तस्मै पदार्थायैतानि समाम्नातानि, उत यद्येन संयुक्तं तस्मा एवेति । किं तावत् प्राप्तम् ? यद्येन शक्यमिति । कुतः ?

की अपेक्षा न रखते हुए कर्त्तव्य होता, इससे आज्य और सान्नाय्य में भी किये जाते हुए [अवहननादि] की अदृष्ट की कल्पना होती । इसलिये प्रथनादि सर्वत्र नहीं होते हैं । इसी प्रकार उत्पवन आदि और शाखाहरण आदि भी सर्वत्र नहीं होते हैं । इसलिये सभी [प्रथन आदि कर्म] सर्वत्र [औषध आज्य और सान्नाय्य में नहीं करने चाहियें—प्रथन आदि क्रिया आज्य और सान्नाय्य में नहीं करनी चाहिये, वे औषध (=व्रीहि आदि) में ही कर्त्तव्य हैं; उत्पवनादि आज्य के कर्त्तव्य हैं, औषध और सान्नाय्य के नहीं हैं; शाखाहरण आदि सान्नाय्य के कर्त्तव्य हैं, आज्य और औषध के कर्त्तव्य नहीं हैं । यह सिद्ध होता है ।

विवरण—अर्थापत्तिरपि—मी० १।१।५ के भाष्य (पृष्ठ ३०) में अर्थापत्ति के दो भेद श्रुतार्थापत्ति और दृष्टार्थापत्ति दर्शाये हैं दृष्टार्थापत्ति का क्षेत्र लोकमात्र है । श्रुतार्थापत्ति लोक और वेद दोनों में देखी जाती है । इसी दृष्टि से यहां भाष्यकार ने 'अर्थापत्ति भी नियमतः वहीं होगी, जहां शब्द से विधान होवे' लिखा है ।

व्याख्या—दर्शपूर्णमास याग हैं । उनमें पढ़ते हैं=स्फ्यश्च कपालानि च, अग्निहोत्रहवणी च शूर्पं च, कृष्णाजिनं च शम्या च, उलूखलं च, दृषच्चोपला च । एतानि वै दश यज्ञायुधानि (=स्फ्य, कपाल, अग्निहोत्रहवणी, शूर्प, कृष्णाजिन=कालेमृग का चर्म, शम्या उलूखल मूसल दृषद् और उपल । ये निश्चय से यज्ञ के दश आयुध हैं) । इनके विषय में सन्देह होता है—जो कोई कर्म यहां यज्ञ में जिससे किया जा सकता है उस उस के लिये ये पात्र पठित हैं अथवा जो पात्र जिस कर्म के साथ [उत्पत्ति वाक्य में] सम्बद्ध है, उसी के लिये हैं । तो क्या प्राप्त होता है ? जो कर्म जिससे किया जाये [वह उस से करे] । किस हेतु से ? इस प्रकार से विधियां [यथावत्] उपपन्न होंगी और [स्फ्यादि पात्र] अर्थवान्

---

१. तै० सं० १।६।८ ॥

एवं विधयो भविष्यन्ति तथार्थवन्तः। इतरथा ते अनुवादा निष्प्रयोजनाः। प्रकरणाविशेषश्च सर्वपदार्थान् प्रति। यज्ञायुधानीति च यज्ञसंयोगोऽविशिष्टः। तस्मात् सर्वं सर्वत्र इत्येवं प्राप्तम्॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः—

द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात् तदर्थमेव चोद्येत॥११॥

द्रव्यञ्चोत्पत्तिसंयोगात् तदर्थमेव चोद्येत। यो येन पदार्थेन सहोत्पत्तिवाक्येन

होंगे। अन्यथा वे [स्फ्यादि] अनुवाद होते हुए निष्प्रयोजन होंगे। प्रकरण की सामान्यतासब पदार्थों के प्रति है। और यज्ञायुधानि यह यज्ञसंयोग [सब के साथ] अविशिष्ट (=सामान्य) है। इसलिये सभी [स्फ्यादि] सर्वत्र (=सब कार्यों में (प्रयुक्त होवें), ऐसा प्राप्त होता है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—पूर्व अधिकरण में भी श्रूयमाण द्रव्यों का सभी कर्मों के साथ सम्बन्ध है अथवा उत्पत्ति वाक्य में जिस कर्म के साथ जो द्रव्य सुना जाता है, उसी के साथ उस कर्म का संबन्ध है। यह विचार किया है। इस अधिकरण में भी द्रव्य और कर्म के परस्पर सम्बन्ध का विचार किया है। इसलिये दोनों में भेद जानना आवश्यक है। प्रथम अधिकरण व्रीहीन् अवहन्ति इत्यादि उत्पत्ति वाक्यों में ही द्रव्य का निर्देश है। अर्थात् एक ही वार निर्देश है। इसके साथ ही अदृष्ट और दृष्ट उभय प्रयोजनों की सम्भावना कही है। प्रकृत अधिकरण एक से अधिक वार द्रव्यों (=पात्रों) का निर्देश है। स्फ्येनोद्धन्ति, कपालेषु पुरोडाशान् श्रपयति वाक्यों में पृथक् पृथक् रूप से स्फ्यादि का निर्देश है और स्फ्यश्च कपालानि च में पुनः निर्देश किया है और इन्हें सामान्यरूप से यज्ञायुध कहा है। साथ ही यहां अदृष्ट के अभाव होने से और दृष्ट प्रयोजन की समानता होने से पूर्व विचार से भिन्नता है। स्फ्यश्च कपालानि च—यहां द्वन्द्व का निर्देश द्वे द्वे सम्भरति (तै० सं० १।८।६)=दो दो पात्रों को वेदि में रखता है, विधि की उत्पत्ति के लिये है (काशिका ८।१।१५ में उद्धृत द्वन्द्वं न्यञ्चि पात्राणि प्रयुनक्ति धीरः वचन भी दृष्टव्य है)। एतानि वै दश यज्ञायुधानि—स्फ्य आदि को यज्ञों का आयुध=साधन कहा है। अथर्ववेद १०।४।१ के स्रुचो यज्ञायुधानि वचन में स्रुचों को यज्ञायुध कहा है। यज्ञ कर्म की संग्राम से तुलना शतपथ १।५।३।६ के की—संग्रामो वा एष सन्निधीयते यः प्रयाजैर्यजते वचन में भी की है। इतरथा ते अनुवादाः—इसका तात्पर्य है कि स्फ्येनोद्धन्ति आदि में स्फ्य आदि का निर्देश होने पर स्फ्यश्च कपालानि च वाक्य में स्फ्य आदि का अनुवादमात्र होगा और अनुवाद होने से स्फ्य आदि का निर्देश निष्प्रयोजन होगा।

द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात् तदर्थमेव चोद्येत॥११॥

सूत्रार्थः—(द्रव्यम्) द्रव्य=स्फ्य कपाल आदि (उत्पत्तिसंयोगात्) उत्पत्ति विधायक स्फ्येनोद्धन्ति कपालेषु पुरोडाशं श्रपयति आदि वाक्यों में उद्धनन श्रपण क्रियाओं के संयोग से (तदर्थम्) उसी उद्धनन श्रपण आदि अर्थ=प्रयोजन के लिये (एव) ही (चोद्येत) कहे जायेंगे। अर्थात् जिस द्रव्य के साथ उत्पत्ति वाक्य में जो क्रिया श्रुत है उसी के लिये होंगे।

व्याख्या—द्रव्य भी उत्पत्ति वाक्य से कर्म के साथ संयुक्त होने से उसी के लिये कहा

संयुक्तः, स पदार्थः तेनैव कर्त्तव्यः। यथा स्फ्येनोद्धन्ति[1] इत्युद्धननार्थता स्फ्यस्य वाक्येन। तदुद्धननं न स्फ्यादन्येन कर्त्तव्यम्। यदा चैवं, तदा प्राप्त एव स्फ्यः। तस्यायमनुवादो भवितुमर्हति—एतानि वै दश यज्ञायुधानि इति। एवमेकैकस्यानुवादः, तेन तेन वचनेन प्राप्तस्य। यथा—कपालेषु श्रपयति[2], अग्निहोत्रहवण्या हवींषि निर्वपति[3], शूर्पेण विविनक्ति[4], कृष्णाजिनमधस्तादुलूखलस्यावस्तृणाति[5], शम्यायां दृषदमुपदधाति[6], उलूखलमुसलाभ्यामवहन्ति[7],

---

जावे। जो जिस पदार्थ के साथ उत्पत्ति-वाक्य में संयुक्त है, वह पदार्थ उसी से करना चाहिये। जैसे स्फ्येनोद्धन्ति (=स्फ्य से वेदि को खोदता है) से उद्धनन-प्रयोजनता स्फ्य की वाक्य से जानी जाती है। इसलिये वह उद्धननकार्य स्फ्य से अन्य [द्रव्य] से नहीं करना चाहिये। जब ऐसा है, तब स्फ्य प्राप्त ही है। उसका यह अनुवाद हो सकता है—एतानि वै दश यज्ञायुधानि (=ये दश यज्ञ के आयुध=साधन हैं)। इस प्रकार उस-उस [उत्पत्तिवाक्य] से प्राप्त एक-एक का अनुवाद है। जैसे—कपालेषु श्रपयति (=कपालों में पुरोडाश को पकाता है), अग्निहोत्रहवण्या हवींषि निर्वपति (=अग्निहोत्रहवणी से हवियों का निर्वाप करता है), शूर्पेण विविनक्ति (=शूर्प से तण्डुलों को सूक्ष्म कणों से अलग करता है), कृष्णाजिनमधस्तादुलूखलस्यावस्तृणाति (=काले मृग के चर्म को ऊखल के नीचे बिछाता है), शम्यायां दृषदमुपदधाति (=शम्या पर दृषद्=शिला को रखता है), उलूखलमुसलाभ्यामवहन्ति (=ऊखलमूसल से व्रीहि को

---

१. दर्शपूर्णमासे नोपलब्धं वचनम्। द्र०—वेद्युद्धननप्रकारः कात्या० श्रौत……निदधाति ……तृणेऽन्तर्हिते प्रहरति (स्फ्येनेत्यनुवर्तनात्)। स्फ्येन वेदिमुपहन्ति (तै सं० ६।६।४) इति सोमयागे श्रूयते।

२. द्र० —उत्तानेषु कपालेष्वधि श्रयति। तै० सं० २।३।६।। आग्नेयं पुरोडाशमष्टाकपालेष्वधिश्रयति। आप० श्रौत १।२४।६।।

३. आप० श्रौत १।१७।६।।

४. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—वायुर्वै इति विविनक्ति। कात्या० श्रौत २।४।२०।।'हे तण्डुलाः! वायुशूर्पचालनेनोत्थः वो युष्मान् विविनक्तु सूक्ष्मकणेभ्यः पृथक् करोतु'। इति महीधरभाष्यम्, मा० सं० १।१६।।

५. द्र०—[कृष्णाजिनं] प्रत्यग्रीवमस्तृणाति, अदित्यास्त्वग् इति। सव्याशून्ये निदधात्युलूखलम्……। कात्या० श्रौत २।४।३-४।। अत्र आप० श्रौत १।१९।४-५ सूत्रे अपि द्रष्टव्ये।

६. काशीमुद्रिते 'शम्यां दृषदुपदधाति' इत्यपपाठः। अनुपलब्धमूलं वचनम्। द्र०—कुम्बां शम्यां निधाय धिषणासि पर्वत्येति शम्यायां दृषदुपलामत्यादधाति। आप० श्रौत १।११।३।।

७. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—आप० श्रौत १।१९।५,६,७।।

दृषदुपलाभ्यां पिनष्टि[1] इति । प्रकरणात् सर्वाणि सर्वत्र प्राप्नुयुः, वचनात्तु यथावचनम् । यज्ञायुधशब्दोऽपि सामान्येन प्रयोजनं विदधत् अर्थेन तद् विदध्यात् । स विशेषेण बाध्येतैव[2] । परोक्षं हि सामान्यवचनेन विशेषविधानं भवति। प्रत्यक्षन्तु विशेषवचनेन विशेषविधानम् । तस्माद् यद् येनोत्पत्त्या संयुक्तं, तत् तत्रैव विनियुज्यते इति सिद्धम् ॥११॥ इति स्फ्यादीनां संयोगानुसारेण व्यवस्थितत्वाऽधिकरणम् ॥५॥

[अरुणादीनां गुणानामसंकीर्णताऽधिकरणम् ॥६॥]

ज्योतिष्टोमे क्रयं प्रकृत्य श्रूयते—अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति[3] इति । तत्र सन्देहः—किम् अरुणिमा कृत्स्नप्रकरणे निविशेत, उत क्रय एवैकहायन्यामिति ? कथं

कूटता है), दृषदुपलाभ्यां पिनष्टि (=शिला और लोढी से तण्डुलों=चावलों को पीसता है) । प्रकरण [के समान होने] से सब द्रव्य सब कर्मों में प्राप्त होवें । [स्फ्येनोद्धन्ति आदि] वचनसामर्थ्य से यथावचन (=जैसे वचन में कर्म कहा है) होवे । यज्ञायुध शब्द भी सामान्य रूप से [स्फ्य आदि द्रव्यों के] प्रयोजन का विधान करता हुआ उसे (=सब द्रव्यों को सर्वत्र) विधान करेगा । सामान्य वचन से विशेष अर्थ को कहना परोक्ष होता है । विशेष वचन से विशेष अर्थ को कहना प्रत्यक्ष है । इसलिये जो कर्म जिस द्रव्य के साथ उत्पत्ति वाक्य से संयुक्त है, वह द्रव्य उसी कर्म में ही विनियुक्त होवे, यह सिद्ध होता है ॥११॥

विवरण—इस सूत्र के भाष्य में स्फ्येनोद्धन्ति, कपालेषु श्रपयति आदि वाक्य उद्धृत हैं । वे उसी रूप में हमें किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हुए । इन अभिप्रायों को कहनेवाले वचनों का भाष्य की टिप्पणी में यथास्थान निर्देश कर दिया है । हमारा विचार है कि ये वचन भाष्यकार द्वारा अर्थतः अनूदित हैं ॥११॥

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में [सोम के] क्रय का आरम्भ करके सुना जाता है—अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति (=अरुण= लाल पीत मिश्रितवाली, पीले आंखोंवाली, और एक वर्ष की वयः=अवस्थावाली गौ से सोम को खरीदता हैं) । इस में संदेह होता है—क्या अरुणिमा (=लालपीतमिश्रित वर्णत्व) कृत्स्न क्रय-प्रकरण में निविष्ट (=संबद्ध) होती है ?

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—कात्या० श्रौत २।५।३-६॥

२. काशीसंस्करणे 'प्रयोजनं विदधत् तद् बाध्येतैव' इत्यपपाठः ।

३. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—एकाहन्या क्रीणाति……अरुणया पिङ्गाक्ष्या क्रीणाति । तै० सं० ६।१।६॥

पुनररुणया क्रीणातीत्येवं विस्पष्टे क्रयसम्बन्धे गम्यमाने संशय इति ? उच्यते—इह हि गुणम् अरुणिमानममूर्त्तं सन्तं क्रियायाः करणम्, इति शब्द उपदिशति। यत् करणाभिधायिन्या तृतीयाविभक्त्या संयुज्य निर्दिशति—अरुणयेति। न चामूर्त्तोऽर्थः क्रियायाः साधनं भवितुमर्हति। अतोऽसम्बन्धं क्रीणातिनाऽरुणगुणस्यावगच्छामः। न च अशकनीयमर्थं प्रमाणभूतः शब्दोऽभिधास्यति, इत्येवं प्रकल्पना कदाचिदुपपद्येताऽपि। केनचित् प्रकारेण सम्बन्ध इति—वचनप्रामाण्यप्रकारान्वेषणे बुद्धिर्भवति। तद् यदि परं विचारयन्तः क्रियासम्बन्धसामर्थ्यमवगमिष्यामः—एकवाक्यतया क्रय एवारुणिमानं निवेशयिष्यामः। अथ त्वप्रमाद्यद्भिरन्विष्यमाणो, न कथञ्चन सम्बन्ध उपपत्स्यते। ततो वाक्यभेदमभ्युपगम्य प्रकरणधर्ममेनमध्यवस्यामः। तस्मादवश्यं विचारणीयमेतदिति।

किं तावत् प्राप्तम् ? कृत्स्ने प्रकरणे निवेशः। कस्मात् ? संयोगतोऽविशेषात्, प्रकरणाविशेषाच्च। ननु प्रकरणाद् वाक्यं बलीयो भवति, इत्येकवाक्यत्वादरुणिमाक्रयेण

अथवा—क्रय में ही एकहायनी गौ में ही संबद्ध होती है ? (आक्षेप) 'अरुणया क्रीणाति' वचन से ही क्रय-सम्बन्ध के विस्पष्ट गम्यमान होने पर कैसे संशय होता है ? (समाधान) यहां अरुणिमा गुण अमूर्त होते हुए क्रिया (=क्रीणाति) का करण है, ऐसा शब्द (=अरुणया क्रीणाति) उपदेश करता है। यतः करण को कहनेवाली तृतीया विभक्ति से संयुक्त होके अरुणया ऐसा निर्देश करता है। अमूर्त अर्थ क्रिया का साधन (=करण) नहीं हो सकता है। इसलिये 'क्रीणाति' क्रिया के साथ अरुण गुण का संबन्ध नहीं है, ऐसा जानते हैं। और अशक्त (=असंभव) अर्थ को प्रमाणभूत शब्द कहेगा, ऐसी कल्पना कभी उपपन्न ही नहीं हो सकती है। किसी प्रकार से [अरुण गुण का] सम्बन्ध होवे, इससे वचन के प्रामाण्य के प्रकार के अन्वेषण में बुद्धि उत्पन्न होती है। इस कारण यदि पूर्ण विचार करते हुए क्रिया के साथ सम्बन्ध के सामर्थ्य को जान लेंगे, तो एकवाक्यता से अरुणिमा को क्रय में ही सम्बन्ध कर देंगे। और यदि हमारे द्वारा प्रमाद न करते हुए (=प्रयत्नपूर्वक) अन्वेषण किया जाता हुआ, किसी प्रकार से [क्रिया के साथ] संबन्ध उपपन्न नहीं होगा, तो वाक्यभेद को स्वीकार करके इसको प्रकरण का धर्म निश्चय करेंगे, अर्थात् मानेंगे। इसलिये यह अवश्य विचारणीय है।

विवरण—अरुणया—अरुणा का अर्थ लाल और पीला मिश्रित वर्ण दोनों होता है। भट्ट भास्कर ने तै० सं० ६।१।६ के अरुणया पिङ्गाक्ष्या का अर्थ करते हुए लिखा है—अरुणा=सान्ध्यवर्णा=सन्धिकाल के लालपीले रङ्गवाली। पिङ्गाक्षी=पीली आंखोंवाली। एकहायन्या—हायन शब्द संवत्सर का वाचक है। एकहायनी=एक वर्ष की।

व्याख्या—तो क्या प्राप्त होता है ? कृत्स्न क्रय-प्रकरण में [अरुणिमा का] निवेश है [अर्थात् जो-जो भी सोमक्रय के साधन कहे हैं, वे सब अरुण वर्ण के होने चाहियें]। किस कारण से ? संयोग के समान होने से, और प्रकरण के समान होने से। (आक्षेप) प्रकरण से वाक्य बलवान् होता है, इसलिये [अरुणया क्रीणाति के] एकवाक्य होने से अरुणिमा का क्रय के साथ ही

सम्भन्त्स्यते इति। नैतदेवमवगम्यते । न हि वचनशतेनाप्यनारभ्योऽर्थः शक्यो विधातुम्। यो हि ब्रूयाद्—'उदकेन दग्धव्यमग्निना क्लेपयिव्यमिति',किं स वचनप्रयोजनसामञ्जस्यमश्नुवीत ? न चामूर्त्तोऽर्थः क्रियायाः साधनमुपपद्यते । तस्मादरुणया क्रीणातीति सम्बन्धाभावादेकवाक्यता न भवतीति ।

ननु नैवायं गुणवचनः। किं तर्हि ?द्रव्यवचनः। कुतः? स्त्रीलिङ्गसम्बन्धात् । द्रव्यविशेषा ह्येते स्त्री पुमान् नपुंसकमिति। स्त्रियां यत् प्रातिपदिकं वर्त्तते, तस्मात् स्त्रीप्रत्ययो भवतीति । स्त्रीप्रत्ययञ्चारुणयेत्युपलभामहे । तस्माद् द्रव्यवचनोऽरुणशब्द इति । तदेतदपेशलम् । तदेव हि द्रव्यमरुणिम्ना परिच्छिद्यमानमरुणाशब्दाभिधानीयतां लभते । तदेवान्यगुणकं नारुणशब्दः शक्नोत्यभिवदितुम् । अरुणिमानमेष शब्दो न व्यभिचरति । व्यभिचरति पुनर्द्रव्यम्। अव्यभिचारि च कारणं कारणवतामिष्टम् । अतोऽस्य गुणः स्वार्थः इति गम्यते । तदस्य प्रत्यक्षतो गुणवचनता गम्यते । स्त्रीप्रत्ययदर्शनात्तु नूनम् अरुणाप्रातिपदिकं द्रव्यवचनमित्यनुमानम् । प्रत्यक्षञ्चानुमानाद् बलीयः। तस्माद् गुणवचनः। कथं तर्हि स्त्रीप्रत्ययसम्बन्धः ? भवति हि गुणवचनस्यापि स्त्रीलिङ्गता। यथा करुणा

सम्बन्ध होगा ? (समाधान) ऐसा नहीं जाना जाता है। सैकड़ों वचनों से भी कहा गया अनारभ्य [=अनुष्ठान के अयोग्य] अर्थ नहीं विधान किया जा सकता है। जो यह कहे कि 'उदक से जलाना चाहिये' 'अग्नि से गीला करना चाहिये', तो क्या वह वचन के प्रयोजन (=अर्थबोधन) के सामञ्जस्य (=स्वारस्य) को प्राप्त होगा ? अमूर्त अर्थ क्रिया का साधन नहीं बन सकता है। इस लिये अरुणया क्रीणाति ऐसे सम्बन्ध के अभाव से एकवाक्यता नहीं होती है।

(आक्षेप) यह [अरुणया शब्द] गुण को कहनेवाला नहीं है। तो क्या है ? द्रव्य को कहनेवाला है। किस हेतु से ? स्त्रीलिङ्ग का सम्बन्ध होने से। स्त्री पुमान् नपुंसक ये द्रव्यविशेष होते हैं। स्त्रीलिङ्ग में जो प्रातिपदिक वर्तमान होता है, उससे स्त्रीप्रत्यय होता है। इस नियम से अरुणया में स्त्रीप्रत्यय को उपलब्ध करते हैं। इसलिये अरुण शब्द द्रव्य वचन है। (समाधान) यह कथन पेशल (=मनोहारी=युक्त) नहीं है। वही द्रव्य अरुणिमा गुण से परिच्छिद्यमान (=विभक्त= पृथक् किया हुआ) अरुणा शब्द की वाच्यता को प्राप्त होता है। उसी अन्य गुणवाले द्रव्य को अरुण शब्द कहने में समर्थ नहीं है। परन्तु [अरुण शब्द] अरुणिमा को व्यभिचरित नहीं करता [अर्थात् अरुणिमा अर्थ को नहीं छोड़ता है]। द्रव्य को छोड़ देता है। कारणवालों में अव्यभिचारी ही कारण इष्ट होता है। इससे इसका स्वार्थ गुण है, ऐसा जाना जाता है। इस प्रकार इस [अरुण शब्द] की गुणवचनता प्रत्यक्ष जानी जाती है। स्त्रीप्रत्यय के दर्शन से तो अरुणा का प्रातिपदिक [अरुण] द्रव्यवचन है, यह अनुमान होता है। प्रत्यक्ष अनुमान से बलवान् होता है। इसलिये [अरुण शब्द] गुणवचन है। (आक्षेप) तो कैसे स्त्रीप्रत्यय का संबन्ध होता है ? (समाधान) गुणवचन की भी स्त्रीलिङ्गता होती है (=देखी जाती है)। जैसे करुणा बुद्धिः [यहां करुणा शब्द गुणवचन होते हुए भी स्त्रीलिङ्ग से संबद्ध है]। इसी प्रकार

बुद्धिः, एवमरुणा इति। गुणवचनश्चेत्, क्रीणातिना न सम्बद्धयते। तस्माद् वाक्यभेदं कृत्वा प्रकरणे सर्वस्मिन्नेव सन्निवेश इति।

अथ यदि क्रीणातिना न सम्बद्धयते,तस्मिन्नेव वाक्ये एकहायनीशब्देन संभन्त्स्यते। न भविष्यति वाक्यभेद इति। तन्न। केवलं हि गुणमरुणाशब्दोऽभिदधाति, न द्रव्यगुणौ। केवलञ्च द्रव्यमेकहायनीशब्दः[1],न गुणसहितमिति। तयोः सम्बन्धस्य वाचिकां षष्ठीमन्तरेण कथं सम्बन्धो गम्यते[2]? आह—अन्तरेणापि षष्ठीम् एकविभक्तिनिर्देशात् सामानाधिकरण्यमवगमिष्यामः। यथा—नीलमुत्पलमिति। तदनुपपन्नम्[3]। रूपादरुणाशब्दस्य गुणवचनता। कल्पनीयन्त्वेकविभक्तिसंयोगादेकहायनीशब्दसन्निधानाच्च तदेकवाक्यतामभ्युप-

---

अरुणा को जानना चाहिये। और यदि [अरुणा शब्द] गुणवचन है, तो 'क्रीणाति' के साथ सबद्ध नहीं होता है। इसलिये वाक्यभेद करके सम्पूर्ण प्रकरण में ही [अरुणा का] संनिवेश होता है।

विवरण—स्त्रियां यत् प्रातिपदिकं वर्तते—द्र० महाभाष्य ४।१।३—"नैवं विज्ञायते स्त्रियामभिधेयायामिति, नापि स्त्रीसमानाधिकरणादिति। कथं तर्हि? स्त्रियां यत्प्रातिपदिकं वर्तते, तस्माट्टाबादयो भवन्ति। कस्मिन्नर्थे? स्वार्थे।" भवति गुणवचनस्यापि स्त्रीलिङ्गता—वैयाकरण गुणवचन शब्दों से मतुप् प्रत्यय करके उसके लुक् का विधान करते हैं। इस प्रकार उनके मत में लिङ्गवचन की सिद्धि होती है। (द्र०—महाभाष्य ५।२।९४—गुणवचनेभ्यो मतुपो लुक्, तथा च लिङ्गवचन-सिद्धिः वार्तिक और इनका भाष्य)।

व्याख्या—(आक्षेप) और यदि 'क्रीणाति' के साथ सम्बद्ध नहीं होता है, तो उसी वाक्य में 'एकहायनी' शब्द के साथ सम्बद्ध हो जायेगा। इससे वाक्यभेद नहीं होगा। (समाधान) यह ठीक नहीं है। अरुणा शब्द केवल गुण को ही कहता है, द्रव्य और गुण को नहीं कहता। और एकहायनी शब्द केवल द्रव्य को कहता है, गुणसहित द्रव्य को नहीं कहता। अतः उन दोनों (= अरुण गुण और एकहायनी द्रव्य) के सम्बन्ध की वाचक षष्ठी के विना कैसे संबद्ध जाना जायगा? (आक्षेप) इस विषय में कहते हैं—षष्ठी विभक्ति के विना भी [अरुणा और एकहायनी में] एक विभक्ति (=समान विभक्ति) के निर्देश से [दोनों का] सामानाधिकरण्य जान लेंगे। जैसे—नीलमुत्पलम् (=नील कमल) [में नील गुण और उत्पल द्रव्य का सामानाधिकरण्य से विना षष्ठी के भी सम्बन्ध जाना जाता है]। (समाधान) यह उपपन्न नहीं होता है। अरुणा शब्द के रूप (=शब्दसामर्थ्य) से गुणवचनता जानी जाती है। एक विभक्ति (=समान विभक्ति के) संयोग से और एकहायनी शब्द की समीपता से उनकी एकवाक्यता स्वीकार करके एकहायनी शब्द

---

१. 'अभिदधाति' इति शेषः। २. 'गम्येत' इति युक्तः पाठः स्यात्।
३. काशी-संस्करणे 'तदुपपन्नम्' इत्यपपाठः।

गम्य एकहायनीशब्दसामानाधिकरण्यम् । न च लिङ्गाद्वाक्यं बलीयः । तस्मादसदेतत् ।

तत्रोच्यते यदा केवलगुणवचनतायां शब्दः प्रवर्त्तमानो नान्येन सम्बन्धं लभते, तदाऽनुपदेशकत्वाद्[1] आनर्थक्यं मा भूदिति, द्रव्यपरतामापद्यते । तस्यामवस्थायामेक-विभक्तियुक्तेन एकहायनीशब्देन सन्निहितेनैकवाक्यतामापद्यमानः समानाधिकरणो भवति । तथा च कृत्वा 'नीलमुत्पलम्' इत्युपपद्यते । स चायमरुणाशब्दस्तस्यामवस्थायां वर्त्तते । न हि अस्य स्वार्थमभिदधत इतो विच्छिन्नस्य प्रकरणेऽप्यर्थवत्ता । कुतः ? येनैव हेतुना क्रीणातिना न सम्बद्ध्यते—'नामूर्त्तोऽर्थः क्रियायाः साधनं भवतीति' । न च क्रिया-साधनैर्द्रव्यैः—'न हि केवल गुणवचनः शक्नोति द्रव्यमभिधातुमिति' । स एव हेतुः प्रकरण-सम्बन्धाभावेऽपि । तत्रापि सम्बध्यमानः क्रियाभिर्वा सम्बद्ध्येत, तत्साधनैर्वा द्रव्यैः ।

के साथ सामानाधिकरण्य कल्पनीय (=कल्पना योग्य) होता है । लिङ्ग (=शब्दसामर्थ्य) से वाक्य बलवान् नहीं होता है । इसलिये यह (=उक्त समाधान) असत् (=अयुक्त) है ।

विवरण—न च लिङ्गाद् वाक्यं बलीयः—यह विचार आगे मी० ३।३।१४ श्रुति-लिङ्ग-वाक्य......पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् सूत्र में किया है । लिङ्ग का अभिप्राय ३।३।१४ के भाष्य में इस प्रकार दर्शाया है—"कथं खलु उपकरिष्यतीति? सन्दिह्यमाने भवति सामर्थ्यात् परिनिश्चयः-यत्रायं समर्थः तत्र शक्यो विनियोक्तुम्" (=यह कैसे उपकारक होगा? ऐसा सन्देह होने पर शब्द के सामर्थ्य से निश्चय होता है—जहां यह शब्द समर्थ है, वहां विनियोग किया है)। इस से लिङ्ग का अर्थ 'शब्दसामर्थ्य है' ।

व्याख्या—(आक्षेप) इस विषय में कहते हैं—जब केवल गुण को कहने में प्रवृत्त हुआ शब्द अन्य के साथ सम्बन्ध को प्राप्त नहीं करता, तब किसी अर्थ का कथन करनेवाला न होने से अनर्थकता न होवे, इस कारण वह द्रव्यपरता (=द्रव्यवाचकता) को प्राप्त होता है । उस अवस्था में (=द्रव्यपरक होने पर) समानविभक्ति से युक्त समीपस्थ एकहायनी शब्द के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होकर समानाधिकरण होता है । इसी प्रकार 'नीलमुत्पलम्' यह प्रयोग उपपन्न होता है । और यह अरुणा शब्द उसी अवस्था में है । इसका स्वार्थ (=गुण) को कहते हुए इस वाक्य से विच्छिन्न हुए का प्रकरण में भी अर्थवत्ता नहीं है । किस हेतु से? जिस हेतु से [यह अरुणा शब्द] 'क्रीणाति' के साथ सम्बद्ध नहीं होता—'अमूर्त अर्थ क्रिया का साधन नहीं होता है'। और क्रिया के साधन द्रव्यों से भी सम्बद्ध नहीं होता है—'केवल गुणवचन द्रव्य को नहीं कह सकता है' । वही हेतु प्रकरण के सम्बन्ध के अभाव में भी जानना चाहिये । वहां (=प्रकरण में) भी सम्बद्ध होता हुआ क्रिया के साथ सम्बद्ध होगा, अथवा क्रिया के साधन द्रव्यों के साथ । और ये दोनों (=क्रिया के

---

१. कस्यचिदर्थस्यानुपदेशकत्वादिति भावः ।

तच्चोभयमप्यनुपपन्नम् । अतोऽनर्थकत्वपरिजिहीर्षया सन्निहितेनैकहायनीशब्देनारुणा-शब्दः सम्बद्ध्यते । नास्ति वाक्यभेदः । नैतदेवम् । न ह्ययमरुणाशब्द एकहायनीविशेषणं भवितुमर्हति । किं कारणम्? करणविभक्त्या तृतीयया समुच्चरितोऽयम् । तेनैतेन तृतीया-श्रुतिसामर्थ्यात् क्रियाविशेषणेन भवितव्यम् । कारकाणां हि क्रियया सम्बन्धो, न द्रव्य-णेति । स एष श्रुतिसामर्थ्यात् क्रियाविशेषणम्, 'वाक्यादेकहायनीविशेषणम् । श्रुतिश्च वाक्याद् बलीयसी । तस्मान्नास्यैकहायनीसम्बन्ध इति ।

ननु च गुणस्य क्रियासम्बन्धाभावादविवक्षिता कारकशक्तिरिति[2], एकहायनी-सम्बन्धोऽयमध्यवसितः । एवमपि नोपपद्यते । यदि कारकाभिधानमविवक्षितमिति, गुण-शब्देनैतेन द्रव्यमभिधातुमिष्यते, तदा प्रातिपदिकार्थस्याव्यतिरेक इति, प्रथमा विभ-क्तिः प्राप्नोति । न हि तृतीयान्तस्तमभिसम्बन्धं शक्नोति वक्तुम् । न चान्यथानुपपत्ति-रित्यन्योऽस्यानुपपद्यमानोऽर्थं शक्यते कल्पयितुम् । यथा अग्नौ तिष्ठति माणवकः इत्युक्ते ज्वलनेऽनुपपद्यमानो न अश्वे गवि वा कल्प्यते । अग्निसमीपवचन एवाध्यवसीयते । तद्व-

---

साथ सम्बन्ध और क्रिया-साधन के साथ सम्बन्ध) ही उपपन्न नहीं होते हैं । इसलिये अनर्थकत्व को हटाने की इच्छा से समीपस्थ एकहायनी शब्द के साथ अरुणा शब्द सम्बन्ध होता हैं । इस प्रकार वाक्यभेद नहीं होता है । (समाधान) ऐसा नहीं है ।यह अरुणा शब्द एकहायनी का विशे-षण नहीं हो सकता हैं । क्या कारण है ? करण की विभक्ति तृतीया के साथ यह (=अरुणा शब्द) उच्चरित हैं । इसलिये इस तृतीयाविभक्ति के श्रुतिसामर्थ्य से यह क्रियाविशेषण होना चाहिये । कारकों का क्रिया के साथ ही संबन्ध होता है,द्रव्य के साथ नहीं होता है। इसलिये यह(= अरुणा शब्द) श्रुतिसामर्थ्य हेतु होने से क्रियाविशेषण है, और वाक्य से एकहायनी का विशेषण होता है । श्रुति वाक्य से बलवान् होती है । इसलिये इस [अरुणा शब्द] का एकहायनी के साथ सम्बन्ध नहीं है ।

(आक्षेप) गुण का क्रिया के साथ संबन्ध न होने से कारकशक्ति अविवक्षित है, इसलिये यह एकहायनी सम्बन्ध स्वीकार किया है ।(समाधान) इस प्रकार भी उपपन्न नहीं होता है । यदि कारक को कहनारूप शक्ति अविवक्षित है, इसलिये इस [अरुणा] गुण शब्द से द्रव्य का कथन करना चाहते हो, तब प्रातिपदिक के अर्थ से भिन्न अर्थ नहीं होता हैं, इससे [अरुणया] में प्रथमा विभक्ति प्राप्त होती है । तृतीयान्त [अरुणया शब्द] उस (=प्रातिपदिकार्थ) सम्बन्ध को नहीं कह सकता । और किसी प्रकार से उपपत्ति नहीं होती है, इससे उपपन्न न होनेवाला अर्थ कल्पित नहीं किया जा सकता । जैसे अग्नौ तिष्ठति माणवकः ऐसा कहने पर अग्नि में ठहरना अर्थ के उपपद्यमान न होने पर 'अश्व पर' या 'गौ पर' अर्थ की कल्पना नहीं की जाती है । [अग्नि शब्द]

---

१. 'एकवाक्यत्वात्' इति पाठान्तरम् । काशीमुद्रिते 'क्रियाविशेषणमेकहायनीविशेषणम्' इत्यपपाठः ।

२. 'कारकविभक्तिरिति' इति पाठान्तरेऽपि स एवार्थः ।

दिहाप्यप्रथमान्तः शब्दो न कथञ्चिदप्यव्यतिरिक्ते प्रातिपदिकार्थे भवितुमर्हतीति। तस्मात् काममनर्थकोऽवगम्यताम्, नास्यैकहायनीसम्बन्धोऽध्यवसातव्यः।

आह—न ब्रूमः, न कारकमरुणाशब्देनाभिधीयते इति। व्यक्तमरुणगुणविशिष्टमेतेन कारकमभिधीयते। कदाचित्तु किञ्चित् विधित्सितं भवति, कदाचिदुपसर्जनीभूतोऽर्थो विधित्सितः, प्रधानीभूतोऽनुवादः। तद्यथा—दण्डीत्युपसर्जनीभूतदण्डकपुरुषप्रधानकः शब्दोऽवगम्यते। कदाचित्तु निर्ज्ञाते पुरुषे दण्डगुणविधानार्थमुच्चार्य्यते—दण्डी प्रैषानन्वाह[1] इति। यथा—लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति[2], इति। एवमिहापि यद्यनुपसर्जनभूतोऽरुणो

अग्नि की समीपता को कहनेवाला ही जाना जाता है [अर्थात् 'अग्नि के समीप बैठा है' अर्थ जाना है]। उसी प्रकार यहां भी अप्रथमान्त [अरुणा] शब्द किसी प्रकार भी अभिन्न प्रातिपदिकार्थ में नहीं हो सकता है। इसलिये चाहे उसे अनर्थक जानो, परन्तु इसका एकहायनी के साथ सम्बन्ध नहीं जाना जा सकता है।

विवरण—कारकाणां क्रियया सम्बन्धः—कारक शब्द का अर्थ है- करोतीति कारकम्, जो क्रिया की निष्पत्ति करता है=क्रिया की निष्पत्ति में साधन होता है। प्रातिपदिकार्थाऽव्यतिरेक इति प्रथमा प्राप्नोति—जब प्रातिपदिक के साथ कर्मत्व वा करणत्व अर्थ सम्बद्ध नहीं होता है, प्रातिपदिक अपने ही अर्थ को कहता है, तब प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा (अष्टा० २।३।४६) के नियम से प्रथमा विभक्ति होती है। यदि अरुणया पद में करण कारक की शक्ति अविवक्षित है, तो वह प्रातिपदिकार्थ से भिन्न को कहनेवाला नहीं होता है। उस अवस्था में प्रथमा विभक्ति होनी चाहिये।

व्याख्या—(आक्षेप) हम यह नहीं कहते हैं कि कारक अरुणा शब्द से नहीं कहा जाता है। स्पष्ट ही इस [अरुणया शब्द] से अरुणगुण विशिष्ट कारक कहा जाता है। कभी कुछ विधान करने की इच्छावाला होता है और कभी उपसर्जनीभूत (=गौण अर्थ) विधान करने की इच्छावाला होता है. प्रधानीभूत (=प्रधान) अर्थ अनुवाद होता है। जैसे—'दण्डी' शब्द गुणभूत दण्डेवाला पुरुष की प्रधानतावाला जाना जाता है। और कभी पुरुष के ज्ञात होने पर दण्डगुण-विधान के लिये उच्चारण किया जाता है—दण्डी प्रैषानन्वाह (=दण्ड धारण किया हुआ मैत्रावरुण प्रैष देता है)। [यहां मैत्रावरुण ऋत्विक् विज्ञात है, प्रैष देना कर्म भी ज्ञात है। अतः दण्डी प्रैषानन्वाह में केवल दण्ड सम्बन्धमात्र विवक्षित है।] जैसे—लोहितोष्णीषा ऋत्विजः

---

१. अनुपलब्धमूलम्। दण्डी=मैत्रावरुणनामक ऋत्विग्विशेषः। [यजमानः] क्रीते सोमे मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति। तै० सं० ६।१।४॥

२. यथाश्रुतमनुपलब्धमूलम्। द्र०—लोहितोष्णीषा लोहितवाससो निवीता ऋत्विजः प्रचरन्ति। षड्विंश ब्रा० ३।८; लोहितोष्णीषा लोहितवसना……। आप० श्रौत २२।४।२३॥

गुणः, प्रधानभूतं कारकम्। तथाप्यनूदिते कारकेऽरुणगुणविधानार्थं वचनं युज्यते। तस्माद् एकहायनीसम्बन्ध उपपद्यते। नास्ति वाक्यभेद इति।

नैतत्सारम्। अत्र हि एकहायनीक्रीणात्योरनवबुद्धं सम्बन्धं बोधयितुमयमेकहायनीशब्द उच्चरितः। स एष कथमिवारुणाशब्देन सम्बद्धयते? तदेतदभिहितमपि पुनः पुनः पर्य्यनुयुज्यते—कथं पुनरेकहायनीशब्दस्य क्रीणातिना अरुणगुणेन च समाने समभिव्याहारे क्रीणातिना सम्बन्धोऽभ्युपगमनीयः, न पुनरारुण्येनेति? शब्दप्रामाण्यात्। भवति हि क्रियासम्बन्धस्य वाचिका विभक्तिरेकहायनीशब्दमनुनिविष्टा। न तु गुण-

---

प्रचरन्ति (=लाल पगड़ी धारण किये हुए ऋत्विक् कर्म करते हैं)। [यहां भी यज्ञ के कर्त्ता ऋत्विक् और उनका कर्म करना विज्ञात है। अतः लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति में ऋत्विजों का लाल पगड़ी धारण करना अर्थ ही कथनीय है।] इसी प्रकार यहां भी यद्यपि अरुण गुण उत्सर्जनीभूत (=गौण) है, और कारक प्रधान है। तथापि कारक के अनुवाद होने पर अरुण गुण के विधान के लिये [अरुणया एकहायन्या०] वचन युक्त है। इस हेतु से [अरुणा का] एकहायनी के साथ सम्बन्ध उपपन्न होता है। वाक्यभेद नहीं है।

विवरण—दण्डी प्रैषानन्वाह—सोमयाग में यजमान की दीक्षा के प्रकरण (द्र०—तै० सं० ६।१।३) में कृष्णाजिन वस्त्र और मेखला से दीक्षा का विधान किया है। सोमक्रय के पश्चात् यजमान दण्ड को मैत्रावरुण ऋत्विक् को दे देता है—क्रीते सोमे मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति (तै० सं० ६.१.४)। यह दण्डधारण किया हुआ मैत्रावरुण अग्नीषोमीय पशुयाग में प्रेष देता है, और अनुवाक्या का पाठ करता है—मैत्रावरुणः प्रेष्यति चान्वाह च (द्र०—मी० भाष्य ३।७।४३, अधिकरण २२)। लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति—यह विधि श्येनादि अभिचार कर्म में है। द्र०—षड्विंश ब्रा० ३।८—श्येनेनाभिचरन् यजेत ऐसा कथन करके कहा है—लोहितोष्णीषा लोहितवाससो निवीता ऋत्विजः प्रचरन्ति (=लाल पगड़ी धारण किये लाल, वस्त्र पहने हुए, और निवीत हुए=यज्ञोपवीत को दांये कन्धे पर धारण और बाएं हाथ के नीचे निकाले हुए ऋत्विक कर्म करते हैं। ऐसा ही उल्लेख आप० श्रौत २२।४।२३ में मिलता है।

व्याख्या—(समाधान) यह कथन सारयुक्त नहीं है। यहां [एकहायन्या क्रीणाति में] एकहायनी और क्रीणाति के न जाने हुआ सम्बन्ध को बताने के लिये एकहायनी शब्द उच्चरित हुआ है। वही (=एकहायनी शब्द, जो क्रीणाति के साथ सम्बन्ध के बोधन के लिये उच्चरित है) किस प्रकार अरुणा शब्द के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होगा? (आक्षेप) यह [हमारे द्वारा] कही हुई बात पर भी बार-बार आक्षेप किया जाता है—क्यों एकहायनी शब्द का 'क्रीणाति' और 'अरुण' गुण के साथ समान कथन होने पर 'क्रीणाति' के साथ सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिये, आरुण्य गुण के साथ क्यों नहीं करना चाहिये? (समाधान) शब्दप्रामाण्य से। क्रिया के सम्बन्ध को कहनेवाली विभक्ति एकहायनी शब्द में अनुनिविष्ट (=वर्तमान) है। गुण के सम्बन्ध को कहनेवाली विभक्ति

सम्बन्धस्य वाचिका। का पुनः क्रियासम्बन्धस्य वाचिका, का वा गुणसम्बन्धस्येति? कारकलक्षणा। क्रियासम्बन्धे विवक्षिते भवति द्वितीयादिः। अविवक्षिते पुनः कारके सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी। न चात्र षष्ठीं पश्यामः, पश्यामस्तु खलु तृतीयाम्। अतः क्रीणातिना सम्बन्धमभ्युपगच्छाम एकहायनीशब्दस्य,नारुणाशब्देनेति। कथं तर्हि भवत्यत्र सम्बन्धः—नीलमुत्पलम् इति? उच्यते—भवति। न तु श्रुतिलक्षणः, किन्तु वाक्यलक्षणः। उत्पलशब्दसन्निधाने तदपेक्षो[1] नीलशब्दः प्रयुज्यमान[2]स्तेनैकवाक्यतामभ्युपगच्छन्न-जहत्स्वार्थवृत्ति[3]रुत्पलविशेषाभिधानपर उच्चार्य्यमाणः सम्बन्धमभ्युपैति।

नन्विहापि वाक्यलक्षणस्तद्वदेवारुणिम्ना समं सम्बन्धः, एकहायन्या युज्यते। नेति

नहीं है।(आक्षेप) क्रिया के सम्बन्ध को कहनेवाली कौनसी विभक्ति है,और कौनसी गुण के सम्बन्ध को कहनेवाली है? (समाधान) कारक जिस का लक्षण है [अर्थात् कारकत्व के कारण होनेवाली विभक्ति]। क्रिया के साथ सम्बन्ध के विवक्षित होने पर द्वितीया आदि विभक्ति होती है। और कारक की विवक्षा न होने पर सम्बन्धमात्र की विवक्षा में षष्ठी होती है। यहां (एकहायनी शब्द में) षष्ठी विभक्ति को हम उपलब्ध नहीं करते हैं, तृतीया को तो देखते हैं। इसलिये एकहायनी शब्द का क्रीणाति के साथ सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, अरुणा शब्द के साथ सम्बन्ध नहीं मानते हैं। (आक्षेप) अच्छा तो यहां [नील और उत्पल का] कैसे सम्बन्ध होता है—नीलमुत्पलम्? [क्योंकि यहां भी सम्बन्ध की वाचिका षष्ठी विभक्ति नहीं है।] (समाधान) [षष्ठी विभक्ति न होने पर भी] सम्बन्ध होता है। [वह सम्बन्ध] श्रुतिलक्षण नहीं है, किन्तु वाक्यलक्षण है। उत्पल शब्द के समीप में उसकी अपेक्षा करनेवाला [प्रयुज्यमान] नील शब्द उसके साथ एक-वाक्यता को प्राप्त करता हुआ अजहत्स्वार्थवृत्ति (=जिसने अपने अर्थ को नहीं छोड़ा है ऐसा) उत्पल विशेष को कहनेवाला उच्चार्यमाण [उत्पल के साथ] सम्बन्ध को प्राप्त होता है।

विवरण—कारकलक्षणा—कारकं लक्षणं यस्याः=कारक जिस का लक्षण है,अर्थात् कर्मादि कारकत्व के कारण जो विभक्ति होती है। अविवक्षिते कारके—द्र०—षष्ठी शेषे पाणिनीय सूत्र (अष्टा० २।३।५०)। न तु श्रुतिलक्षणः—श्रुति=शब्द के श्रवण से लक्षित होनेवाला सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि सम्बन्धविधायिका षष्ठी विभक्ति नहीं है। वाक्यलक्षणः—समभिहार लक्षण (=पदों के परस्पर मेल से लक्षित होनेवाला) सम्बन्ध है। अजहत्स्वार्थवृत्तिः—अपने अर्थ का कहना न छोड़नेवाला अर्थात् स्व=नीलगुण में वर्तमान नीलशब्द।

व्याख्या—(आक्षेप) यहां (=अरुणया एकहायन्या) में भी तो वाक्यलक्षण संबन्ध उस (=नीलोत्पलम्) के समान ही अरुणिमा के साथ एकसा है। अतः [अरुणिमा] एक-

---

१. 'तदपेक्षो' इत्यपपाठः। २. 'प्रयुज्यमानः' पदमत्र प्रमादान्नष्टम्।

३. गच्छन्नाजहत्स्वार्थवृत्ति० इत्यपपाठः।

ब्रूमः । श्रुतिर्हि वाक्याद् बलीयसी । श्रुतिश्चास्याः क्रियासम्बन्धमाह, न गुणसम्बन्धम् । यदि पुनः श्रुतिसामर्थ्यात् क्रियासम्बन्धोऽभ्युपगम्येत, एकवाक्यत्वादपि गुणसम्बन्धः । नैवं शक्यम् । यो ह्यन्येन सह सम्बन्धमुच्चार्य्यते, न तत्समीपगतोऽप्यन्यस्तेन सह सम्बन्धमर्हति[1] । यथा—भार्य्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्येति भार्य्याविशेषणार्थमुच्चार्य्यमाणो राजशब्दो न पुरुषेण सम्बध्यते।तद्वदिह क्रियाविशेषणार्थम् उच्चार्य्यमाण एकहायनीशब्दो नारुणाशब्देन सम्बन्धमर्हति ।

आह—सत्यमेवमेतत् । असत्यामाकाङ्क्षायामानन्तर्यमकारणम् । सर्वत्र तु बोधिते

हायनी के साथ सम्बद्ध होती है । (समाधान) नहीं हैं, ऐसा कहते हैं । श्रुति वाक्य से बलवती होती है । और श्रुति (=तृतीया विभक्ति) इसके क्रिया के साथ सम्बन्ध को कहती है, गुण-सम्बन्ध को नहीं कहती है । (आक्षेप) यदि पुनः श्रुतिसामर्थ्य से [अरुणा का] क्रिया के साथ संबन्ध स्वीकार भी किया जाये, तब भी एकवाक्यत्व से गुणसम्बन्ध भी स्वीकार करना होगा । (समाधान) ऐसा सम्बन्ध नहीं कर सकते । जो शब्द अन्य के साथ सम्बन्ध करने के लिये उच्चारण किया जाता है, उसके समीप में उच्चरित भी अन्य शब्द उसके साथ सम्बन्ध के योग्य नहीं होता है । यथा—भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्य, यहां भार्या के विशेषण के लिये उच्चार्यमाण राजा शब्द पुरुष के साथ संबद्ध नहीं होता है । उसी प्रकार यहां क्रियाविशेषण के लिये उच्चार्यमाण एकहायनी शब्द अरुणा शब्द के साथ सम्बन्ध के योग्य नहीं होता है ।

विवरण—समीपगतोऽन्यस्तेन सह सम्बद्धुमर्हति—पदों का परस्पर सम्बन्ध सामर्थ्य होने पर ही होता है । यदि परस्पर सम्बद्ध होने का सामर्थ्य नहीं है, तो आनन्तर्यमात्र से परस्पर सम्बद्ध नहीं होते हैं । वात्स्यायनभाष्य (न्याय १।२।९) में एक प्राचीन वचन इस प्रकार उद्धृत है—

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यपि तस्य सः ।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ।। इति ।

अर्थात्—जिसका जिसके साथ सम्बन्ध है, वह उस दूरस्थ के के साथ भी है । अर्थ से असमर्थ शब्दों का आनन्तर्य (=अव्यवहित होना) सम्बन्ध में कारण नहीं होता है ।

महाभाष्यकार ने भी १।१।५८ के भाष्य में कहा है—"अनानुपूर्व्येणापि सन्निविष्टानां यथेष्टमभि सम्बन्धो भवति" अर्थात्—आगे-पीछे प्रयुक्त शब्दों का भी यथेष्ट सम्बन्ध होता है (आगे भाष्यकार द्वारा उद्धृत प्रयोग भी दर्शनार्ह है ।

व्याख्या—(आक्षेप) यह सत्य है । आकाङ्क्षा न होने पर आनन्तर्य (=समीपता) [सम्बन्ध में] कारण नहीं होता है । सर्वत्र पदार्थ के बोध हो जाने पर वाक्यार्थ उपपन्न होता है,

---

१. द्र०—यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः । अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ।। इति न्यायभाष्ये (१।२।९) वात्स्यायनेनोद्धृतवचनम् ।

पदार्थे वाक्यार्थं उपपद्यते, नान्यथा। सामान्यवृत्ति हि पदम्, विशेषवृत्ति वाक्यम्। सामान्येनाभिप्रवृत्तानां पदार्थानां यद्विशेषेऽवस्थानं स वाक्यार्थः। तदेतदुक्तम्—तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात्[1] इति। तत्र प्रत्यक्षः[2] पदार्थः, वाक्यार्थः पुनरानुमानिकः। तदेतदवगम्यताम्—केवलस्वार्थवृत्ति पदमनुपदेशकम्। इति पदान्तरेण सन्निहितेनैकवाक्यत्वमभ्युपैति, नान्यथेति। तदिह यद्यप्येकहायनीशब्दः क्रीणातिना सम्बध्यमानः कृतार्थो न पदान्तरेण सम्बन्धमाकाङ्क्षति। अरुणाशब्दस्तु पदान्तरेण सम्बन्धमलभमानोऽनर्थकः। इत्येकहायनीशब्देनैकवाक्यतामभ्युपैति। ननूक्तम्—क्रियासम्बन्धार्थो नारुणासम्बन्धार्थ इति। आह—अरुणाशब्दस्यानर्थक्यपरिहारायोभयसम्बन्धार्थं इति वदामः। अन्यार्थमपि कृतमन्यार्थमपि शक्नोति कर्त्तुम्। तद् यथा—शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते, ताभ्यश्च पानीयं पीयते उपस्पृश्यते च[3]। एवमिहापि क्रयसम्बन्धार्थमेक-

---

अन्यथा वाक्यार्थ उपपन्न नहीं होता है। पद सामान्यवृत्ति (=सामान्य अर्थ में वर्तमान) होता है, और वाक्य विशेषवृत्ति (=विशेष अर्थ में वर्तमान) होता है। सामान्यरूप से अभिप्रवृत्त पदार्थों का जो विशेष में स्थित होना है, वह वाक्यार्थ है। यह कहा भी है—तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात् (मी० १।१।२५) [=अर्थात् स्वस्व अर्थों में वर्तमान पदों का क्रियार्थ पद के साथ समाम्नाय होता है, इस कारण क्रियावाचक पदसहित पदसमूह से वाक्यार्थ जाना जाता है, क्योंकि वाक्यार्थ पदार्थनिमित्तवाला होता है]। ऐसी अवस्था में पदार्थ प्रत्यक्ष होता है, और वाक्यार्थ आनुमानिक है (=अनुमान से जानने योग्य) होता है। इसे इस प्रकार जानें—केवल स्वार्थ में वर्तमान पद किसी अर्थ का बोधक नहीं होता है। इसलिये सन्निहित पदान्तर के साथ एकवाक्यत्व को प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं होता है। इसलिये यहां यद्यपि एकहायनी शब्द 'क्रीणाति' के साथ संबद्ध होता हुआ कृतप्रयोजन होने से पदान्तर के साथ सम्बन्ध की आकाङ्क्षा नहीं करता है। परन्तु अरुणा शब्द तो पदान्तर से सम्बन्ध को प्राप्त न करता हुआ अनर्थक होता है। इस कारण एकहायनी शब्द के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होता है। (समाधान) अभी तो कहा है—[एकहायनी शब्द] क्रिया के साथ सम्बन्ध के लिये [उच्चरित] है, अरुणा के साथ सम्बन्ध के लिये नहीं है। (आक्षेप) 'अरुणा' शब्द की अनर्थकता को हटाने के लिये दोनों के साथ सम्बन्ध के लिये [एकहायनी शब्द उच्चरित] है, ऐसा हम कहते हैं। अन्य प्रयोजन के लिये निष्पन्न पदार्थ अन्य प्रयोजन को भी सिद्ध कर सकता है—जैसे धान के लिये नालियां बनाई जाती हैं, उनसे पानी पिया जाता है, और उपस्पर्श (=स्नानादि) भी किया जाता है। इसी प्रकार यहां भी क्रय के सम्बन्ध के लिये एकहायनी शब्द उच्चारण किया हुआ अरुणा शब्द के साथ सम्बद्ध हो

---

१. मी० १।१।२५॥

२. 'प्रत्यक्षत:' इति पूनामुद्रिते पाठः। 'प्रत्यक्षादिभिः' इति काशीमुद्रिते पाठः।

३. 'अन्यार्थमपि कृतं⋯ उपस्पृश्यते च' पाठः १।१।२३ सूत्रस्थेन महाभाष्यपाठेन तुलनीयः।

हायनीशब्द उच्चार्य्यमाणोऽरुणाशब्देन सह सम्भन्त्स्यते, न किञ्चिद् दुष्यति । तस्मान्न वाक्यभेद इति। नैतदस्ति। यद्यप्ययमरुणाशब्दोऽनर्थको मा भूत्,इत्येकहायन्या सम्बद्धचेत, तथापि सर्वस्मिन् प्रकरणे निवेष्टुमर्हति । न चैनं 'सोमं क्रीणाति' इत्येष शब्दः शक्नोति विशेष्टुम् । न ह्ययं विशेषणत्वेनोच्चार्यते । किं तर्हि ? अपूर्वोऽयं विधीयते ।

नन्वपूर्वोऽपि विधीयमान एकहायनीशब्दवदितरेण सम्भन्त्स्यते । कथम् ? प्रयोजनाय ह्युच्चार्य्यमाणः शब्दो येनार्थः, तस्मै तावत् प्रयोजनायावकल्प्यते।संन्निहितश्च बुद्धौ भवति । तेन बुद्धौ सन्निहितेन शक्यते साकाङ्क्षः शब्दः सम्बन्धयितुमिति । नैतदेवम् । यो ह्यसम्बद्धचमानोऽनर्थको भवति, स सम्बद्धचते, नान्यः । कुतः एतत् ? सम्बध्यमाने हि सामान्यं विशेषे अवस्थाप्येत । तत्र वाक्येन श्रुतिः पीडिता स्यात् । न चायमसम्ब-

---

जायेगा, कुछ दूषित नहीं होता है । इसलिये वाक्यभेद नहीं है । (समाधान)ऐसा नहीं है । यद्यपि यह अरुणा शब्द अनर्थक न होवे, इसलिये एकहायनी शब्द के साथ सम्बद्ध होवे, तथापि [अरुणा शब्द प्रकरण-सामर्थ्य से] इस सारे प्रकरण में निविष्ट होने योग्य है । और इस[अरुणा शब्द को] सोमं क्रीणाति यह शब्द विशेषित नहीं कर सकता । क्योंकि यह (=सोमं क्रीणाति) विशेषण रूप से उच्चरित नहीं है [अर्थात् 'किस पीत वर्णवाले को खरीदता है सोम को' इस अर्थ का बोध कराने के लिये सोमं क्रीणाति उच्चरित नहीं हैं] । तो किसलिये है ?यह (=सोमं क्रीणाति) अपूर्व विधान है ।

विवरण—अन्यार्थमपि कृतमन्यार्थमपि—यही बात महाभाष्यकार ने कई स्थानों में कही है । यथा—अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थमपि भवति । तद्यथा शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते ताभ्यश्च पानीयं पीयते उपस्पृश्यते च शालयश्च भाव्यन्ते (द्र० —महा०१।१।२३)। महाभाष्यप्रदीपोद्योत के 'छाया' टीका के रचयिता वैद्यनाथ पायगुण्ड ने 'उपस्पृश्यते' का अर्थ आचमनादि किया है ।

व्याख्या—[सोमं क्रीणाति से सोमक्रय] अपूर्व विधीयमान होता हुआ भी जैसे एकहायनी शब्द के साथ सम्बद्ध होता है, उसी प्रकार इतर [अरुणा] के साथ भी सम्बद्ध हो जायेगा । कैसे ? प्रयोजन के लिये उच्चार्यमाण शब्द जिस से प्रयोजन होता है, उस प्रयोजन के लिये पहले समर्थ होता है । और वह [सोमक्रय] बुद्धि में सन्निहित होता है (=विद्यमान है) । उस बुद्धि में सन्निहित [सोमं क्रीणाति] के द्वारा साकाङ्क्ष शब्द सम्बद्ध किया जा सकता है । (समाधान) इस प्रकार नहीं होता हैं । जो उच्चार्यमाण शब्द अनर्थक होता है,वह सम्बद्ध होता है,अन्य नहीं होता है । यह कैसे ? संबद्ध होता हुआ सामान्य [अरुणा शब्द] विशेष (='क्रीणाति अर्थ) में अवस्थापित किया जाये । उस अवस्था में वाक्य (=अरुणया क्रीणाति) से श्रुति (=सामान्य 'अरुणा' श्रुति)पीड़ित होवे । और यह [अरुणया]'क्रीणाति' के साथ सम्बद्ध न होता हुआ अनर्थक

द्धयमानः क्रीणातिनाऽनर्थको भवति । प्रकरणगतै[1]रभिसम्भन्त्स्यते ।

नन्वेतदुक्तम्—'प्रकरणेऽप्यस्य सम्बन्धोऽनुपपन्नः' इति । नानुपपन्नः । एकस्मिन् वाक्येऽन्योऽर्थो विधीयमानो नान्येन सम्बध्यते । वचनव्यक्तिभेदात् । अन्या हि वचनव्यक्तिर्विधीयमानस्य, अन्या गुणेन सम्बद्धयमानस्य । अज्ञातवज्ज्ञाप्यते विधीयमानोऽर्थो ज्ञातवदनूद्यते गुणसम्बन्धार्थम् । न च सकृदुच्चार्य्यमाणो ज्ञातवदज्ञातवच्च भवितुमर्हति । एकहायनीशब्दः क्रये विधीयमानोऽज्ञातवत् स्यात् । अरुणाशब्देन सम्बध्यमानश्च ज्ञातवत् । वाक्यभेदे पुनर्न दोषो भवति । प्रकरणे तु वाक्यान्तरैः क्रियाद्रव्यान्तराणि च प्राप्तानि । तैरिदं वाक्यान्तरविहितं सम्बद्धयते । तत्रान्यस्मिन् विधीयते, अन्यस्मिन् वाक्येऽनूद्यते, इत्युपपन्नं भवति । तस्मात् संयोगतोऽविशेषात्, प्रकरणाविशेषाच्च सर्वस्मिन् प्रकरणे द्रव्येषु निवेश इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

नहीं होता है । [सोमयाग] प्रकरणगत पदार्थों के साथ सम्बद्ध हो जायेगा [अर्थात् सोम प्रकरणगत सब पदार्थ अरुण गुणवाले होवें, ऐसा जाना जायेगा]।

(आक्षेप) यह जो कहा है–'प्रकरण में भी इसका सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता है' । (समाधान) अनुपपन्न नहीं है । एकवाक्य में विधीयमान अन्य अर्थ अन्य के साथ सम्बद्ध नहीं होता है। वचनव्यक्ति(=वचन के स्वरूप)के भेद होने से।विधीयमान अर्थ की अन्य वचनव्यक्ति होती है और गुण के साथ सम्बद्ध होनेवाले की अन्य होती है । विधीयमान अर्थ अज्ञात के समान बोधित किया जाता है, और गुण के सम्बन्ध के लिये ज्ञात के समान अनूदित होता है । [अर्थात् क्रय के अज्ञात साधन के ज्ञापन के समय एकहायन्या सोमं क्रीणाति ऐसी वचनव्यक्ति होती है, और अरुण गुण के सम्बन्ध के लिये अनूद्यमान की 'एकहायनीमुद्दिश्य गुणो विधीयते' ऐसी वचनव्यक्ति होती है ।] एक बार उच्चरित अर्थ ज्ञात के समान और अज्ञात के समान [दोनों प्रकार का] नहीं हो सकता है । एकहायनी शब्द क्रय में विधीयमान अज्ञातवत् होना है [अर्थात् एकहायन्या सोमं क्रीणाति में सोमक्रय में अज्ञात साधन के रूप में एकहायनी सुना जाता है]। और अरुणा शब्द के साथ सम्बद्धयमान [एकहायनी शब्द] ज्ञातवत् होता है [क्योंकि किसी के साथ किसी का सम्बन्ध जोड़ने में जिसके साथ सम्बन्ध जोड़ा जाता है, वह ज्ञातवत् होता है । और जिस का सम्बन्ध जोड़ा जाता है, वह अज्ञातवत होता है=एकहायनीमुद्दिश्य अरुणासम्बन्धो विधीयते] । वाक्यभेद होने पर यह दोष नहीं होता हैं । प्रकरण में तो वाक्यान्तरों से क्रियासमर्थ द्रव्य विहित हैं । उन के साथ यह [अरुणया] वाक्यान्तरविहित [अरुणया रूप से] सम्बद्ध हो जाता है । उस अवस्था में अन्य वाक्य से विधान किया जाता है, और अन्य वाक्य से अनुवित होता हैं, अतः उपपन्न होता है । इसलिये संयोग के विशेष न होने से, और प्रकरण के विशेष न होने से सम्पूर्ण प्रकरण में [विहित] द्रव्यों में समवेत होता है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

---

१. 'प्रकरणगताभिरेकहायनीभि०' इति काशीमुद्रितेऽपपाठः । अत्र 'एकहायनीभिः' इति बहुवचनेन यद्यर्थो गृह्येत [यथा सप्तमी शौण्डैः (अष्टा० २।३।४०),तदा युक्ततामुपैति ।

अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात् ॥१२॥ (उ०)

यत्रार्थैकत्वं श्रूयते द्रव्यगुणयोः, तत्र द्रव्यगुणावेकस्मिन् पदार्थे नियम्येयाताम्। कुतः ? ऐककर्म्यादेककार्य्यत्वात्। एकं हि कार्यं द्रव्यगुणयोः श्रूयते क्रयसम्बन्धः। कथमेतदवगम्यते ? एकवाक्यत्वात्। कथमेकवाक्यत्वम् ? अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्येति अपर्यवसितोऽर्थः साकाङ्क्षत्वादभिधातृप्रतिपत्त्रोः। सोमं क्रीणातीति तु पर्यवस्यति। तयोरेवं नैरुत्सुक्यात्।

यद्येककार्य्यता, किमिति विकल्पो न भवति ? नैतदेवम्। एकार्थास्तु विकल्पेरन्[1] इति विकल्पधर्माणौ प्राप्नुतः, इत्यऽयुक्तोऽयं पर्य्यनुयोगः। कथम् ? पर्य्यनुयोगो नाम स

अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—जिस वाक्य में (द्रव्यगुणयोः) द्रव्य और गुण के (अर्थैकत्वे) एक प्रयोजनवाला होने पर (ऐककर्म्यात्) एक कर्म=क्रिया के साध्य होने से द्रव्य और गुण का परस्पर (नियमः) =अन्वय (स्यात्) होवे।

विशेष—अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायिन्या सोमं क्रीणाति इस वाक्य में अरुण गुण और एकहायनी द्रव्य का एक प्रयोजन सोमक्रय है। ऐककर्म्यात्—एक कर्म (=क्रिया) जिस वाक्य में हो वह एक कर्म, उसका भाव ऐककर्म्य अर्थात् एक क्रियावाले वाक्यत्व के कारण (=वाक्यस्थ कारकों से एक क्रिया के साध्यत्व के कारण) द्रव्य और गुण में परस्पर अन्वयरूप नियम होता है। वाक्यभेद नहीं होता है।

व्याख्या—जहां द्रव्य और गुण के अर्थ (=प्रयोजन) का एकत्व सुना जाता है, वहां द्रव्य और गुण एक पदार्थ [क्रय] में नियमित होवें। किस हेतु से ? ऐककर्म्य होने से=एककार्यत्व होने से। द्रव्य और गुण का क्रय-सम्बन्धरूप एक ही कार्य सुना जाता है। यह कैसे जाना जाता है ? [अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायिन्या सोमं क्रीणाति के] एकवाक्य होने से। यह एकवाक्य कैसे है ? अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या इतना कहने पर कहने और प्रतिपत्ता (=सुननेवालों के) साकाङ्क्ष होने से अर्थ अपूर्ण रहता है [अर्थात् अर्थ की पूर्णता नहीं जानी जाती है]। सोमं क्रीणाति कहने पर अर्थ पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार (=सोमं क्रीणाति कहने पर) वक्ता और श्रोता के उत्सुकतारहित होने से।

(आक्षेप) यदि [अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या की] एककार्यता है, तो विकल्प क्यों नहीं होता है ? (समाधान) ऐसा यह नहीं है। एकार्थास्तु विकल्पेरन् (=एकप्रयोजनवाले विकल्प=पर्याय से होवें) से विकल्प-धर्मवाले प्राप्त होते हैं, यह पर्यनुयोग (=आक्षेप)

---

१. मी० १२।३।१०॥

भवति, यः स्वपक्षं साधयति, विपक्षस्य च प्रतीपमाचरति। न च विकल्पोऽस्मत्पक्षस्य प्रतीपमाचरति। क्रयेणारुणिमासम्बन्धः,इत्येष नः पक्षः। न च विकल्पः, नानाकार्यत्वात्। नन्विदानीमेवोक्तम्—एकं कार्य्यमिति, तच्चापि विरुद्धम्। एवं हि पूर्वमभिहितम्—अमूर्त्तत्वात् गुणो न क्रियया सम्बद्धयते इति। इदानीं विपरीतमभिधीयते—उभावपि द्रव्यगुणावेकार्थौ क्रयमभिनिर्वर्त्तयत इति। उच्यते—नैतद्विरुद्धम्। न च विकल्पः, एकं कार्य्यम्। सामर्थ्यभेदस्तु। साक्षाद् हि द्रव्यं क्रियां प्रत्युपकरोति, गुणस्तु विशिनष्टि[1] साधनम्। यद्येवं न तर्हि गुणः क्रियामभिनिर्वर्त्तयति, साधनस्यासौ विशेषक इति। नैतदेवम्। गुणस्य क्रियामभिनिर्वर्त्तयत एतदेव सामर्थ्यम्, यत् साधनं विशिष्यात्। आकाङ्क्षति च क्रिया साधनविशेषणम्। चिह्नभूतो हि गुणः साधनं लक्षयति। असति चिह्ने न लक्ष्येत—कतमत् साधनं क्रियाया इति? ततः क्रियां नाध्यवस्येम कर्त्तुमिति। भवति क्रियासाधनं गुणः। न चैवं सति विकल्पो भवति। यथाऽधिकरणस्य कर्त्रादीनां च। अधिकरणं हि कर्त्रादीनि धारयति। तान्यधार्यमाणनि न शक्नुवन्ति क्रियामभिनिर्वर्त्तयितुम्। तथा कर्त्ता करणादीनि समाधत्ते। तान्यसमाहितानि न शक्नुवन्ति,

---

अयुक्त है। कैसे? पर्यनुयोग वह होता है, जो स्वपक्ष को सिद्ध करता है, और विपक्ष के विरुद्ध आचरण(=विरोध)करता है। और विकल्प हमारे पक्ष का विरोध नहीं करता है। हमार पक्ष यह है कि क्रय के साथ अरुणिमा (=अरुण गुण) का सम्बन्ध है। यहां विकल्प नहीं है, नाना (=अनेक) कार्य होने से। (आक्षेप) अभी ही तो कहा है—एक कार्य है, और वह भी विरुद्ध है। पूर्व ऐसा कहा था—अमूर्त होने से गुण क्रिया के साथ सम्बद्ध नहीं होता है। इस समय विपरीत कहते हो—दोनों(=द्रव्य और गुण) एक प्रयोजनवाले=क्रय को सिद्ध करते हैं। (समाधान) यह विरुद्ध नहीं है। और विकल्प भी नहीं है, एक कार्य है। सामर्थ्य का भेद तो है। द्रव्य साक्षात् क्रिया का प्रत्युपकार करता है (=साधन बनता है),गुण साधन को विशेषित करता है। (आक्षेप) यदि ऐसा है, तो गुण क्रिया को सिद्ध नहीं करता है, [क्रिया के] साधन का वह विशेषक होता है। (समाधान)ऐसा नहीं है,क्रिया को सिद्ध करते हुए गुण का यही सामर्थ्य है,कि वह[क्रिया के]साधन को विशेषित करे। क्रिया साधन के विशेषणों की आकाङ्क्षा करती है। चिह्नरूप(=चिह्न बनकर) गुण साधन को लक्षित करता है। चिह्न न होवे तो वह साधन को लक्षित न कर सके—कौनसा साधन है क्रिया का? इससे क्रिया को करने के लिये हम निश्चय न कर सकें [अर्थात् किस विशिष्ट साधन से हम अमुक क्रिया करें, इसे निश्चय नहीं कर सकते]। इस प्रकार गुण क्रिया का साधन होता है। इस प्रकार होने पर विकल्प नहीं होता है। जैसे [क्रिया के अधिकरणादि अनेक साधन होने पर भी] अधिकरण का और कर्त्ता आदि का [विकल्प नहीं होता है]। अधिकरण कर्त्ता आदि कारकों को धारण करता है। वे(=कर्त्ता आदि कारक) धारण न किये जाते हुए क्रिया को सिद्ध करने में समर्थ नहीं होते हैं। इसी प्रकार कर्ता करण आदि को धारण करता है।

---

१. काशीमुद्रिते 'विशिष्टानां साधनम्' इत्यपपाठः।

स्व स्वमर्थमभिनिर्वर्त्तयितुम् । यस्मिंस्तु साधनोपकारे कार्य्ये तस्मिन्नेवोपकारेऽन्यत् साधनं विधीयते, तत्र विकल्पः । यथा व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत[1] इति । उभयेऽपि यागनिर्वृत्त्यर्थाः[2] ।

एवं तर्हि तदेवेदं सञ्जातम्—भवत्येकहायनीविधानम्, तद्विशेषणञ्चारुणो गुणः । तत्र स एव दोषो—'वाक्यभेदः प्रसज्ज्येतेति' । न ब्रूमोऽरुणाशब्द एकहायनीशब्देन सम्बद्धचते इति । किं तर्हि ? क्रीणातिनैव सम्बद्धचते । एवं हि श्रूयते—'अरुणगुणेन क्रयमभिनिर्वर्त्तयेदिति' । यथा च तेन निर्वर्त्त्यते, तथा यतितव्यं भवति । न चाविशिंषन् साधन गुणः क्रियामभिनिर्वर्त्तयति । अर्थात् साधनविशेषणतां प्रतिपद्यते । यथा स्थाल्यां पचेत् इति क्रियासाधनत्वेन निर्दिष्टेऽर्थात् सम्भवने धारणे च स्थालीं व्यापारयति । तद्वदिहापि द्रष्टव्यम् । तस्मान्नास्ति वाक्यभेदप्रसङ्ग इति ।

नन्वेमपि वाक्यं भिद्येत । कथम् ? प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिर्दृष्टा[3] इति । यथा—

वे (=करणादि) धारण न किये हुए अपने-अपने प्रयोजन को सिद्ध करने में असमर्थ होते हैं । जिस साधन से सिद्ध उपकारवाले कार्य में उसी उपकार में अन्य साधन का विधान किया जाता है, वहाँ विकल्प होता है । यथा— व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत । दोनों ही याग की निर्वृत्ति के लिये हैं ।

(आक्षेप) अच्छा तो यह वही बात हो गई—एकहायनी का [क्रय में] विधान होता हैं, और अरुण गुण उस (=एकहायनी) का विशेषण है । वहाँ वही दोष होता है—'वाक्यभेद प्राप्त होवे ।' (समाधान) हम यह नहीं कहते कि अरुणा शब्द एकहायनी के साथ सम्बद्ध होता है । तो क्या कहते हो ? [अरुणा शब्द] 'क्रीणाति' के साथ ही सम्बद्ध होता है । इस प्रकार सुना जाता है—'अरुण गुण से क्रय को सिद्ध करे ।' [ऐसा श्रवण होने पर] जिस प्रकार से उस (=अरुण गुण) से [क्रय] सिद्ध होता है, उस प्रकार यत्न करना होता है । साधन को विशेषित न करता हुआ गुण क्रिया को सिद्ध नहीं करता । अतः अर्थापत्ति [गुण] साधन की विशेषणता को प्राप्त हो जाता है । जैसे—स्थाल्यां पचेत् इस प्रकार [स्थाली के] क्रिया के साधनरूप से निर्देश होने पर अर्थापत्ति से [पाचक] सम्भवन और धारण कार्य में स्थाली को व्यापृत करता है (=व्यवहार में लाता है) । उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिये । इसलिये वाक्यभेद का प्रसङ्ग नहीं है ।

(आक्षेप) इस प्रकार भी वाक्यभेद होता है । कैसे ? 'प्रत्येक के प्रति वाक्य की परि-

---

१. अनुपलब्धमूले वचने । अनयोर्विकल्पे विविधाः पक्षा आप० श्रौतसूत्रे (६।३१।१३-१४) द्रष्टव्याः ।

२. तण्डुलनिर्वृत्त्यर्थाः इति सार्वत्रिकोऽपपाठः । तच्चैतत् प्रकरणनैव सुस्पष्टम् ।

३. द्र०—महाभाष्य १।१।१,७ तथा अन्यत्र ।

देवदत्त-यज्ञदत्त-विष्णुमित्रा भोज्यन्तामिति प्रत्येकं भुजिः समाप्यते। यथा च—यस्य पिता पितामहः सोमं न पिबेद्[1] इति। एवमिहाप्यरुणया क्रीणाति, एकहायन्या क्रीणातीति। नैतदस्मत्पक्षस्य बाधकम्। एवमपि क्रये एवारुणिमा निवेक्ष्यति, न सर्वस्मिन् प्रकरणे इति। सत्यमेष दोषो न भवति। किन्त्वनरुणयाप्येकहायन्या क्रयः प्राप्नोति, अरुणया चानेकहायन्या। तत्र यदुक्तम्—द्रव्यगुणयोर्नियमः[2] इति, सा प्रतिज्ञा हीयते। न तर्हि ब्रूमो वाक्यभेद इति। कथम्? क्रयस्य हि द्रव्यारुणिमानावुपदिश्येते। न क्रयस्तयोः। न च प्रधानं प्रतिगुणं भिद्यते, प्रतिप्रधानं हि गुणो भिद्यते इति। अस्ति चायं दृष्टान्तः—समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः[3] इति। यथा—गर्गाः शतं दण्डयन्तामिति[3]। तथा अभिषुत्य हुत्वा भक्षयन्ति[4]

समाप्ति देखी जाती है'। जैसे—देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्ताम् (=देवदत्त यज्ञदत्त विष्णुमित्र को खिलाओ) [कहने पर] प्रत्येक व्यक्ति के प्रति भुजि (=खिलाना) क्रिया समाप्त होती है। और जैसे—यस्य पिता पितामहः सोमं न पिबेत् (=जिसके पिता और पितामह ने सोम न पिया हो) [यहां 'न पिबेत्' का सम्बन्ध पिता और पितामह प्रत्येक के साथ होता है]। इसी प्रकार यहां भी अरुणया क्रीणाति, एकहायन्या क्रीणाति [प्रत्येक के साथ 'क्रीणाति' का सम्बन्ध होगा]। (समाधान) यह (=प्रत्येक वाक्यपरिसमाप्तिः) हमारे पक्ष में बाधक नहीं है। इस प्रकार (=प्रत्येक के साथ 'क्रीणाति' का सम्बन्ध होने पर) भी क्रय में ही अरुणिमा का निवेश होगा, सम्पूर्ण प्रकरण में नहीं होगा। (आक्षेप) सत्य है यह दोष नहीं होगा। किन्तु अरुणा एकहायनी से क्रय प्राप्त होगा, और अरुणा अनेकहायनी (=जो एक वर्ष की नहीं है) से भी। वहां आपने जो कहा है—'द्रव्य और गुण में नियम है' वह प्रतिज्ञा नष्ट होती है। (समाधान) अच्छा तो यह नहीं कहते हैं कि वाक्यभेद होता है। कैसे? क्रय के लिये ही द्रव्य (=एकहायनी) और अरुणिमा गुण का उपदेश किया है। उन (=द्रव्य और गुण) के लिये क्रय का विधान नहीं किया है [अर्थात् यहां क्रय का विधान होने से क्रय प्रधान है, और एकहायनी और अरुणा गौण हैं]। प्रति गुणभूत के लिये प्रधान का भेद (=प्रधान 'क्रीणाति' का आवर्त्तन) नहीं होता है, प्रति प्रधान के लिये गुण का भेद (=आवर्तन) होता है। और यह भी दृष्टान्त है—समुदाये वाक्य-परिसमाप्तिः (=वाक्य की समाप्ति समुदाय में होती है)। जैसे—गर्गाः शतं दण्डयन्ताम् (=गार्ग्य गोत्रवालों पर सौ रुपया दण्ड करो) [ऐसा आदेश होने पर प्रत्येक गार्ग्य पर १०० रु. दण्ड नहीं होता है, किन्तु समुदाय पर होता है]। और अभिषुत्य हुत्वा भक्षयन्ति (=सोम का

---

१. मै० सं० २।५।५; गो० ब्रा० २।१।१६॥

२. द्र०—महाभाष्य १।१।१,७ तथा अन्यत्र।

३. गर्गाः शतं दण्डयन्तामिति। अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति, न च प्रत्येकं दण्डयन्ति। महाभाष्य १।१।१,७ तथा अन्यत्र।

४. अनुपलब्धमूलम्।

इति । तस्मादुभयविशेषणविशिष्टः क्रयो विधीयते ।

कथं पुनस्तस्मिँश्चेतरस्मिँश्च दृष्टान्ते सति एकान्तेनावधार्य्यते—'समुदाय एव वाक्यपरिसमाप्तिः, न प्रत्यवयवमिति'[1] ? अत्र ब्रूमः—इह द्रव्यारुणिमानावुभावपि क्रियासम्बद्धावुपलभ्येते परस्परेणासम्बद्धौ । क्रयोऽपि द्रव्यारुणिमभ्यां विशिष्ट उपलभ्यते, नान्यतरेण । तत्र यदि द्रव्यपरमरुणिमपरं च भवति वचनमिदम्, ततः प्रत्यवयवम् असंशयं क्रयसम्बन्धः । अथ क्रयविधित्सयाऽभिधीयते, ततो यथैवायम् एकहायनीविशिष्टः, एवम् अरुणिमविशिष्ट इति । नियमत उभयसम्बन्धोऽभ्युपगमनीयः । न चात्र द्रव्यारुणिमानावीप्सितौ। ईप्सितस्तु क्रयः । तेन हि ज्योतिष्टोमद्रव्यं सोमः परिप्राप्यते । द्रव्यारुणिमानौ क्रयार्थौ । सन्तावीप्सितौ स्याताम्, नान्यथा । तस्मात् क्रयो विधीयते । स च नान्यतरविशिष्टः प्रतीयते इति । समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिरिह निश्चीयते। यदा चैवम्, तदा नैक-

---

रस निकाल कर, उससे होम करके ऋत्विक् सोम का भक्षण करते हैं) [यहां भी ऋत्विक् समुदाय के साथ अभिषव होम और भक्षण क्रिया का सम्बन्ध होता है। एक-एक ऋत्विक् सोम निकाल कर होम करके भक्षण करे, यह संभव नहीं है]। इसलिये दोनों(=एकहायनी और अरुणा) विशेषण से विशिष्ट क्रय का विधान किया जाता है ।

(आक्षेप) उस (=प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः), और इस (=समुदाये एव वाक्यपरिसमाप्तिः) दृष्टान्त के होने पर एक ही दृष्टान्त से निश्चय कैसे किया जाता है—'समुदाय में ही वाक्य परिसमाप्ति होती हैं, प्रत्यवयव नहीं होती है' ? (समाधान) इस विषय में कहते हैं—यहां द्रव्य (=एकहायनी) और अरुणिमा [गुण] दोनों ही एक-दूसरे से असम्बद्ध क्रिया के साथ संबद्ध उपलब्ध होते हैं । और क्रय भी द्रव्य और अरुणिमा दोनों से विशिष्ट उपलब्ध होता है, किसी एक से विशिष्ट उपलब्ध नहीं होता है । ऐसी अवस्था में यदि द्रव्यपरक और अरुणिमपरक [अर्थात् द्रव्य और अरुणिमा के विधान के लिये] यह (=अरुणया एकहायन्या) वचन होता है,तो निस्सन्देह प्रत्यवयव क्रय का सम्बन्ध होगा । और यदि क्रय के विधान की इच्छा से [यह वचन] कहा जाता है, तो जैसे यह (=क्रय) एकहायनी से विशिष्ट है,वैसे ही अरुणिमा से भी विशिष्ट है । इस कारण नियमतः दोनों का सम्बन्ध स्वीकरणीय होगा । यहाँ (अरुणया एकहायन्या क्रीणाति वाक्य में) द्रव्य और अरुणिमा ईप्सित (=इष्ट) नहीं हैं । ईप्सित तो क्रय है । उसी (=क्रय) से ही ज्योतिष्टोमयाग का द्रव्य सोम प्राप्त होता है । द्रव्य (=एकहायनी)और अरुणिमा गुण क्रय के लिये होते हुए ईप्सित हो सकते हैं,अन्यथा नहीं । इसलिये [उक्त वाक्य में क्रय का ही विधान है । वह अन्यतर विशिष्ट (=अन्य किसी विशेषण से विशिष्ट) प्रतीत नहीं होता है।इस कारण यहां समुदाय(=एकहायनी और अरुणा)में वाक्य की परिसमाप्ति निश्चित होती है । जब ऐसा (=समुदाय में वाक्यपरिसमाप्ति) है, तो एकहायनी को छोड़कर

---

१. तुलना कार्या—महाभाष्य १।१।७॥

हायनीं मुक्त्वाऽन्यद् द्रव्यं क्रयसाधनमस्ति । न च अरुणादन्यः साधनस्य विशेषको गुणः । इति नियमः सिद्धो भवति ।

अत्र वदामः—यदि क्रयस्य साधने गुणोऽभिसम्बन्धमुपैति, तदा वाक्ये भिन्नेऽपि क्रय-साधनत्वादरुणिमाऽन्यस्मिन् द्रव्ये न निवेक्ष्यते । किमर्थमेकवाक्यता प्रयत्नेन साध्यते इति? तदेतदभिधीयते—भिन्ने हि वाक्ये एकहायनीसाधनकः क्रयोऽवबुद्धो भवति । अरुणा-साधनमपि क्रयान्तरम्[1] । न तस्मिन्नेवैकहायनीसाधने क्रये अरुणिमा विहितो भवति । तत्र यत् क्रयान्तरमरुणगुणविशिष्टं तत्रार्थात् प्राप्तमन्यदपि साधनं भवति । तदपि विशिषन्नरुणो गुणस्तेन सम्बध्येत । एकवाक्यत्वे तु तत् परिहृतं भवति । तस्मात् साधु अभिधीयते—**अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्याद्** इति ॥१२॥ **इत्यारुण्यादिगुणानाम-संकीर्णताऽधिकरणम् ॥६॥**

अन्य द्रव्य क्रय का साधन नहीं है । और ना ही अरुण गुण से भिन्न साधन (=एकहायनी) का विशेषक है । इस प्रकार नियम सिद्ध होता है ।

(आक्षेप) इस विषय में कहते हैं—यदि क्रय के साधन में गुण सम्बन्ध को प्राप्त होता है, तब वाक्य के भिन्न (अरुणया क्रीणाति और एकहायन्या क्रीणाति दो वाक्य) होने पर भी क्रय का साधन होने से अरुणिमा अन्य [एकहायनी] द्रव्य में निविष्ट (=संबद्ध) नहीं होगी । तो एकवाक्यता प्रयत्नपूर्वक क्यों सिद्ध की जाती है ? (समाधान) इसलिये कहते हैं—भिन्न वाक्य होने पर [एकहायन्या क्रीणाति से] एकहायनी साधनवाला क्रय द्रव्य जाना जाता है । अरुणा भी क्रय का अन्य साधन जाना जाता है। उस एकहायनी साधनवाले क्रय में ही अरुणिमा विहित नहीं होती है । इस अवस्था से क्रय का अरुणगुणविशिष्ट अन्य साधन भी अर्थतः प्राप्त होता है [अर्थात् अकेला गुण क्रय का साधन नहीं बन सकता है, इसलिये अरुणगुणविशिष्ट किसी द्रव्य को वह आक्षिप्त करेगा । वह एकहायनी द्रव्य से भिन्न भी हो सकता है]। उस साधन को विशेषित करता हुआ भी अरुण गुण उस (=क्रय) के साथ सम्बद्ध हो सकता है । एकवाक्य मानने पर वह (=द्रव्यान्तर) परिहृत होता है [अर्थात् अन्य द्रव्य की उपस्थिति नहीं होती है] । इसलिये [सूत्रकार ने] ठीक ही कहा है—अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात् (=द्रव्य और गुण का एक क्रय प्रयोजन होने से एक कर्मवाला वाक्य होने से द्रव्य और गुण का नियम होगा) ॥१२॥

---

१. अवबुद्धं भवतीति शेषः ।

सर्वेषां ग्रहादीनां सम्मार्गाद्यधिकरणम् ॥७॥

अस्ति ज्योतिष्टोमः—य एवं विद्वान् सोमेन यजते[1] इति । तत्र श्रूयते—दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि[2] इति । तथा अग्निहोत्रे श्रूयते—अग्नेस्तृणान्यपचिनोति[3] इति । तथा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—पुरोडाशं पर्यग्निकरोति[4] इति । तत्र सन्देहः—किमेकस्य ग्रहस्य, एकस्य अग्नेः, एकस्य पुरोडाशस्य च सम्मार्जनादि कर्त्तव्यम्, उत सर्वेषां ग्रहाणां, सर्वेषामग्नीनां, सर्वेषां पुरोडाशानामिति ? किं प्राप्तम् ? एको ग्रहः, एकोऽग्निः, एकः पुरोडाश इह ग्रहीतव्यः । कुतः ?

व्याख्या—ज्योतिष्टोम याग कहा है—य एवं विद्वान् सोमेन यजते (=जो विद्वान् इस प्रकार से सोम से यजन करता है)। उस सोमयाग में सुना जाता है—दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि (=दशापवित्र=सोम को छाननेवाले वस्त्र के छोर से ग्रह को साफ करता है)। इसी प्रकार अग्निहोत्र में सुना जाता है—अग्नेस्तृणान्यपचिनोति (=अग्नि=अग्निस्थण्डिल पर रखे तृणों को हटाता है)। वैसे ही दर्शपूर्णमास में सुना जाता है—पुरोडाशं पर्यग्निकरोति (=पुरोडाश के चारों ओर जलता हुआ अंगारा वा जलते हुए कुशतृणों को घुमाता है)। इसमें सन्देह है कि क्या एक ग्रह का, एक अग्नि का, और एक पुरोडाश का सम्मार्जन आदि करना चाहिये, अथवा सब ग्रहों का, सब अग्नियों का, और सब पुरोडाशों का ? यहां क्या प्राप्त होता है ? एक ग्रह, एक अग्नि, और एक पुरोडाश का यहां ग्रहण करना चाहिये । किस हेतु से ?

विवरण—दशापवित्रेण—दशा शब्द का अर्थ है—वस्त्र का अन्तिम छोर, जिसके लम्बे धागे बुनाई से रहित होते हैं। जैसे कम्बल शाल और अंगोछे आदि में दोनों ओर का भाग होता है। दशापवित्र में समास है—पवित्रस्य दशा=दशापवित्रम् । जैसे दन्तानां राजा=राजदन्तः । यहां राजदन्तादिषु परम् (अष्टा० २।२।३१) से दशा शब्द का पूर्वप्रयोग जानना चाहिये । पवित्र से अभिप्राय है—ऊन का बना हुआ सोमरस छानने का वस्त्र । वाक्य का भाव है—सोमरस जिस पात्र में छाना जाता है, उसके ऊपर पवित्रसंज्ञक ऊर्णा वस्त्र होता है । छने हुए रस में से जब ग्रह में रस भरा जाता है, तो ग्रह के बाहर जो सोमरस लिप्त हुआ है, उसे पवित्र की दशा=छोर से पोंछे । अग्नेस्तृणान्यपचिनोति—अग्नियों के उपस्थान के पश्चात् कुण्ड के ऊपर रखे तृणों को हटाता है (द्र०—आप० श्रौत ६।२२।२ धूर्तस्वामी भाष्य, रुद्रदत्तवृत्ति)। पुरोडाशं पर्यग्निकरोति—पर्यग्निकरण का अर्थ आप० श्रौत १।२५।८ की वृत्ति में रुद्रदत्त ने परित उल्मुकनयनं पर्यग्नि-

---

१. तै० सं० ३।२।२॥ २. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—दशापवित्रेण परिमृज्य परिमृज्य··· ग्रहासादनम् । कात्या० श्रौत० ९।५।२३॥ ३. आप० श्रौत ६।२३।२॥

४. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—पर्यग्निकरोति । तै० ब्रा० २।१।३; पर्यग्निकरोति······ सहाज्यम् । कात्या० श्रौत २।५।२२॥

एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात् ॥१३॥ (पू०)

श्रुतिसंयोगात् । एकत्वश्रुतिसंयुक्ता एते पदार्थाः । एकं हि द्रव्यमेषु श्रूयते । शब्दलक्षणे च हि कर्म्मणि यच्छब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम् । यथा पशुमालभेत[1] इत्युक्ते एक एव पशुः पुमाश्चाँलभ्यते । एवमत्राप्येको ग्रहः सम्माज्र्जनीयः, एकस्य अग्नेस्तृणान्यपचेयानि, एकः पुरोडाशः पर्य्यग्निकर्त्तव्यः इति १३ ॥

सर्वेषां वा लक्षणत्वाद् अविशिष्टं हि लक्षणम् ॥१४॥ (उ०)

नैतदस्ति, ग्रहादिष्वेकत्वयुक्तेष्वमी पदार्थाः कर्त्तव्या इति । सर्वे ग्रहाः समार्ष्टव्याः;

करणम् (=पुरोडाश के चारों ओर अंगारे को घुमाना पर्यग्निकरण) कहाता है । तै०ब्रा० २।१।३।४ के भाष्य में सायण ने लिखा है — ज्वलतस्तृणस्य परितः प्रदर्शनं पर्यग्निकरणम् (=जलते हुए तिनके को चारों ओर दिखाना=घुमाना पर्यग्निकरण है) । पूर्व पृष्ठ ३८२ भी द्रष्टव्य है ।

एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—[दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि आदि] (एकत्वयुक्तम्) एकवचन से युक्त कर्म (एकस्य) एक ग्रह एक अग्नि और एक पुरोडाश का करना चाहिये । (श्रुतिसंयोगात्) एकवचन श्रुति से इन द्रव्यों का संयोग होने से ।

व्याख्या—[एकवचन] श्रुति का संयोग होने से । ये [ग्रहादि] पदार्थ एकत्व को कहनेवाली श्रुति से संयुक्त हैं । एक द्रव्य ही इन (=ग्रहं सम्मार्ष्टि आदि) में सुना जाता है । शब्द जिसका लक्षण है अर्थात् शब्द से लक्षित होनेवाले कर्म में जो शब्द कहता है, वह हमें प्रमाण है । जैसे—पशुमालभेत ऐसा कहने पर एक ही पशु और वह भी नर पशु आलभन को प्राप्त होता है। इसी प्रकार यहां भी एक ग्रह शोधनीय है,एक अग्नि के तिनके उठाने चाहियें,और एक पुरोडाश का पर्यग्निकरण करना चाहिये ॥१३॥

सर्वेषां वा लक्षणत्वाद् अविशिष्टं हि लक्षणम् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है । अर्थात् एक ग्रह, एक अग्नि, और एक पुरोडाश का संमार्गादि संस्कार नहीं करना चाहिये । किन्तु (सर्वेषाम्) सब ग्रहों, सब अग्नियों, और सब पुरोडाशों के समार्गादि संस्कार करने चाहियें । (लक्षणत्वात्) ग्रहत्व अग्नित्व पुरोडाशत्वादि जातिलक्षण से सब के युक्त होने से (लक्षणम्) ग्रहत्व अग्नित्व और पुरोडाशत्वादि जातिरूप लक्षण (हि) निश्चय से सब में (अविशिष्टम्) सामान्य हैं ।

व्याख्या—एकसंख्यायुक्त ग्रहादि में ये सम्मार्गादि पदार्थ करने चाहियें, यह नहीं है । सब ग्रहों का सम्मार्जन करना चाहिये, सब अग्नियों से तिनकों को हटाना चाहिये, पुरोडाशमात्र

---

१. द्र०—तै० ब्रा० १।५।६।७।

सर्वेभ्योऽग्निभ्यस्तृणान्यपचेयानि, पुरोडाशमात्रञ्च पर्य्यग्निकर्त्तव्यमिति । कुतः ? ग्रह-जात्या द्रव्यं लक्षयित्वा सम्मार्गादि विधीयते । अविशिष्टञ्च लक्षणं सर्वद्रव्येषु । तत्र न गम्यते विशेषः—को ग्रहः सम्मार्ष्टव्यः, को नेति ? सामान्यावगमाद् विशेषानवगमाच्च सर्वप्रत्ययः । तथाऽग्निपुरोडाशानामपि । नन्वेकवचनं श्रूयते, तद्विशेक्ष्यति । नैतदस्ति । एकत्वं हि श्रूयमाणं ग्रहादिष्वेकत्वं ब्रूयाद्,न द्वितीयादीन् प्रतिषेधेत् । एकत्वस्यासौ वाचकः, न द्वितीयादेः प्रतिषेधकः । तेनाप्रतिषिद्धे द्वितीयादौ सामान्यवचनेन प्राप्तं सम्मार्जनादि किमिति न क्रियेत ?

तत्रैतत् स्यात्—एकवचनमिह श्रूयमाणं प्राप्ते एवैकस्मिन् द्रव्ये, द्वितीयादिषु च, किमन्यत् कुर्य्यादन्यतः परिसंख्यायाः ? न चेदेकवचनं परिसञ्चक्षीत द्वितीयादीन्, अनर्थकमेव स्यात् । शक्नोति च द्वितीयादीन् निवर्त्तयितुम् । यथा—अश्वाभिधानीमादत्ते इति गर्द्दभाभिधानीं परिसञ्चष्टे । एवमत्रापि द्रष्टव्यमिति । नैतदेवम् । तत्र मन्त्रस्या-भिधान्याश्च यः सम्बन्धस्तदभिधानपरं वचनम्—इमामगृभ्णन् इत्यश्वाभिधानीम् इति । न

का पर्यग्निकरण करना चाहिये । किस हेतु से ? ग्रह जाति से द्रव्य को लक्षित करके सम्मार्ग आदि का विधान किया जाता है । और यह [ग्रहत्व अग्नित्व पुरोडाशत्व जातिरूप] लक्षण सब द्रव्यों में समान है । उनमें विशेष नहीं जाना जाता है कि—किस ग्रह का सम्मार्ग करना चाहिये, किस का नहीं करना चाहिये ? सामान्य की प्रतीति होने से और विशेष की प्रतीति न होने से सब का ज्ञान होता है । इसी प्रकार अग्नियों का और पुरोडाशों का भी । (आक्षेप) [ग्रहं सम्मार्ष्टि आदि] में एकवचन सुना जाता है, वह [ग्रहादि को] विशेषित करेगा । (समाधान) ऐसा नहीं है। निश्चय से ग्रहादि में श्रूयमाण एकत्व एकत्व को ही कहेगा,दूसरे तीसरे आदि का प्रति-षेध नहीं करेगा । यह [एकवचन] एकत्व का वाचक है, द्वितीय आदि का प्रतिषेधक नहीं है । इस कारण द्वितीयादि के प्रतिषेध न होने से सामान्यवचन से प्राप्त सम्मार्गादि [द्वितीय आदि में भी] क्यों न किया जाये ?

विवरण—ग्रहजात्या द्रव्यं लक्षयित्वा—पूर्व आकृत्यधिकरण(मी० १।३ । अधि० ११, सूत्र ३०-३५) में सिद्धान्त कर चुके हैं कि शब्द का वाच्य आकृति=जाति है ।

व्याख्या—(आक्षेप) वहां यह होवे—एक द्रव्य में और द्वितीयादि द्रव्यों में प्राप्त होने पर श्रूयमाण एकवचन यहां परिसंख्या(=वर्जन)के अतिरिक्त और क्या करेगा ? और यदि एक-वचन द्वितीय आदि का वर्जन न करे, तो अनर्थक ही होवे । और यह [एकवचन] द्वितीय आदि का निवर्तन कर सकता है । जैसे—अश्वाभिधानीमादत्ते (=अश्व की लगाम पकड़ता है) यह वचन गदहे की लगाम पकड़ने का प्रतिषेध करता है । इसी प्रकार यहां (=एकत्व के विषय में) भी जानना चाहिये । (समाधान) इस प्रकार (=अश्वाभिधानी के दृष्टान्त के अनुसार) यह नहीं है । वहां (=अश्वाभिधानी के आदान में) मन्त्र का और लगाम का जो [आदान] सम्बन्ध है, उसको कहनेवाला वचन है—'इमामगृभ्णन् इत्यश्वाभिधानीम्' ।'आदत्ते'(=

अनेन मन्त्रेण 'आदत्ते' इति लिङ्गेनैवाऽदाने प्राप्तत्वान्मन्त्रस्य परिसंख्या युक्ता। इह पुनर्यदेकवचनं द्रव्ये श्रूयते, तत् श्रूयमाणमप्यविधीयमानत्वेन न निवर्त्तकं भवितुमर्हति। यथा कश्चिदोदनं निर्दिश्य ब्रूयात्—य एनं भक्षयेत् कश्चित् श्वा मार्ज्जारो वा, स निवारयितव्य इति। तत्र यदि भक्षणं निमित्तत्वेन विधीयते, न श्वमार्ज्जारसम्बन्धः। ततः काकोऽप्यागच्छन् निवार्य्यते। श्रूयमाणेऽपि शुनि मार्ज्जारे वा, श्वमार्ज्जारसम्बन्धस्य निमित्तत्वेनाविधीयमानत्वात्। एवमिहाप्येकत्वसम्बन्धस्य अविधीयमानत्वाच्छ्रूयमाणेऽप्यकत्वे ग्रहमात्रं संमृज्येतेति।

न चात्र द्रव्यैकत्वसम्बन्धविधायकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति। ननु सम्मार्ष्टीति। न ह्येतद् द्रव्यैकत्वसम्बन्धस्य विधायकम्। कस्य तर्हि? द्रव्यसंमार्गसम्बन्धस्य विधायकम्। एवं श्रुत्या स्वपदार्थो विहितो भवति। इतरथा वाक्येन परपदार्थो विधीयेत। श्रुत्यसम्भवे च वाक्यं क्रमते, न सम्भवन्त्यां श्रुतौ। अतोऽविधीयमानं विशेषणत्वेन एकत्वं, न द्वितीया-

---

ग्रहण करे) इस लिङ्ग से ही [लगाम का] आदान प्राप्त होने से मन्त्र की परिसंख्या 'इस [इमामगृभ्णन्] मन्त्र से लगाम नहीं पकड़े' युक्त है। और जो यहाँ [ग्रहं सम्मार्ष्टि आदि में] एकवचन [ग्रहादि] द्रव्य में सुना जाता है, वह श्रूयमाण होता हुआ भी विधीयमान न होने से [द्वितीय आदि का] निवर्तक नहीं हो सकता है। जैसे कोई व्यक्ति पके चावलों का निर्देश करके कहे—जो कोई कुत्ता वा बिल्ली इसे खावे,उसे हटा देना चाहिये। वहां (=ऐसा करने पर) यदि भक्षणकर्म [निवारण के] निमित्तरूप से विधान किया जाता है, कुत्ता और बिल्ली का संबन्ध निमित्तरूप से विधान नहीं किया जाता है। इससे कौवा भी खाने को आता हुआ हटाया जायेगा। कुत्ता वा बिल्ली के सुने जाने पर भी, कुत्ता और बिल्ली का [संबन्ध] निमित्तरूप से विधीयमान न होने से [काक आदि का भी निवारण होता है]। इसी प्रकार यहां भी एकत्वसंबन्ध के विधीयमान न होने से एकत्व के सुने जाने पर भी ग्रहमात्र का सम्मार्जन किया जाता है।

विवरण—अश्वामिधानीमादत्ते—यह विषय पूर्व मीमांसा १।२।३१ तथा ४२ में विचार कर चुके हैं। पाठक विगत-विचार को भी ध्यान में रखें।

व्याख्या—और भी, यहां द्रव्य और एकत्व के सम्बध का विधायक कोई शब्द नहीं है। (आक्षेप) [संबन्धविधायक] यह जो है—सम्मार्ष्टि शब्द। यह [सम्मार्ष्टि शब्द] द्रव्य और एकत्व के सम्बन्ध का विधायक नहीं है। तो किसका है? द्रव्य और सम्मार्ग के सम्बन्ध का विधायक है। ऐसा मानने पर श्रुति (=श्रवण) से स्वपदार्थ (=सम्मार्जन) विहित होता है। अन्यथा वाक्य से परपदार्थ (=द्रव्य और एकत्व के सम्बन्ध) का विधान होवे। श्रुत्यर्थ के असम्भव होने पर वाक्य प्रवृत्त होता है, श्रुति के सम्भव होने पर प्रवृत्त नहीं होता है। इसलिये विशेषणरूप से अविधीयमान एकत्व, द्वितीय आदि का प्रतिषेध करने योग्य नहीं है। और इस

दीन् प्रतिषेद्धुमर्हति। एवं सति न द्वितीयादौ सम्मार्गादि क्रियमाणमचोदितं भवति, प्रतिषिद्धं वा। यथैव हि तदेकस्य श्रुतमवगम्यते, तथा द्वितीयादेरपि।

अयं चापरो दोषः– न तदेकत्वं द्रव्यस्य सम्मार्गादौ विषये नियम्येत। न हि सम्मार्गादिर्यस्मिन् द्रव्ये एकत्वं नियम्येत, तस्य विशेषणत्वेन भवति। विधीयते ह्यत्र सम्मार्गादिः। न प्राप्तो लक्षणत्वेन द्रव्यस्याम्नायते। नहि यौगपद्येन विधातुं शक्यते, लक्षणत्वेन चोच्चारयितुम्। प्रसिद्धसम्बन्धो हि शक्नोति लक्षयितुम्। न चाविहित एवञ्जातीयकः शब्दावगम्यः प्रसिद्धसम्बन्धो भवति। विधीयते च सम्मार्गादिः। तस्मान्न विशेषकः। न चेद् विशेषकः,न द्रव्ये एकत्वं नियम्यते, इति शक्यमाश्रयितुम्।

अथैकत्वं सम्मार्गे उच्यते। तत्रापि द्वयी गतिः स्यात्—एकत्वं प्रधानं, सम्मार्गो वा। तच्चोभयमप्यनुपपन्नम्। न तावदेकत्वस्य सम्मार्गः शक्यते कर्तुम्। न च द्रव्ये

प्रकार द्वितीय आदि में क्रियमाण संमार्ग आदि अचोदित (=अकथित) नहीं होता है, और ना ही प्रतिषिद्ध होता है। वह(=संमार्ग) जैसे ही एक का श्रुत जाना जाता है, उसी प्रकार द्विती-यादि का भी जाना जाता है।

और यह दूसरा दोष है—वह एकत्व द्रव्य के सम्मार्गादि विषय में नियमित नहीं होगा। तथा सम्मार्ग आदि जिस द्रव्य में नियमित होगा, उसका एकत्व विशेषणरूप से नहीं होता है। यहां सम्मार्ग आदि का विधान किया जाता है। द्रव्य का लक्षणरूप से प्राप्त आम्नान नहीं किया जाता है, अर्थात् कहा जाता है। युगपत् [सम्मार्ग का] विधान, और [उसका] लक्षणरूप से उच्चारण करना अशक्य है [अर्थात् 'ग्रह को उद्देश करके सम्मार्ग का विधान, और जो सम्मार्ग हैं वह एक होवे' इस प्रकार दो रूप से 'सम्मार्ष्टि' का सम्बन्ध नहीं हो सकता है]। जिस का सम्बन्ध प्रसिद्ध होता है, वही लक्षित कर सकता है। और अविहित इस प्रकार का शब्द से जानने योग्य प्रसिद्ध सम्बन्ध नहीं होता है। [यहां] सम्मार्ग आदि का विधान किया जाता है। इसलिये एकत्व [सम्मार्ग का] विशेषक नहीं है [अर्थात् सम्मार्ग को उद्देश्य करके एकत्व का विधान नहीं है]। और यदि [एकत्व] विशेषक नहीं है, तो द्रव्य में एकत्व नियमित नहीं होता है, यह आश्रयण करना शक्य (=युक्त) है।

विवरण—प्रसिद्धसम्बन्धो हि शक्नोति लक्षयितुम्—जैसे धूम्र का अग्नि के साथ अविना-भाव से रहना सम्बन्ध प्रसिद्ध है, तभी उस धूम्र से अग्नि लक्षित होती है—धूम्रं दृष्ट्वा अध्यव-स्यति अस्त्यत्राग्निः।

व्याख्या—और यदि एकत्व सम्मार्ग के विषय में कहते हो [अर्थात् एकं सम्मार्ष्टि ऐसा सम्बन्ध जोड़ते हो]। तो भी दो गति होंगी—एकत्व प्रधान है, अथवा सम्मार्ग। ये दोनों ही उपपन्न नहीं होते हैं। एकत्व का सम्मार्ग नहीं किया जा सकता है। और द्रव्य में किया हुआ

क्रियमाण एकत्वस्योपकरोति केनचित् प्रकारेण। नचैकत्वस्योपकृतेन किञ्चित् प्रयोजनमस्ति। न हि तद्गुणभूतं श्रुतम्। अथैकत्वं सम्मार्गं प्रति गुणभूतमिति, तदपि न। कथम्। अमूर्त्तत्वात्। न हि तत् सम्मार्गं निष्पादयति। यद्यप्यन्यदमूर्त्तं क्रियां निष्पादयति साधनं विशिषत्, तथाप्येतन्न भवितुमर्हति। नह्यत्र ग्रहः सम्मार्गार्थः, सम्मार्गोऽत्र ग्रहाय चोद्यते। स हि प्रयोजनवान्, कल्प्यप्रयोजनः सम्मार्गः। यदि ग्रहः सम्मार्गस्योपकुर्य्यात्, तदुपकारिण उपकरोतीति। सम्मार्गस्योपकारकमेकत्वं भवेत्। न त्वेतदेवम्। तस्मादेकत्वसम्मार्गयोरसम्बन्धः।

ननु प्रधानभूतमपि ग्रहादि सम्मार्गं निष्पादयत्येव। अतस्तत्साधनं तच्च विशि-

---

[सम्मार्ग] एकत्व का किसी प्रकार से उपकारक नहीं होता है। और ना ही [सम्मार्ग से] उपकृत एकत्व से कोई प्रयोजन है। और [वह सम्मार्ग] उस (=एकत्व) का गुणरूप भी श्रुत नहीं है। और यदि कहो कि एकत्व सम्मार्ग के प्रति गुणभूत है, तो यह भी नहीं है। कैसे? अमूर्त होने से। वह (=एकत्व) सम्मार्ग को निष्पन्न भी नहीं करता है। यद्यपि अन्य (=अरुण गुण) साधन को विशेषित करता हुआ क्रिया को सिद्ध करता है, तथापि यह (=एकत्व) उस प्रकार का नहीं हो सकता। यहां (=ग्रहं सम्मार्ष्टि में) ग्रह सम्मार्ग के लिये नहीं है, सम्मार्ग यहां ग्रह के लिये कहा जाता है। वह (=ग्रह) प्रयोजनवान् है, [सम्मार्ग के लिये ग्रह होवे तो] सम्मार्ग कल्प्य प्रयोजनवाला होता है [अर्थात् सम्मार्ग का प्रयोजन कल्पित करना होगा]। यदि ग्रह सम्मार्ग का उपकारक होवे, तो [एकत्व] उस उपकारी का उपकारक होता है। इस प्रकार एकत्व सम्मार्ग का उपकारक हो सकता है। यह इस प्रकार (=सम्मार्ग के लिये ग्रह) नहीं है। इस कारण एकत्व और सम्मार्ग का सम्बन्ध नहीं है।

विवरण—यद्यप्यन्यदमूर्तं क्रियां निष्पादयति—इसका संकेत पूर्व अधिकरणस्थ अरुणया एकहायन्या सोमं क्रीणाति उदाहरण की ओर है। यहां सिद्धान्तपक्ष में अरुणिमा अमूर्त गुण एकहायनी को विशेषित करता हुआ, क्रय का उपकारक होता है। नहि अत्र ग्रहः सम्मार्गार्थः—एकहायनी द्रव्य जैसे क्रय के लिये है, उस प्रकार यहां ग्रह सम्मार्ग के लिये नहीं है। स हि प्रयोजनवान्—वह सम्मार्ग संस्कार से संस्कृत ग्रह सोमरस के ग्रहण करने और उससे आहुति देने के लिये होने से प्रयोजनवान् है। और ग्रह यदि सम्मार्ग के लिये होवे, तो सम्मार्ग का कोई प्रयोजन न होने से प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी। यदिग्रहः सम्मार्गस्योपकुर्यात्—यदि एकहायनी जैसी क्रयार्थ है, तद्वत् ग्रह सम्मार्ग का उपकारक होवे, तो जैसे एकहायनी द्रव्य को विशेषित करता हुआ, अरुण गुण क्रय का उपकारक होता है, तद्वत् एकत्व ग्रह को विशेषित करता हुआ, सम्मार्ग का विशेषक हो सकता है। न त्वेतदेवम्—परन्तु एकहायनी जैसे क्रय के लिये है, वैसे यहां ग्रह सम्मार्ग के लिये नहीं है।

व्याख्या—(आक्षेप) प्रधानभूत ग्रह भी सम्मार्ग का निष्पादन करता ही है [अर्थात् ग्रह न होवे, तो सम्मार्ग किसका होवे]। इसलिये उस (=सम्मार्ग) के साधन उस (=ग्रह) को विशेषित

षत् तदुपकरिष्यति। यथा इज्यार्थे दधनि पयसि च प्रणीता धर्म्माः पाके उपकुर्वन्ति[1]। परिधानार्थे च परिधौ यूपधर्म्मा बन्धने[2]। तस्मादयम् असमाधिरिति। अत्रोच्यते—न ब्रूमः,अतदर्थं साधके न शक्नुवन्त्युपकर्तुमिति। किं तर्हि? यदा प्रधानभूतं ग्रहादि लक्षणत्वेनोच्यते, न तदैकत्वस्य ग्रहादिना सम्बन्धः, न सम्मार्गादिनेति। कथम? यावदिह लक्षणत्वेन किञ्चिदुच्यते, 'संवादस्तत्र[3] भवति। न तु तद्विधीयते विज्ञानाय। किमर्थं तर्ह्युच्चार्य्यते? अन्यत्तस्य किञ्चिद् विधायिष्यते इति। तदेतद् ग्रहादि लक्षयित्वा तस्य सम्मार्गादि विधीयते। तद् यद्येकत्वसम्बन्धोऽपरो ग्रहद्रव्ये सम्मार्गादौ वा पदार्थे विधीयेत, द्वयोः सम्बन्धयोर्विधानाद् भिद्येत वाक्यम्। अथोच्यते, ग्रहादि लक्षयित्वा तस्यैकत्वसम्बन्धो विधीयते, न सम्मार्गादिसम्बन्ध इति। तथाच सम्मार्गादीनामध्ययनं प्रमाद इत्यभ्युपगतं स्यात्। नचैतदेवम्। तस्मादुभाभ्यामेकवचनस्यासम्बन्ध इति। एवमेत-

---

करता हुआ उस (=संमार्ग) का उपकारक होगा। जैसे इज्या (=याग) के लिये दही और पयः में प्रणीता के [उत्पावन आदि] धर्म पाक में उपकारक होते हैं। और परिधान-कार्यवाली-परिधि में [पशुबन्धन] यूपधर्म होते हैं। इसलिये यह समाधान ठीक नहीं है। (समाधान) इस विषय में कहते हैं—हम यह नहीं कहते हैं कि जो जिसके लिये साधक नहीं है [उसमें किये गये कर्म] उसके उपकारक नहीं होते हैं। तो क्या कहते हैं? जब प्रधानभूत ग्रह आदि लक्षणरूप (=उद्देश्यरूप) से कहा जाता है, उस समय एकत्व का ग्रहादि के साथ संबन्ध नहीं होता है, और नाही संमार्ग आदि के साथ। कैसे? जितना भी यहां लक्षण (=उद्देश) रूप से कुछ कहा जाता है, वहां संवाद (=प्रमाणान्तर से वह ज्ञात) होता है। उसका ज्ञान कराने के लिये विधान नहीं किया जाता है। तो उस [ज्ञात] का उच्चारण किस लिये किया जाता है? उसका कुछ अन्य विधान करेंगे, कि इसलिये उच्चारण करते हैं। यहां ग्रह आदि को लक्षित करके उसका सम्मार्ग आदि विधान किया जाता है। अतः यदि अन्य एकत्वसंबन्ध ग्रह आदि द्रव्य में वा सम्मार्ग आदि पदार्थ में विधान किया जावे, तो दो सम्बन्धों के विधान से वाक्यभेद होवे। यदि यह कहते हो कि ग्रह आदि को लक्षित करके उसके एकत्व सम्बन्ध का विधान करते हैं, सम्मार्ग आदि सम्बन्ध का विधान नहीं करते। उस अवस्था में संमार्ग आदि का अध्ययन (=पाठ) प्रमाद स्वीकार करना पड़ेगा। यह ऐसा (=प्रमादपाठ) नहीं है। इसलिये दोनों (=ग्रह और सम्मार्ग) के

---

१. इदमभ्युदयेष्टौ द्रष्टव्यम्। अस्या विधानं तै० सं० २।५।५ इत्यत्र द्रष्टव्यम्। अत्र मी० ६।५। अधि० १ अपि द्रष्टव्यम्।

२. ससोमके चातुर्मास्ये श्रूयते—सोमान् वक्ष्यामः पर्वणां स्थाने, अयूपानेके, परिधौ पशुं नियुञ्जन्ति। आश्व० श्रौत ६।२।२-४॥ अत्रस्था नारायणवृत्तिरपि द्रष्टव्या।

३. मानान्तरेण प्राप्तं भवति, ज्ञातमित्यर्थः।

देकत्वं ग्रहस्य न किञ्चिदुपकारं करोति,न सम्मार्गस्य। एवमेव सदनूद्यते। तस्मान्नैतत् किञ्चिदपि कर्तुं विवक्ष्यते इति। सर्वेषां ग्रहादीनां सम्मार्गादि कर्त्तव्यमिति। कुतः? संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च।

यद्यविवक्षितमेकत्वम्, कथं तर्ह्येकवचनमुच्चार्यते? ननु बहुषु विवक्षितेषु बहु-

---

के साथ एकवचन का सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार यह एकत्व ग्रह का कुछ भी उपकार नहीं करता है, और ना ही सम्मार्ग का ही उपकार करता हैं। ऐसे ही (=निष्प्रयोजन ही) विद्यमान का अनुकथन होता है। इसलिये यह (=एकत्व) कुछ भी करने के लिये विवक्षित नहीं हैं। [इस कारण]सब ग्रह आदिकों का सम्मार्ग आदि करना चाहिये। किस हेतु से? [जातिरूप] संयोग के [सब में] समान होने से, और प्रकरण के समान होने से।

विवरण—द्रव्यार्थे दधनि पयसि च प्रणीता धर्माः—यह विधान अभ्युदयेष्टि में है। अभ्युदयेष्टि का विधान तै० सं० २।५।५ में मिलता है। यह अमावास्या में हविनिर्वाप के अनन्तर यदि चन्द्रमा उदय हो जाता है, तो उसके प्रायश्चित्तरूप में विहित है। दर्श के सान्नाय्य पक्ष में दही और दूधरूप यज्ञ के लिये जो हव्य पदार्थ हैं, उनमें प्रणीता के उत्पवन धर्म कहे हैं। प्रणीता अश्वत्थ काष्ठ से निर्मित पात्रविशेष है। इससे जल का नयन किया जाता है। प्रणीता पात्रस्थ जल भी तात्स्थ्य उपाधि से प्रणीता कहा जाता है। उस जल का दक्षिण और उत्तर हाथ में,परस्पर न मिले हुए, धारण किये दो पवित्र (=कुशा के तृण) से जल के मध्यभाग का उछालना वा हिलाना उत्पवन कहाता है। यह उत्पवन धर्म प्रत्येक द्रव द्रव्य में विहित है (द्र०—श्रौतपदार्थ-निर्वचन, पृष्ठ १४, संख्या ११०)। अतः यह दही और पयः में भी संस्कारार्थ प्रयुक्त होता है। पाके उपकुर्वन्ति—अभ्युदयेष्टि में दही और दूध में चरु के पाक का विधान है। अतः उत्पवन धर्म यज्ञीय दही दूध के माध्यम से चरु के पाक में उपकारक होते हैं, यह तात्पर्य है। परिधानार्थे च परिधौ यूपधर्माः बन्धने—आहवनीय अग्नि के कुण्ड की प्रथम मेखला पर दक्षिण पश्चिम उत्तर दिशा में स्थापन करने के लिये पलाश के बाहुमात्र ३ इध्म (=काष्ठ) होते हैं। इनसे आहवनीय का परिधान करने से इन्हें परिधि कहते हैं। चातुर्मास्य के ससोम पक्ष में लिखा है—परिधौ पशुं नियुञ्जन्ति (आश्व० श्रौत ६।२।४) से परिधि में पशुबन्धनरूप यूप का धर्म कहा है। यह यूप-धर्म बन्धन में परिधि के माध्यम से उपकारक होता है। परिधि में यूप के अन्य धर्म नहीं होते हैं। दक्षिण वा उत्तर परिधि में पशु को बांधते हैं। परिधि में बन्धनमात्र से पशु का अपगमन (भाग जाने) का प्रतीकार नहीं होता है। इसलिये परिधि के समीप खूंटा आदि गाड़कर पशु को रोक रखने का उपाय किया जाता है (द्र०—आश्व० श्रौत ६।२।४, नारायणवृत्ति)। प्रधानं ग्रहादि लक्षणत्वेनोच्यते—ग्रहं सम्मार्ष्टि का अर्थ होता है—ग्रहमुद्दिश्य सम्मार्गो विधीयते (=ग्रह को उद्देश करके सम्मार्ग का विधान किया जाता है)। संवादः=सम्यक् वादः=कथन अर्थात् प्रमाणान्तर से ज्ञात होता है।

व्याख्या—(आक्षेप) यदि एकत्व अविवक्षित है, तो एकवचन का क्यों उच्चारण किया

वचनेन भवितव्यम् । उच्यते—न वयमेतद्विचारयामः—एकवचनमुच्चारयितव्यम, नोच्चारयितव्यमिति । उच्चार्यमाणे सति किं प्रतिपत्तव्यम्—एकस्मिन्नेव सम्मार्गादि उत सर्वेष्विति ? तच्च सर्वेष्विति स्थापितम् । अपि च, न विभक्तेर्वचनमेवैकं प्रयोजनम् । किं तर्हि ? कारकसम्बन्धोऽपि । अविवक्षिते एकत्वे कारकसंम्बन्धार्थमस्योच्चारणं भविष्यति । तस्मान्नानर्थकम् ।

अपि च, 'ग्रहः' प्रातिपदिकार्थः, एकत्वं विभक्त्यर्थः । किमतो यद्येवम् ? एतदतो भवति—प्रातिपदिकार्थगतं हि विभक्तिः स्वमर्थं श्रुत्यैव वदति । अथैवं सति किम् ? न सम्मार्गेण सम्भन्त्स्यते इति । तेन हि सम्बध्यमानं वाक्येन सम्बद्धयेत । न च श्रुत्याऽन्येन सम्बध्यमानं वाक्येनाच्छिद्यान्येन सम्बन्धमर्हति । असम्बध्यमानस्त्वेकत्वेन सम्मार्गो यदि नैकत्वविशिष्टः क्रियते, न किञ्चिद् विपन्नं भवति । नचैकविशिष्टः सम्मार्गादिः, ग्रहादिमात्रस्य च विधीयते इति, किमिति द्वितीयस्य तृतीयस्य च न क्रियेतेति ? ।। १४ ।।

चोदिते तु परार्थत्वाद् यथाश्रुति प्रतीयेत ।।१५।। (उ०)

जाता है ? बहुत ग्रहों के विवक्षित होने पर बहुवचन होना चाहिये । (समाधान) हम यह विचार नहीं करते कि—एकवचन उच्चारण करना चाहिये, वा नहीं उच्चारण करना चाहिये । [एक वचन के]उच्चार्यमाण होने पर क्या जानना चाहिये—एक में ही सम्मार्गादि होवें अथवा सब में ? वह [सम्मार्ग आदि] सब [ग्रह आदि] में स्थापित कर दिया है । और भी, विभक्ति का वचन [को कहना] ही एक प्रयोजन नहीं है । तो क्या है ? कारक का सम्बन्ध बताना भी प्रयोजन है । एकत्व के अविवक्षित होने पर भी कारक के सम्बन्ध के लिये इसका उच्चारण होगा । इसलिये अनर्थक नहीं है ।

और भी,'ग्रह' यह प्रातिपदिक का अर्थ है,और एकत्व विभक्ति का अर्थ है । यदि ऐसा है, तो इस से क्या?इससे यह होता है कि—प्रातिपदिक के अर्थ में विद्यमान[एकत्व]को विभक्ति[जो उसका अर्थ एकत्व है उस]स्व अर्थ को श्रुति(=उच्चारण)से ही कहती है । ऐसा होने पर[प्रातिपदिकार्थगत एकत्व को कहने पर]क्या होगा ? सम्मार्ग से सम्बद्ध नहीं होगा ? उस [=सम्मार्ग] से सम्बद्ध हुआ ही वाक्य से सम्बद्ध होगा । और श्रुति से अन्य(=प्रातिपदिक) से सम्बद्ध्यमान [एकत्व] वाक्य से [उसे] अलग करके वह अन्य (=सम्मार्ग) से सम्बद्ध नहीं हो सकता है । एकत्व से असंबद्ध सम्मार्ग यदि एकत्वविशिष्ट नहीं किया जाता है, तो कोई विपन्न (=दोष) नहीं होता है । और यदि सम्मार्ग आदि एकत्व से विशिष्ट नहीं हैं,और ग्रह आदि मात्र का विधान किया जाता है, तो द्वितीय और तृतीय का भी[सम्मार्ग आदि] क्यों न करें ? ।।१४।।

चोदिते तु परार्थत्वाद् यथाश्रुति प्रतीयेत ।।१५।।

सूत्रार्थः—(चोदिते) [पशुमालभेत इस] विहित कर्म में (तु) तो (परार्थत्वात्) पशु के

अथ यदुक्तम्—यथा पशुमालभेत इत्येक एव पशुः पुंपशुश्चालभ्यते, एवमिदमपीति । असत्यत्र वैपरीत्यम् । इह ग्रहार्थः सम्मार्गः । तत्र पुनर्यागार्थः पशुः । किमेवं सति भवति ? यो यागार्थं परिच्छिनत्ति,स यागस्योपकरोति । अपरिच्छिन्नेन न शक्यो यागः कर्तुमिति । न तु ग्रहेण केनचिद्विशिष्टेन सम्मार्गः कर्त्तव्यः, यद् ग्रहं विशिंषत् सम्मार्गस्योपकुर्य्यात् । पशोश्चैतदेकत्वं यागं प्रत्युपदिश्यते । ननूक्तम्—प्रातिपदिकार्थगतं स्वमर्थं विभक्तिः श्रुत्यैवाभिवदतीति । यागे एतद् वाक्येन विधास्यति । तत्र वाक्याच्छ्रुतिर्बलीयसीत्युक्तम् । सत्यम्, यत्र श्रौतोऽभिसम्बन्धो विवक्ष्यते । अविवक्ष्यमाणे च वाक्यावगतः सन्नपर्य्युदसितव्यो भवति । तस्मादेकः पुंपशुश्चालभ्यते इति । ग्रहैकत्वं न

परार्थ=यागार्थ होने से (यथाश्रुति) श्रुति के अनुसार एकत्व और पुंस्त्व का ग्रहण (प्रतीयेत) जाने ।

विशेष—सूत्र १३ में पूर्वपक्षी ने पशुमालभेत उदाहरण देकर कहा था कि जैसे यहां एकत्व और पुंस्त्व विवक्षित है,उसी प्रकार ग्रहं सम्मार्ष्टि में भी एकत्व विवक्षित होना चाहिये। और यदि समाधान-पक्ष से ग्रहं सम्मार्ष्टि में एकत्व अविवक्षित है, तो उसी के अनुसार पशुमालभेत में भी एकत्व और पुंस्त्व अविवक्षित प्राप्त होता है। इन दोनों का समाधान इस सूत्र से किया है।

व्याख्या—और जो यह कहा है कि—जैसे पशुमालभेत [विधान में]एक ही पशु और नर पशु का आलभन किया जाता है, उसी प्रकार यहां (=ग्रहं सम्मार्ष्टि आदि में) भी है। यहां (=पशुमालभेत में) वैपरीत्य है। यहां (=ग्रहं सम्मार्ष्टि में) ग्रह के लिये सम्मार्ग है। और वहां (=पशुमालभेत में) याग के लिये पशु है। ऐसा होने से क्या होता है ? जो [एकत्व और पुंस्त्व] याग के लिये [पशु को] विशेषित करता है, वह याग का उपकार करता है। विना विशेषित [पशु] से याग नहीं किया जा सकता है[अर्थात् जब तक यह ज्ञात न होवे कि किस प्रकार के पशु से याग करना है, तब तक याग नहीं किया जा सकता है]। [ग्रहं सम्मार्ष्टि में] तो किसी [एकत्वादि] से विशिष्ट से सम्मार्ग कर्त्तव्य नहीं है, जो ग्रह को विशेषित करता हुआ सम्मार्ग का उपकार करे। और पशु का यह एकत्व याग के प्रति उपदिष्ट है। (आक्षेप) अभी तो कहा था—प्रातिपदिकार्थगत अपने [एकत्व] अर्थ को विभक्ति श्रुति से ही कहती हैं। याग में यह (=पशु का एकत्व) वाक्य से विधान करेगा। वहां(=श्रुति और वाक्य में) श्रुति बलवती होती है, ऐसा कहा है। (समाधान) सत्य है, जहां श्रौत(=श्रुति-बोधित) सम्बन्ध विवक्षित होता है [वहां श्रुति बलवती होती है]। [श्रुति-सम्बन्ध के]अविवक्षित होने पर वाक्य से जाना गया होता हुआ [वाक्यावगत सम्बन्ध] छोड़ने योग्य होता है। इसलिये [पशुमालभेत में] एक और नर पशु का आलभन किया जाता है। ग्रह का एकत्व

सम्मार्गस्योपकरोतीति । न ग्रहं शक्नोति विशेष्टुम् । तस्मादविवक्षितमिति ॥१५॥ इति सर्वेषां ग्रहादीनां सम्मार्गाद्यधिकरणम् ॥७॥ ग्रहैकत्वन्यायः ॥

[चमसादौ सम्मार्गाद्यप्रयोगाऽधिकरणम् ॥८॥]

संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात् ॥१६॥ (पू०)

अस्ति ज्योतिष्टोमः । तत्र श्रूयते—दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि[1], इति । तत्रैषोऽर्थो-

---

सम्मार्ग का उपकारक नहीं होता है । इसलिये [वह एकत्व] ग्रह को विशेषित नहीं कर सकता है । इसलिये [ग्रह-गत एकत्व] अविवक्षित है ॥१५॥

विवरण—इस अधिकरण का सार यह है कि जिस को उद्देश्य करके कर्म का विधान होता है, वहां संख्या विवक्षित नहीं होती है । अर्थात् उद्देश्यगत संख्या अविवक्षित होती है । और जहां याग को उद्देश्य करके द्रव्य का विधान होता है, वहां द्रव्यविधान के मुख्य होने से तद्गत संख्या और लिङ्ग विवक्षित होते हैं । इसके साथ ही यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि पशुमालभेत में आलभेत क्रिया आलभन (=स्पर्श अथवा संज्ञपन) में ही परिसमाप्त नहीं होती है । इसका यागपर्यन्त अनुधावन होता है, अर्थात् आलभेत क्रिया का पर्यवसान यजेत में होता है । इस यजन क्रिया का पशु करण है । इसी प्रकार अञ्जलिना सक्तून् प्रादाव्ये जुहुयात (तै० सं० ३।३।८) में भी होम के लिये सत्तू के होने से सक्तुभिर्जुहोति ऐसा ही अर्थ विवक्षित होता है । अथवा जुहोति का प्रक्षेप अर्थ जानना चाहिये । इस पक्ष में कर्म में द्वितीया होती है । विशेष द्रष्टव्य महाभाष्य २।३।२ सूत्र ॥१५॥

संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वस्थित पक्ष की निवृत्ति के लिये है । अर्थात् ग्रहं सम्मार्ष्टि में एकत्व ही अविवक्षित नहीं है, ग्रह भी अविवक्षित है । (गुणानाम्) सम्मार्जन आदि गुणों के (संस्कारत्वात्) संस्कार कर्म होने से (अव्यवस्था) व्यवस्था नहीं (स्यात्) होवे । इस कारण ग्रहसदृश सोमसंबद्ध चमससंज्ञक पात्रों का भी सम्मार्जन होवे ।

व्याख्या—ज्योतिष्टोम का विधान है । वहां सुना जाता है—दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि (=सोमरस छाननेवाले वस्त्र के छोर से ग्रह को पोंछता है) । वहां यह अर्थ

---

१. अनुपलब्धमूलम । दशापवित्रेण परिमृज्य परिमृज्य ग्रहासादनम् । कात्या०श्रौत९।५।२३।

ऽधिगतः—सर्वे ग्रहाः सम्मार्जितव्या इति। इदमिदानीं संदिह्यते—किं चमसा अपि सम्मार्ष्टव्या, उत नेति? किं तावत् प्राप्तम्? चमसाद्यपि सर्वं सम्मार्ज्यमिति। कुतः? संयोगतोऽविशेषात्, प्रकरणाविशेषाच्चेति[1]। यथैव हि ग्रहाणामपूर्वसम्बन्धः, एवं चमसानामपि। यथैव च ग्रहा अस्मिन् प्रकरणे, एवं चमसा अपि। तस्मात् सर्वत्र सम्मार्गः।

ननु ग्रहाः श्रूयन्ते, ते चमसानां निवर्त्तका भविष्यन्ति। उच्यते—प्रदर्शनार्थं ग्रहग्रहणं भविष्यति—ग्रहादि सोमपात्रम्। यस्मिन् गृह्यमाणः सोमो व्यवसिच्येतेत्येवमाशङ्क्यते। तत् सर्वं सम्मार्जितव्यम्। यथा 'भोजनकालो वर्त्तते, स्थालानि सम्मृज्यन्ताम्' इत्युक्ते यानि यानि भोजने उपयोगमर्हन्ति, तानि तानि सर्वाणि सम्मृज्यन्ते। स्थालग्रहणं लक्षणार्थमिति गम्यते। एवमिहापि द्रष्टव्यमिति। उच्यते—लोकेऽर्थलक्षणः संव्यवहारः। येन येनार्थः सम्मृष्टेन, उक्तोऽनुक्तो वा, स सम्मृज्येतैव। इह तु वेदे शब्द-

---

जाना गया है कि सब ग्रहों का सम्मार्ग करना चाहिये। अब सन्देह यह होता है कि—चमसों का भी सम्मार्ग करना चाहिये, अथवा नहीं करना चाहिये? तो क्या प्राप्त होता है? चमस आदि सब पात्रों (=जिस-जिस में भी ग्रह के समान सोमरस का ग्रहण होता है) का भी सम्मार्ग करना चाहिये। किस हेतु से? संयोग के समान होने से और प्रकरण के समान होने से (द्र०—सूत्र ३।१।१४ का भाष्य, पृष्ठ ६७६)। जैसे ग्रहों का अपूर्व के साथ संबन्ध है, उसी प्रकार चमसों का भी है। और जैसे ग्रह इस प्रकरण में श्रुत हैं, उसी प्रकार चमस भी श्रुत हैं। इसलिये सर्वत्र सम्मार्ग करना चाहिये।

विवरण—चमसा अपि—चमससंज्ञक चतुष्कोण मध्य में खुदा हुआ पात्र होता है। इसमें भी सोमरस का ग्रहण किया जाता है, और इस से आहुतियां दी जाती हैं। संयोगतोऽविशेषात्—जैसे ग्रहपात्र सोम के ग्रहण और उनसे आहुति देने से अपूर्व=अदृष्ट से सम्बद्ध हैं, वैसे ही चमस भी हैं।

(आक्षेप) [ग्रहं सम्मार्ष्टि में] ग्रह श्रुत हैं, वे चमसों के निवर्तक हो जायेंगे। (समाधान) प्रदर्शन के लिये ग्रह का ग्रहण होगा—ग्रहादि सोमपात्र। जिस में गृह्यमाण (=ग्रहण किया जा रहा) सोम सिंचित (=भरा) जाता है, ऐसी आशङ्का होती है। वह सब पात्र सम्मार्जन करने चाहियें। जैसे—'भोजन का काल है, थालों को साफ करो' ऐसा कहने पर जो-जो पात्र भोजन में उपयुक्त होते हैं, वे-वे साफ किये जाते हैं। थाल का ग्रहण उपलक्षण के लिये है। इसी प्रकरण यहां भी जानना चाहिये। (आक्षेप) लोक में प्रयोजनवश उपलक्षणरूप व्यवहार होता है [अर्थात् प्रयोजनवश उपलक्षणता जानी जाती है]। जिस-जिस के सम्मार्जन से प्रयोजन होता है, चाहे वह उक्त है चाहे अनुक्त, वह सब साफ किया जाता है। यहां वेद

---

१. द्र०—मीमांसाभाष्य ३।१।१४॥ पृष्ठ ६७६ ॥

लक्षणः । शब्दश्च ग्रहस्य सम्मार्गमाह । तत्र किमर्थं श्रुतौ सम्भवन्त्यां ग्रहशब्दो लक्षणया कल्प्यते ? उच्यते—सम्मार्ष्टीति सम्मार्गे पुरुषप्रयत्नं विधातुमेष शब्दः शक्नोति श्रवणेनैव । ग्रहसम्बन्धे तु वाक्येन । श्रुतिश्च वाक्यात् बलीयसी । तस्माल्लक्षणया ग्रहशब्दो वर्ण्यते, न यथाश्रुत इति । तेन यो यः सम्मार्जनसंस्कारार्हः, स स सम्मार्जितव्यः । न ग्रहेष्वेव व्यवतिष्ठेत एवञ्जातीयको गुण इति ॥१६॥

व्यवस्था वाऽर्थस्य श्रुतिसंयोगात् तस्य शब्दप्रमाणत्वात् ॥१७॥ (उ०)

व्यवतिष्ठेत वा ग्रहेष्वेव सम्मार्गो, न चमसेष्वपि प्रसज्ज्येतेति । कुतः ? अर्थस्य

में तो शब्द-लक्षण (=शब्द से लक्षित होनेवाला) व्यवहार है । शब्द केवल ग्रह का सम्मार्ग कहता है । तो वहाँ श्रुति (=श्रुत्यर्थ) के सम्भव होने पर ग्रह शब्द लक्षणा से क्यों कल्पित किया जाये (=उपलक्षणार्थ क्यों माना जाये) ? (समाधान) सम्मार्ष्टि यह शब्द सम्मार्ग में पुरुष के प्रयत्न को विधान करने के लिये श्रवणमात्र से ही समर्थ होता है (=श्रवणमात्र से ही विधान कर सकता है)। ग्रह के सम्बन्ध में तो वाक्य से समर्थ होता है। और श्रुति वाक्य से बलवती होती है। इसलिये लक्षणा से ग्रह शब्द कहा जाता है, यथाश्रुत (=ग्रहमात्र) नहीं कहा जाता है । इसलिये जो-जो सम्मार्जन-संस्कार के योग्य हैं, उस-उस का सम्मार्जन करना चाहिये । केवल ग्रहों में ही इस प्रकार का [सम्मार्जनरूप] गुण स्थिर नहीं होगा ॥१६॥

विवरण—स्थालानि संमृज्यन्ताम्—सुवर्ण रजत आदि का भोजन खाने का बड़ा पात्र, जिस में शाक दाल की कई कटोरियां रखी जा सकें । भाषा में इसी का 'थाल' रूप प्रयुक्त होता है । आकार-सादृश्य से पीतल के बने बड़े पात्र को भी लोक में 'थाल' कहते हैं । थाल का ही ह्रस्व अर्थ में स्त्रीलिङ्ग थाली शब्द लोक में प्रयुक्त होता है । भाषा के थाली शब्द का संस्कृत के स्थाली शब्द के साथ संबन्ध नहीं है । संस्कृत 'स्थाली' शब्द दाल भात पकाने की बटलोई देगची वा पतीली आदि के लिये व्यवहृत होता है । लक्षणार्थ—लक्षित करने के लिये=उपलक्षणार्थ ॥१६॥

व्यवस्था वाऽर्थस्य श्रुतिसंयोगात् तस्य शब्दप्रमाणत्वात् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् चमसों का भी सम्मार्जन करना चाहिये, यह नहीं है । (अर्थस्य) ग्रहरूप अर्थ का (श्रुतिसंयोगात्) श्रुति के साथ संयोग होने से । और (तस्य शब्दप्रमाणत्वात्) चोदना के विषय में शब्द के प्रमाण होने से (व्यवस्था) ग्रहं सम्मार्ष्टि से सम्मार्ग ग्रहों में ही व्यवस्थित होवे ।

व्याख्या—ग्रहों में ही सम्मार्ग व्यवस्थित होवे, चमसों में भी प्राप्त न होवे । किस हेतु

श्रुतिसंयोगात्। श्रूयमाणो हि ग्रहो नोत्स्रष्टव्यः। उत्सृज्यमाने श्रुतिरेव बाध्यते ग्रहमिति। प्रमत्तगीतं तत्रभवतामित्यवगम्यते। न चैतन्न्याय्यम्। तस्माद् ग्रहशब्देन ग्रहं लक्षयित्वा तस्य सम्मार्गसम्बन्धो विधीयते। न चाविदधत् सम्मार्गं शक्नोति तत्सम्बन्धं विधातुम्। अतो विदधात्येवैष शब्दः सम्मार्गम्। न च श्रुतिर्बाधिष्यते। कुतः? सम्मार्ष्टीति सम्मृजिगतं पुरुषप्रयत्नं श्रुत्या शक्नोति विधातुम्। न तत्र कश्चिद्विशेषः—उत्पाद्यमाने वा सम्मृजौ, परेण वा सम्बध्यमाने इति। तेन न ग्रहसम्बन्धेऽपि श्रुतिर्बाधिता भवति। अतो ग्रहेष्वेव सम्मार्गो व्यवस्थातुमर्हतीति।

नन्वपूर्वसंयोगाविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च चमसेष्वपि प्रसज्ज्यते, न ग्रहेष्वेवास्य विधानम्,इत्युक्तम्। अत्रोच्यते—प्रकरणवद्भिरेकवाक्यतां कृत्वा शक्नोति तत्र विधातुम्, नाऽकृत्वैकवाक्यताम्। सा च प्रकरणाद् अनुमीयते। इयं पुनर्ग्रहशब्देन सह प्रत्यक्षा। तस्मान्न प्रकरणे विधानम्। ग्रहैकत्वसम्बन्धं पुनरनुत्सृज्य[1] स्वार्थं न शक्नोति विधातुम्।

से? अर्थ का श्रुति के साथ संयोग होने से। [ग्रहं सम्मार्ष्टि में] श्रूयमाण ग्रह का त्याग नहीं करना चाहिये। [ग्रह का] त्याग करने पर 'ग्रहम्' यह श्रुति ही बाधित होवे। उस अवस्था में आपके पक्ष में ग्रहम् यह प्रमत्तगीत जाना जायेगा। यह (=ग्रह का प्रमत्तगीतत्व) न्याय्य नहीं है। इसलिये ग्रह शब्द से ग्रह को लक्षित करके उसके सम्मार्ग-सम्बन्ध का विधान किया जाता है। सम्मार्ग का विधान न करते हुए उस (=ग्रह) के सम्बन्ध का विधान नहीं किया जा सकता है। इसलिये यह (=ग्रहं सम्मार्ष्टि) शब्द [ग्रह के] सम्मार्ग का विधान करता ही है। इस प्रकार श्रुति बाधित भी नहीं होवेगी। कैसे? सम्मार्ष्टि शब्द संपूर्वक मृजि (=सम्मार्जन) गत पुरुषप्रयत्न को श्रुति विधान कर सकती है। चाहे संमार्ग के उत्पाद्यमान (=विधीयमान) होने पर, चाहे पर (=ग्रह) के साथ सम्बध्यमान होने पर, उसमें कोई विशेष (=भेद) नहीं है। इसलिये वहां (=ग्रहं सम्मार्ष्टि में) ग्रह-सम्बन्ध के होने पर भी श्रुति बाधित नहीं होती है। इस प्रकार ग्रहों में ही सम्मार्ग व्यवस्थित हो सकता है।

(आक्षेप) अपूर्व के संयोग के और प्रकरण के समान होने से चमसों में भी [सम्मार्ग] प्राप्त होवे, ग्रहों में ही इस (=सम्मार्ग) का विधान नहीं है, ऐसा हमने कहा था। (समाधान) प्रकरणवान् पदार्थों से एकवाक्यता करके [सम्मार्ष्टि] उन (=चमसों) में विधान कर सकता है, एकवाक्यता विना किये चमसों में सम्मार्ग का विधान नहीं कर सकता है। और वह (=एकवाक्यता) प्रकरण से अनुमित (=जानी) जाती है। और यह ग्रह शब्द के साथ प्रत्यक्ष एकवाक्यता है। इसलिये प्रकरण में [सम्मार्ग का] विधान नहीं है। स्वार्थ को विना छोड़े ग्रह के एकत्व-सम्बन्ध का विधान नहीं कर सकता है। इसलिये ग्रहैकत्व-विधान से यहां विषमता है। और

---

१. 'सम्बन्धे पुनरुत्सृज्य' इति पाठान्तरमसंबद्धमिव दृश्यते।

तस्माद्वैषम्यं ग्रहैकत्वविधानेन[1]। यदुक्तम्—'यथा स्थालानि सम्मृज्यन्ताम्, इति लक्षणा, तद्वदिहापीति। परिहृतमेतत्। लोके कर्मार्थं लक्षणम्, शब्दलक्षणं पुनर्वेद इति ॥१७॥ इति चमसादौ सम्मार्गाद्यप्रयोगाऽधिकरणम् ॥८॥

[सप्तदशारत्निताया: पशुधर्मताऽधिकरणम् ॥९॥

वाजपेये श्रूयते—सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूपो भवति[2] इति। तत्र सन्देहः—किं सप्तदशारत्निता वाजपेयस्य ऊर्ध्वपात्रे निविशते, उत पशोर्यूपे निविशते इति? किं तावत् प्राप्तम्? ऊर्ध्वपात्रे इति। कुतः? वाजपेयस्य यूपाभावात्। यद् वाजपेयस्यास्ति पात्रं यूपसदृशं तत्र भवितुमर्हति। अस्ति च षोडशिपात्रम्। तच्च खादिरत्वादूर्ध्वत्वाच्च यूपसदृशम्। तत्र निवेशे सति वाजपेयशब्द आञ्जस्येन भवति। इतरथा वाजपेयाङ्ग पशुयागे लक्षणया वाजपेयशब्दो वृत्तः, इति गम्यते। ननु त्वत्पक्षेऽपि यूपशब्दो लक्षणयोर्ध्वपात्रे। उच्यते—सर्वथा वयं लक्षणाशब्दान्न मुच्यामहे। मत्पक्षे तु वाजपेयप्रकरण-

---

जो यह कहा—जैसे 'स्थालों का सम्मार्जन करो' यहाँ लक्षणा है, उसी प्रकार यहां (=ग्रह में) भी [लक्षणा] होवे। इस का परिहार (=समाधान) कर दिया है। लोक में कर्म के लिये अर्थ-लक्षण (=प्रयोजनवश) लक्षणा होती है, वेद में शब्द-लक्षण कर्म होता है ॥१७॥

व्याख्या—वाजपेय में सुना जाता है—सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूपो भवति (=वाजपेय याग का यूप १७ अरत्नि परिमाणवाला होता है)। उसमें संदेह है—क्या सप्तदश अरत्निप्रमाणता वाजपेययाग के ऊर्ध्वपात्र (=ऊंचे खड़े ग्रहादि पात्र) में निविष्ट होती है, अथवा [वाजपेययाग में] पशु के यूप में निविष्ट होती है? क्या प्राप्त होता है? [वाजपेययाग के] ऊर्ध्वपात्र में निविष्ट होती है। किस हेतु से? वाजपेय याग का यूप न होने से। इसलिये वाजपेययाग का जो यूपसदृश [ऊर्ध्व] पात्र है, उसमें [सप्तदश अरत्निता] निविष्ट हो सकती है। षोडशिपात्र है। वह (=षोडशिपात्र) खदिर का बना हुआ होने से, और ऊर्ध्व होने से यूपसदृश है। उस (=षोडशिपात्र) में [सप्तदश अरत्निता का] निवेश होने पर वाजपेय शब्द सरलता से (=श्रुति से=विना लक्षण के) उपपन्न होता है। अन्यथा वाजपेय के अङ्ग पशुयाग में लक्षणा से वाजपेय शब्द वर्तता है, ऐसा जाना जाता है। (आक्षेप) तुम्हारे पक्ष में भी यूपशब्द लक्षणा से ऊर्ध्वपात्र में वर्तता है। (समाधान) हम लक्षणा शब्द से सर्वथा मुक्त नहीं होते हैं। मेरे पक्ष में तो [वाजपेयशब्द का मुख्यार्थ स्वीकार

---

१. काशीसंस्करणे वाक्यमेतत् त्रुटितं वर्तते।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—सप्तदशारत्निर्वाजपेययूपः। शत० ब्रा० ३।६।४।२६॥

मनुगृह्यते। तस्मादूर्ध्वपात्रे निवेश इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

आनर्थक्यात् तदङ्गेषु ॥१८॥ (उ०)

वाजपेयशब्दस्तावत् सोमयागविशेषवचनः। तस्य साक्षाद् यूपेन न प्रयोजनम्। अस्ति तु तस्याङ्गं पशुयागः। तस्य तु पशुं बद्धुं यूपेन कार्यम्। साक्षाद् वाजपेययूपस्य

करने पर] वाजपेय का प्रकरण अनगृहीत होता है। इसलिये [सप्तदश अरत्निता का वाजपेय के] ऊर्ध्वपात्र में निवेश होता है। ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—

विवरण—सप्तदशारत्निः=१७अरत्नि परिमाण है जिसका,यहां बहुव्रीहि समास है। अरत्नि का परिमाण प्रसृत कनिष्ठा (=सब से छोटी फैली हुई अंगुलि)होता है। यह २८अङ्गुल के बराबर होता है। आप० श्रौत १।६।१ की धूर्तस्वामी कृत भाष्य की वृत्ति का अधिक पाठ है—**द्विप्रादेश इध्मो वै कीलेः** (द्र०—मैसूर सं० भाग १, पृष्ठ ५१, टि० ४)। अंगुष्ठ और तर्जनी (=अंगूठे के पास की अङ्गुलि) का फैलाव प्रादेश माना जाता है। यह ११ अङ्गुल परिमाण होता है। अतः २ प्रादेश × ११ अंगुल=२२ अङ्गुल अरत्नि परिमाण होता है। अरत्निपरिमाण बद्धमुष्टि हस्त-वाला=२० अंगुल का होता है। **तच्च खादिरत्वात्**—वह षोडशी ग्रह खदिर का होता है(भाष्य-प्रामाण्य से)। यूप भी खदिर का होता है—**खादिरो यूपो भवति** (शत० ब्रा० ३।६।२।१२)। **ऊर्ध्वत्वाच्च**—ग्रहपात्र भी ऊर्ध्व परिमणावाले होते हैं, और यूप भी। किन्हीं के मत में षोडशी ग्रह अन्य ग्रहों से कुछ अधिक ऊंचा होता है। **लक्षणया वाजपेयशब्दः**—वाजपेयबोधित प्रधान याग में यूप न होने से वाजपेय शब्द का लक्षणा से 'वाजपेय का अङ्ग' ऐसा अर्थ करना पड़ेगा। **यूपशब्दो लक्षणयोर्ध्वपात्रे**—इसका भाव यह है कि वाजपेय शब्द में लक्षणा न मानने पर वाजपेय में यूप न होने से यूप शब्द का लक्षणा से यूपसदृश ऊर्ध्वपात्र अर्थ करना पड़ेगा।

आनर्थक्यात् तदङ्गेषु ॥१८॥

सूत्रार्थः—[मुख्य कर्म में किसी विधि के] (आनर्थक्यात्) अनर्थक होने से (तदङ्गेषु) उस कर्म के अङ्गों में उसका विधान जानना चाहिये।

विशेष—सूत्र सामान्य है। इसमें किसी कर्मविशेष का निर्देश नहीं है। व्याख्याकारों ने वाजपेययाग में श्रुत **सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूपो भवति** उदाहरण दिया है। तदनुसार वाजपेय जो सोमप्रधान याग है,उसमें सप्तदश अरत्निपरिमाणवाले यूप का विधान अनर्थक होने से उसके अङ्ग-भूत पशुयाग के यूप में सप्तदश अरत्नि परिमाण का निवेश होता है।

व्याख्या—वाजपेय शब्द सोमयागविशेष का वाचक है। उसका साक्षात् यूप से कोई प्रयोजन नहीं है। परन्तु उसका अङ्गभूत पशुयाग है। उस (=अङ्गभूत पशुयाग) का पशु को बांधने के लिये यूप से कार्य है। यदि साक्षात् वाजपेय के यूप की सप्तदश अरत्निता का विधान कहते

यदि सप्तदशारत्निता विधीयते, तस्याभावादनर्थकमेव वचनं प्राप्नोति। तदनर्थकं मा भूदिति, योऽस्य पशुयागे यूपः, तत्र निवेशमर्हति। ऊर्ध्वपात्रे च यूपशब्दो लक्षणया स्यात्। नन्वितरस्मिन्नपि पक्षे वाजपेयशब्दो लक्षणयेति। नेति ब्रूमः। वाजपेये एव वाजपेयशब्दो भविष्यति। शक्ष्यति च स पशुयूपं विशेष्टुम्। सोऽस्याङ्गस्योपकारकः। यश्च यस्योपकारिण उपकरोति, भवति स तस्य[1] सम्बद्धो मुख्येनैव सम्बन्धेन। न चैकान्तरितम्, इति कृत्वाऽसम्बद्धो भवति। यथा देवदत्तस्य नप्ता इति पुत्रेण च असावन्तरितः। अथ च देवदत्तेन मुख्येनैव सम्बन्धेन सम्बद्धः। तस्मादेष एव पक्ष आश्रयणीयः। न हि एतस्मिन् पक्षे कश्चिदपि लक्षणाशब्दो भवतीति ॥१८॥ इति सप्तदशारत्नितायाः पशुधर्मताऽधिकरणम् ॥६॥

हैं, तो [वाजपेय में] उस (=यूप) के अभाव होने से [सप्तदश अरत्निता] वचन की अनर्थकता ही प्राप्त होती है। यह वचन अनर्थक न होवे, इसलिये जो इस (=वाजपेय) का पशुयाग में यूप है, उसमें [सप्तदश अरत्निता का] निवेश होना योग्य है। और ऊर्ध्वपात्र (=ग्रह) में (सप्तदश अरत्निता का निवेश मानने में] यूप शब्द लक्षणा से होगा। (आक्षेप) दूसरे पक्ष में भी वाजपेय शब्द लक्षणा से [तदङ्ग पशुयाग को कहनेवाला] होगा। (समाधान) [वाजपेय शब्द लक्षणा से] नहीं होता है, ऐसा हम कहते हैं। वाजपेययाग में ही वाजपेय शब्द वर्तमान होगा। और वह (=वाजपेय शब्द) पशु के यूप को विशेषित कर सकेगा। वह (=पशुयूप) इस (=वाजपेय) के अङ्ग (=पशुयाग) का उपकारक है। जो जिस (=वाजपेय) के उपकार करनेवाले (=पशुयाग) का उपकारक होता है, वह (=उपकारी का उपकारक) मुख्य सम्बन्ध से ही उससे सम्बद्ध होता है। एक से व्यवहित है, ऐसा मानकर असम्बद्ध नहीं होता है। जैसे देवदत्त का नप्ता (=पौत्र) [यहां देवदत्त का नप्ता] पुत्र से व्यवहित हैं। फिर भी मुख्य सम्बन्ध से ही देवदत्त के साथ सम्बद्ध होता है। इसलिये यही पक्ष आश्रय के योग्य है। इस पक्ष में कोई भी लक्षणा शब्द नहीं होता है ॥१८॥

विवरण—तस्य सम्बद्धो मुख्येनैव—'तस्य' यही सार्वत्रिक पाठ है, परन्तु अर्थ के अनुरोध से 'तेन सम्बद्धो०' पाठ होना चाहिये। यथा आगे देवदत्तेन मुख्यनैव सम्बन्धेन सम्बद्धः वाक्य में देवदत्तेन में तृतीयान्त पाठ है। अथवा—तस्य यहां तृतीया के अर्थ में षष्ठी विभक्ति जाननी चाहिये।

---

१ तस्येति षष्ठ्यः सार्वत्रिकः पाठः। तथाऽप्यत्र 'तेन सम्बद्धः' इत्येवं पाठेन भाव्यम्। यथोत्तरवाक्ये 'देवदत्तेन मुख्येनैव सम्बन्धेन सम्बद्धः' इत्यत्र तृतीयान्तो देवदत्तशब्दः। यद्वा—तृतीयार्थे षष्ठी द्रष्टव्या। यथा 'अश्मकैरागच्छामि' इत्यत्र पञ्चम्यर्थे तृतीया। द्र०—मी० १।३।२६ सूत्रं तद्भाष्यं च।

[अभिक्रमणादीनां प्रयाजमात्राऽङ्गताऽधिकरणम् ॥१०॥]

कर्तृगुणे तु कर्मासमवायाद्वाक्यभेदः स्यात् ॥१६॥ (पू०)

दर्शपूर्णमासयोः प्रयाजवाक्ये श्रूयते—'अभिक्रामं जुहोत्यभिजित्यै'[1] इति। तत्र सन्देहः—किमभिक्रमणं प्रयाजेष्वेव निविशते, उत कृत्स्ने प्रकरणे इति ? किं तावत् प्राप्तम् ? कर्तृगुणेऽभिक्रमणे ब्रूमः—वाक्यभेदः स्यादिति। कर्मणा कर्मणोऽसमवायात्। अभिक्रमणं कर्म अमूर्त्तम्, न तत्कर्म्म हवनं साधयितुं शक्नोति। तस्मान्न तेनैकवाक्यतां याति। अतः सर्वस्मिन् प्रकरणे निविशते। संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्चेति। नन्वनेनैव हेतुनाऽन्यस्मिन्नपि न निवेक्ष्यते। उच्यते—अन्यत्र पुरुषैः सम्भन्त्स्यते। ननु प्रयाजेष्वपि

यथा—अश्मकैरागच्छामि में पञ्चम्यर्थ में तृतीया विभक्ति है। इस विषय के लिये मीमांसा १।३। २६ सूत्र, और उसका भाष्य (भाग १, पृष्ठ २६७-२६८) देखना चाहिये ॥१८॥

कर्तृगुणे तु कर्मासमवायाद् वाक्यभेदः स्याद् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(कर्तृगुणे) कर्ता के गुण अभिक्रमण में (कर्मासमवायात्) [अभिक्रमण कर्म का] 'जुहोति' कर्म के साथ समवाय=सम्बन्ध न होने से (वाक्यभेदः) वाक्यभेद (स्यात्) होवे। अर्थात् प्रयाजयाग में अभिक्रामं जुहोति (=अभिक्रमण करते हुए आहुति देवे) में उक्त अभिक्रमण का वाक्यभेद होकर सारे दर्शपूर्णमास-प्रकरण में सम्बद्ध होता है।

व्याख्या—दर्शपूर्णमास के प्रयाजयाग-सम्बन्धी वाक्य में सुना जाता है—अभिक्रामं जुहोति अभिजित्यै (=अभिक्रमण=आगे बढ़ते हुए आहुति देवे, सब ओर से जय के लिये)। इसमें सन्देह है - क्या यह अभिक्रमण प्रयाजों में ही निविष्ट होता है, अथवा सम्पूर्ण [दर्शपूर्णमास] प्रकरण में ? क्या प्राप्त होता है ? कर्ता के गुणरूप अभिक्रमण के विषय में कहते हैं—वाक्यभेद होवे। कर्म (=क्रिया) के साथ कर्म (=क्रिया) का समवाय (=संबन्ध) न होने से। अभिक्रमण कर्म अमूर्त है, वह हवनरूप कर्म को सिद्ध नहीं कर सकता है। [इसलिये अभिक्रमण] उस (=होमरूप कर्म) के साथ एकवाक्यता को प्राप्त नहीं होता है। इसलिये सम्पूर्ण [दर्शपूर्णमास] प्रकरण में संबद्ध होता है। संयोग के समान होने से, और प्रकरण के समान होने से। (आक्षेप) इसी (=कर्म कर्म के साथ संबद्ध नहीं होता है) हेतु से अन्य [कर्म] में भी संबद्ध नहीं होगा। (समाधान) अन्यत्र पुरुषों के साथ सम्बद्ध होगा [अर्थात् पुरुष जो भी कर्म करें,

---

१. तै० सं० २।६।१॥

पुरुषैः सम्बद्ध्येत। नैतदेवम्। जुहोतीति हवने एष शब्दः पुरुषप्रयत्नं विदधातुं शक्नोति, न पुरुषाभिक्रमणसम्बन्धम्। नन्वन्यत्रापि पुरुषाभिक्रमणसम्बन्धस्याविधानम्। नैष दोषः। अन्यत्र प्रकरणाम्नानादङ्गभावे निर्ज्ञाते प्रयोगवचनोऽस्य कर्त्तव्यतां वक्ष्यति। तस्मात् सर्वस्मिन् प्रकरणेऽभिक्रमणस्य निवेश इति ॥१९॥

साकाङ्क्षं त्वेकवाक्यं स्याद् असमाप्तं हि पूर्वेण ॥२०॥ (उ०)

नैतदस्ति यदुक्तम्—'अभिक्रमणं प्रकरणे निविशते' इति। प्रयाजेष्वेव भवितुमर्हति। कुतः? तैः सहास्यैकवाक्यता। यतः साकाङ्क्षमेतत्, पूर्वेण पदेनासमाप्तं वाक्यम्। अभिक्राम जुहोति इत्यत्र पर्यवस्यति। प्रकरणाच्च वाक्यं बलवद्, इति प्रयाजेष्वेवाभिक्रमणं निवि-

---

अभिक्रमण करते हुए करें]। (आक्षेप) तब तो प्रयाजों में भी पुरुषों के साथ सम्बद्ध होवे [अर्थात् प्रयाज होम करनेवाले पुरुष आगे बढ़ते हुए होम करें]। (समाधान) ऐसा नहीं हो सकता है। यहां 'जुहोति' यह शब्द हवन में पुरुष-प्रयत्न को कह सकता है, पुरुष के अभिक्रमण सम्बन्ध को नहीं कह सकता। (आक्षेप) अन्यत्र भी पुरुष के अभिक्रमण-सम्बन्ध का विधान नहीं होगा। (समाधान) यह दोष नहीं है। अन्यत्र प्रकरण में पठित होने से [अभिक्रमण के] अङ्गभाव के ज्ञात हो जाने पर प्रयोगवचन इस (=अभिक्रमण) की कर्तव्यता को कहेगा। इसलिये पूरे प्रकरण में अभिक्रमण का निवेश होता है ॥१९॥

विवरण—श्रौतयज्ञों में प्रधान आहुतियों से पूर्व प्रयाजसंज्ञक होम होते हैं, और पश्चात् अनुयाजसंज्ञक। इन प्रयाजों के प्रकरण में लिखा है– अभिक्रामं जुहोत्यभिजित्यै (=जय के लिये आगे बढ़ते हुए आहुति देवे)। इस विषय में हम मी० २।२।२ के भाष्य-विवरण (पृष्ठ ४४७) में विस्तार से लिख चुके हैं ॥१९॥

साकाङ्क्षं त्वेकवाक्यं स्याद् असमाप्तं हि पूर्वेण ॥२०॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् अभिक्रमण का पूरे दर्श-पूर्णमास में निवेश होता है, यह ठीक नहीं है, (साकाङ्क्षम्) अभिक्रामं जुहोति के पद परस्पर साकाङ्क्ष हैं, इसलिये (एकवाक्यम्) एकवाक्य (स्यात्) होवे। (पूर्वेण) पूर्व अभिक्रामम् से वाक्य (असमाप्तं हि) निश्चय से असमाप्त है।

व्याख्या—यह नहीं है जो कहा है—'अभिक्रमण [दर्शपूर्णमास]-प्रकरण में सम्बद्ध होता है'। [यह अभिक्रमण] प्रयाजों में ही [संबद्ध] हो सकता है। किस हेतु से? उन प्रयाजयागों के साथ इस (=अभिक्रमण) की एकवाक्यता है। यतः यह साकाङ्क्ष है, पूर्वपद (=अभि-क्रामम्) से वाक्य असमाप्त है। अभिक्रामं जुहोति में (=अभिक्रमण का 'जुहोति' के साथ सम्बन्ध होने पर) वाक्य पूरा होता है। प्रकरण से वाक्य बलवान् होता है, इसलिये प्रयाजों में

शते। नन्वभिक्रमणममूर्तत्वाद्धोमनिर्वृत्तावसमर्थम्, इत्युक्तम्—उच्यते साक्षादसमर्थम्। कर्त्रा सम्बध्यमानं शक्ष्यति निर्वर्त्तयितुम्। कथम्? अभिक्रमणेन समासीदति आहवनीयं कर्त्ता। द्वयमभ्युपायभूतं होमस्य—दूराद्वाऽभिप्रसार्य हस्तं जुहुयात्, समासीदन्[1] वाऽभिक्रमणेन। तस्मादभिक्रमणमुपकरोति होमस्य, इत्यवगम्यते। अतः प्रयाजेष्वेव निवेश इति ॥२०॥ इत्यभिक्रमणादीनां प्रयाजमात्राऽङ्गताऽधिकरणम् ॥१०॥

[उपवीतस्य प्राकरणिकाङ्गताऽधिकरणम् ॥११॥]

दर्शपूर्णमासयोः[2] सप्तमाष्टमयोर्ब्राह्मणानुवाकयोः[3] सामिधेन्य उक्ताः। नवमे निविदः, दशमे काम्याः सामिधेनीकल्पाः। इदंकामस्यैतावतीरनुब्रूयात्, इदंकामस्यैतावतीरिति। एकादशे च यज्ञोपवीतमाम्नातम्—उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत् कुरुते[4] इति। तत्र संदेहः—किं

ही अभिक्रमण निविष्ट होता है। (आक्षेप) अभिक्रमण अमूर्त होने से होम की सिद्धि में असमर्थ है, ऐसा हमने कहा था। (समाधान) [अभिक्रमण होम के साथ सम्बद्ध होने में] साक्षात् असमर्थ है। कर्ता के साथ सम्बद्ध होता हुआ [होम को] सिद्ध करने में समर्थ होगा। कैसे? कर्ता [होम करने के लिये] अभिक्रमण से आहवनीय के पास जाता है। होम के दोनों ही उपाय हैं—दूर से हाथ फैलाकर होम करे, अथवा अभिक्रमण से आहवनीय के समीप होता हुआ होम करे। इस से अभिक्रमण होम का उपकार करता है, यह जाना जाता है। इसलिये [अभिक्रमण का प्रकरण से] प्रयाजयागों में ही निवेश होता है ॥२०॥

व्याख्या—दर्शपूर्णमास की [तै० सं० काण्ड २, प्रपा० ५ के] सप्तम अष्टम ब्राह्मण अनुवाक में सामिधेनियां कही हैं। नवम अनुवाक में निवित् संज्ञक मन्त्र पढ़े हैं, दशम अनुवाक में सामिधेनी के विविध कल्प (=पक्ष) समाम्नात हैं, इस कामनावाले की इतनी सामिधेनियां बोले, इस कामनावाले की इतनी। एकादश अनुवाक में यज्ञोपवीत समाम्नात है—उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत् कुरुते (=उपव्यान=यज्ञोपवीत को वाम कन्धे पर धारण करना, वह देवों

---

१. 'समासीदेद् अन्वाभिक्रमणेन' इति सर्वत्रमुद्रितः पाठोऽप्यर्थाननुगतत्वादपपाठः।

२. दर्शपूर्णमासयोः प्रकरणं तैत्तिरीयसंहिताया द्वितीयकाण्डस्य पञ्चमषष्ठप्रपाठकयोराम्नायते।

३. तैत्तिरीयसंहिताया द्वितीयकाण्डे पञ्चमप्रपाठके इति शेषः।

४. तै० सं० २।५।११॥

सामिधेनीरेवानुब्रुवाणः उपव्ययेत, उत प्रकरणे सर्वानेव पदार्थाननुतिष्ठता उपव्यातव्यमिति ? कुतः संशयः ? किम् उपवीतं सामिधेनीनां प्रकरणे समाम्नातम्, अथ निर्वृत्ते वा तासां प्रकरणे, इति न ज्ञायते ?

ननु दर्शपूर्णमासयोरेव प्रकरणमिदम् । परप्रकरणे सामिधेन्यः श्रूयन्ते । सत्यम्, परप्रकरणे श्रूयन्ते, तथापि तासामवान्तरप्रकरणमपरम् । भवति हि सामिधेनीरनुब्रूयाद्

के चिह्न को करता है) । इसमें सन्देह है—क्या सामिधेनी मन्त्रों को पढ़ता हुआ ही यज्ञोपवीत को वाम कन्धे पर धारण करे, अथवा [दर्शपूर्णमास] प्रकरण में सभी कर्मों का अनुष्ठान करते हुए उपव्यान (=दाहिना हाथ बाहर निकालते हुए यज्ञोपवीत को बायें कन्धे पर धारण) करे ? किस हेतु से संशय है ? क्या उपवीत सामिधेनी के प्रकरण में पढ़ा है, अथवा उन (=सामिधेनियों) के प्रकरण के निवृत्त हो जाने पर, यह नहीं जाना जाता है ?

विवरण—दर्शपूर्णमासयोः—दर्शपूर्णमास कर्म का तै० सं० काण्ड दो के पञ्चम षष्ठ प्रपाठक में कथन है । **सप्तमाष्टमयोर्ब्राह्मणानुवाकयोः**—भाष्यकार का यह संकेत तैत्तिरीय संहिता के द्वितीय काण्ड के पञ्चम प्रपाठक की ओर है । इस निर्देश से जाना जाता है कि आचार्य शबर स्वामी तैत्तिरीय संहिता के अध्येता थे । क्योंकि पूरा निर्देश न करके सांकेतिक निर्देश प्रायः व्याख्याकार अपनी संहिता वा ब्राह्मण के लिये करते हैं । **सामिधेन्यः**—अग्नि को प्रदीप्त करने वाली ऋचाएं सामिधानी कहाती हैं । ये प्रकृतियाग में १५ होती हैं । इनसे प्रतिमन्त्र अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये एक-एक समित् आहवनीयाग्नि में छोड़ी जाती हैं । **नवमे निविदः**—सामिधेनी के पाठ के अनन्तर जो प्रवर और स्रुक् ग्रहण के मन्त्र प्रयुक्त होते हैं, उन्हें निवित् कहा जाता है । **उपव्ययते**—उपव्यान का अर्थ है—यज्ञोपवीत को बायें कन्धे पर धारण कर दाहिना हाथ बाहर निकालना । इस प्रकार यज्ञोपवीत को धारण करना देवों का चिह्न माना जाता है । इसलिये समग्र देवकर्म में यज्ञोपवीत को बांये कन्धे पर ही धारण करना चाहिये । मनुस्मृति २।६३ में कहा है—**उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः । सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥** अर्थात् दक्षिण हाथ को बाहर निकालने (=बायें कन्धे पर जनेऊ धारण करने) पर द्विज उपवीती कहाता है । बायें हाथ को बाहर निकालने पर प्राचीनावीती, और कण्ठ में लटकाने पर निवीती कहाता है । तै० सं० २।५।११ में कहा है—**निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितृणामुपवीतं देवानाम्** । अर्थात् मानुष कर्म में निवीत, पितृकर्म में प्राचीनावीत, और देवकर्म=यज्ञादि में उपवीत धारण करना चाहिये । इस से स्पष्ट है कि सम्प्रति देवकर्म को छोड़ कर सर्वकाल में जनेऊ का उपवीत धारण करना शास्त्रविरुद्ध है ।

व्याख्या—(आक्षेप) यह दर्शपूर्णमास का ही प्रकरण है । सामिधेनियां पर (=दर्शपूर्णमास) के प्रकरण में सुनी जाती हैं । [इस कारण उपवीत का सम्बन्ध दर्शपूर्णमास के साथ होगा] । (समाधान) सत्य है, [सामिधेनियां] पर के प्रकरण में सुनी जाती हैं, फिर भी उन (=सामिधेनियों) का अवान्तर दूसरा प्रकरण है । सामिधेनीरनुब्रूयात् (=सामिधेनियों

इति विशेषाङ्क्षं वचनम्। येन तत्सन्निधावभिधीयमानं तस्येति ज्ञायते। कथं पुनर्निवृत्तं तासां प्रकरणमित्याशङ्क्यते? निवित्पदानि तासां प्रकरणं व्यवदधतीति। यद्येवं, कथमनुवर्त्तते प्रकरणमित्याशङ्का? परस्तान्निविदां सामिधेनीगुणा एव काम्या विधीयमानाः श्रूयन्ते, यदनन्तरं यज्ञोपवीतमाम्नातम्। तेनानिवृत्तं सामिधेनीनां प्रकरणमिति भवति मतिः। अतः परप्रकरणे निविदः समुपनिपतिता न व्यवदधति। यथा द्वादशोपसत्ताऽहीनधर्मो[1] ज्योतिष्टोमप्रकरणे इति। तेन भवति सन्देहः।

अस्मिन् सन्दहे किं तावत् प्राप्तम्? सामिधेनीप्रकरणम अनिवृत्तम्। तत्र उप-

---

को पढ़े) यह वचन साकाङ्क्ष होता ही है। जिससे उसके समीप में कहा गया [कर्म] उस (=सामिधेनी-प्रकरण) का जाना जाता है। (आक्षेप) उन (=सामिधेनियों) का प्रकरण निवृत्त हो गया, यह आशङ्का कैसे होती है? (समाधान) निवित् पद उनके प्रकरण को व्यवहित करते हैं। (आक्षेप) यदि ऐसा है (=निवित् पद व्यवधायक हैं), तो [सामिधेनियों का प्रकरण अनुवृत्त है, यह आशङ्का कैसे होती है? (समाधान) [निवित् पदों के] पश्चात् सामिधेनियों के गुण ही काम्यरूप से विहित सुने जाते हैं, जिसके अनन्तर यज्ञोपवीत का कथन है। इससे सामिधेनियों का प्रकरण निवृत्त नहीं हुआ, ऐसी बुद्धि होती है। इस कारण पर (=सामिधेनियों) के प्रकरण में पठित निवित् पद व्यवधान नहीं करते हैं। जैसे द्वादश उपसत् का होना अहीन का धर्म ज्योतिष्टोम प्रकरण में [पढ़ा गया ज्योतिष्टोम प्रकरण का व्यवधायक नहीं होता है]। इस से सन्देह होता है।

विवरण—विशेषाकाङ्क्षं वचनम्—सामिधेनीरनुब्रूयात् इस वचन को यह आकाङ्क्षा होती है कि सामिधेनियों को किस प्रकार बोले? उपवीत का सम्बन्ध होने पर 'उपवीति होकर सामिधेनियों को पढ़े' इस प्रकार आकाङ्क्षा मिट जाती है। द्वादशोपसत्ताऽहीनधर्मः—द्विरात्र से लेकर एकादशरात्र पर्यन्त सोमयाग अहीन कहाते हैं—द्विरात्रादीनाम् आ एकादशरात्राद् अहीनत्वम् (शाबरभाष्य ८।२।२५)। सोमयागों में उपसद्संज्ञक याग होते हैं। इनकी संख्या अग्निष्टोम (=ज्योतिष्टोम) में तीन होती है, अहींनसंज्ञक सोमयागों में द्वादश। ज्योतिष्टोमप्रकरणे—ज्योतिष्टोम (=अग्निष्टोम) के प्रकरण में कहा है—तिस्र एवाग्निष्टोमस्योपसदः कार्या द्वादशाऽहीनस्य (मै० सं० ३।८।२)। तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य (तै० सं० ६।२।५)।

व्याख्या—इस सन्देह में क्या प्राप्त होता है? सामिधेनी का प्रकरण अनिवृत्त (=चालू)

---

१ द्र०—तिस्र एवाग्निष्टोमस्योपसदः कार्या द्वादशाहीनस्य। मै० सं० ३।८।२; तिस्र एव साह्नस्यस्योपसदो द्वादशाहीनस्य। तै० सं० ६।२।५॥

वीतं समाम्नातमिति। कुतः? काम्यानां सामिधेनीकल्पानामानन्तर्य्यंवचनात्। हृदयमनुविपरिवर्त्तमानासु सामिधेनीषु उपवीतमामनन्ति। कर्तुश्च वासोबिन्यासमात्रं गुणो भवत्युपवीतं नाम। किं कुर्वता तत् कर्त्तव्यमिति, भवति तत्र पदार्थाकाङ्क्षा? तत्र बुद्धौ सन्निहितेनाविप्रकृष्टेन सामिधेनीवाक्येनैकवाक्यतामुपगम्य, सामिधेनीषु 'उपवीतमुपव्ययते', इत्येष शब्दो विदधाति, इति गम्यते। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

है। उसी (=सामिधेनी) के प्रकरण में उपवीत पढ़ा है। किस हेतु से? काम्य सामिधेनी पक्षों के अनन्तर [उपवीत का] वचन होने से। हृदय के प्रति विपरिवर्तमान (=विविधरूप से कही गई) सामिधेनियों में उपवीत का पाठ करते हैं। [यज्ञ के] कर्ता के वस्त्र का विशिष्ट-रचनामात्र गुण उपवीत होता है। क्या करते हुए वह (=उपवीत=वस्त्ररचना) करना चाहिये, यह वहां पदार्थ की आकाङ्क्षा होती है। वहां बुद्धि में सन्निहित (=उपस्थित) समीपस्थ सामिधेनी वाक्य के साथ एकवाक्यत्व को प्राप्त होकर, सामिधेनियों में उपवीतमुपव्ययते (=उपवीत को बायें कन्धे पर धारण करे), यह शब्द विधान करता है, ऐसा जाना जाता है। ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—

विवरण—हृदयमनुविपरिवर्तमानासु—हमें यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। तन्त्रवार्तिक और बृहती टीका में इसकी व्याख्या नहीं है। हमने कथंचित् उक्त पाठ की व्याख्या कर दी है। हमारे विचार में यहां 'हृदयमनु अविपरिवर्तमानासु सामिधेनीषु' (=हृदय में अपरिवर्तित रूप से वर्तमान सामिधेनियों में) पाठ होना चाहिये।

यज्ञोपवीत (=जनेऊ) का स्वरूप—कर्तुश्च वासोविन्यासमात्रं गुणो भवत्युपवीतं नाम—इससे स्पष्ट होता है कि यज्ञोपवीत=जनेऊ का जो त्रिवृत् तन्तु स्वरूप है, वह अर्वाचीन है। प्राचीन काल में दुपट्टे को धारण करने की ही तीन विधियां उपवीत प्राचीनावीत और निवीत कहाती थीं। मानुषकर्म=सभा आदि में उपस्थिति के समय दुपट्टे को गले में डालकर दोनों छोर आगे लटकाये जाते थे [ऐसी प्रथा अभी भी कहीं-कहीं है]। यज्ञकर्म और पितृकर्म करते समय दुपट्टे के लटकनेवाले दोनों छोर कर्म में बाधक न होवें, इसलिये यज्ञकर्म के समय दाहिने कन्धे पर आनेवाले छोर को पीछे की ओर दाहिने हाथ के नीचे से निकालकर बांये कन्धे पर डाला जाता था। यही दुपट्टा धारण का रूप 'उपवीत' कहाता था। पितृकर्म में उक्त विधि से उलटा बायें हाथ के नीचे से उस छोर को निकालकर दाहिने कन्धे पर डाला जाता था। यह स्वरूप प्राचीनावीत था। मानुष कर्म में दुपट्टे के दोनों छोर आगे को लटकाना निवीत कहाता था।

अन्य प्रमाण—धर्मशास्त्रों में स्नातक नियमों में उत्तरीय वस्त्र (=शरीर ढांकने का वस्त्र चादर) के अभाव में द्वितीय यज्ञोपवीत धारण करने का विधान उपलब्ध होता है। उत्तरीय वस्त्र का प्रयोजन तन्तुरूप यज्ञोपवीत से सिद्ध नहीं हो सकता है। इस से विदित होता है कि पुराकाल में यज्ञोपवीत दुपट्टा जैसा वस्त्रविशेष ही था, जिसे आवश्यकता पड़ने पर उत्तरीय वस्त्र के

सन्दिग्धे तु व्यवायाद् वाक्यभेदः स्यात् ॥२१॥ (उ०)

रूप में धारण किया जा सकता था। महाभारत में युद्धक्षेत्र में भीष्म के वर्णन में लिखा है—'श्वेतयज्ञोपवीतवान् शुशुभे च पितामहः'। उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत् कुरुते (तै० सं० २।५।११) से भी इसे देवचिह्न कहा है। कादम्बरी में भी महाश्वेता के वर्णन में यज्ञोपवीतेनालंकृताम् विशेषण प्रयुक्त हुआ है। वहां भी यज्ञोपवीत को अलंकारक कहा है। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक—यज्ञोपवीत वस्त्र के ऊपर धारण किया जाता था। दूसरी—वह शोभा का कारण भी बनता था। तन्तुरूप यज्ञोपवीत सूक्ष्म होने से शोभा वा अलंकार का कारण उपपन्न नहीं होता है। इस से स्पष्ट है कि तन्तुरूप यज्ञोपवीत का स्वरूप अर्वाचीन है। उसका वस्त्र के नीचे धारण करना तो सम्भवतः मध्यकाल में हुआ है। इस दृष्टि से जो लोग तन्तुरूप यज्ञोपवीत के विधान के लिये मन्त्रों में प्रयुक्त त्रिवृत् शब्द का आश्रय लेते हैं, और इसके एक-एक तन्तु के प्रयोजन वा माहात्म्य के वर्णन में आकाश-पाताल एक कर देते हैं। वह सब यज्ञोपवीत के प्राचीन स्वरूप को यथावत् न जानने से चिन्त्य है। वस्त्ररूप यज्ञोपवीत दैव पितर वा मानुष कर्म के समय में ही धारण किया जाता था। शयनकाल में वह वस्त्र खूंटी पर टांग दिया जाता था।

शौचादि के समयकान पर जनेऊ लपेटने का कारण—जयपुर के राजगुरु स्व०श्री पं०मधुसूदन जी ओझा ने सन् १९३१ में शतपथ ब्राह्मण पढ़ाते हुए,एक शिष्य द्वारा शौचादि के समय कान पर जनेऊ लपेटने का कारण पूछने पर आपने कहा था—'शौचादि के समय कान की नस से ब्रह्मप्राण बाहर निकलता है,उसे रोकने के लिये कान पर जनेऊ लपेटा जाता है। यज्ञोपवीत-संस्कार से पूर्व वा संन्यास के समय यज्ञोपवीत त्यागने पर भी ब्रह्मप्राण निकलता रहेगा, ऐसा मेरे पूछने पर कहा कि उपवीत-संस्कार के समय ही ब्रह्मप्राण उत्पन्न होता है, और संन्यास-संस्कार से समाप्त हो जाता है। स्त्री और शूद्रों में ब्रह्मप्राण होता ही नहीं है। ऐसी बिना सिर पैर की कल्पना भी सर्वथा हेय है। कान पर जनेऊ लपेटने में सीधा-सादा दृष्ट प्रयोजन है। अशुचि अवस्था में सम्भाषण आदि का धर्मशास्त्रों में निषेध किया है। कान पर जनेऊ लपेटने से यह विदित हो जाता है कि यह व्यक्ति सम्प्रति अशुचि है। अतः इस से सम्भाषण नहीं करना चाहिये।

सन्दिग्धे तु व्यवायाद् वाक्यभेदः स्यात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् उपवीत का सामिधेनियों के साथ सम्बन्ध है, यह नहीं है। (सन्दिग्धे) प्रकरण के सन्दिग्ध होने पर, अर्थात् सामिधेनी का प्रकरण समाप्त हो गया है वा नहीं, ऐसा सन्देह होने पर (व्यवायात्) निवित् पदों के व्यवधान से (वाक्यभेदः) यज्ञोपवीत विधायक वाक्य का सामिधेनी से भेद (स्यात्) होवे। अर्थात् यज्ञोपवीत वाक्य सामिधेनी के साथ सम्बद्ध न होकर महाप्रकरण दर्शपूर्णमास के साथ सम्बद्ध होवे।

विशेष—सुबोधिनी वृत्ति में 'सन्दिग्धेषु' पाठ मिलता है। अर्थ किया है—अवान्तर प्रकरण

नास्मिन् सन्देहे यस्त्वयोक्तः स निर्णयः। अस्मिन् सन्देहे 'वाक्यभेदः' इति निर्णय इति। कुतः? व्यवायात्। इह समाप्तस्य सानुबन्धस्य सामिधेनीवाक्यस्य, अस्य चोपव्ययते इति वचनस्य, निविदां विधायकेन सामिधेनीभिरसम्बद्धेन ग्रन्थेन व्यवधानं भवति। यस्य च पर्य्यवसितेऽपि वचनं तत्सम्बद्धमेवार्थान्तरं प्रक्रमन्ते, न तत्रानानुवृत्तं प्रकरणम्। आगच्छति हि तत्सम्बद्धाभिधाने हृदयम्। यत्र तु पर्य्यवसिते वचने तदसम्बद्धमेवार्थान्तरं प्रक्रमन्ते, न तत्र बुद्धौ पूर्वः पदार्थः सन्निधीयते। न च बुद्धावसन्निहितेनैकवाक्यता भवति। द्वाभ्यां हि बुद्धाभ्यां पदार्थाभ्यां वाक्यार्थः सञ्जन्यते, नान्यतरेण। सन्निधौ समाम्नानस्यैतदेव प्रयोजनम्, कथमुभाभ्यां पदार्थाभ्यां विशिष्टां बुद्धिमुत्पादयेयुरिति। अनन्तरावबुद्धेन सह वाक्यार्थः शक्यते कर्तुम्। असम्बद्धपदोच्चारणे च नानन्तरावबुद्धो भवति। तस्माद् व्यवहितेन सह नैकवाक्यता भवतीति। अथान्येन प्रकारेण ध्यानादिना पूर्वपदार्थमवगम्य वाक्यार्थं सञ्जनयद्, अवैदिकः स पुरुषबुद्धिपूर्वको वाक्यार्थो भवेत्। यथाऽन्यस्मादनुवाकादाख्यातपदं गृहीत्वान्यस्माच्च नामपदं यो वाक्यार्थः सञ्जन्यते, तादृशं तद् भवेद, यत्रान्येन ध्यानादिना पूर्वपदार्थम् अवगम्य वाक्यार्थं

सन्देह विषयवाले वाक्यों में निवित्पदों के व्यवधान से वाक्यभेद होवे। सामिधेनी वाक्यों के साथ एकवाक्यता को प्राप्त न होवे। किन्तु महाप्रकरण से सम्बद्ध होने से सब का अङ्ग होता है।"

व्याख्या— इस सन्देह में जो तुमने कहा है, वह निर्णय नहीं है। इस सन्देह में 'वाक्यभेद होता है' यह निर्णय है। किस हेतु से? व्यवधान होने से। यहां अनुबन्धसहित (=साङ्ग) समाप्त हुए सामिधेनी वाक्य का, और इस (=यज्ञोपवीत) वचन का, निवित् पदों के विधायक और सामिधेनियों से असम्बद्ध ग्रन्थ से व्यवधान होता है। और जिसके समाप्त हो जाने पर भी [उत्तर] वचन में उससे सम्बद्ध ही अर्थान्तर आरम्भ होते हैं, वहां प्रकरण अननुवृत्त (=अनुवर्तन का अभाव) नहीं होता हैं। उस (=समाप्त प्रकरण) से सम्बद्ध [अर्थ के] कथन करने पर [वह प्रकरण] हृदय को प्राप्त होता है, अर्थात् बुद्धि में उपस्थित होता है। और जहां वचन के समाप्त हो जाने पर उससे असम्बद्ध अर्थान्तर आरम्भ होते हैं, वहां पूर्व पदार्थ बुद्धि में उपस्थित नहीं होता है। और बुद्धि में अनुपस्थित के साथ एकवाक्यता नहीं होती है। दोनों जाने गये पदार्थों से ही वाक्यार्थ उत्पन्न होता है, एक से नहीं। समीप में पाठ का यही प्रयोजन है, कि दोनों पदार्थों से विशिष्ट बुद्धि को किस प्रकार [श्रोता] उत्पन्न करें। अनन्तर (=अव्यवहित) जाने गये [वचन] के साथ वाक्यार्थ बनाया जा सकता है। और असम्बद्ध पदों के उच्चारण होने पर अव्यवहित विज्ञात नहीं होता है। अतः व्यवहित वचन के साथ एकवाक्यता नहीं होती है। और यदि अन्य प्रकार से ध्यान आदि के द्वारा पूर्व पदार्थ को जानकर वाक्यार्थ को बनावें, तो वह पुरुषबुद्धि पूर्वक बनाया हुआ वाक्यार्थ अवैदिक होवे। जैसे किसी अन्य अनुवाक से आख्यातपद को लेकर और अन्य अनुवाक से नामपद को लेकर जो वाक्यार्थ बनता है या बनाया जाता है, उसी के समान वह होवे, जहां अन्य ध्यानादि के द्वारा पूर्वपदार्थ को जानकर वाक्यार्थ को बनावे। इसलिये असम्बद्ध

सञ्जनयेत् । तस्मान्नासम्बन्धार्थव्यवधाना एकवाक्यता भवति,इति निश्चीयते । तस्मान्न सामिधेनीभिरेकवाक्यता उपवीतस्येति ।

ननु सामिधेनीकल्पानामनन्तरबुद्धानां सन्निधावुपवीतमाम्नायते । तेन सामिधेनीभि सम्भन्त्स्यते इति । नेति ब्रूमः अतिवृत्तमेव हि सामिधेनीनां प्रकरणम् । निवित्पदव्यवधानात् । वाक्येन हि सामिधेनीकल्पाः काम्याः सम्बन्धमुपगच्छन्ति । न प्रकरणमनुवर्त्तते । न च पुनः कल्पवचनेन सामिधेन्यः प्रकृता भवन्ति । न हि तत्र तासां वचनं—'कर्त्तव्याः'इति । किं तर्हि? संख्याभिः सम्बन्धयितव्या इति । तदपि वाक्येन, न प्रकरणेन । तत्राप्रकृतासु सामिधेनिषु यस्यैकवाक्यतां गुणस्य सामिधेनीभिर्नास्ति, न तस्य ताभिः । तस्मात् कृत्स्नप्रकरणे यदनुष्ठेयम्,तद् यज्ञोपवीतिनेति सिद्धम् ॥२१॥ इत्युपवीतस्य प्राकरणिकाङ्गताऽधिकरणम् ॥११॥

अर्थ से व्यवहित एकवाक्यता नहीं होती है,यह निश्चय किया जाता है । इस कारण सामिधेनियों के साथ उपवीत की एकवाक्यता नहीं है ।

(आक्षेप) अनन्तर जाने गये सामिधेनियों के विकल्पों के समीप में उपवीत का पाठ है । इसलिये वह सामिधेनियों के साथ सम्बद्ध हो जायेगा । (समाधान) सम्बद्ध नहीं होगा, ऐसा हम कहते हैं । सामिधेनियों का प्रकरण तो समाप्त हो चुका है'। निवित् पदों के व्यवधान होने से । वाक्य के द्वारा काम्य सामिधेनियों के विकल्प सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं । [सामिधेनियों के] प्रकरण का अनुवर्तन नहीं है । और [सामिधेनियों के] कल्पवचन से सामिधेनियां पुनः प्रकृत (=आरब्ध) नहीं होती हैं । वहां उनका [विधायक] वचन 'कर्त्तव्याः'नहीं है । तो क्या है? [भिन्न भिन्न] संख्याओं से सामिधेनियां सम्बन्धित की जावें [इतना ही कथन है] । और वह [सम्बन्ध] भी वाक्य से होता है, प्रकरण से नहीं होता है । वहां सामिधेनियों के अप्रकृत होने पर जिस गुण की सामिधेनियों के साथ एकवाक्यता नहीं है, उसका उन[सामिधेनियों]के साथ सम्बन्ध नहीं होता है । इसलिये [दर्शपूर्णमास के] सम्पूर्ण प्रकरण में जो अनुष्ठेय है, वह यज्ञोपवीति से किया जाना चाहिये, यह सिद्ध होता है ॥२१॥

विवरण—ननु सामिधेनीकल्पानाम्—इस वचन से पूर्वपक्षी यह कहना चाहता है कि सप्तम अष्टम अनुवाक में पठित सामिधेनियों के साथ निवित् पदों के व्यवधान के कारण उपवीत की एकवाक्यता नहीं हो सकती है, तो न होवे । उपवीत से अव्यवहित पूर्व जो काम्य सामिधेनियों के विकल्प कहे हैं, उनके साथ उपवीत का आनन्तर्य होने से सम्बन्ध हो सकता है । कृत्स्ने प्रकरणे यदनुष्ठेयम्—इस वाक्य से सम्पूर्ण दर्शपूर्णमास में अनुष्ठेय पदार्थों के साथ उपवीत का सम्बन्ध कहा है । यहां मन्दबुद्धि को यह सन्देह नहीं होना चाहिये कि दर्शपूर्णमास से अन्य यागों

[वारणवैकङ्कतादिपात्राणां कृत्स्नयागगुणताऽधिकरणम् ।।१२।।]

अग्न्याधेये वारणवैकङ्कतपात्राण्यहोमार्थानि होमार्थानि च श्रूयन्ते—तस्माद् वारणो वै यज्ञावचरः स्यात्, न त्वेतेन जुहुयतात्[1], वैकङ्कतो यज्ञावचरः स्यात्, जुहुयादेतेन[2] इति। न च वारणवैकङ्कतानां पात्राणामग्न्याधेयेन सम्बन्धः। कुतः? यज्ञावचरवचनात्। यज्ञस्यैतानि पात्राणि वाक्येन प्रकरणं बाधित्वा भवन्ति। तत्रैष सन्देहः—किं पवमानेष्टिषु निविशन्ते, उत दर्शपूर्णमासादिषु सर्वयागेष्विति? किं तावत् प्राप्तम्? पवमानहविःष्विति। कुतः? उक्तमेतत्—प्रधानेऽसम्भवन् पदार्थस्तद्गुणे कल्प्यते[3] इति। अग्न्याधेयप्रकरणे च समाम्नानात् पवमानहविषां तद्गुणता। तस्मात् पवमानहविःष्वित्येवं प्राप्तम्। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

में उपवीत का सम्बन्ध नहीं होगा। प्रकृतिवत् विकृतिः कर्त्तव्या (=प्रकृति दर्शपूर्णमास से समान ही विकृति यागों का अनुष्ठान करना चाहिये) इस न्याय से प्रकृतिगत पदार्थों के विकृति में उपस्थित होने से उपवीत का सम्बन्ध भी सब यागों के साथ हो जायेगा ।।२१।।

व्याख्या—अग्न्याधेय प्रकरण में वारण (वरण वृक्ष से निर्मित) और वैकङ्कत (=विकङ्कत वृक्ष से निर्मित) पात्र [क्रमशः] अहोम (जिस कार्य में होम नहीं होता है) उसके लिये, तथा होम के लिये सुने जाते हैं—तस्माद् वारणो वै यज्ञावचरःस्यात्,न त्वेतेन जुहुयात् (=इसलिये वरण वृक्ष का यज्ञसाधन=विशेष पात्र होवे, परन्तु इससे होम न करे)। वैकङ्कतो यज्ञावचरः स्यात्, जुहुयादेतेन (=विकङ्कत वृक्ष का यज्ञसाधन होवे, इससे होम करे)। वारण और वैकङ्कत पात्रों का अग्न्याधेय से सम्बन्ध नहीं है [अर्थात् उसमें प्रयुक्त नहीं होते हैं]। किस हेतु से? यज्ञावचर (=यज्ञसाधन) के वचन से। इसलिये वाक्य से प्रकरण की बाधा करके यज्ञ के ये पात्र होते हैं। [वारण वैकङ्कत पात्र यज्ञ के साधन होते हैं,ऐसा सिद्ध होने पर] इसमें यह सन्देह होता है—क्या [ये अग्न्याधेय की] पवमानसंज्ञक इष्टियों में निविष्ट होते हैं, अथवा दर्शपूर्णमास आदि सभी यागों में? क्या प्राप्त होता है? पवमान हवियों में। किस हेतु से? यह कहा है—'पदार्थ प्रधान में सम्बद्ध न होता हुआ उसके गुण कर्म में समर्थ होता है'। और अग्न्याधेय के प्रकरण में [पात्रों का] समाम्नान होने से उनकी पवमान हवियों से तद्गुणता होती है [अर्थात् पवमानेष्टि के गुण होते हैं]। इसलिये पवमान हवियों में ही [उक्त पात्र] प्राप्त हैं। ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—

---

१. द्र०—मै० सं० १।६।७—तस्माद् वारणो वै यज्ञावचरः स्यान्नत्वेतेन जुहुयात्; तथा—वारणान्यहोमसंयुक्तानि। का० श्रौत १।३।३७ ।।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—वैकङ्कतानि पात्राणि। का० श्रौत १।३।३२।।

३. मीमांसा ३।१।२८ सूत्रस्य तात्पर्यमेतत्।

गुणानां च परार्थत्वाद् असम्बन्धः समत्वात् स्यात् ॥२२॥ (उ०)

गुणानां समत्वात् पवमानहविषामग्न्याधेयस्य च न परस्परेण सम्बन्धः। यथाऽऽधानमग्नेर्गुणः संस्कारार्थः, एवं पवमानहवींष्यप्यग्नेरेव गुणभूतानि। कस्तत्र परस्परेण सम्बन्ध इति? यदुक्तम्—'आधानस्य प्रकरणे समाम्नायन्ते' इति। यद्यपि समाम्नायन्ते, तथापि प्रकरणं बाधित्वा वाक्येनाग्नेर्भवन्ति। किमिह वाक्यम्? 'यदाहवनीये

विवरण—वारण-वैकङ्कतपात्राणि—वरण का हिन्दी नाम 'वरना' है। इसका अमरकोश के अनुसार 'वरुण' संस्कृत नामान्तर है (शब्द कल्पद्रुम 'वरण:' भाग ४, पृष्ठ २७०)। विकङ्कत वृक्ष के हिन्दी पर्याय शालिग्राम निघण्टु में 'कंटाइ', 'किंकिणी', 'वंज' दिये हैं (पृष्ठ ६२७)। 'यज्ञावचरः=अवचर्यतेऽनेन'=जिससे [यज्ञ] किया जाता है, वह पात्ररूप साधन। पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (अष्टा० ३।३।११८) से यज्ञसाधनरूप संज्ञा में 'घ' प्रत्यय। यज्ञस्य अवचरः=यज्ञावचरः—(षष्ठी समास)। पवमानहविःषु—पवमान हवियों से यहां पवमानेष्टि कही गई है। पवमानेष्टि का विधान करनेवाले अग्नये पवमानायाष्टाकपालं निर्वपेत्, अग्नये पावकायाग्नये शुचये वचन भाष्यकार ने मी० ३।६।११ के भाष्य में उद्धृत किये हैं। इनका मूल स्थान अज्ञात है।[1] ये ही अष्टाकपाल हवियां पवमान हवियां कहाती हैं।

गुणानां च परार्थत्वात् असम्बन्धः समत्वात् स्यात् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(गुणानाम्) गुणों के (परार्थत्वात्) परार्थ=यज्ञ के लिये होने से, (च) और अग्न्याधान तथा पवमान हवियों के अग्निसंस्कार में (समत्वात्) समान होने से (असम्बन्धः स्यात्) पवमान हवियों के साथ वारण वैकङ्कत पात्रों का सम्बन्ध नहीं है।

विशेष—पवमानेष्टि=पवमान हवियां अग्न्याधेय का अङ्ग नहीं हैं, यह आगे (मीमांसा ३।६। अधि० ४। सूत्र ११-१५) में कहेंगे। अतः जिस प्रकार आधान अग्नि के संस्कार के लिये है, उसी प्रकार पवमानेष्टि भी अग्नि के संस्कारार्थ है।

व्याख्या—गुणों के समान होने से पवमान हवियों का और अग्न्याधेय का परस्पर सम्बन्ध नहीं है। जैसे आधान कर्म अग्नि के संस्कार के लिये गुणभूत है, उसी प्रकार पवमान हवियां भी अग्नि के प्रति ही गुणभूत हैं [अग्नि के संस्कार के लिये होने से]। उन [गुणों का] परस्पर कौनसा सम्बन्ध होवे? और जो यह कहा है कि—'आधान के प्रकरण में [पात्र] समाम्नात (=पढ़े गये) हैं।' यद्यपि [आधान-प्रकरण में पात्र] पढ़े गये हैं, फिर भी प्रकरण को बाध कर वाक्य से [भवतीति] अग्नि के होते हैं। यहां वाक्य क्या है? यदाहवनीये जुहोति तेन सोऽस्याभीष्टः

---

१. आधान-प्रकरण में मैत्रायणी संहिता १।६।७ में यत् पवमानाय निर्वपति, यत्पावकाय यच्छुचये इतने ही वचन उपलब्ध होते हैं।

जुहोति, तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवतीति ।' नन्वाहवनीयोऽत्र यागस्याधिकरणत्वेन गुणभूतः श्रूयते । सत्यम् । अधिकरणमाहवनीयः । तथापि त्वाहवनीयार्थं एव यागः । प्रयोजनवत्त्वादाहवनीयस्य, निष्प्रयोजनत्वात् पवमानहविषाम् । कथमेषां निष्प्रयोजनता ? फलाश्रवणात् । कल्प्यं फलमिति चेत् सत्यम्, कल्प्यम् । अग्निसंस्कारस्तु तत् फलं, न स्वर्गः । स्वर्गे कल्प्यमाने द्विरदृष्टं कल्प्येत—होमाच्च स्वर्गो भवति, तस्य चाहवनीयेनापरोऽदृष्टः संस्कार इति । तस्मादग्न्यर्थता पवमानहविषाम् । नैषामाधानेन सम्बन्धः । तस्मान्नाधाने श्रूयमाणं पवमानहविषां भवितुमर्हति । किं तर्हि ? सर्वयागेषु दर्शपूर्णमासप्रभृतिष्वाधानस्य प्रधानभूतेषु निवेश इति ॥२२॥ इति वारणवैकङ्कतादिपात्राणां कृत्स्नयागगुणताऽधिकरणम् ॥१२॥ मिथोऽसंबन्धन्यायः ॥

प्रीतो भवति (=जो आहवनीय में आहुति देता है, उससे वह [यजमान] इस [अग्नि] का अभीष्ट और प्रीत (=प्रिय) होता है) । (आक्षेप) यहां (=इस वाक्य में) आहवनीय याग का अधिकरणरूप से गुणभूत सुना जाता है । (समाधान) सत्य है । आहवनीय [याग का] अधिकरण है । फिर भी याग आहवनीय के लिये ही है । आहवनीय के प्रयोजनवान् होने से, और पवमानहवियों के निष्प्रयोजन होने से । (आक्षेप) इन (=पवमानहवियों) की निष्प्रयोजनता कैसे है ? (समाधान) [पवमानहवियों का] फल न सुने जाने से । फल कल्प्य होवे (=फल की कल्पना कर ली जावे), ऐसा यदि कहो, तो सत्य है, फल कल्प्य होगा । [पवमानहवियों का] वह फल अग्नि का संस्कार है, न कि स्वर्ग । स्वर्ग की कल्पना करने पर दो अदृष्ट कल्पित होवें—होम से स्वर्ग होता है, और उस आहवनीय से अन्य अदृष्ट संस्कार होता है । इसलिये पवमानहवियों की अग्न्यर्थता है । इन [पवमानहवियों] का आधान से सम्बन्ध नहीं है । इसलिये आधान में श्रूयमाण [पात्रविधान] पवमानहवियों का नहीं हो सकता है । तो क्या होता है ? आधान के प्रधानभूत सभी दर्शपूर्णमास आदि यागों में [पात्रों का] निवेश होता है ॥२२॥

विवरण—इस सारे प्रकरण का तात्पर्य यह है कि आधान कर्म और पवमानहवियां आहवनीय अग्नि के संस्कारार्थ हैं । उस संस्कृत अग्नि से प्रयोजन होने से वह मुख्य है । इसलिये दो गौणभूत आधान और पवमानहवियों का एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध न होने से आधान में श्रुत वारणादि पात्रों का पवमानहवियों के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं होता है । आहवनीय की मुख्यता यदाहवनीये जुहोति वाक्य से आहवनीय के लिये याग का विधान होने से है । अग्नि के संस्कारार्थ होने से पवमान हवियां अपने रूप में निष्प्रयोजन हैं । उनका एकमात्र प्रयोजन अग्नि का संस्कार है । पवमान हवियों का स्वतन्त्र स्वर्ग फल मानने पर होम से अदृष्ट स्वर्ग होता है, और उस होम से आहवनीय का अदृष्ट संस्कार होता है । इस प्रकार दो अदृष्टों की कल्पना करनी पड़ेगी । इसलिये

[वार्त्रघ्न्याद्यनुवाकानामाज्यभागाङ्गताऽधिकरणम् ॥१३॥]

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—वार्त्रघ्नी पौर्णमास्यामनूच्येते, वृधन्वती अमावस्यायाम्[1] इति। तत्र सन्देहः—किमनुवाक्याद्वित्वस्य प्रधाने निवेशः, उताज्यभागयोरिति ? किं तावत् प्राप्तम् ? प्रधाने इति । कुतः ? पौर्णमासीसमभिव्याहारादमावास्यासमभिव्याहाराच्च । प्रधानं पौर्णमासी चामावास्या च, नाज्यभागौ । तस्मात् साक्षाद्वाक्यात् प्रधानस्येति प्राप्तम् । तत्र ब्रूमः—

आधान में श्रूयमाण पात्र आधान के प्रधानभूत अर्थात्, जिनके लिये आधान कहा गया है, उन सब दर्शपूर्णमास आदि यागों से सम्बद्ध होंगे । इस प्रकार ये पात्र पवमानहवियों में भी पहुंच जायेंगे। क्योंकि पवमानहवियां दर्शपूर्णमास की विकृतिरूप हैं । यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि भट्ट कुमारिल पवमानेष्टि को आधान का अङ्ग मानते हैं । भाष्यकार के समान अग्नि के संस्कारार्थ नहीं मानते ॥२२॥

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में सुना जाता है—वार्त्रघ्नी पौर्णमास्यामनूच्येते, वृधन्वती अमावास्यायाम् (=वृत्रघ्न सम्बन्धी दो अनुवाक्या पौर्णमासी में पढ़ी जाती हैं, वृधन्वत्='वृध' वाली अमावास्या में) । इनमें सन्देह है—क्या अनुवाक्या का द्वित्व प्रधान कर्म में सम्बद्ध होता है, अथवा आज्य भाग [रूप अङ्ग कर्म] में ? क्या प्राप्त होता है ? [दो दो अनुवाक्याओं का] प्रधान कर्म में निवेश होता है । किस हेतु से ? पौर्णमासी के उच्चारण से, और अमावास्या के उच्चारण से । पौर्णमासी अमावास्या प्रधान कर्म हैं, आज्य भाग प्रधान नहीं हैं । इसलिये साक्षात् वाक्य से प्रधान कर्म की [दो दो अनुवाक्याएं] हैं, ऐसा प्राप्त होता है । इस विषय में हम कहते हैं—

विवरण—वार्त्रघ्नी पौर्णमास्याम्—पूर्णमास कर्म में वृत्रघ्नसम्बन्धी दो अनुवाक्यायें—अग्निर्वृत्राणि जङ्घनत् [मै० सं० ४।१०।१ (१)]; और त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा [मै० सं० ४।१०।१ (२)] हैं। वृधन्वती अमावास्यायाम्—अमावास्या कर्म में वृधन्वती (='वृध' धातु के रूप से युक्त) दो अनुवाक्यायें—अग्निः प्रत्नेन मन्मना शुम्भमानस्तन्वं स्वाम्। कविर्विप्रेण वावृधे [मै० सं० ४।१०।१ (१९)], और सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्धयामो वचोविदः [मै० सं० ४।१०।१ (२०)] हैं । द्र०—दर्शपौर्णमासप्रकाश (आनन्दाश्रम) पृष्ठ ५४२, ५४४। अनुवाक्या के लिये पुरोनुवाक्या शब्द प्रायः व्यवहृत होता है । याज्या से पूर्व पढ़ी जाने के कारण पुरोनुवाक्या कहते हैं ।

---

१. द्र०—तस्माद् वार्त्रघ्नी पूर्णमासे अनूच्येते,वृधन्वती अमावास्यायाम् । तै० सं० २।५।२।

मिथश्चानर्थसम्बन्धात् ॥२३॥(उ०)

मिथः सह द्वाभ्यामनुवाक्याभ्यां न प्रधानस्य कार्य्यमस्ति। यत्र तु द्वे अनुवाक्ये, तत्र तयोर्वार्त्रघ्नता वृधन्वत्ता च विधीयते। प्रधाने चैका अनुवाक्या। तत्र द्वित्वं वार्त्रघ्नतां वृधन्वत्तां च विदधद् वाक्यं भिद्येत। आज्यभागयोस्तु द्वे प्राप्ते—आग्नेयी सौमी च। तत्र वार्त्रघ्नतां वृधन्वत्तां केवलां शक्ष्यति विधातुम्। ननु प्रधानगामित्वेऽपि द्वयोः प्रधानयोर्द्वे अनुवाक्ये—आग्नेयस्याग्नीषोमीयस्य चेति। उच्यते—एका वार्त्रघ्नी आग्नेयी, एका सौमी। तथा वृधन्वत्यौ। तत्र या आग्नेयी, सा विधीयमाना सम्बध्येत, न सौमी। अमावास्यायां तावन्नास्त्येव [सोमः]। पौर्णमास्यामप्यग्नीषोमीये एव क्रियमाणे क्रियेत। तत्राप्येकदेवत्या न शक्नुयाद्देवताद्वित्वे कार्य्यं कर्तुम्। अथोभे अग्नीषोमीये प्राप्ते इति।

मिथश्च अनर्थसम्बन्धात् ॥२३॥

सूत्रार्थः—(च) और [युगलीभूत=मिली हुई=द्वित्वविशिष्ट 'वार्त्रघ्नी' और 'वृधन्वती' अनुवाक्याओं का] (मिथः) प्रधान कर्म के साथ (अनर्थसम्बन्धात्) अर्थवान्=प्रयोजनवान् सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् द्वित्वविशिष्ट अनुवाक्याओं का प्रधान के साथ सम्बन्ध अनर्थक है। क्योंकि प्रधान कर्म में एक-एक अनुवाक्या ही होती है।

व्याख्या—मिली हुई दो अनुवाक्याओं से प्रधान कर्म का कार्य नहीं है। इसलिये जिस कर्म में दो अनुवाक्याएं हैं, उनमें उनकी वार्त्रघ्नता और वृधन्वत्ता का विधान है। प्रधान में तो एक ही अनुवाक्या है। वहां (=प्रधान कर्म में) द्वित्व, वार्त्रघ्नता और वृधन्वत्ता का विधान करता हुआ वाक्य भिन्न होवे (=वाक्यभेद होवे)। आज्यभाग [की दो आहुतियां होने से उन] में तो दो अनुवाक्याएं प्राप्त हैं—आग्नेयी (=अग्निदेवतावाली) और सौमी (=सोमदेवतावाली)। उनमें [वाक्य] केवल वार्त्रघ्नता और वृधन्वत्ता का विधान कर सकता है। (आक्षेप) [वार्त्रघ्नी वा वृधन्वती अनुवाक्याओं के] प्रधान यागगामी होने पर भी दो प्रधान यागों में दो अनुवाक्याएं हैं—आग्नेय याग की और अग्नीषोमीय याग की। (समाधान) एक वार्त्रघ्नी आग्नेयी (=अग्नि देवतावाली) अनुवाक्या है, और एक सौमी (=सोम देवतावाली) है। इसी प्रकार वृधन्वती भी [एक आग्नेयी हैं, और एक सौमी]। उनमें जो आग्नेयी अनुवाक्या है, वह विधीयमान होती हुई सम्बद्ध होवेगी, सौमी अनुवाक्या संबद्ध नहीं होगी। अमावास्या में तो सोमदेवता है ही नहीं। पौर्णमासी में भी [सौमी अनुवाक्या] अग्नीषोमीय याग में ही [विधान] की जाती हुई विहित होगी। वहां भी एक देवतावाली [सौमी अनुवाक्या] देवताओं के द्वित्व में कार्य नहीं कर सकेगी [अर्थात् एक देवतावाली सौमी अनुवाक्या दो देवतावाले कर्म की अनुवाक्या नहीं बन सकेगी]। और दोनों [आग्नेयी और सौमी] अग्नीषोमीय [याग] में प्राप्त

नैकस्य यागस्य द्वाभ्यामनुवाक्याभ्यां प्रयोजनम्। उपादेयत्वेन ह्यनुवाक्या चोद्यते। तत्र-कत्वं विवक्षितम्। तेन तत्रापि न द्वे। तस्मादाज्यभागयोर्निवेश इति ॥२३॥ इति वार्त्रघ्न्याद्यनुवाक्यानामाज्यभागाङ्गताऽधिकरणम् ॥१३॥ वार्त्रघ्नीन्यायः॥

[मुष्टीकरणादीनां कृत्स्नप्राकरणिकाङ्गताऽधिकरणम् ॥१४॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—मुष्टीकरोति[1], वाचं यच्छति[2], दीक्षितमावेदयति[3] इति। तथा हस्तावनेनिक्ते[4], उलपराजिं स्तृणाति[5] इति। तत्र सन्देहः—किं मुष्टीकरणं वाग्यमश्च

होती हैं। तो एक याग को दो अनुवाक्यों से प्रयोजन नहीं है [क्योंकि एक याग की एक ही अनुवाक्या होती है]। उपादेयरूप से ही अनुवाक्या विहित होती है। वहां एकत्व विवक्षित है। इस से भी वहां (=अग्नीषोमीय याग) में भी दो अनुवाक्या नहीं हैं। इसलिये आज्यभाग में [दो वार्त्रघ्नी और दो वृधन्वती अनुवाक्याओं का] सम्बन्ध होता है ॥२३॥

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—मुष्टीकरोति (=मुट्ठी बांधता है), वाचं यच्छति (=वाग्यमन करता है), दीक्षितमावेदयति। तथा हस्तावनेनिक्ते (=हाथों को शुद्ध करता है=धोता है), उपलराजिं स्तृणाति (=सूखे दर्भ की पङ्क्ति बिछाता है)। इनमें सन्देह है—क्या मुट्ठी का बांधना, और वाग्यमन (=मौन होना), [दीक्षित के] आवेदन (=

---

१. तै० सं० ६।१।४।। द्र०—स्वाहा यज्ञमित्यङ्गुली अचते नानाहस्तयोः (=मुष्टीकरोति)। का० श्रौत ७।३।५॥

२. तै० सं० ६।१।४॥ द्र०—उत्तमेन मुष्टीकृत्वा स्वाहेत्युक्त्वा वाग्यतः। का० श्रौत ७।३।७॥

३. अनुपलब्धमूलम्। अविदन-स्वरूपम्—'अन्यो दीक्षितोऽयं ब्राह्मण इत्याहोच्चैः'। का० श्रौत ७।४।११॥

४. द्र०—हस्तावनेनिक्ते। काठक सं० ३१।३॥

५. द्र०—संततामुपलराजीं स्तृणाति। आप० श्रौत १।१५।४; सत्या० श्रौत १।४, पृष्ठ १०७॥ भाष्ये—'उपलराजिम्' इति ह्रस्वेकारान्तः शब्दः पठ्यते। स किमपपाठः, उत शब्दान्तरमिति विचारार्हम्। 'उपलः शुष्कं बर्हिस्तृणम्, उशीरतृणमित्यन्ये' इत्यापस्तम्ब-श्रौतवृत्तौ रुद्रदत्तः। 'उशीरतृणानि, लूनतृणानि वा' इति तत्रैव धूर्तस्वामिभाष्ये। 'शुष्कदर्भपङ्क्तिस्तनोति' इति सत्याषाढ-श्रौतसूत्र-व्याख्याने महादेवः।

आवेदनार्थम्, उत कृत्स्नप्रकरणे निवेश इति ? तथा हस्तावनेजनं किमुपलराजिं स्तरितुम्, उत प्रकरणे सर्वपदार्थान् कर्तुमिति ? किं तावत् प्राप्तम् ? हस्तावनेजनं हस्तसंस्कारार्थं, वाग्यमः पुरुषसंस्कारार्थः । आमन्त्र्यमाण[1] एकाग्रो भवति, पदार्थाननुतिष्ठति । तेन केषां-केषां पदार्थानामिमौ संस्कारौ,इत्याकाङ्क्षाऽस्ति ? सत्यामाकाङ्क्षायामानन्तर्य्येण निराकाङ्क्षीकरणम् । तस्मादानन्तर्य्यादावेदनार्थो वाग्यमो मुष्टीकरणञ्च । हस्तावनेजनं चोपलराजिं स्तरितुम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

आनन्तर्य्यमचोदना ॥२४॥ (उ०)

बोधन) के लिये है, अथवा सम्पूर्ण प्रकरण में निविष्ट होता है ? और हाथ का प्रक्षालन उपलराजि के आस्तरण के लिये है, अथवा प्रकरण में [प्राप्त] सब पदार्थों को करने के लिये है ? क्या प्राप्त होता है ? हाथ का प्रक्षालन हाथ के संस्कार के लिये है, और वाग्यमन पुरुष के संस्कार के लिये है । सम्बोधित हुआ एकाग्र होता है, और पदार्थों का अनुष्ठान करता है । इस कारण किन-किन पदार्थों के ये (=हस्तप्रक्षालन और वाग्यमन) संस्कार हैं, ऐसी आकाङ्क्षा होती है । आकाङ्क्षा होने पर समीपता से [उसे] निराकाङ्क्ष करना चाहिये । इसलिये [दीक्षित के] बोधन के लिये वाग्यमन और मुष्टीकरण है । और हाथ का प्रक्षालन उपलराजि के आस्तरण के लिये है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—दीक्षितमावेदयति (=दीक्षित का बोधन कराता है) यह वचन तो उपलब्ध नहीं हुआ । परन्तु यजमान के कृष्णाजिन (=काले मृगचर्म), कृष्ण विषाण (=काले मृग का सींग) मुष्टीकरण आदि विविध संस्कारों से दीक्षित हो जाने पर, अध्वर्यु से भिन्न कोई ऋत्विक् खड़ा होकर तीन बार ऊंचे स्वर से कहता है—'यह ब्राह्मण दीक्षित हो गया है'—द्र०—अन्यो दीक्षितोऽयं ब्राह्मण इत्याह त्रिरुच्चैः (कात्या० श्रौत ७।४।१) । उपलराजिमास्तृणाति—भाष्य में 'राजि' शब्द ह्रस्व इकारान्त है, परन्तु श्रौतसूत्रों में उपलराजीं स्तृणाति (आप० श्रौत १।१५।४; सत्या० श्रौत १।४, पृष्ठ १०४) में दीर्घ ईकारान्त पाठ मिलता है । ह्रस्व इकारान्त भाष्यपाठ अशुद्ध है अथवा समानार्थक शब्दान्तर है, यह विचारणीय है । उपल शब्द का अर्थ आपस्तम्भ श्रौत के उक्त वचन की व्याख्या में रुद्रदत्त ने 'सूखा दर्भ का तिनका, अथवा उशीर (=खस) का तिनका' किया है । धूर्त स्वामी ने स्वभाष्य में 'उशीरतृण अथवा काटे हुए तृण' अर्थ दर्शाया है । सत्याषाढ श्रौत के व्याख्यान में महादेव ने 'सूखे दर्भ' अर्थ किया है ।

आनन्तर्य्यमचोदना ॥२४॥

सूत्रार्थः—(आनन्तर्यम्) अव्यवधानता [किसी समीपस्थ पदार्थ के साथ संबन्ध करने में]

---

१. 'आवेदयमानः' इति युक्तः पाठः स्यात् ।

सर्वैः प्रकरणाधीतैः सम्बन्ध इति। कुतः? वाक्यभेदात्। कथं वाक्यभेदः? अर्थद्वयस्याभिधानात्। न हि दीक्षितमावेदयितुमित्यस्मिन्नर्थे आवेदयतीति। न च स्तरितुमित्यस्मिन्नर्थे स्तृणातीति। स्तरणमपि विधीयतेऽवनेजनं च। मुष्टीकरणं वाग्यमश्च विधीयते, आवेदनञ्च। न चैषां परस्परेण कश्चित् सम्बन्धोऽस्ति। न च पदार्थाकाङ्क्षायां[1] सत्यामानन्तर्य्यमेकवाक्यत्वे कारणं भवति। तस्मात् प्रकरणधर्म्मा एवञ्जातीयकाः ॥२४॥

वाक्यानाञ्च समाप्तत्वात् ॥२५॥(उ०)

स्वेन स्वेन पदसमूहेन परिपूर्णमेकं वाक्यम्। तथा अपरं, तथा सर्वाणि यान्युदाहृतानि। तस्माद् विस्पष्टमर्थद्वयं, विभागे च निराकाङ्क्षता। तेन वाक्यभेदः। अतः

(अचोदना) प्रेरक नहीं होती है।[2]

व्याख्या—प्रकरण में पठित सब कर्मों के साथ सम्बन्ध है। किस हेतु से? वाक्यभेद होने से। वाक्यभेद कैसे है? दो [भिन्न-भिन्न] अर्थों के कथन करने से। दीक्षितमावेदयितुम् (=दीक्षित को जताने के लिये) इस अर्थ में आवेदयति (=[दीक्षित को] जताता है) वचन नहीं है। और ना ही स्तरितुम् (=आच्छादन करने के लिये) इस अर्थ में स्तृणाति (=आच्छादन करता है) वचन है। आच्छादन का भी विधान किया जाता है, और प्रक्षालन का भी। तथा मुठ्ठी बांधना वाग्यमन का विधान किया जाता है, और आवेदन का। इन [भिन्न-भिन्न विधानों] का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। पदार्थों की आकाङ्क्षा होने पर आनन्तर्य ही एकवाक्यत्व में कारण नहीं होता है। इसलिये इस प्रकार के कार्य प्रकरणमात्र के धर्म हैं ॥२४॥

वाक्यानां च समाप्तत्वात् ॥ ५॥

सूत्रार्थः—(च) और (वाक्यानाम्) वाक्यों के अपने-अपने पदसमूह से (समाप्तत्वात्) समाप्त हो जाने से भी [परस्पर सम्बन्ध नहीं है]।

व्याख्या—अपने-अपने पदसमूह से परिपूर्ण एक वाक्य है। और दूसरा भी, इसी प्रकार जो वाक्य उद्धृत किये वे सब भी [अपने अपने-पदसमूह से परिपूर्ण हैं]। इस लिए दो अर्थ (=भिन्न-भिन्न वाक्यों के भिन्न भिन्न अर्थ) विस्पष्ट हैं, और [एक वाक्य का दूसरे से] विभाग होने पर निराकाङ्क्षता है। इस कारण वाक्यभेद (=भिन्न भिन्न-भिन्न वाक्य) है। इस कारण [सभी

---

१. पदार्थानाम् आकाङ्क्षायाम् इति भावः।

२. द्र०—यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः। अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥ न्याय वात्स्यायनभाष्य १।२।८।

संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च कृत्स्ने प्रकरणे निवेश इति ॥२५॥ इति मुष्टीकरणादीनां कृत्स्नप्राकरणिकाङ्गताऽधिकरणम् ॥१४॥

[चतुर्धाकरणस्याग्नेयमात्राङ्गताऽधिकरणम् ॥१५॥]

दर्शपूर्णमासयोः समाम्नायते—आग्नेयं चतुर्धा करोति[1] इति। तत्र सन्देहः—किमाग्नेयेऽग्नीषोमीये च ऐन्द्राग्ने च सर्वत्र चतुर्धाकरणं, किं वाऽऽग्नेये एवेति? किं प्राप्तम्?

शेषस्तु गुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयेत मिथस्तेषामसम्बन्धात् ॥२६॥(पू०)

शेषश्चतुर्धाकरणम्। आग्नेयमिति देवतागुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयते। अग्नीषोमीयेऽपि स्यादैन्द्राग्नेऽपि। कुतः? तावप्याग्नेयौ। यस्याग्निर्देवता अन्या च भवति, असा-

---

का] संयोग के समान होने से, और प्रकरण के समान होने से सम्पूर्ण प्रकरण में निवेश (=सम्बन्ध) होता है ॥२५॥

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में पढ़ा जाता है—आग्नेयं चतुर्धा करोति (=अग्निदेवतावाले पुरोडाश के चार भाग करता है)। इसमें सन्देह है—कि क्या अग्निदेवतावाले, अग्नीषोमीय देवतावाले और इन्द्राग्निदेवतावाले [पुरोडाशों] में सर्वत्र चार विभाग करना चाहिये, अथवा अग्निदेवतावाले पुरोडाश में ही चतुर्धाकरण करना चाहिये? क्या प्राप्त है?

शेषस्तु गुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयेत मिथस्तेषामसम्बन्धात् ॥२६॥

सूत्रार्थः—[आग्नेय का चतुर्धाकरण] (तु) तो (शेषः) शेष कर्म है। (गुणसंयुक्तः) आग्नेय=अग्नि देवता के गुण से संयुक्त [चतुर्धाकरण] (साधारणः) सामान्य (प्रतीयेत) जाना जावे। (मिथः) अग्नि देवता और चतुर्धाकरण का परस्पर (तेषाम्) उनके (असम्बन्धात्) सम्बन्ध न होने से, सर्वत्र अग्नीषोमीय और ऐन्द्राग्न में भी चतुर्धाकरण होगा।

व्याख्या—चतुर्धाकरण [पुरोडाश का] शेष कर्म है। आग्नेय यह देवता गुणसंयोग साधारण विदित होता है। [इसलिये] अग्नीषोम देवतावाले पुरोडाश में भी होवे, और इन्द्राग्नि देवतावाले पुरोडाश में भी। किस हेतु से? वे भी आग्नेय=अग्नि देवतावाले हैं। जिस की

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—आग्नेयं पुरोडाशं चतुर्धा करोति। आप० श्रौत ३।३।२॥

वाग्नेयः । तद् यथा—या डित्थस्य डवित्थस्य च माता, सा डवित्थस्य भवति, एवमिहापि । यद्याग्नेयस्याग्नीषोमीयस्य च पुरोडाशस्य मिथः सम्बन्धो न भवेत्, तत आग्नेय एव चतुर्धाकरणं व्यवतिष्ठेत । भवति तु सम्बन्धः । तस्मादव्यवस्था । यथा—आग्नेयस्य मस्तकं विभज्य 'प्राशित्रमवद्यति'[2] इति सर्वेभ्यः प्राशित्रावदानम् । एवं चतुर्धाकरणमपि ॥२६॥

व्यवस्था वाऽर्थसंयोगाल्लिङ्गस्यार्थेन सम्बन्धाल्लक्षार्था गुणश्रुतिः ॥२७॥ (उ०)

अग्नि देवता तथा अन्य देवता होती है, वह भी आग्नेय होता है । जैसे जो 'डित्थ' और 'डवित्थ' की माता होती है, वह डवित्थ की भी माता होती ही है, इसी प्रकार यहां भी । यदि आग्नेय और अग्नीषोमीय पुरोडाश का परस्पर सम्बन्ध न होवे, तो आग्नेय पुरोडाश में ही चतुर्धाकरण व्यवस्थित होवे । दोनों में [अग्निदेवता के सम्बन्ध से] सम्बन्ध तो होता है । इसलिए [चतुर्धाकरण में] व्यवस्था नहीं है [कि आग्नेय पुरोडाश में ही चतुर्धाकरण होवे] । जैसे—आग्नेयस्य मस्तकं विभज्य प्राशित्रमवद्यति (=आग्नेय पुरोडाश के मस्तक=उपरिभाग को तोड़कर प्राशित्रसंज्ञक भाग का अवदान=ग्रहण करे) में भी सब (=आग्नेय अग्नीषोमीय ऐन्द्राग्न) से प्राशित्र का ग्रहण किया जाता है । उसी प्रकार चतुर्धाकरण भी सब का होता है ॥२६॥

विवरण—डित्थस्य डवित्थस्य च माता—ये दोनों अव्युत्पन्न शब्द हैं । तुलसी रामायण में दशरथ के डाथा में 'डाथा' डित्थ का अपभ्रंश पुत्रार्थ में प्रयुक्त हुआ है । आग्नेयस्य मस्तकं विभज्य—मस्तक शब्द से यहां पुरोडाश के ऊर्ध्व भाग का ग्रहण होता है । सम्प्रति याज्ञिक पुरोडाश को पुरुष के गले से ऊर्ध्व भाग का आकार देते हैं । उसमें मुख नासिका चक्षु आदि का निर्माण करते हैं । यह शास्त्रविरुद्ध है । कहीं भी पुरोडाश को शिरोभागवत् कल्पित करने का विधान नहीं है । सम्भव है मस्तकं विभज्य में मस्तक शब्द को देखकर याज्ञिकों ने यह कल्पना की हो । प्राशित्रमवद्यति—हुत पुरोडाश आदि के अवशिष्ट भाग से यवमात्र प्रमाण पुरोडाश आदि का जो भाग ग्रहण किया जाता है, वह प्राशित्र कहाता है । यह ब्रह्मा के भक्षण के लिये होता है । प्राशित्र का अवदान करके प्राशित्रहरणसंज्ञक पात्र में उसे रखा जाता है ।

व्यवस्था वाऽर्थसंयोगाल्लिङ्गस्यार्थेन सम्बन्धाल्लक्षार्था गुणश्रुतिः ॥२७॥

सूत्रार्थः—(वा) शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है, अर्थात् चतुर्धाकरण सर्वत्र नहीं होता है । (अर्थसंयोगात्) अग्निदेवता है जिसका ऐसे अर्थ के संयोग होने से, और (लिङ्गस्य) अग्नि-

---

१. प्राशित्रं ब्रह्मणो भागः । प्राशित्रमवद्यति यवमात्रं पिप्पलमात्रं वा । कात्या० श्रौत ३।४।१; आप० श्रौत ३।१।२ ॥ २. अनुपलब्धमूलम् ।

वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । व्यवतिष्ठेत वा चतुर्धाकरणमाग्नेये एव, न साधारणं भवितुमर्हति । कुतः ? अर्थसंयोगात् । अग्निना देवतयाऽर्थेनैकदैवत्यस्य संयोगः, न द्विदैवत्यस्याग्नीषोमीयस्यैन्द्राग्नस्य चेति । कुतः ? यस्य ह्यग्नीषोमौ देवता, उभयविशेषण-विशिष्टः सङ्कल्पः क्रियते । तस्याग्निः सोममपेक्षमाणो देवता, न निरपेक्षः । यस्य चाग्निः सोममपेक्षमाणो देवता, न तस्मात् तद्धित उत्पद्यते । समर्थानां हि स उच्यते[1] । सापेक्षं चासमर्थम् । तस्मान्न तद्धितान्तेन निरपेक्षाग्निदैवत्येन द्विदैवत्यस्याभिधानम् । अतो यत्र निरपेक्षोऽग्निर्देवता, तत्रैव चतुर्धाकरणमिति । देवतालिङ्गस्य हि सामर्थ्येन संयोगो भवति तद्धितार्थस्य, नासति सामर्थ्ये ।

देवतारूप लिङ्ग का (अर्थेन) अर्थ के साथ (संबन्धात्) संबन्ध होने से (व्यवस्था) व्यवस्था जानी जाती है । (गुणश्रुतिः) अग्नि देवतारूप गुण का श्रवण (लक्षणार्था) लक्षणा के लिये, अर्थात् लक्षित करने के लिये है ।

व्याख्या—'वा' शब्द पक्ष (=अग्नीषोमीय और ऐन्द्राग्न पुरोडाशों का भी चतुर्धाकरण) को हटाता है । चतुर्धाकरण आग्नेय पुरोडाश में ही व्यवस्थित होवे, साधारण नहीं हो सकता । किस हेतु से ? अर्थ का संयोग होने से । [आग्नेय का] अग्निरूप देवता से एक देवतावाले [पुरोडाश] के साथ संयोग है; दो देवतावाले अग्नीषोमीय और ऐन्द्राग्न के साथ नहीं है । किस हेतु से ? जिस पुरोडाश का अग्नीषोमीय दो देवता हैं, उसका [अग्नि और सोम] उभय-विशेषण-विशिष्ट का संकल्प किया जाता है । उस [पुरोडाश] का अग्नि, सोम की अपेक्षा करता हुआ देवता है, निरपेक्ष (=केवल अग्निमात्र) नहीं है । जिसका अग्नि सोम की अपेक्षा करता हुआ देवता है, उस [अग्नि] से तद्धित प्रत्यय उत्पन्न नहीं होता है । वह (=तद्धित प्रत्यय) समर्थों से कहा गया है । दूसरे की अपेक्षा रखनेवाला असमर्थ होता है । इस हेतु से तद्धितान्त निरपेक्ष अग्निदेवता-वाले [आग्नेय शब्द] से दो देवतावाले [जिसमें अग्नि से भिन्न सोम वा इन्द्र है] का कथन नहीं होता है । इस कारण जहां निरपेक्ष (=अकेला) अग्नि देवता है, वहीं चतुर्धाकरण होता है । देवता-लिङ्गवाले तद्धितान्त शब्द का सामर्थ्य से तद्धितार्थ के साथ संयोग होता है, सामर्थ्य न होने पर नहीं होता है ।

विवरण—न तस्मात्तद्धित उत्पद्यते—आग्नेय शब्द में साऽस्य देवता (अष्टा० ४।२।२३) के नियम से जो तद्धित प्रत्यय ठक् उत्पन्न होता है, यहां उसकी ओर संकेत किया है । समर्थानां हि स उच्यते—तद्धित प्रत्ययों की उत्पत्ति समर्थानां प्रथमाद्वा (अष्टा० ४।१।८२) के नियम से समर्थ प्रातिपदिक से कही है । सापेक्षं चासमर्थम्—यह सामान्य नियम है कि जो शब्द दूसरे की अपेक्षा रखता है, वह असमर्थ होता है । जैसे—भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्य में राज्ञः शब्द भार्या की अपेक्षा रखता है, और पुरुष शब्द देवदत्त की । अतः राज्ञः और पुरुषः शब्दों के असमर्थ होने से दोनों का षष्ठी समास नहीं होता है । इसी प्रकार सोम अथवा इन्द्र के साथ आकाङ्क्षा रखनेवाले

---

१. समर्थानां प्रथमाद्वा (अष्टा० ४।१।८२) इत्यस्यानुवर्त्तनात् ।

अथ यदुक्तम्—यथा प्राशित्रावदानं सर्वेभ्यः क्रियते, एवं चतुर्द्धाकरणमपि इति। युक्तं प्राशित्रावदाने। न तत्रैवं सम्बन्धः क्रियते—आग्नेयस्य प्राशित्रमवद्यतीति। कथं तर्हि? आग्नेयस्य मस्तकं विभज्येति। एकं ह्येतद्वाक्यम्—प्राशित्रमवद्यति इति, द्वितीयमाग्नेयस्य मस्तकं विभज्येति। तत्राग्नेयस्य मस्तकादवद्यति, इति गम्यते। अन्यस्य मस्त-

---

अग्नि शब्द के असमर्थ होने से उससे साऽस्य देवता इस अर्थ में विहित अग्नेर्ढक् (अष्टा० ४।२।३२) से ढक् (=एय) प्रत्यय नहीं हो सकता है।

विशेष—यद्यपि मीमांसकों का यह निर्णय कि 'आग्नेय पुरोडाश को कहा चतुर्धाकरण अग्नीषोमीय और ऐन्द्राग्न पुरोडाश में नहीं करना चाहिये' न्यायानुमोदित है, पुनरपि याज्ञिक लोग अग्नीषोमीय और ऐन्द्राग्न पुरोडाश में भी चतुर्धाकरण करते हैं। इसी दृष्टि से स्कन्द स्वामी ने निरुक्त व्याख्या ७।५ में याज्ञिकों के दो विभाग किये हैं। एक न्यायानुमोदित कर्म करनेवाले याज्ञिक, और दूसरे न्याय की अपेक्षा न रखते हुए कर्म करनेवाले याज्ञिक। दूसरे प्रकार के याज्ञिकों को स्कन्द स्वामी ने शुद्ध-याज्ञिक नाम से स्मरण किया है। स्कन्द स्वामी के उक्त पाठ का भावार्थ इस प्रकार है—

याज्ञिक लोग स्वर्गादि फल याग का मानते हैं, देवता का नहीं मानते। इसलिये याग की सिद्धि में देवता स्रुच् आदि के समान गुणभूत है। याग की सिद्धि अग्न्यादि शब्दमात्र देवता मानने में सिद्ध हो जाती है। इसलिये देवता का सद्-असद्-भाव और आकार आदि के कर्म में अनुपयोगी होने से शब्द से व्यतिरिक्त देवता को न देखते हैं, और न सुनते हैं[1]। शुद्धयाज्ञिक शब्दव्यतिरिक्त इतिहास-पुराण-प्रसिद्ध तुविग्रीव० (ऋ० ५।२।१२) इत्यादि मन्त्रबोधित देवता को स्वीकार करते हैं, स्तुति करते हैं, और ध्यान करते हैं। (निरुक्त स्कन्द टीका ७।५, पृष्ठ ३६)।

इस उद्धरण से भी स्पष्ट है कि जो केवल याज्ञिकमात्र हैं, वे मीमांसादि-न्यायानुमोदित मार्ग का अनुसरण न करके स्थूल अभिप्राय को ग्रहण करके अपना कार्य चलाते हैं।

व्याख्या—और जो यह कहा है कि—जैसे प्राशित्र का अवदान सब पुरोडाशों से किया जाता है, उसी प्रकार चतुर्धाकरण भी करना चाहिये। प्राशित्र के अवदान में [सब पुरोडाशों से अवदान करना] युक्त है। वहां इस प्रकार सम्बन्ध नहीं किया जाता है—आग्नेयस्य प्राशित्रमवद्यति (=आग्नेय पुरोडाश के प्राशित्र का अवदान करता है)। तो कैसे सम्बन्ध किया जाता है? आग्नेयस्य मस्तकं विभज्य (=आग्नेय पुरोडाश के मस्तक का विभाग करके)। यह एक वाक्य है—प्राशित्रमवद्यति (=प्राशित्र का अवदान करता है), और दूसरा—आग्नेयस्य मस्तकं विभज्य (=आग्नेय के मस्तक का विभाग करके)। ऐसा होने पर 'आग्नेय पुरोडाश के मस्तक से प्राशित्र का अवदान करता है, ऐसा अर्थ जाना जाता है। अन्य के मस्तक वा अन्य प्रदेश से [अवदान

---

१. विग्रहवती देवता के खण्डन के लिये मीमांसा-भाष्य ९।१।९ सूत्र देखें।

कादन्यस्मा [त् प्रदेशा]द्वेत्यनियमः । यदि तु तत्र केवलाग्निदैवत्यो नाभविष्यत्, तदाऽऽनर्थक्यपरिहाराय द्विदैवत्योऽप्यग्रहिष्यत । यत्तु—डित्थस्य मातेति, युक्तं तत्राव्यासङ्गि मातृत्वम् । ततो जातो डित्थः, एतावता सम्बन्धेन मातेत्युच्यते । नात्र किञ्चिदपेक्ष्यते । स च तावांस्तत्र सम्बन्धोऽस्तीति,डित्थस्य मातेति युक्तं वचनम् ।।२७।। इति चतुर्थाकरणस्याग्नेयमात्राङ्गताऽधिकरणम् ।।१५।।

इति श्रीभट्टशबरस्वामिकृते मीमांसाभाष्ये
तृतीयस्याऽध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

करता है] यह अनियम है। यदि वहां (=दर्शपौर्णमास में) केवल अग्निदेवतावाला पुरोडाश न होता, तब तो [आग्नेयस्य मस्तकं विभज्य की] अनर्थकता के परिहार के लिये दो देवतावाला पुरोडाश भी गृहीत होता। और जो 'डित्थ की माता' आदि कहा है, वहां (=डित्थ और डवित्थ दोनों में) अव्यासक्त (=सम्बद्ध) मातृत्व युक्त है। 'उस से डित्थ उत्पन्न हुआ है', इतने सम्बन्ध से माता कही जाती है। वहां अन्य किसी की अपेक्षा नहीं है। वहां उतना (=उस से उत्पन्न होना) सम्बन्ध है, इस कारण 'डित्थ की माता' यह वचन युक्त है ।।२७।।

इति युधिष्ठिर-मीमांसक-कृतायाम्
आर्षमत-विमर्शिन्यां हिन्दी-व्याख्यायां
तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः पूर्तिमगात् ।।

मीमांसा-शाबर-भाष्य-समीक्षायां मे भावोद्गमः

[लेखक—श्री पं० गोपाल शास्त्री, दर्शनकेसरी, वाराणसी]

[श्रीमान् पण्डितप्रवर दर्शनकेसरी जी काशी के प्रतिष्ठित बहुविद्या-विचक्षण विद्वान् हैं। आप काशी पण्डित-सभा के अध्यक्ष हैं। आपने मीमांसा-शाबर-भाष्य-व्याख्या के सम्बन्ध में जो विचार संस्कृत-भाषा में लिखकर भेजे हैं, उन्हें संक्षिप्त आर्यभाषानुवाद के साथ नीचे दे रहे हैं। सम्पा०]

"वाग्जन्म वैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेद्" (नैषध ८।३२)

अहो वैदग्ध्यचातुरी, अहो लेखनकलापाटवम्, अहो वेदविषयकगहनवैदुष्यम्, अहो अद्यावधि अमीमांसितायाः श्रौतयागमीमांसायाः सुविशदं समाधानम्!! अहो श्रौतपशु-याग-रहस्योद्घाटनम्!! किं किं वच्मि, स्वाज्ञानतिरोहितस्य जगतो यथा स्वरूपं तैस्तै-र्विमर्शकैः स्व-स्व-प्रतिभाप्रकर्षेण वैविध्यं प्रापितम्, तथैव पूर्वमीमांसोत्तरमीमांसाशास्त्र-द्वयमपि विविधैः साम्प्रदायिकैर्विशेषतो हि पूर्वमीमांसेयं यागसम्बन्धे, प्राधान्येन पशु-यागादि-शब्दार्थविचारणे, महर्षिकल्पितयाग-प्रवर्तनाभिप्रायार्थ-प्रकाशने, सर्वथा विलोमतां नीतैवासीदद्यावधि, इति हि तथ्यम्।

स्वतन्त्र-भारतेऽद्य वेदादिसर्वार्षशास्त्राणामपौरुषेयपौरुषेयाणां गहनमर्मविवेचकैः श्रीयुधिष्ठिरमीमांसकैर्यथेतिहासविषये वैदेशिकैर्विद्वद्भिरुन्मार्गतां नीतमैतिह्यं निर्भीक-तथ्यगवेषणया शास्त्रान्तःसाक्ष्येण बहिष्ठविमर्शकादिप्रमाणेन च सर्वसमक्षे समानीतम्[1], तथैव सर्वशास्त्राभ्यर्हिताया द्वादशलक्षण्या अस्याः पूर्वमीमांसाया अपि श्रौतयागविषयकं विशेषतः पशुयागसम्बन्धिरहस्यं सर्वेषां विवेचकानां पुरतः स्फुटं विवृतं प्रत्यक्षीकारितम्।

को हि अद्यावधि सृष्टि-प्रक्रियाविवरणस्यैवं प्रतीकत्वेन या यागकल्पना ऋषिभिः प्रवर्तिता, तस्याः सारांश ईदृग् इतिमितैः स्वल्पीयैर्वाक्यैः स्फुटीचकार? यथेमे स्वीये श्रौतयज्ञ-मीमांसोपसंहारे १६९पृष्ठे स्फुटी कुर्वन्ति। तथाहि—

१—मन्त्रेषु प्रयुक्ता यज्ञशब्दा न साक्षाद् द्रव्यमययज्ञसम्बन्धिनः।

२—ते ते सर्वेऽपि यज्ञाः सृष्टियज्ञास्तत्रापि आधिदैविकाः सन्ति।

३—परोक्षीभूतानामाधिदैविकसृष्टियज्ञानां व्याख्याबोधनार्थमेव मौलिकद्रव्यमया यागाः सृष्टियज्ञव्याख्यानरूपा ऋषिभिः कल्पिताः। यथा हि नाटकादिग्रन्थैः लौकिक-घटनानां परोक्षाणामभिनयद्वारा सर्वेषां समक्षे अभिप्रायः स्थाप्यते। न हि तत्र भूमिकां गृहीतवन्ति पात्राणि तथ्यानि भवन्ति, कल्पितानि हि तानि भवन्ति। केवलं स्पष्टप्रति-

१. लेखकस्यायं संकेतः 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' (भाग ३) ग्रन्थं प्रति वर्तते।

पत्तिर्हि तदीयं प्रयोजनम्। तथैव परस्परोपकारोपकार्यभावशिक्षणमेव यज्ञप्रयोजनम्। अन्यच्च—

श्रौतयागानां प्रमुखमुद्देश्यं निगूढस्य आधिदैविकस्य आध्यात्मिकस्य च जागतिकरहस्यस्य विशदतया बोधनम् एव। किम् बहुना—

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ (गीता ३।१०)

इति हि यज्ञप्रयोजनम्।

किमहमत्र स्वल्पे स्ववक्तव्ये वच्मि? युधिष्ठिरमीमांसकैर्महाभागैरद्यावधि सर्वेषामेवास्माकं मनसि या महती व्यथाऽसीत्—यदस्याः पूर्वमीमांसा-पशुयागसमस्यायाः कथं समाधानं स्यादिति, तच्च समाधानं तथ्यतमं निर्व्यूढम् सर्वथा निरस्तम्। पश्यन्तु कृतिनः, तदीयं प्रारम्भत एव निबद्धं सभूमिकं मीमांसा-शावर-भाष्यम् हिन्दीव्याख्या-सहितम्। अत्र हि सर्वेषां गहनातिगहनानाम्—मीमांसका निरीश्वराः सेश्वरा वा? कथमध्वराख्ये यागे ध्वरस्य हिंसाया असंभाव्यायाः प्रवेशः? वेद-श्रुति-आम्नायादि-संज्ञार्थः कः? का हि पशुयागमीमांसा? इत्यादिपूर्वमीमांसाशास्त्रीय-रहस्यानां समाधानमत्राधिगमिष्यन्ति ते।

५६/१३ गार्डेन कालोनी
सिगरा वाराणसी

गोपाल शास्त्री दर्शनकेसरी
अध्यक्ष, काशी-पण्डित-सभा

भाषानुवाद

"वाणी के जन्म की विफलता है, असह्य शल्य है, यदि अद्भुत गुणवाली वस्तु के प्रति मौन का आलम्बन किया जाये" (नैषधकाव्य ८।३२)।

अद्भुत वैदग्ध्य-चातुरी है, अद्भुत लेखन कुशलता है, अद्भुत वेदविषक गहन पाण्डित्य है, अद्भुत आज तक अविचारित श्रौतयाग-मीमांसा का सुविशद समाधान है, अद्भुत पशुयाग के रहस्य का उद्घाटन है। क्या-क्या कहूं? जैसे अपने-अपने अज्ञान से छिपे हुये जगत् के स्वरूप को अनेक विमर्शकों ने अपनी-अपनी प्रतिभा के बल पर विविधता में प्रतिष्ठित किया, उसी प्रकार पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनों शास्त्र विविध साम्प्रदायिकों द्वारा, विशेषरूप से यह पूर्वमीमांसा यागसम्बन्ध में, प्रधानरूप से पशुयागादि-शब्दार्थ-विचार में, महर्षियों द्वारा कल्पित यागप्रवर्तन के अभिप्राय के प्रकाशन में, सर्वथा विरुद्धता को प्राप्त कराई हुई आज तक थी, यह सत्य है।

आज स्वतन्त्र भारत में वेदादि सब अपौरुषेय वा पौरुषेय शास्त्रों के गहन-मर्म-विवेचक श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने जैसे इतिहास के विषय में विदेशी विद्वानों द्वारा उलटे मार्ग को प्राप्त कराये इतिहास को निर्भीक तथ्य-गवेषणा से, शास्त्रों के अन्तः-

साक्ष्य तथा बाह्य-विमर्शक प्रमाणों से सब के सन्मुख उपस्थापित किया[1], उसी प्रकार सब शास्त्रों में श्रेष्ठ द्वादशाध्यायात्मक इस पूर्वमीमांसा के भी श्रौतयागविषयक, विशेषतः पशुयाग-सम्बन्धी रहस्य को सब विद्वानों के सामने स्पष्ट एवं विस्तृत रूप से प्रत्यक्ष कराया।

किस ने आज तक सृष्टि-प्रक्रिया-विवरण की ही प्रतीकरूप जो याग-कल्पना ऋषियों ने प्रवृत्त की थी, उसका सारांश इस प्रकार से परिमित स्वल्प वाक्यों से स्पष्ट किया, जैसे इन्होंने अपने श्रौतयज्ञ-मीमांसा के उपसंहार में पृष्ठ १६९ पर स्पष्ट किया है ? जैसे कि—

१. मन्त्रों में प्रयुक्त यज्ञ शब्द साक्षात् द्रव्यमय यागसम्बन्धी नहीं हैं।

२. वे सभी यज्ञ सृष्टि-यज्ञ तथा आधिदैविक हैं।

३. परोक्षभूत आधिदैविक सृष्टियज्ञों की व्याख्या का बोध कराने के लिये ही मौलिक द्रव्यमय यागों की सृष्टि-यज्ञ की व्याख्यारूप में ऋषियों ने कल्पना की। जैसे नाटक आदि ग्रन्थों में परोक्ष घटनाओं का अभिनय के द्वारा सब दर्शकों के सन्मुख अभिप्राय उपस्थित किया जाता है। वहां भूमिकागृहीत (व्यवहार करनेवाले) पात्र यथार्थ नहीं होते हैं, कल्पित होते हैं। केवल घटना का स्पष्ट ज्ञान कराना ही उनका प्रयोजन होता है। वैसे ही परस्पर उपकार-उपकारी भाव की शिक्षा देना ही यज्ञ का प्रयोजन है। और भी—

४. श्रौतयागों का मुख्य उद्देश्य छिपे हुये आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत् के रहस्य का विशद बोधन कराना ही है। बहुत क्या—

"प्रजापति ने यज्ञों के साथ प्रजाओं को उत्पन्न करके कहा—इस यज्ञ से अपने को बढ़ाओ, यही तुम्हारी चाही हुई कामधेनु है"। (गीता ३।१०)।

यही यज्ञ का प्रयोजन है।

मैं यहां छोटे से वक्तव्य में क्या कहूं ? युधिष्ठिर मीमांसक ने आज तक हम सब के मनों में जो महती व्यथा थी, कि कैसे इस पूर्व मीमांसा-विषयक पशुयाग की समस्या का समाधान होवे ? उसका समाधान यथार्थरूप में विना कल्पना के सर्वथा दूर कर दिया। आप लोग उनके प्रारम्भ में निबद्ध भूमिकासहित मीमांसा-शाबर-भाष्य हिन्दी-व्याख्या देखें। वहां सभी गहनातिगहन—मीमांसक निरीश्वरवादी हैं वा ईश्वरवादी ? कैसे अध्वर(हिंसारहित) नामवाले याग में असम्भाव्य हिंसा का प्रवेश हुआ ? वेद-श्रुति-आम्नाय आदि संज्ञाओं का क्या अर्थ है ? आदि पूर्वमीमांसाशास्त्रीय रहस्यों का समाधान आप प्राप्त करेंगे॥

---

१. लेखक का यह संकेत 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास (भाग ३) की ओर है।

उपलब्ध समस्त वैदिक आर्ष ग्रन्थों के

प्रकाशन की महती योजना

वेदभक्त, आर्षज्ञान-प्रेमी, एवं वैदिक वाङ्मय में शोधकार्य करनेवाले विद्वानों को यह जान कर प्रसन्नता होगी कि जो वैदिक आर्ष ग्रन्थ अभी तक छपे नहीं हैं, अथवा छपे हुए भी ४०-५०-६० वर्षों से दुर्लभ हो चुके हैं, उन्हें प्रकाशित करने की रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) ने अपने अन्य सहयोगी ट्रस्टों के सहयोग से यह महती योजना आरम्भ की है।

इस योजना के अनुसार निम्न ग्रन्थों के सम्पादन का कार्य चल रहा है—

१—पैप्पलाद शाखा (अथर्ववेद की)

२—गोपथ ब्राह्मण (अथर्ववेद का)

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार वेङ्कट माधव ने ऋग्वेदभाष्य के आठ अष्टकों में स्वर निपात समास छन्द पुनरुक्ति मन्त्रार्थ आदि वेदविषयक महत्त्वपूर्ण आठ विषयों पर श्लोकों में अत्यन्त गहन विचार किया है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

इन प्रकरणों का संग्रह करके ऋग्वेदानुक्रमणी के नाम से हम प्रकाशित कर रहे हैं। इस पर सोदाहरण विशद विवेचना-पूर्ण हिन्दी-व्याख्या भी लिखी गई है। यह ग्रन्थ छपने के लिये तैयार है।

हमारा यत्न होगा कि दिसम्बर सन् १९७९ तक **माधवीय ऋग्वेदानुक्रमणी**, और **गोपथ ब्राह्मण** का सुन्दर संस्करण प्रकाशित कर दिया जाये। पैप्पलाद संहिता तथा एक अन्य ग्रन्थ का प्रकाशन १९८० में होगा। यत्न किया जायेगा कि प्रतिवर्ष तीन ग्रन्थ पूर्ण वा भागशः वैदिक विद्वानों के हाथों में पहुंचाए जायें।

योजना के अन्तर्गत आनेवाले कतिपय ग्रन्थ—

१—वेद की उपलब्ध समस्त शाखाएं। २—ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थ।

३—श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्र। ४—वेद के लक्षण ग्रन्थ।

वैदिक विद्वानों से विशेष प्रार्थना—यदि किसी वैदिक विद्वान् के पास कोई ऐसा वैदिक आर्ष ग्रन्थ हो, जो अभी तक न छपा होवे, तो वे कृपा करके हम से सम्पर्क करें। उन्हें इस सहयोग के लिये यथासम्भव पत्र-पुष्प भी भेंट किया जायेगा।

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़

(सोनीपत-हरयाणा)

रामलाल कपूर ट्रस्ट के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. ऋग्वेदभाष्य— (संस्कृत हिन्दी व ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित) स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत। सम्पा० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रतिभाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट वा सूचियां। प्रथम भाग ३०-००, द्वितीय भाग २५-००, तृतीय भाग ३०-००।

२. माध्यन्दिन (यजुर्वेद) पदपाठ—शुद्ध संस्करण सम्पा० यु० मी०। २०-००

३. वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा—युधिष्ठिर मीमांसक लिखित वेदविषयक १७ विशिष्ट निबन्धों का अपूर्व संग्रह। विशिष्ट संस्करण ३०-००।

४. शिक्षासूत्राणि—आपिशलि-पाणिनि-चन्द्रगोमी प्रोक्त। सम्पा० यु० मी०। १-५०

५. निरुक्त-समुच्चयः—आचार्य वररुचिकृत। सम्पा० यु० मी०। ६-००

६. अष्टाध्यायी-भाष्य—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत। प्रथम भाग २४-००, द्वितीय भाग १६-००, तृतीय भाग २०-००।

७. महाभाष्य—हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याकार यु० मी०। प्रथम भाग छप रहा है, द्वितीय भाग २५-००, तृतीय भाग २५-००।

८. उणादिकोष—स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत व्याख्या, तथा पं० यु० मी० प्रदत्त टिप्पणियों, एवं ११ सूचियों सहित। अजिल्द ७-००, सजिल्द १०-००।

९. दैवम्—पुरुषकारवार्तिकोपेतम्—लीलाशुकमुनि कृत। सम्पा० यु० मी०। ८-००

१०. भागवृत्तिसंकलनम्—अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्ति। संकलयिता यु०मी०। ३-००

११. विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम् (सत्यभाष्य-सहितम्) पं० सत्यदेव वासिष्ठ कृत आध्यात्मिक वैदिक भाष्य। ४ भागों में मूल्य ५०-००।

१२. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसक कृत। नया संस्करण (सन् १९७३)। प्रथम भाग २५-००, द्वितीय भाग २०-००, तृतीय भाग १५-०० (अलग अलग भाग अप्राप्य)। पूरा सेट ६०-००

१३. मीमांसा-शाबर-भाष्य—आर्षमतविमर्शिनी हिन्दी-व्याख्या सहित। व्याख्याकार—युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग मूल्य ३०-००, राजसंस्करण ४०-०० अप्राप्य। द्वितीय भाग २४-००, राजसंस्करण ३२-००।

१४. सत्यार्थप्रकाश—(आर्यसमाज शताब्दी संस्करण) स्वामी द० स० कृत राजसंस्करण, १३ परिशिष्ट ३५-०० टिप्पणियां, सन् १८७५ के दुर्लभ संस्करण के विशिष्ट उद्धरणों सहित। सम्पा० यु० मी०। मूल्य ३०-००, साधारण संस्करण २४-००।

१५. संस्कारविधि—'आ०स०शताब्दी-संस्करण' स्वा०द०स०कृत ४६०पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट। सम्पा० यु० मी०। मूल्य लागतमात्र १०-००, राजसंस्करण १२-००

१६. दयानन्दीय लघुग्रन्थ-संग्रह—स्वामी द० स० कृत। १४ ग्रन्थ, सटिप्पण, अनेक परिशिष्टों के सहित। सम्पा०—यु० मी०। मूल्य लागतमात्र २०-००।

प्राप्ति-स्थान—रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, जिला—सोनीपत (हरयाणा)